ज्ञाने स्वसंवेदकताप्रतीतेः स्वात्मनि क्रियाविरोधेन बाधितत्वान्न तथेहितेति चेत्, का पुनः स्वात्मनि क्रिया विरुद्धा परिस्पन्दरूपा धात्वर्थरूपा वा ? प्रथमपक्षे तस्या द्रव्यवृत्तित्वेन ज्ञाने तदभावात्, धात्वर्थरूपा तु न विरुद्धैव भवति तिष्ठतीत्यादिक्रियायाः स्वात्मनि प्रतीतेः। कथमन्यथा भवत्याकाशं, तिष्ठति मेरुरित्यादि व्यवहारः सिद्धयेत् ?

प्रतिवादी कहता है कि ज्ञानरूप स्वात्मामें जाननारूप क्रियाके विरोध करके ज्ञानमें स्वसंवेदकताकी प्रतीति जैनोंकी बाधित हो जाती है अर्थात् ज्ञानमें अपने आप जाननेकी क्रिया होनेका विरोध है। इस कारण ज्ञानमें स्व को वेदक माननेकी प्रतीतिमें बाधा उपस्थित है। अतः उस प्रकार अपनेको और अर्थको जाननेवाला ज्ञान हम इष्ट नहीं करते हैं। ज्ञान केवल अर्थको ही जानता है ऐसा कहनेवाले नैयायिकोंसे तो पूंछते हैं कि फिर भला कौनसी क्रिया अपने आप अपनी आत्मामें रहनेका विरोध कर रही है ? बताओ, क्या हलनचलनरूप क्रिया अपने स्वरूपमें नहीं रहती है ? अथवा स्था, अस्, वृधु, चकास्, आदि धातुओंके स्थित रहना, या विद्यमान रहना या बढना, प्रकाशित होना आदि अर्थरूप क्रिया अपनी आत्मामें नहीं रहती हैं ? उत्तर कहिये।

यदि पहिला पक्ष लोगे तो वह हलनचलनरूप क्रिया आपके और हमारे मतानुसार द्रव्योंमें रहती मानी गयी है। ज्ञानमें उसकी सत्ता ही असम्भव है। हां दूसरा पक्ष लेने पर धातुओंके अर्थरूप क्रियाएं तो विरुद्ध नहीं होती हैं। देखिये, गृह ठहरा हुआ है, देवदत्त बढ रहा है, दीपक प्रकाश रहा है आदि धात्वर्थरूप क्रियाएं अपनी आत्मामें ही होती हुयीं जानी जाती हैं। यदि ऐसा न स्वीकार कर अन्य प्रकार मानोगे तो बताओ कि आकाश है, मेरु ठहर रहा है, वायु बह रही है, जिनदत्त जाग रहा है, इत्यादि व्यवहार किस प्रकार सिद्ध होते ? वस्तुतः क्रिया और क्रियवान्का अभेद है। क्रियावान्में ठहर रही क्रिया स्वयं क्रियामें ही पायी जाती है। विरोध नहीं है।

सकर्मिका धात्वर्थरूपापि विरुद्धा स्वात्मनीति चेत्, तर्हि ज्ञानं प्रकाशते चकास्तीति क्रिया न स्वात्मनि विरुद्धा ?

प्रतिवादी कहता है कि अकर्मक धातुओंकी क्रियाएं अपने अभिन्न कर्तामें भले ही विरुद्ध न हों क्योंकि उनको दूसरा कोई शरण नहीं है किंतु क्रिया स्वयंमें नहीं ठहर पायेगी। तद्वत् सकर्मक धातुओंकी अर्थरूप क्रियाएं भी तो अपनी आत्मामें रहनेका अवश्य विरोध करती हैं। जैसे देवदत्त भातको पकाता है। यहां पकानारूप क्रिया स्वयं अपनेमें या देवदत्तमें नहीं रहती है किंतु कर्ता और क्रिया इन दोनोंसे सर्वथा भिन्न हो रहे भातरूप कर्ममें ठहरती है। ऐसे ही देवदत्त भातको खा रहा है यहां खानारूप क्रिया भी स्वयं अपने आपमें नहीं रहती है। ऐसे ही ज्ञान ज्ञानको जानता है। यह सकर्मक क्रिया भी अपने आपमें नहीं रह सकती है। आचार्य कहते हैं कि यदि

नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो प्रकाशन और प्रतिभासनरूप क्रियाएं तो सकर्मक हैं, तथा च ज्ञान प्रकाश रहा है, ज्ञान प्रतिभास रहा है, दीप प्रकाश रहा है ये अकर्मक क्रियाएं तो ज्ञानकी स्वात्मामें विना विरोधके ठहर जावेंगी। अभेदपक्षमें ठीक व्यवस्था बन जाती है। वस्तुव्यवस्था और नय पद्धतिपर लक्ष्य रक्खो।

ज्ञानमात्मानं जानातीति सकर्मिका तत्र विरुद्धेति चेन्न, आत्मानं हन्तीत्यादेरपि विरोधानुषङ्गात्।

ज्ञान अपनेको जान रहा है, ऐसी सकर्मक ज्ञाधातुकी क्रिया तो ज्ञानमें विरुद्ध ही है, यह आप प्रतिवादी जन नहीं कहना। क्योंकि यों तो देवदत्त अपने आपको मारता है, इंद्रदत्त अपने आपको जीवित रखता है, द्रव्य अपनेको त्रिकालमें विद्यमान रखता है इत्यादि क्रियाओंका भी अपने साथ विरोध करनेका प्रसङ्ग होगा, जो कि आपको भी इष्ट नहीं है।

कर्तृस्वरूपस्य कर्मत्वेनोपचारान्नात्र पारमार्थिकं कर्मेति चेत्, समानमन्यत्र, ज्ञाने कर्तरि स्वरूपस्यैव ज्ञानक्रियायाः कर्मतयोपचारात्।

प्रतिवादी कहता है कि देवदत्त अपनी हिंसा कर रहा है या अपनेको जीवित रखता है। यहां वास्तविक रूपसे देवदत्त स्वयं कर्म नहीं है किंतु कर्तारूप देवदत्तको उपचारसे कर्म होजावे करके कह दिया गया है। अब आचार्य कहते हैं कि यदि तुम नैयायिक ऐसा कहोगे तो दूसरी जगह हम भी ऐसा ही समानरूपसे कह सकते हैं अर्थात् ज्ञान अपनेको जानता है यहां भी कर्ताको ही गौणपनसे कर्म बना दिया गया है। ज्ञानरूप कर्तामें आपको ही जानने रूप क्रियाका कर्मपना व्यवहृत कर लिया गया है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञान अपनेको मुख्य रूपसे जानता है, विषयका जानना तो उसका गौण कार्य है। दीपक और सूर्यका मुख्य कर्तव्य स्वप्रकाशन है पदार्थोंका प्रकाशन होजाना तो उनका विना प्रयत्नके छोटा कार्य है।

तात्त्विकमेव ज्ञाने कर्मत्वं प्रमेयत्वात्तस्येति चेत्, तद्यदि सर्वथा कर्तुरभिन्नं तदा विरोधः, सर्वथा भिन्नं चेत्कथं तत्र ज्ञानस्य जानातीति क्रिया स्वात्मनि स्याद्येन विरुध्येत? कथमन्यथा कटं करोतीति क्रियाऽपि कटकारस्य स्वात्मनि न स्याद्यतो न विरुध्यते।

यौग कहते हैं कि ज्ञानमें तो कर्मपना वास्तविकरूपसे ही है क्योंकि वह प्रमितिरूपक्रिया का कर्म है। तभी तो आपके मतानुसार वह स्वयं अपना प्रमेय हो सकता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम पूंछते हैं कि वह कर्मपना यदि कर्त्तासे सर्वथा अभिन्न है तब तो नैयायिकको अपने मतसे विरोध हुआ क्योंकि भेदवादी नैयायिकोंके मतमें एक ही पदार्थमें कर्तापन और कर्मपन नहीं माना गया है।

यदि कर्मको कर्तासे सर्वथा भिन्न मानोगे तो ज्ञानकी जाननारूप क्रिया वहां स्वात्मामें कैसे पायी गयी ? बताओ। जिससे कि स्वात्मामें क्रियाके रहनेका विरोध हो। अन्यथा यों तो सकर्मक धातुओंकी चटाईको बना रहा है, यह क्रिया भी चटाई बनानेवालेकी स्वात्मामें कैसे न रहेगी ? जिससे कि विरोध न हो सके। भावार्थ— सर्वथा भेदपक्षमें तो पद पद पर क्रियाका विरोध हो जावेगा। संसारका कोई भी कार्य न हो सकेगा। सब स्थानोंमें अपनेसे अपना विरोध छा जावेगा। एकांत भेदपक्षमें इस कार्यका यह कर्त्ता है, इस क्रियाका यह कर्त्ता है ऐसा व्यवहार भी न हो सकेगा।

कर्तुः कर्मत्वं कथञ्चिद्भिन्नमित्येतस्मिंस्तु दर्शने ज्ञानस्यात्मनो वा स्वात्मनि क्रिया दूरोत्सारितैवेति न विरुद्धतामधिवसति।

यदि जैनोंके सदृश कर्तासे कर्मपना कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है इस प्रकारका सिद्धांत मानोगे तब तो ज्ञानका या आत्माका अपनी आत्मामें क्रिया करना दूर फैंक दिया गया ही है। अर्थात् ज्ञान अपनेको जानता है, यहां ज्ञानमें ज्ञप्ति, ज्ञापक और ज्ञेय अंश न्यारे न्यारे हैं। संवेद्य, संवेदक और संवित्ति इन तीनों अंशोंके पिण्डको ज्ञान माना है। अतः जानना ज्ञप्ति अंशमें हो रहा है। जाना-गयापन ज्ञेय अंशमें हो रहा है और जाननेका कर्ता ज्ञापक अंश है। इसप्रकार कोई भी विरुद्धपनेको प्राप्त नहीं होता है॥

ततो ज्ञानस्य स्वसंवेदकताप्रतीतेः स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधकः प्रत्यस्तमितबाधकप्रतीत्यास्पदं चार्थसंवेदकत्ववत्स्वसंवेदकत्वं ज्ञानस्य परीक्षकैरेष्टव्यमेव।

इस कारणसे अब तक सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्वका वेदन करता है ऐसी प्रतीति हो रही है। अतः अपनी आत्मामें अपनी क्रियाका होना विरुद्ध है इस प्रकारका बाधक दोष पहिली निर्बाध प्रतीतिके अनुसार स्वयं बाधित हो जाता है। जो बाधक स्वयं बाध्य होनेका स्थान है वह प्रतीतिसिद्धविषयोंमें क्या बाधा देगा ? यदि नैयायिक परीक्षा करके पदार्थोंकी व्यवस्था मानेंगे तो ज्ञान जैसे अर्थको जानता है उसी प्रकार अपनेको जानता है। यह भी नैयायिकोंको अच्छी तरह इष्ट कर लेना चाहिए। परीक्षकोंको यह बात अभीष्ट करनी पडती है कि ज्ञानका स्वसंवेदकपना चारों ओरसे नष्ट कर दिये गये हैं, बाधक जिनके ऐसी प्रतीतिओंका स्थान है। इससे अधिक क्या कहा जावे ?

प्रतीत्यननुसरणेऽनवस्थानस्य स्वमतविरोधस्य वा परिहर्तुमशक्तेः।

यदि नैयायिक लोग प्रमाणसिद्ध प्रतीतियोंके अनुसार नहीं चलेंगे, किन्तु अवसरके अनुसार पैंतरा बदलेंगे तो उन्हें ज्ञानोंको ज्ञानन्तरोंसे जानते जानते अनवस्था दोष अवश्य लगेगा

और सर्वथा भेदपक्ष माननेवाले नैयायिकको कर्त्ता और कर्मके अभेद माननेपर अपने मतसे विरोध भी ठन जावेगा। तथा च यह अपसिद्धान्त दोष हुआ। इन दोनोंका परिहार नैयायिक नहीं कर सकते हैं।

ततो न जडात्मवादिनां ज्ञानवानहमिति प्रत्ययो ज्ञाताहमिति प्रत्ययवत् पुरुषस्य ज्ञानविशिष्टस्य ग्राहकः।

उस कारण ज्ञानसे भिन्न अतएव जडरूप आत्माको माननेवाले नैयायिकोंके यहां "मैं ज्ञानवाला हूं" इस प्रकारकी प्रतीति तो ज्ञानसहित आत्माको ग्रहण करानेवाली नहीं है। जैसे कि मैं ज्ञाता हूं यह प्रतीति आकाश, काल आदिकको छोडकर आत्माको ही ज्ञानसहितपना सिद्ध नहीं करा सकती है।

किं चाहंप्रत्ययस्यास्य पुरुषो गोचरो यदि।
तदा कर्ता स एव स्यात् कथं नान्यस्य सम्भवः ॥ २०५ ॥

दूसरा दोष यह भी है कि मैं मैं इस प्रतीतिका विषय यदि आत्मा माना जावेगा तो वह प्रमेय हो जावेगा, क्योंकि जो प्रतीतिका विषय होता है वह पदार्थ प्रमा करनेके योग्य प्रमेय होता है, तब तो वही आत्मा भला कर्ता कैसे हो सकेगा? आप नैयायिकोंके मतसे प्रमेय और प्रमाता दोनों एक पदार्थ नहीं हो सकते हैं। एक आत्माके स्थानपर दूसरा आत्मा विद्यमान नहीं है जिससे कि एक आत्मा प्रमेय होवे और दूसरा आत्मा प्रमाता सम्भव हो सके। अन्य आत्माके यह बात नहीं सम्भवती है।

कथास्याहंप्रत्ययस्य विषय इति विचार्यते। पुरुषश्चेत् प्रमेयः प्रमाता न स्यात्। न हि स एव प्रमेयः स एव प्रमाता, सकृदेकस्यैकज्ञानापेक्षया कर्मत्वकर्तृत्वयोर्विरोधात।

यहां और भी कहना है कि मैं को जाननेवाले इस ज्ञानका विषय क्या है? इस बातका विचार करते हैं। यदि मैं के ज्ञानका विषय आत्मा माना जावेगा ऐसा कहनेपर तो वह आत्मा जानने योग्य प्रमेय हो जावेगा। जाननेवाला प्रमाता न हो सकेगा। वही आत्मा प्रमेय हो जावे और वही आत्मा प्रमाता भी हो जावे, ऐसा तो हो नहीं सकता है। क्योंकि नैयायिकोंके मतसे एक समय एक ज्ञानकी अपेक्षासे एक आत्माको प्रमितिक्रियाका कर्मपना और कर्तापनका विरोध है। नैयायिकोंने किसी प्रकरणमें प्रमिति, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये चार ही भिन्न भिन्न तत्त्व माने हैं। एक में दूसरेका सांकर्य नहीं माना है।

ततोऽन्यः कर्त्तेति चेन्न, एकत्र शरीरे आनेकात्मानभ्युपगमात्, तस्याप्यहंप्रत्ययविषयत्वेऽपरकर्तृपरिकल्पनानुषङ्गादनवस्थानादेकात्मज्ञानापेक्षायामात्मनः प्रमातृत्वानुपपत्तेश्च नान्यः कर्ता सम्भवति यतो न विरोधः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उस प्रमेयरूप आत्मासे प्रमातारूप कर्ता यदि भिन्न मानोगे सो यह तो ठीक नहीं है क्योंकि नैयायिकोंने एक शरीरमें अनेक आत्माएं नहीं स्वीकार की हैं। यदि एक शरीरमें दूसरा आत्मा मानोगे तो वह आत्मा भी "मैं मैं" इस ज्ञानका विषय होवेगा। अतः प्रमेय हुआ। तथा च उस आत्मा प्रमेयके लिए तीसरे कर्तारूप प्रमाता आत्माकी कल्पना करनी पडेगी। तीसरा आत्मा भी अहं ज्ञानसे जाना जावेगा। उस प्रमेयके लिये भी चौथा न्यारा प्रमाता आत्मा कल्पित करना पडेगा। ऐसा करते करते अनवस्था दोष हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा। तथा जिस समय आत्मा स्वयं जाना जा रहा है उस एक आत्माको अपने ज्ञानकी अपेक्षासे प्रमातापन बन नहीं सकता है। उस समय तो वह प्रमेय है। दूसरा कोई आत्मा वहां सम्भवता नहीं है जो कि कर्ता बन जावे। और जिससे कि विरोध होना टल सके। भावार्थ—एक आत्मामें कर्ता और कर्मपनेका विरोध रहेगा ही, यह नैयायिकोंके लिये विषम समस्या उपस्थित है।

स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वमात्मनः।
प्रमेयत्वमपि स्वस्य प्रमितिश्चेयमागता ॥ २०६ ॥

अपनी आत्माकी प्रमितिका अपनेमें ही उत्पन्न हो जाना अपना प्रमाणपन है एवं आत्माके स्वकी प्रमितिका कर्तापन है, और वहीं अपनेको जानना प्रमेयपना भी है, तथा जानना यही अपनी प्रमिति भी हुयी इस तरह एक ही आत्मामें तीनों या चारों धर्म आगये यही तो जैनसिद्धांत है।

यथा घटादौ प्रमितेरुत्पत्तिस्तत्प्रमातृत्वं पुरुषस्य, तथा स्वस्मिन्नेव तदुत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वं, यथा च घटादेः प्रमितौ प्रमेयत्वं तस्यैव, तथात्मनः परिच्छित्तौ स्वस्यैव प्रमेयत्वम्, यथा घटादेः परिच्छित्तिस्तस्यैव प्रमितिस्तथात्मनः परिच्छित्तिः स्वप्रमितिः प्रतीतिबलादागता परिहर्तुमशक्या।

इस वार्तिकका भाष्य यों है कि जैसे घट, पट आदिकको विषय करनेवाली प्रमितिका उत्पन्न हो जाना ही आत्माको उसका प्रमातापन है वैसी ही अपने आप में ही अपनी प्रमितिकी उत्पत्ति हो जाना आत्माका अपना प्रमातापन है। और जैसे अपनी प्रमिति होने पर घट आदिकको प्रमेयपना है तैसे ही आत्माकी ज्ञप्ति होनेपर स्वयं उस आत्माको ही प्रमेयपना है। तीसरे जैसे घट, पट आदिकी समीचीन ज्ञप्ति होजाना ही उनकी प्रमिति है तैसे ही आत्माकी ज्ञप्ति भी आत्माकी प्रमिति है। यह बात प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंके बलसे प्राप्त हो जाती है। इसका कोई निवारण नहीं कर सकता है। द्रव्यार्थिक नयसे चारों धर्म एक आत्मामें संघटित हैं।

तथा चैकस्य नानात्वं विरुद्धमपि सिद्ध्यति।
न चतस्रो विधास्तेषां प्रमात्रादिप्ररूपणात् ॥ २०७ ॥

यों प्रतिपादन करनेपर इस कारण प्रसिद्ध हुआ कि एक पदार्थमें भी विरुद्ध अनेक स्वभाव सिद्ध होजाते हैं वास्तवमें वे विरुद्ध नहीं हैं, केवल ऊपरी दृष्टिसे विरुद्ध सरीखे दीखते हैं। अतः उन प्रमाता आदि यानी प्रमाता, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाण यों निरूपण करनेसे चार भेद नहीं करने चाहिये। भावार्थ—जिनका परस्परमें सांकर्य हो जाता है उनमें तत्त्वभेद नहीं होता है। यहां भी प्रमाण प्रमेय हो जाता है। प्रमाता भी प्रमेय बन जाता है। प्रमिति भी प्रमाणस्वरूप है। अतः नैयायिकोंको प्रमाता आदि चार तत्त्व मानना युक्त नहीं है। हां सापेक्ष चार धर्म कह सकते हो।

प्रमात्रादिप्रकाराश्चत्वारोऽप्यात्मनो भिन्नास्ततो नैकस्यानेकात्मकत्वं विरुद्धमपि सिद्धयतीति चेत् न, तस्य प्रकारान्तरत्वप्रसङ्गात्।

अब नैयायिक कहते हैं कि प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेय ये चारों ही भेद आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। इस कारणसे एकको अनेक विरुद्ध भी धर्मोंका तादात्म्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह उनका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस आत्माको न्यारा पांचवां भेद बननेका प्रसंग आता है। भावार्थ—जब कि आत्मासे वे चार तत्त्व भिन्न हैं तो आत्मा अवश्य ही उनमेंसे प्रमाता, प्रमेय आदि किसी में गर्भित न होकर पांचवा तत्त्व हुआ, आपके तत्त्वोंकी चारसंख्याका व्याघात हुआ।

कर्तृत्वादात्मनः प्रमातृत्वेन व्यवस्थानात् न प्रकारान्तरत्वमिति चेत्, केयं कर्तृता नामात्मनः?

आत्मा तो कर्ता है इस कारण वह प्रमातारूपसे व्यवस्थित है। यों पांचवा भिन्न प्रकार होनेका प्रसंग नहीं आता है। यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तो बताओ! आत्माकी यह कर्तृता विचारी क्या वस्तु है!।

प्रमितेः समवायित्वमात्मनः कर्तृता यदि।
तदा नास्य प्रमेयत्वं तन्निमित्तत्वहानितः॥ २०८॥
प्रमाणसहकारी हि प्रमेयोऽर्थः प्रमां प्रति।
निमित्तकारणं प्रोक्तो नात्मैवं स्वप्रमां प्रति॥ २०९॥

प्रमितिको समवायसंबंधसे धारण कर लेना यदि आत्माका कर्तापन है तब तो इस आत्माको प्रमेयपना नहीं आ सकता है, क्योंकि प्रमेय होनेमें कारण प्रमितिक्रियाका निमित्त कारणपना है। जब कि आत्मा समवायिकारण बन गया तो प्रमेय बननेके कारण उस निमित्तपनेकी हानि हो गयी। प्रमितिक्रिया करनेमें जो अर्थ प्रमाणका सहकारी कारण होता है वह प्रमेय कहा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जाता है, किंतु इस प्रकार नैयायिकोंने आत्माको अपनी प्रमितिके प्रति निमित्तकारण बिलकुल नहीं कहा है, अतः इस प्रकार आत्मामें अपना प्रमेयपना और प्रमातापन नहीं बन सकता है।

प्रमीयमाणो ह्यर्थः प्रमेयः प्रमाणसहकारी प्रमित्युत्पत्तिं प्रति निमित्तकारणत्वादिति ब्रुवाणः कथमात्मनः स्वप्रमितिं प्रति समवायिनः प्रमातृतामात्मसात्कुर्वतः प्रमेयत्वमाचक्षीत विरोधात्। न चात्मा स्वप्रमां प्रति निमित्तकारणं समवायिकारणत्वोपगमात्।

जो अर्थ निश्चयसे प्रमाणके द्वारा जाना जा रहा है वह प्रमेय है क्योंकि प्रमितिकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण हो जानेसे वह प्रमाणका सहकारी है। इस प्रकार कहनेवाला नैयायिक आत्माको प्रमेय भला कैसे कह सकता है? क्योंकि आत्मा अपनी प्रमितिके प्रति समवायीकारण हो गया है। अतः प्रमातापनेको आत्माने अपना अधीन स्वभाव कर लिया है। जो प्रमितिका समवायी कारण बन चुका है वह उसीका निमित्तकारण भला कैसे बन सकता है। क्योंकि विरोध है। और आत्मा अपनी प्रमितिके प्रति निमित्तकारण भी तो नहीं है। क्योंकि आपने पहिलेसे ही आत्माको समवायी कारण मान लिया है।

यदि पुनरात्मनः स्वप्रमितिं प्रति समवायित्वं निमित्तकारणत्वं चेष्यतेऽर्थप्रमितिं प्रति समवायिकारणत्वमेव तदा साधकतमत्वमप्यस्तु, तथा च स एव प्रमाता, स एव प्रमेयः, स एव च प्रमाणमिति कुतः प्रमातृप्रमेयप्रमाणानां प्रकारान्तरता नावतिष्ठेत?।

यदि आप वैशेषिक फिर यों इष्ट करें कि आत्मा अपनी प्रमितिके प्रति समवायी कारण है और निमित्तकारण भी है किंतु अन्य घट, पट आदिक पदार्थोंकी प्रमितिके प्रति समवायी कारण ही है, तब तो आप आत्माको अपनी प्रमितिका प्रकृष्टकारक रूप करण हो जाना भी मान लेवें। तथा च सिद्ध हुआ कि वही आत्मा प्रमाता है और वही प्रमेय है, एवञ्च वही प्रमाण भी है। इस प्रकार जब तीनों एक हो गये तो प्रमाता, प्रमेय और प्रमाणोंको तत्त्वभेद नहीं होते हुए भिन्न प्रकारपना कैसे नहीं व्यवस्थित हो सकता है? भावार्थ— प्रमाण, प्रमेय, आदि न्यारे न्यारे तत्त्व नहीं हैं। विशेष्यसे अभिन्न हो रहे मात्र विशेषण हैं॥

कर्तृकारकात् करणस्य भेदान्नात्मनः प्रमाणत्वमिति चेत्, कर्मकारकं कर्तुः किमभिन्नं यतस्तस्य प्रमेयत्वमिति नात्मा स्वयं प्रमेयः।

स्वतंत्र कर्ता कारकसे करण कारक सर्वथा भिन्न होता है, अतः आत्माको प्रमितिका करणरूप प्रमाणपना नहीं है। ऐसा यदि कहोगे तो क्या आप नैयायिकके मतमें कर्तासे कर्म कारक अभिन्न है? जिससे कि आप उस आत्माको प्रमेयपना सिद्ध कर देवें। यों भेद माननेपर आत्मा स्वयं प्रमेय भी नहीं हो सकता है। तथा च आत्माका प्रमेयपना भी गांठका चला गया। आपने गौतमसूत्रके

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुसार आत्माको प्रमेय कहा है। " आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् " प्रथम अध्याय सूत्र ९ ॥

नरान्तरप्रमेयत्वमनेनास्य निवारितम् ।
तस्यापि स्वप्रमेयत्वेऽन्यप्रमातृत्वकल्पनात् ॥ २१० ॥
बाध्या केनानवस्था स्यात्स्वप्रमातृत्वकल्पने ।
यथोक्ताशेषदोषानुषङ्गः केन निवार्यते ॥ २११ ॥

इस उक्त कथनसे इस प्रकृत आत्माका दूसरे आत्माके द्वारा जाना गयापन भी निवारण कर दिया गया है। क्योंकि उस अन्य आत्माको भी स्वके प्रमेय करनेमें तीसरे चौथे आदि निराले निराले प्रमाता आत्माओंकी कल्पना करनी पडेगी, इस प्रकार अनवस्था होना किसके द्वारा रोका जावेगा ?

यदि आत्मा अपना प्रमेय स्वयं हो जाता है और आत्मा अपने जाननेमें स्वयं प्रमाता बन जाता है, ऐसी कल्पना करोगे तो ठीक पहिले कहे हुए सम्पूर्ण दोषोंके प्रसङ्गको कौन रोक सकेगा ? भावार्थ—भेदवादीको वे ही दोष पुनः लागू हो जावेंगे।

विवक्षितात्मा आत्मान्तरस्य यदि प्रमेयस्तदास्य स्वात्मा किमप्रमेयः प्रमेयो वा ? अप्रमेयश्चेत् तर्ह्यात्मान्तरस्य प्रमेय इति पर्यनुयोगस्यापरिनिष्ठानादनवस्था केन बाध्यते ? प्रमेयश्चेत् स एव प्रमाता स एव प्रमेय इत्यायातमेकस्यानेकत्वं विरुद्धमपि परमतसाधनं, तद्वत् स एव प्रमाणं स्यात् साधकतमत्वोपपत्तेरिति पूर्वोक्तमखिलं दूषणमशक्यनिवारणम्।

विवक्षामें पडा हुआ देवदत्त स्वरूप आत्मा यदि दूसरे अन्य आत्मा यज्ञदत्तसे जानने योग्य है तो बताओ, इस यज्ञदत्तको अपनी आत्मा क्या अप्रमेय है ? या प्रमेय है ? यदि स्वयं अप्रमेय है अर्थात् दूसरेसे जानी जावेगी तब तो न्यारे यज्ञदत्तकी आत्माको जाननेके लिये तीसरे जिनदत्तकी आत्मा प्रमाता माननी पडेगी। फिर जिनदत्तकी आत्मा भी स्वयं अपनेको न जान सकेगी। अतः उसके जाननेके लिये चौथे इंद्रदत्तकी आत्मा प्रमाता कल्पित की जावेगी। तब कहीं वह प्रमेय होगी। यों वह इंद्रदत्तकी आत्मा भी स्वयं प्रमेय न होगी। उसके लिये भी अन्य आत्माओंकी कल्पना करते करते प्रश्नरूप आकांक्षाएं बढती चली जावेंगी। कहीं भी उक्त प्रश्नरूप विषय समाप्त न होगा। अतः अनवस्था दोष होनेमें कौन बाधा दे सकता है ?

द्वितीय पक्षके अनुसार यदि देवदत्तकी आत्माको स्वयं अपना प्रमेय मानोगे अर्थात् दूसरे, तीसरेकी आवश्यकता न होगी तो वही आत्मा प्रमाता हुआ और वही प्रमेय हो गया। इस

प्रकार एक पदार्थके विरुद्ध सरीखे दीखते हुए अनेक धर्मोंका भी आपको मानना प्रतीतिबलसे प्राप्त हो गया और यों एक वस्तुमें अनेक धर्मोंको माननेवाले दूसरे जैनोंके उत्कृष्ट स्याद्वादसिद्धांत-मतकी भी सिद्धि हो गयी। जैसे एक आत्मा प्रमाता और प्रमेय दोनों बन जाता है उसीके समान अपनी प्रमितिमें साधकतम हो जानेके कारण वही आत्मा प्रमाण भी बन जावेगा। अतः नैयायिकोंके ऊपर पूर्वमें कहे गये अनवस्था और अपने सिद्धांतसे विरोध आदि सम्पूर्ण दोष लागू होंगे। उन दोषोंका निवारण कैसे भी नहीं हो सकता है।

स्वसंवेद्ये नरे नायं दोषोऽनेकान्तवादिनाम्।
नानाशक्त्यात्मनस्तस्य कर्तृत्वाद्यविरोधतः ॥ २१२ ॥
परिच्छेदकशक्त्या हि प्रमात्मात्मा प्रतीयते।
प्रमेयश्च परिच्छेद्यशक्त्याकांक्षाक्षयात्स्थितिः ॥ २१३ ॥

हम स्याद्वादी जन आत्माको स्व के द्वारा वेद्य मानते हैं। अतः अनेकांतवादियोंके ऊपर उक्त दोष नहीं आता है जब कि आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप अनेक शक्तियोंके साथ तादात्म्य रखता है तो उसको ज्ञप्तिका ज्ञातापन, ज्ञेयपन और कारणपना आदि माननेमें कोई भी विरोध नहीं है। आत्मा पदार्थोंको स्वतंत्र रूपसे जानता है अतः परिच्छेदकशक्तिके द्वारा वह निश्चयसे प्रमाता है। और स्वयं अपनेको जानता हुआ भी प्रतीत हो रहा है अतः वह परिच्छेद्यस्वभावसे प्रमेय भी है। और जैसे अग्नि अपने दाहपरिणामसे जलाती है वैसे ही आत्मा अपने सच्चे ज्ञानपरिणामसे जानता है अतः आत्मा प्रमाणस्वरूप भी है। बस, इतनेसे ही आकांक्षाएं निवृत्त हो जाती हैं। इस कारण अनेकांतमतमें अनवस्था दोष नहीं आता है। यदि किसी व्यक्तिने इच्छावश आत्माको जाननेके लिये दूसरा ज्ञान भी उत्पन्न किया हो वह अभ्यासदशाका ज्ञान स्वयं प्रत्यक्षरूप है। अतः दूसरी कोटिपर ही अन्य आकांक्षा न होनेके कारण जिज्ञासुओंकी स्थिति हो जावेगी। जिसको आकांक्षा उत्पन्न नहीं हुयी है, उसके लिये पहिला ज्ञान ही पर्याप्त है॥

ननु स्वसंवेद्येऽप्यात्मनि प्रमातृत्वशक्तिः प्रमेयत्वशक्तिश्च परिच्छेदकशक्त्यान्यया परिच्छेद्या, सापि तत्परिच्छेदकत्वपरिच्छेद्यत्वशक्तिः परया परिच्छेदकशक्त्या परिच्छेद्येत्यनवस्थानमन्यथाद्यशक्तिभेदोऽपि प्रमातृत्वप्रमेयत्वहेतुर्माभूत् इति न स्याद्वादिनां चोद्यम्। प्रतिपत्तुराकांक्षाक्षयादेव क्वचिदवस्थानसिद्धेः। न हि परिच्छेदत्वादिशक्तिर्यावत्स्वयं न ज्ञाता तावदात्मनः स्वप्रमातृत्वादिसंवेदनं न भवति येनानवस्था स्यात्। प्रमातृत्वादिस्वसंवेदनादेव तच्छक्तेरनुमानाच्चिराकांक्षस्य तत्राप्यनुपयोगादिति युक्तमुपयोगात्मकत्वसाधनमात्मनः।

स्याद्वादियोंके ऊपर नैयायिक कटाक्षसहित शंका उठाते हैं कि आप आत्माको अपने आप जानने योग्य भले ही मानें तो भी तीन स्वभाववाले उस आत्मामें प्रमातापने और प्रमेयपनेकी शक्तिको स्वयं परिच्छेदकशक्तिसे अतिरिक्त मानी गयी दूसरी परिच्छेदकशक्तिसे ज्ञेय मानोगे और वह आत्माकी ज्ञेयपनेकी परिच्छेद्यपन शक्ति भी तीसरी परिच्छेदकशक्तिसे जानी जावेगी और तीसरी परिच्छेदक शक्ति न्यारी चौथी शक्तिसे जानी जावेगी। क्योंकि जाननेके कारण जो आत्माके स्वभाव होंगे, वे अभिन्न होनेके कारण ज्ञेय होते चले जावेंगे। इस तरहसे अनवस्था दोष तुम्हारे ऊपर भी आता है।

यदि शक्तियोंको जाननेके लिये परिच्छेदकशक्तियां नहीं मानोगे तो आदिकी भी प्रमातापन और प्रमेयपनकी भिन्न दो शक्तियां क्यों मानते हो ? तब तो ये दो शक्तियां एक आत्मामें प्रमातापन और प्रमेयपन इन दो धर्मोंकी कारण न हो सकेंगी। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका तर्क स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं चलता है, क्योंकि जाननेवाले प्रतिपत्ताकी आकांक्षाओंके निवृत्त हो जानेसे ही कहीं भी दूसरी, तीसरी, कोटि पर स्थिति हो जाना सिद्ध है। हम ऐसा नहीं मानते हैं कि परिच्छेदकपनेकी या परिच्छेद्यपने आदिकी शक्ति जबतक अन्यके द्वारा स्वयं ज्ञात न होगी तब तक अपने प्रमातापन या प्रमेयपन आदिका ज्ञान ही नहीं होता है जिससे कि अनवस्था दोष हो जावे। किंतु हम यह मानते हैं कि आत्माने अपनेको अपने आप जान लिया। जैसे अग्नि दाह-परिणाम करके अपनेको जला रही है। दीपक स्वयंको अपनी प्रभासे प्रकाशित कर रहा है आदि इस कार्यसे ही उन दोनों तीनों, शक्तियोंका अनुमान हो जाता है। शक्तियां सम्पूर्ण अतीन्द्रिय होती हैं। अतः सामान्य जीवोंको उनका अनुमान ही हो सकता है प्रत्यक्ष नहीं। हां, जिस ज्ञाताको शक्तियोंके जाननेकी आकांक्षा नहीं हुयी है उसको उन शक्तियोंका अनुमान करना भी व्यर्थ पडता है। शक्तियोंके ज्ञानका कोई उपयोग नहीं, यहां कारकपक्ष है। शक्तियां नहीं भी ज्ञात होकर कार्योंको कर देती हैं। इस प्रकार स्वयं ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप आत्माकी युक्तियोंसे सिद्धि कर दी गयी है। आत्माका लक्षण उपयोग ही है, यह समुचित है। यहांतक नैयायिकोंके साथ विचार किये गये प्रकरणकी समाप्ति कर अब मीमांसकोंके साथ विचार चलाते हैं।

कर्तृरूपतया वित्तेरपरोक्षः स्वयं पुमान्।
अप्रत्यक्षश्च कर्मत्वेनाप्रतीतेरितीतरे ॥ २१४ ॥

भट्ट, प्रभाकर, मुरारि ये तीनों मीमांसक करणज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं। भट्ट-मतानुयायी आत्माका प्रत्यक्ष मानते हैं और प्रभाकर फलज्ञानका प्रत्यक्ष मानते हैं। यहां प्रकरणमें नैयायिकोंसे न्यारे किन्हीं अन्य मीमांसकोंका कहना है कि कर्तारूपसे आत्माका स्वयं ज्ञान होता है। इस कारण आत्मा परोक्ष नहीं है, और कर्मरूपसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती है। इस कारण

आत्मा प्रत्यक्ष भी नहीं है। ऐसा कुछ जैन सिद्धान्तका अनुसरण, और कुछ आक्षेप करते हुए कोई मीमांसक कहते हैं।

सत्यमात्मा संवेदनात्मकः स तु न प्रत्यक्षः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्। न हि यथा नीलमहं जानामीत्यत्र नीलं कर्मतया चकास्ति तथात्मा कर्मत्वेन। अप्रतिभासमानस्य च न प्रत्यक्षत्वम्, तस्य तेन व्याप्तत्वात्।

स्याद्वादियोंसे मीमांसक कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। यह आपका कहना सच है किन्तु वह आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि कर्मपनेसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती है। जैसे मैं नीले कम्बलको जान रहा हूं यों यहां नीले कम्बलका कर्मपनेसे प्रतिभास हो रहा है उस प्रकार आत्माका कर्मपनेसे प्रतिभास नहीं होता है। भावार्थ—जाननारूप क्रियाका आत्मा कर्ता है, कर्म नहीं है, जो प्रतिभासनक्रियाका कर्म नहीं है, वह प्रत्यक्ष ज्ञानका कर्म या विषय भी नहीं है क्योंकि उस प्रतिभासन क्रियाके कर्म होनेके साथ उस प्रत्यक्षज्ञानके विषय होनेकी व्याप्ति है। प्रतिभास्यपना व्यापक है और प्रत्यक्ष विषयपना व्याप्य है।

आत्मानमहं जानामीत्यत्र कर्मतयात्मा भात्येवेति चायुक्तमुपचरितत्वात्तस्य तथा प्रतीतेः। जानातेरन्यत्र सकर्मकस्य दर्शनादात्मनि सकर्मकत्वोपचारसिद्धेः, परमार्थतस्तु पुंसः कर्मत्वे कर्ता स एव वा स्यादन्यो वा? न तावत्स एव विरोधात्। कथमन्यथैकरूपतात्मनः सिद्धयेत्, नानारूपत्वादात्मनो न दोष इति चेत् न अनवस्थानुषङ्गात्। केनचिद्रूपेण कर्मत्वं केनचित्कर्तृत्वमित्यनेकरूपत्वे ह्यात्मनस्तदनेकं रूपं प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वा? प्रत्यक्षं चेत्कर्मत्वेन भाव्यमन्येन तत् कर्तृत्वेन, तत्कर्मत्वकर्तृत्वयोरपि प्रत्यक्षत्वे परेण कर्मत्वेन कर्तृत्वेन चावश्यं भवितव्यमित्यनवस्था।

मीमांसक ही कह रहे है कि आत्माको "मैं जानता हूं यों ऐसे प्रयोगमें कर्मरूपसे आत्मा प्रतिभासित हो जाता ही है।" यह जैनोंका कहना भी अयुक्त है। कारण कि मैं आत्माको जान रहा हूं, यह उस आत्माकी इस प्रकारकी प्रतीति तो उपचरित है। वही स्वयं कर्तारूपसे जाने और स्वयं कर्मरूपसे अपनेको जाने यह कैसे सम्भव है? आत्माश्रय दोष आता है; जाननारूप क्रिया अन्य घट, पट, पुस्तक आदिमें सकर्मक होकर देखी जाती है। इससे आत्मामें भी ज्ञानक्रियाके सकर्मकपनेका आरोप कर लेना सिद्ध है। वास्तविकरूपसे यदि आत्माको ज्ञानक्रियाका कर्म मानोगे तो ऐसी दशामें उस ज्ञानक्रियाका कर्त्ता वही आत्मा होगा या कोई दूसरा आत्मा कर्ता माना जावेगा? बताओ, पहिला पक्ष तो ठीक नहीं है। क्योंकि यदि उसी आत्माको कर्ता मानोगे तब तो विरोध है। एक ही आत्मा कर्ता और कर्मपनेरूप होकर विरुद्धस्वभावोंको धारण नहीं कर सकता है। अन्यथा आत्माको एकधर्मस्वरूपपना कैसे सिद्ध होगा? जो कि हम मीमांसकोंको इष्ट है।

यदि जैन लोग आत्माके अनेक स्वभाव मानते हैं अतः कर्त्ता और कर्म हो जानेमें कोई दोष नहीं है। यों कहेंगे तो यह जैनियोंका कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एकमें अनेक धर्म माननेसे अनवस्था दोष हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा। देखिये आप किसी एक स्वरूपसे आत्माको कर्म कहोगे और अन्य किसीरूपसे आत्माको कर्तापन मानोगे। इस प्रकार अनेकस्वरूप माननेपर हम जैनियोंसे पूंछते हैं कि भाइओ! वे आत्माके अनेक धर्म प्रत्यक्षित हैं अथवा अप्रत्यक्षित हैं! बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार यदि उन आत्माके धर्मोंका प्रत्यक्ष होना मानोगे तब तो वे धर्म अवश्य कर्म होने चाहिए और उन धर्मोंका प्रत्यक्ष करनेवाला कर्ता भी न्यारा होना चाहिए। तथा यदि उन न्यारे अनेक कर्तृत्व, कर्मत्व धर्मोंका भी प्रत्यक्ष होना स्वीकार करोगे तो फिर उन धर्मोंमें भी न्यारे न्यारे कर्मपन और कर्तापन धर्म अवश्य स्वीकार करने पड़ेंगे, उन कर्मत्व और कर्तृत्व धर्मोंका भी प्रत्यक्ष होना मानोगे। क्योंकि वे जैन मतानुसार आत्मासे अभिन्न हैं तो उनके लिये भी तीसरे चौथे न्यारे कर्मत्व कर्तृत्व धर्म अवश्य ही होंगे। इस प्रकार ऊंट की पूंछमें ऊंटके समान अनवस्था हो जावेगी। दूर जाकर भी कहीं ठहरना नहीं हो सकेगा।

तदनेकं रूपमप्रत्यक्षं चेत्, कथमात्मा प्रत्यक्षो नाम? पुमान् प्रत्यक्षस्तत्स्वरूपं न प्रत्यक्षमिति कः श्रद्दधीत!

यदि जैनजन उन अनेक धर्मोंका नहीं प्रत्यक्ष होना मानेंगे तो उन धर्मोंसे अभिन्न आत्माका कैसे प्रत्यक्ष हो सकेगा? आत्माका प्रत्यक्ष होना माना जावे और उसके तदात्मक धर्मोंका प्रत्यक्ष होना न माना जावे इस प्रकार कौन परीक्षक श्रद्धान कर सकता है! भावार्थ—ऐसी बातोंका कोरे भक्तजन भले ही श्रद्धान कर लेवें, मीमांसा करनेवाले परीक्षक श्रद्धा नहीं करेंगे। अर्धजरतीय दोषका प्रसङ्ग आ जावेगा।

यदि पुनरन्यः कर्ता स्यात्तदा स प्रत्यक्षोऽप्रत्यक्षो वा? प्रत्यक्षश्चेत् कर्मत्वेन प्रतीयमानोऽसाविति न कर्त्ता स्याद्विरोधात् कथमन्यथैकरूपतात्मनः सिद्धयेत्? नानारूपत्वादात्मनो न दोष इति चेन्न, अनवस्थानुषङ्गात्, इत्यादि पुनरावर्तत इति महच्चक्रकम्।

जैन लोग फिर दूसरे पक्षके अनुसार यदि उस आत्माको जाननेके लिये अन्य आत्माको कर्ता मानेंगे तो बताओ! वह दूसरा आत्मा प्रत्यक्ष है अथवा अप्रत्यक्ष? अर्थात् उस आत्माका प्रत्यक्ष होना है या नहीं। यदि दूसरे आत्माका प्रत्यक्ष होना मानोगे तब तो वह कर्मपनेसे जाना जा रहा है। इस कारण कर्ता न हो सकेगा। क्योंकि एक वस्तुमें कर्तापन और कर्मपनका विरोध है। अन्यथा यानी यदि विरोध न मानोगे तो आत्माका एकरूपपना कैसे सिद्ध हो सकेगा? बताओ।

यदि जैन लोग यह कहें कि आत्मा अनेक धर्मस्वरूप है अतः कर्तापन और कर्मपन दोनों एक आत्मामें रह सकते हैं कोई दोष नहीं आता है। मीमांसक कहते हैं कि यह कहना भी ठीक

नहीं है। क्योंकि अनवस्था दोष आजावेगा। अर्थात् किसी स्वभावसे कर्तापन और अन्य स्वभावसे कर्मपना माननेपर और पुनः उनके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आदिका प्रश्न उठाते उठाते उन्हीं चोथोंकी फिर भी बार बार आवृत्ति होगी। इस प्रकार जैनियोंके ऊपर बडा भारी अनवस्थागर्भित चक्रक-दोष हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा। तीन चार उत्तर प्रश्नोंके घुमाते रहनेसे चक्रक दोष लगता है और इनकी आकांक्षा बढती जानेसे अनवस्था चालू रहती है॥

तस्याप्रत्यक्षत्वे स एवास्माकमात्मेति सिद्धोऽप्रत्यक्षः पुरुषः। परोक्षोऽस्तु पुमानिति चेत् न, तस्य कर्तृरूपतया स्वयं संवेद्यमानत्वात्। सर्वथा साक्षादप्रतिभासमानो हि परोक्षः परलोकादिवन्न पुनः केनचिद्रूपेण साक्षात्प्रतिभासमान इत्यपरोक्ष एव आत्मा व्यवस्थितिमनुभवति इति केचित्।

इस द्वितीयपक्षके अनुसार अभीतक मीमांसक ही कहे जाते हैं कि उक्त दोषोंको दूर करने के लिये जैनलोग यदि उस आत्माका प्रत्यक्ष होना नहीं मानेंगे, तब तो वही हम मीमांसक लोगोंका माना हुआ भी आत्मा है। इस प्रकार मीमांसकोंके अनुसार अप्रत्यक्ष आत्मा सिद्ध हुआ।

यदि कोई आत्माको सर्वथा परोक्ष होना ही स्वीकार करे यों तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस आत्माका कर्तापन धर्मसे स्वयं अपनेमें प्रत्यक्षरूप संवेदन किया जा रहा है। जो वस्तु सभी प्रकारोंसे साक्षात् प्रत्यक्षस्वरूप प्रतिभासित नहीं होती है, वह परोक्ष मानी जाती है। जैसे कि आकाश, परमाणु, परलोक, पुण्य, पाप आदि हैं। इनकी ज्ञप्ति अपौरुषेय वेदसे हो सकती है, किंतु जो फिर किसी भी एक अंशसे प्रत्यक्षरूप जानी जा रही है, वह सर्वथा परोक्ष नहीं हो सकती है। आत्माका कर्तारूपसे प्रत्यक्ष हो रहा है, इस कारण परोक्षपनेसे रहित ही आत्मा कथञ्चित् प्रत्यक्ष रूप व्यवस्थित होनेका अनुभव करता है। इस प्रकार बडी देरसे कोई एक मीमांसक अपने मतकी पुष्टि कर रहे हैं। यह मीमांसक आत्माका कर्तारूपसे प्रत्यक्ष होना इष्ट करते हैं॥

तेषामप्यात्मकर्तृत्वपरिच्छेद्यत्वसम्भवे।
कथं तदात्मकस्यास्य परिच्छेद्यत्वनिह्नवः॥ २१५॥

अब ग्रंथकार कहते हैं कि उन मीमांसकोंके मतमें भी आत्माके कर्तापनेका जब परिच्छेद्यपना (जाना गयापन) सम्भव हो रहा है, ऐसी दशामें उस कर्तापनेसे अभिन्न हो रहे इस आत्माको परिच्छित्तिके कर्म बननेका कैसे छिपाना हो सकता है? भावार्थ—मीमांसक आत्माको ज्ञप्तिका कर्म नहीं बनने देते हैं किंतु जब उन्होंने आत्माकी कर्तृता ज्ञेय मानी है तो कर्तृतासे अभिन्न मानी गयी आत्माको भी ज्ञप्तिका कर्म मानना आवश्यक हुआ।

कर्तृत्वेनात्मनः संवेदने तत्कर्तृत्वं तावत्परिच्छेद्यमिष्टमन्यथा तद्विशिष्टतयास्य संवेदनविरोधात्, तत्सम्भवे कथं तदात्मकस्यात्मनः प्रत्यक्षत्वनिह्नवो युक्तः।

सबसे प्रथम यह बात विचारणीय है कि आप मीमांसक आत्माका कर्तापनसे संवेदन होना मानोगे तो उस कर्त्तापनेको परिच्छित्तिका कर्म इष्ट करना ही पडेगा। अन्यथा अर्थात् यदि कर्तापनको परिच्छित्तिका कर्म न मानोगे तो उस कर्तापनसे सहित हो रहे इस आत्माके ज्ञान होनेका विरोध है, किंतु जब आत्माके उस कर्तृत्वकी परिच्छित्ति होना सम्भव है तो कर्तृत्वसे तादात्म्य रखते हुए आत्माको प्रत्यक्षपनका छिपाना कैसे भी युक्तिपूर्ण नहीं है।

ततो भेदे नरस्यास्य नापरोक्षत्वनिर्णयः।
न हि विन्ध्यपरिच्छेदे हिमाद्रेरपरोक्षता ॥ २१६ ॥

आप मीमांसक यदि उस कर्तृत्व नामक धर्मसे आत्माका सर्वथा भेद मानोगे तो आत्माके अपरोक्षपनेका निश्चय नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्त्तापनका प्रत्यक्ष कर लेनेपर भी उससे भिन्न आत्माका अपरोक्षरूपसे जान लेना अशक्य है। विन्ध्यपर्वतके प्रत्यक्ष कर लेने पर भी हिमालय पहाड की अपरोक्षता नहीं मानी जाती है। अर्थात् मीमांसक आत्माका कर्तापनसे संवेदन हो जानेके कारण आत्माको परोक्ष नहीं मानते हैं, किंतु कर्तृताका आत्मासे भेद होनेपर उक्त सिद्धांत नहीं ठहरता है। कर्तृताका प्रत्यक्ष हो जावेगा, एतावता आत्माका तो प्रत्यक्ष नहीं हुआ। मीमांसक आत्माका अपने डीलसे प्रत्यक्ष होना मानते नहीं हैं। हां, सर्वथा परोक्षपनका निराकरण करते हैं।

कर्तृत्वाद्भेदे पुंसः कर्तृत्वस्य परिच्छेदो न स्यात् विन्ध्यपरिच्छेदे हिमाद्रेरिवेति। सर्वथात्मनः साक्षात्परिच्छेदाभावात्परोक्षतापत्तेः कथमपरोक्षत्वनिर्णयः? ततो नैकान्तेनात्मनः कर्तृत्वादभेदो भेदो वाऽभ्युपगन्तव्यः।

मीमांसक यदि कर्तापन–धर्मसे आत्माको सर्वथा भिन्न मानेंगे तो पुरुषकी कर्तृताका ज्ञान न हो सकेगा। आत्माकी कर्तृताको वह जान सकता है जो आत्मा और कर्तृता दोनोंका ज्ञान करे। जैसे कि विन्ध्यके जान लेनेपर उससे सर्वथा भिन्न हो रहे हिमालयकी ज्ञप्ति नहीं हो पाती है। इस प्रकार आत्माका सर्वथा प्रत्यक्ष करके परिच्छेद्य न हो जानेके कारण आत्माको पूर्णरूपसे परोक्ष होनेका प्रसंग आता है तो फिर आपके माने हुये आत्माके अपरोक्षपनेका कैसे निश्चय किया जावेगा? बताओ। इस कारण आत्माका कर्तापनसे एकांत करके अभेद अथवा भेद नहीं स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि दोनों ही पक्षोंमें पूरे तौरसे प्रत्यक्ष होनेका या परोक्ष होनेका प्रसंग आता है।

भेदाभेदात्मकत्वे तु कर्तृत्वस्य नरात्कथम्।
न स्यात्तस्य परिच्छेद्ये नुः परिच्छेद्यता सतः ॥ २१७ ॥

यदि आत्मासे कर्तृत्वधर्मका कथंचित् भेदाभेद मानोगे तो उस कर्तृत्वके परिच्छेद्य हो जानेपर विद्यमान हो रहे आत्माकी परिच्छेद्यता क्यों न होगी ? अर्थात् आत्मा परिच्छित्ति-क्रियाका कर्म भी बन जावेगा। कर्तृत्वमें जो बातें हैं वे तदभिन्न आत्मामें भी स्वीकार करनी पडेंगी ॥

कथञ्चिद्भेदः कथञ्चिदभेदः कर्तृत्वस्य नरादिति चायुक्तमंशतो नरस्य प्रत्यक्षत्वप्रसंगात्। न हि प्रत्यक्षात्कर्तृत्वाद्येनांशेन नरस्याभेदस्तेन प्रत्यक्षत्वं शक्यं निषेद्धुं, प्रत्यक्षादभिन्नस्याप्रत्यक्षत्वविरोधात्।

स्याद्वादियोंके सदृश मीमांसक भी आत्मासे कर्तृताका कथञ्चित् धर्मधर्मीभावसे भेद मानेंगे और द्रव्यरूपसे कथञ्चित् अभेद मानेंगे सो तो उनके सिद्धांतसे अयुक्त होकर ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि जिस अंशके द्वारा आत्माका कर्तृत्वसे अभेद माना है, उस अंशसे आत्माका विशदरूपसे प्रत्यक्ष होनेका प्रसंग आता है। प्रत्यक्षप्रमाणसे जाने जा चुके कर्तृत्वधर्मसे जिस अंश करके आत्माका अभेद है, उस स्वरूपसे आत्माके प्रत्यक्ष होनेका कोई निषेध नहीं कर सकता है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाणके विषय हो चुके पदार्थसे अभिन्न माने गये वस्तुका प्रत्यक्ष न होना विरुद्ध है। जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है, उससे अभिन्नका भी अवश्य प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। " अन्धसर्पबिलप्रवेश " न्यायानुसार आपको जैन सिद्धांत अङ्गीकृत हुआ।

प्रत्यक्षत्वं ततोंऽशेन सिद्धं निह्नुतये कथम्।
श्रोत्रियैः सर्वथा चात्मपरोक्षत्वोक्तदूषणम् ॥ २१८ ॥

इस कारणसे आत्माका किसी अंशसे प्रत्यक्ष होना सिद्ध हो गया तो कर्मकाण्डी प्रभाकर मीमांसकोंके द्वारा आत्माकी प्रत्यक्षता कैसे छिपायी जा सकेगी ? आत्माको सर्वथा परोक्ष माननेपर पूर्वमें कहे हुए दूषण लगते हैं।

ननु चात्मनः कर्तृरूपता कथञ्चिदभिन्ना परिच्छिद्यते न तु प्रत्यक्षा कर्तृरूपता, कर्मतया प्रतीयमानत्वाभावात्तन्नात्मनोंऽशेनापि प्रत्यक्षत्वं सिद्ध्यति, यस्य निह्नवे प्रतीतिविरोध इति चेत्, कथमिदानीं कर्तृता परिच्छिद्यते ?।

प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक कहते हैं कि आत्माका कर्तृत्वधर्म आत्मासे कथञ्चित् अभिन्न ही जाना जाता है किन्तु प्रत्यक्षरूपसे नहीं। हम जैसे आत्माका प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं उसी प्रकार उसके ज्ञप्ति, कर्तापन, धर्मका भी प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं क्योंकि ज्ञप्तिक्रियाके कर्मपनेसे कर्तृत्वकी प्रतीति नहीं हो रही है। जो कर्म होकर प्रतीत किये जाते हैं, उन घट, पट आदिकोंका प्रत्यक्ष होता है। उस कारण आत्माकी कर्तृत्व अंशसे भी प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं होती

है, जिसके कि छिपानेपर हमको प्रतीतियोंसे विरोध होवे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो हम स्याद्वादी पूंछते हैं कि इस अवसरमें आप कर्तृताकी परिच्छित्ति कैसे करेंगे ? बताओ, जिस कर्तृत्वको आप सर्वथा कर्म नहीं बनने देते हैं, आत्माके उस कर्तृत्वधर्मकी प्रतीति कैसे भी न हो सकेगी।

तस्य कर्तृतयैवेति चेत्, तर्हि कर्तृता कर्ता न पुनरात्मा, तस्यास्ततो भेदात्। न ह्यन्यस्यां कर्तृतायां परिच्छिन्नायामन्यः कर्त्ता व्यवतिष्ठतेऽतिप्रसङ्गात्।

आत्मा कर्मस्वरूप नहीं है किन्तु कर्ता है। अतः उस आत्माकी कर्तृत्वपनेसे जो प्रतीति है, वही कर्तृत्वकी परिच्छित्ति है। आप प्राभाकर यदि ऐसा कहोगे तब तो कर्तृत्वधर्म ही कर्ता बन बैठा, फिर आत्मा तो कर्ता नहीं हुआ। क्योंकि उस कर्तृत्वधर्मसे वह आत्मा भिन्न पडा है। कर्तापनसे कर्तृत्वधर्म जाना जावे और तैसा हो चुकनेपर उससे सर्वथा भिन्न माना गया आत्मा कर्ता हो जावे यह बात व्यवस्थित नहीं हो सकती है। अति प्रसङ्ग हो जावेगा। अर्थात् यों तो चाहे जो कोई किसीका कर्ता बन जावेगा। कार्यको कोई अन्य पुरुष करे और परितोष लेनेके लिये उनसे भिन्न मनुष्य हाथ पसार देवें ऐसी अव्यवस्था हो जावेगी।

नन्वात्मा धर्मी कर्ता कर्तृतास्य धर्मः कथञ्चित्तदात्मा,तत्रात्मा कर्ता प्रतीयत इति स एवार्थः सिद्धो धर्मिधर्माभिधायिनोः शब्दयोरेव भेदात्ततः कर्तृता स्वरूपेण प्रतिभाति न पुनरन्यया कर्तृतया, यतः सा कर्त्री स्यात्। कर्ता चात्मा स्वरूपेण चकास्ति नापरास्य कर्तृता यस्याः प्रत्यक्षत्वे पुंसोऽपि प्रत्यक्षप्रसङ्ग इति चेत्। तर्ह्यात्मा तद्धर्मो वा प्रत्यक्षः स्वरूपेण साक्षात्प्रतिभासमानत्वान्नीलादिवत्। नीलादिर्वा न प्रत्यक्षस्तत एवात्मवत्।

सशङ्क स्वपक्षका अवधारण करते हुये मीमांसक कहते हैं कि कर्तृत्वधर्मसे सहित हो रहा धर्मी आत्मा कर्ता है और आत्मासे कथञ्चित् तादात्म्यसंबंध रखता हुआ कर्तृत्व इस आत्माका धर्म है। वहां आत्मा कर्ता प्रतीत होरहा है इस प्रकारकी प्रतीतिका विषयभूत अर्थ वह आत्मा ही सिद्ध हुआ। केवल धर्मी और धर्मके कहनेवाले आत्मा और कर्तृत्वशब्दोंमें ही भेद है। अर्थमें कोई भेद नहीं है। तिस कारण आत्मरूपसे ही कर्तृता प्रतीत हो रही है किंतु फिर जैनोंके पूर्व कटाक्षके अनुसार आत्मासे भिन्न कही गयी कर्तृता करके वह नहीं जानी जा रही है। जिससे कि वह कर्तृता ही ज्ञप्तिकी कर्त्री बन बैठती। तथा कर्ता आत्मा भी अपने रूपसे ही प्रकाशित हो रहा है। इस आत्माकी कर्तृता भी आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, जिसके कि प्रत्यक्ष हो जाने पर आत्माको भी प्रत्यक्षपनेका प्रसंग हो जाता। आचार्य कहते हैं कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तब तो आत्मा अथवा उसका धर्म कर्तृत्व इन दोनोंका प्रत्यक्ष हो जावेगा। क्योंकि अपने रूपसे स्पष्ट होकर उनका प्रतिभासन होरहा है, जैसे कि नील, घट, पट आदिका प्रत्यक्ष हो रहा है। अथवा यदि अपने

रूपसे प्रतिभास होनेवालोंका भी प्रत्यक्ष न मानोगे तो तिस ही कारण आत्माके समान नील कम्बल, घट, पट आदिका भी प्रत्यक्ष होना मत मानो। न्याय्य मार्ग समान होना चाहिये।

नीलादिः प्रत्यक्षः साक्षात् क्रियमाणत्वादिति चेत्, तत एवात्मा प्रत्यक्षोऽस्तु।

नील, घट, पट, आदि बहिरङ्ग पदार्थ तो प्रत्यक्षके विषय हैं क्योंकि उनका विशदरूपसे प्रतिभासन किया जारहा है। यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो तिस ही कारण आत्माका भी प्रत्यक्ष होना मान लो। क्योंकि आत्माका भी विशदरूपसे प्रतिभास किया जा रहा ही है।

कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वान्न प्रत्यक्ष इति चेत् व्याहतमेतत्, साक्षात्प्रतीयमानत्वं हि विषयीक्रियमाणत्वम्, विषयत्वमेव च कर्मत्वम्, तच्चात्मन्यस्ति कथमन्यथा प्रतीयमानतास्य स्यात्।

प्रति उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे कर्ममें यक् विकरण कर कृदन्तमें शानच् प्रत्यय करके प्रतीयमान शब्द प्रगट होता है। प्रतीति क्रियाके घट, पट, आदिक कर्म हैं। अतः प्रतीयमान होनेके कारण वे प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकरणमें विषयिज्ञानका प्रत्यक्षत्व धर्म इन घट पट आदि विषयोंमें उपचारसे आरोपित कर दिया गया है। प्रतिवादी कहता है कि कर्मपनेसे आत्मा कभी प्रतीत नहीं होता है इस कारण प्रत्यक्ष नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो ऐसा कहनेमें व्याघातदोष आता है। जैसे कोई पुरुष अपनेको वन्ध्याका पुत्र कहे या चिल्लानेवाला अपनेको मौनव्रती कहे। उसीके सदृश यहां वदतो व्याघात दोष हैं। पहिले मीमांसकोंने कहा था कि आत्मा कर्तारूपसे प्रतीत हो रहा है इस ही से आत्मा प्रतीतिका कर्म बन जाता है। फिर वे कर्मपनेका निषेध कैसे कर सकते हैं? जो प्रत्यक्षसे प्रतीयमान है, वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे अवश्य विषय किया जा रहा है। ज्ञप्तिका विषयपन ही कर्मपना है और वह आत्मामें विद्यमान है। यदि यह बात न मानकर अन्य प्रकार मानी जावेगी तो इस आत्माका प्रतीतिद्वारा विषय करना भला कैसे हो सकेगा? आप मीमांसक स्वयं सोचो तो सही।

नात्मा प्रतीयते स्वयं किंतु प्रत्येति सर्वदा न ततो प्रतीयमानत्वात्तस्य कर्मत्वसिद्धिरसिद्धता साधनस्येति चेत्, सर्वथाऽप्रतीयमानत्वमसिद्धं कथञ्चिद्वा? न तावत्सर्वथा, परेणापि प्रतीयमानत्वाभावप्रसंगात्। कथञ्चित्पक्षे तु नासिद्धं साधनम्, तथैवोपन्यासात्।

मीमांसक कहते हैं कि आत्मा प्रतीत नहीं होता है किंतु सर्वदा प्रतीतिको करता है, यों कर्ता है, उस कारणसे प्रतीतिका कर्म बनाकर कह देनेसे आत्माको कर्मपनेकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः जैनोंका प्रतीयमानत्व हेतु असिद्ध हो गया यानी आत्मारूपी पक्षमें नहीं रहा। आचार्य कहते हैं कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि आत्माको सर्वथा किसी भी प्रकारसे प्रतीय-

मान नहीं मानते हुये असिद्ध कह रहे हो ? या कथञ्चित् प्रतीयमान नहीं मानते हो ? बताओ, यदि पहिला पक्ष लोगे यानी सर्व प्रकारसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती है तब तो दूसरोंके द्वारा अनुमान, आगम प्रमाणोंसे भी आत्माकी प्रतीति न हो सकेगी। आत्माको जान लेनेके अभावका प्रसङ्ग आवेगा। यदि दूसरा पक्ष लोगे तो यानी कथञ्चित् आत्माकी प्रतीति नहीं होती है अर्थात् किसी अपेक्षासे आत्माकी प्रतीति हो रही है। तब तो हमारा हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि हमने भी आत्माको उस ही प्रकार कथञ्चित् प्रत्यक्ष होनेका ही प्रकरण डाला है। आत्माकी अनेक अर्थपर्यायोंका तो सर्वज्ञके सिवाय किसीको ज्ञान होता ही नहीं है। अतः अनेक अंशोंमें आत्मा छद्मस्थोंके द्वारा अप्रत्यक्ष है।

स्वतः प्रतीयमानत्वमसिद्धमिति चेत्, परतः कथं तत्सिद्धम् ? विरोधाभावादिति चेत्, स्वतस्तत्सिद्धौ को विरोधः ? कर्तृत्वकर्मत्वयोः सहानवस्थानमिति चेत्, परतस्तत्सिद्धौ समानम्।

आप मीमांसक आत्माको अपने आपसे प्रतीत हो जानेका कर्मपना असिद्ध है। यदि ऐसा कहोगे तब तो हम पूंछते हैं कि दूसरोंके द्वारा प्रतीत होनेका वह कर्म बन जाना कैसे सिद्ध है ? बतलाइये।

यदि आप कहें कि दूसरेके द्वारा प्रतीत होनेमें और कर्म बननेमें कोई विरोध नहीं है। इस कारण आत्मा दूसरोंके ज्ञानका विषयभूत कर्म बन सकता है। ऐसा कहनेपर हम जैन कहते हैं कि स्वतः अपने आप उस आत्माके कर्म सिद्ध हो जानेमें कौनसा विरोध आता है ? बताओ। कर्तापन और कर्मपन साथ रहकर एक जगह नहीं ठहर सकते हैं, इस प्रकार सहानवस्था नामका विरोध है, यदि ऐसा कहोगे तो दूसरोंके द्वारा आत्माके जाननेकी सिद्धि होनेपर भी वैसा ही सहानवस्थान दोष समान रूपसे लगता है। जैसे कि एक पुद्गलमें उष्णस्पर्श और शीतस्पर्शका एक समयमें रहना विरुद्ध है। किसी देवदत्त जिनदत्तकी अपेक्षासे ये दोनों अविरुद्ध नहीं होसकते हैं। वैसे ही यदि दूसरे मनुष्योंके द्वारा जाननेपर आत्मा कर्म न बन सकेगा; तब तो दूसरे जीवोंसे अनुमान, आगम, प्रमाणोंके द्वारा भी आत्मा क्यों जाना जावेगा ? आत्मा अप्रमेय तो नहीं है।

यदैव स्वपर्यायं प्रत्येति तदैव परेणानुमानादिनात्मा प्रतीयत इति प्रतीतिसिद्धत्वान्न सहानवस्थानविरोधः स्वयं कर्तृत्वस्य परकर्मत्वेनेति चेत्, तर्हि स्वयं कर्तृत्वकर्मत्वयोरप्यात्मानमहं जानामीत्यत्र सहप्रतीतिसिद्धत्वाद्विरोधो माभूत्। न चात्मनि कर्मप्रतीतिरुपचरिता, कर्तृत्वप्रतीतेरप्युपचरितत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं दहत्यग्निरिन्धनमित्यत्र क्रियायाः कर्तृसमवायदर्शनात्, जानात्यात्मार्थमित्यत्रापि जानातीति क्रियायाः कर्तृसमवायोपचारः।

जिस ही समय आत्मा अपने आप घट, पट आदि अर्थोंको जान रहा है उसी समय दूसरे पुरुषोंसे अनुमान, अर्थापत्ति और आगमप्रमाणद्वारा जाना जा रहा है। यह प्रतीतियोंसे प्रसिद्ध है। इस कारण स्वयं कर्ता भी आत्माका दूसरोंके ज्ञानका कर्म हो जानेसे सहानवस्थान-नामका विरोध नहीं है। जो देवदत्त घट, पट आदिकके जाननेका स्वयं कर्ता है वही जिनदत्त, इन्द्रदत्तके अनुमान, अर्थापत्तिरूप ज्ञानोंका जानने योग्य कर्म भी है। यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तब तो स्वयं अपने जाननेका कर्ता और कर्म होनेमें भी आत्माका कोई विरोध नहीं होवे। क्योंकि मैं देवदत्त अपनी आत्माको स्वयं जान रहा हूं, मैं जीवित हूं, मैं स्वस्थ हूं, मैं विचारशाली हूं, इत्यादि प्रतीतियोंमें आत्मा स्वयं कर्ता और कर्म रूपसे साथ साथ सिद्ध हो रहा है। आप मीमांसक यों न कहना कि आत्मामें कर्मपनेकी प्रतीति होना व्यवहारसे आरोपित है, वास्तविक नहीं। ऐसा कहनेपर तो आत्मामें कर्तापनकी प्रतीतिका भी आरोपितपना होनेका प्रसंग आता है। हम भी यों कह सकते हैं कि इंधनको अग्नि जला रही है। प्रतीतिमें दाहक्रियाका अग्निरूप–कर्तामें समवाय सम्बन्ध देखा जा रहा है। उसके अनुसार अर्थको आत्मा जान रहा है। यहां भी जानना रूप क्रियाका आत्मा–कर्तामें समवायसम्बन्धसे आरोप कर लिया जाता है। क्योंकि स्वात्मामें क्रियाका ठीक ठीक रहना तो नहीं सम्भव है। अतः कर्तापनका उपचार मान लिया गया है।

परमार्थतस्तु तस्य कर्तृत्वे कर्म स एव वा स्यादन्यो वार्थः स्यात् ? स एव चेद्विरोधः कथमन्यथैकरूपतात्मनः ? नानारूपत्वात्तस्यादोष इति चेन्न, अनवस्थानात्।

यदि मीमांसक वास्तविक रूपसे उस आत्माको कर्ता मानेंगे तो हम पूंछते हैं कि वे किसको कर्म कहेंगे। क्या वह आत्मा ही जाननेका कर्म है अथवा क्या अन्य कोई पदार्थ कर्म होगा ? बताओ। यदि उस आत्माको ही कर्म कहोगे तब तो विरोध है। कर्तापन और कर्मपन ये दोनों धर्म आपके सिद्धान्तानुसार एक आत्मामें एक ही समय ठहर नहीं सकते हैं अन्यथा यानी इस ढंगसे अन्य प्रकार अनुसार यदि दोनों धर्मोंका एक आत्मामें ठहरना मानोगे तो आपके माने गये आत्माका एक ही धर्मसे सहितपना कैसे बनेगा ? कहिये।

यदि मीमांसक यों कहें कि हम उस आत्माके एक समयमें अनेक धर्म मान लेवेंगे। अतः कोई दोष नहीं है। सिद्धांती कहते हैं कि सो तो आप नहीं मान सकते हैं क्योंकि आपके ऊपर अनवस्था दोष आता है। जब आत्मा अपनेको जानेगा, तब अपने कर्तापन और कर्मपन धर्मको अवश्य जानेगा। उन धर्मोंके भी तीसरे कर्तापन धर्मको जानेगा। तब तीनों कर्म हो जावेंगे। यहां भी कर्तापन और कर्मपनका प्रश्न उठाया जावेगा। अतः आत्मासे अभिन्न अनेक धर्मोंकी दृष्टि बढ जानेके कारण अनवस्था हो जावेगी। इस तरहसे आपके पदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

यदि पुनरन्योऽर्थः कर्म स्यात्तदा प्रतिभासमानोऽप्रतिभासमानो वा ? प्रतिभासमानश्चेत् कर्ता स्यात्ततोऽन्यत्कर्म वाच्यम्, तस्यापि प्रतिभासमानत्वे कर्तृत्वादन्यत्कर्मेत्यनवस्थानान्न क्वचित्कर्मत्वव्यवस्था ।

यदि फिर आप मीमांसक दूसरा पक्ष ग्रहण करोगे ? यानी अन्य पदार्थ कर्म है, तब तो हम पूंछते हैं कि प्रतिभास करनेवाले पदार्थको कर्म कहोगे ? या नहीं जाननेवाले पदार्थको कर्म कहदोगे ? बतलाइये । यदि प्रतिभास करनेवालेको कर्म कहोगे, तब वह कर्ता भी होगा ? कर्तामें शानच् प्रत्यय किया गया है । तब तो उससे न्यारा कर्म दूसरा कहना पडेगा । क्योंकि आपके मतमें कर्ता और कर्म एक पदार्थ माने नहीं गये हैं और फिर उस दूसरे भिन्न कर्मको भी प्रतिभास करने वाला मानोगे तो वह फिर कर्ता बन बैठेगा । तथा च उससे भी न्यारा कर्म तीसरा ही मानना पडेगा । वह तीसरा भी कर्म प्रतिभासमान माना जावेगा तो चौथे भिन्न कर्मकी आवश्यकता होगी । इस तरह अनवस्था हो जावेगी । कहीं भी ठीक ठीक कर्मपनेकी व्यवस्था न हो सकेगी ।

यदि पुनरप्रतिभासमानोऽर्थः कर्मोच्यते तदा खरशृंगादेरपि कर्मत्वापत्तिरिति न किञ्चित्कर्म स्यादात्मवदर्थस्यापि प्रतिभासमानस्य कर्तृत्वसिद्धेः ।

दूसरे विकल्पके दूसरे विकल्पके अनुसार फिर यदि आप नहीं प्रतिभास होरहे अर्थको कर्म कहोगे, तब तो गधेके सींग, बन्ध्यापुत्र आदि असत्पदार्थोंको भी कर्मपनकी आपत्ति हो जावेगी । इस प्रकार कोई भी पदार्थ कर्म नहीं बन पायेगा । क्योंकि आत्माके समान अर्थ भी प्रतिभास रहे हैं । अतः अर्थोंको भी कर्तापन सिद्ध हो जावेगा । कर्मपना नहीं आ सकेगा ।

यदि पुनरर्थः प्रतिभासजनकत्वादुपचारेण प्रतिभासत इति न वस्तुतः कर्ता तदात्मापि स्वप्रतिभासजनकत्वादुपचारेण कर्ताऽस्तु विशेषाभावात् ।

फिर यदि मीमांसक यों कहेंगे कि प्रतिभासक्रियाका कर्ता मुख्यरूपसे आत्मा ही है । प्रतिभासका जनक हो जानेके कारण उपचारसे अर्थप्रतिभासक्रियाका कर्ता आरोपित कर दिया जाता है । वास्तवमें अर्थ कर्ता नहीं है । तब तो हम जैन भी कह सकते हैं कि अपने प्रतिभासका जनक होनेसे आत्मा भी उपचारसे ही कर्ता होओ, परमार्थसे नहीं । जैसे प्रतिभासका जनक आत्मा है, वैसे ही प्रतिभासका जनक अर्थ भी है, कोई अन्तर नहीं है, तो फिर आत्माको ही कर्ता बनानेका पक्षपात क्यों किया जावे ?

स्वप्रतिभासं जनयन्नात्मा कथमकर्तेति चेदर्थः कथम् ? जडत्वादिति चेत्तत एव स्वप्रतिभासं माजीजनत् । कारणान्तराज्जाते प्रतिभासेऽर्थः प्रतिभासते न तु स्वयं प्रतिभासं जनयतीति चेत्, समानमात्मनि । सोऽपि हि स्वावरणविच्छेदाज्जाते प्रतिभासे विभासते न तन्निरपेक्षः स्वप्रतिभासं जनयतीति ।

अपने प्रतिभासको ठीक तरहसे उत्पन्न करता हुआ आत्मा भला अकर्ता कैसे हो सकता है ? ऐसा मीमांसकोंके कहनेपर हम जैन पूंछते हैं क्यों जी ? अपने प्रतिभासको पैदा करता हुआ अर्थ भी अकर्ता कैसे हो सकता है ? बताओ। यदि तुम यों कहोगे कि अर्थ जड है अतः ज्ञप्ति-रूप प्रतिभासका वह जनक नहीं है। इस प्रकार बतानेपर तो हम कहते हैं कि उस ही कारणसे वह अर्थ अपने प्रतिभासको नहीं उत्पन्न करे अर्थात् प्रतिभासका वह अर्थ कारण भी न बन सकेगा क्योंकि वह जड है। यदि फिर आप यह कहोगे कि दूसरे इंद्रिय, पुण्य, पाप, आदि अन्य कारणोंसे प्रतिभासके उत्पन्न हो जाने पर अर्थप्रतिभासता है किंतु वह स्वयं अपने प्रतिभासको उत्पन्न नहीं कराता है। ऐसा कहनेपर तो आत्मामें भी वही बात समानरूपसे लागू हो जाती है कि वह आत्मा भी अपने ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे प्रतिभासके उत्पन्न हो जाने पर स्वयं प्रकाशित हो जाता है। उन क्षयोपशम, मन आदि कारणोंकी नहीं अपेक्षा कर अपने प्रतिभासको नहीं उत्पन्न कराता है। यहां तक परपक्षनिराकरण-पूर्वक अपना सिद्धांत पुष्ट कर दिया है ॥

तदेवमात्मनः कर्तृत्वकर्मत्वापलापवादिनौ नान्योन्यमतिशय्येते ।

इस कारण अबतक विनिगमनाविरहसे यह जाना गया कि इस प्रकार आत्माके कर्तृत्वका और आत्माके कर्मत्वका अपलाप करनेवाले दोनों वादी परस्परमें एक दूसरेसे कोई अधिक नहीं है। चमत्कारी आत्माके कर्तृत्व और कर्मत्वको न माननेवाले बौद्ध और मीमांसकोंमें एक भी रत्ती नहीं चढती है। दोनों ही लोकप्रसिद्ध आत्माके कर्तृत्व और कर्मत्वको सिद्ध करनेवाली प्रतीतियोंका तिरस्कार कर रहे हैं।

ये तु प्रतीत्यनुसरणेनात्मनः स्वसंविदितात्मत्वमाहुस्ते करणज्ञानात्फलज्ञानाच्च भिन्नस्याभिन्नस्य वा भिन्नाभिन्नस्य वा ।

जो भेद वादी प्रतीतिके अनुसार चलनेके कारण आत्माको स्वके द्वारा विदित होजानारूप स्वसंविदित कहते हैं, उनसे तो हम जैन पूंछते हैं कि वे प्रमाणात्मक करणज्ञानसे और ज्ञप्तिस्वरूप फलज्ञानसे भिन्न होरहे आत्माको या अभिन्न कहे गये आत्माको अथवा सर्वथा भिन्नाभिन्न माने गये आत्माको स्वसंविदितपना कह रहे है ? स्पष्ट कर बतलावें।

भिन्नस्य करणज्ञानात्फलज्ञानाच्च देहिनः ।
स्वयं संविदितात्मत्वं कथं वा प्रतिपेदिरे ॥ २१९ ॥

तीन पक्षोंमेंसे यदि पहिला पक्ष लोगे तो करणज्ञान और फलज्ञानसे सर्वथा भिन्न कह दिये गये आत्माका अपने ही द्वारा संविदित स्वरूपपना ये कैसे समझ सकते हैं ? कहो, जो आत्मा ज्ञानोंसे

सर्वथा भिन्न है वह अपना स्वयं वेदन कैसे कर सकता है? कोई युक्ति नहीं है। सूर्यको प्रकाशसे सर्वथा भिन्न माननेपर सूर्यका अपनेको प्रकाश करना कैसे भी नहीं बन सकता है।

यद्धि सर्वथा सर्वस्माद्भेदनाद्भिन्नं तन्न स्वसंविदितं यथा व्योम तथात्मतत्त्वं श्रोत्रियाणामिति कथं तत्तस्येति संप्रतिपन्नाः।

ऐसा नियम है कि जो वस्तु सम्पूर्ण ज्ञानोंसे सर्वथा भिन्न है वह स्वसंवेदी नहीं हो सकती है, जैसे कि आकाश। इसी प्रकार प्राभाकर, मीमांसकोंने आत्मतत्त्वको ज्ञानसे भिन्न मान रखा है। ऐसी दशामें भला यों उस आत्माके उस स्वसंविदितपनेको भी वे कैसे समझ सकते हैं? अर्थात् कैसे भी नहीं। काजलको कालापनसे यदि भिन्न मान लिया जावे तो काजल काला नहीं जाना जा सकता है।

यदि हेतुफलज्ञानाद्भेदस्तस्य कीर्त्यते।
परोक्षेतररूपत्वं तदा केन निषिध्यते॥ २२०॥
परोक्षात् करणज्ञानादभिन्नस्य परोक्षता।
प्रत्यक्षाच्च फलज्ञानात्प्रत्यक्षत्वं हि युज्यते॥ २२१॥

यदि प्रमाणरूप करणज्ञान और ज्ञप्तिरूप फलज्ञानसे आत्माका अभेद कहोगे तो आत्माको परोक्षपना और प्रत्यक्षपना किसके द्वारा रोका जावेगा? अर्थात् कोई निषेध नहीं कर सकता है। मीमांसकोंने प्रमाणात्मक करणज्ञानको परोक्ष माना है और ज्ञप्तिस्वरूप फलज्ञानको प्रत्यक्ष माना है। तथा च परोक्ष प्रमाणज्ञानसे अभिन्न माने गये आत्माको परोक्षपन हो गया और प्रत्यक्ष कहे गये फलज्ञानसे अभिन्न आत्माको नियमतः प्रत्यक्षपना भी युक्तियों करके ठीक प्राप्त हो गया।

परोक्षात् करणज्ञानात् फलज्ञानाच्च प्रत्यक्षादभिन्नस्यात्मनो न परोक्षता, अहमिति कर्तृतया संवेदनान्नापि प्रत्यक्षता, कर्मतया प्रतिभासाभावादिति न मन्तव्यम्, दत्तोत्तरत्वात्।

परोक्ष करणज्ञानसे और प्रत्यक्ष फलज्ञानसे तादात्म्य सम्बंध रखते हुए आत्माको सर्व प्रकारसे परोक्षपना नहीं आता है प्रभाकर ऐसा विश्वास रक्खें। तथा मैं जानता हूं, मैं देखता हूं, इस प्रकार कर्तारूपसे आत्माका प्रत्यक्ष संवेदन भी हो रहा है। अथवा मीमांसक यों कहें कि परोक्ष करणज्ञानसे और प्रत्यक्ष फलज्ञानसे अभिन्न हो रहे आत्माका भले ही परोक्षपना न होवे, क्योंकि मैं हूं ऐसा कर्तास्वरूपसे संवेदन हो रहा है किंतु एतावता आत्मा प्रत्यक्ष भी तो सिद्ध नहीं हो पाता है। क्योंकि आत्माका कर्मरूपसे ग्रंथकार कहते हैं कि प्रतिभास नहीं होता है। यह मीमांसकोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि इसका उत्तर हम पहिले दे चुके हैं। आत्मा अपनेको जाननेमें कर्म होकर किसी अंशसे प्रत्यक्षका विषय हो जाता है।

तथैवोभयरूपत्वे तस्यैतद्दोषदुष्टता ।
स्याद्वादाश्रयणं चास्तु कथञ्चिदविरोधतः ॥ २२२ ॥

इस ही प्रकार तृतीयपक्षके अनुसार उस आत्माको करणज्ञान और फलज्ञानसे सर्व प्रकार करके भेद और अभेद यों उभयरूप माना जावेगा । ऐसी दशामें तो एकांतरूपसे भेद या अभेद पक्षके सदृश इनके उभयपक्षमें भी इन्हीं दोषोंसे दूषित होनेका प्रसंग है । इस दोषके निवारणार्थ यदि सर्वथा उभय पक्ष न मानकर कथञ्चित् भेद अभेदको स्वीकार करोगे, तब तो स्याद्वाद सिद्धांतका ही सहारा ले लिया समझो । क्योंकि प्रमाणज्ञान और प्रमितिरूप ज्ञानसे आत्माका कथञ्चित् भेद और किसी अपेक्षासे अभेदको अवलम्ब करनेपर कोई विरोध नहीं है ।

सर्वथा भिन्नाभिन्नात्मकत्वे करणफलज्ञानादात्मनस्तदुभयपक्षोक्तदोषदुष्टता, कथञ्चिद्भिन्नात्मकत्वे स्याद्वादाश्रयणमेवास्तु विरोधाभावात् ।

करणरूप प्रमाणज्ञान और फलस्वरूप प्रमितिज्ञानसे आत्माको सर्वथा भिन्न या अभिन्नस्वरूप माना जावेगा तब तो पूर्वमें भेद और सर्वथा अभेदके एकांत पक्षोंमें कहे गये उन दोषोंसे दूषित होना पडेगा । प्रत्येक एकान्तमें जो जो दोष आते हैं, उन दोनों एकांतोंके मिलनेपर भी उभय पक्षमें वे सभी दोष आ जाते हैं । हां, कथञ्चित् भिन्न और अभिन्न स्वरूप माननेपर तो अनेकांत मतका आश्रय करना ही हुआ। क्योंकि उन दोनों एकांतोंसे कथञ्चित् भेद या अभेद निराली तीसरी ही अवस्था है । अतः उन दोनों एकान्तोंके दोष कथञ्चित् पक्षमें लागू नहीं होते हैं । दो है अवयव जिसके उसको उभय कहते हैं । उभ शब्दका अर्थ दो है और उभय शब्दका अर्थ दोका मिलकर बना हुआ एक न्यारा पदार्थ है । तभी तो व्याकरणमें उभ शब्दको द्विवचनान्त माना है । और उभय शब्दको एकवचन स्वीकार किया है । कहीं कहीं उभय शब्दका बहुवचन भी इष्ट किया है । परस्परमें सर्वथा विरुद्ध ऐसे दो पदार्थोंका एकीभावरूप मिश्रण नहीं हो सकता है । दूध या पानी तथा दूध और बूरेका एकीकरण हो जाता है । दूध और पारेका मिश्रण नहीं होता है । अतः सर्वथा भेद अभेदका भी उभय बनना शब्दशास्त्र और अर्थशास्त्रसे अनुचित है किन्तु कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेदका विरोध न होनेके कारण संकलन हो जाता है । अतः प्रमाणदृष्टिसे आत्माके साथ करणज्ञान और फलज्ञानका कथञ्चित् भेद और अभेद मानना न्याय्य है । एक देवदत्तमें पितापन, पुत्रपन, माननापन, मायापन, आदि धर्मोंके समान अपेक्षाभेदसे भेद और अभेदमें कोई विरोध नहीं आता है ।

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणायाः शक्तेः करणज्ञानरूपायाः द्रव्यार्थाश्रयणादभिन्नस्यात्मनः परोक्षत्वम्, स्वार्थव्यवसायात्मकाच्च फलज्ञानादभिन्नस्य प्रत्यक्षत्वमिति स्याद्वादा-

पारिवारिक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रयणे न किंचिद्विरोधमुत्पश्यामः सर्वथैकान्ताश्रयणे विरोधात्। तस्मादात्मा स्यात्परोक्षः स्यात्प्रत्यक्षः।

अपने नियत ज्ञानको रोकनेवाले ज्ञानावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकको उदयप्रकारका फल न देते हुये झड जानारूप क्षय तथा भविष्यमें उदय आनेवाले ज्ञानावरण कर्मोंका सत्तामें अवस्थित बने रहना स्वरूप उपशम और देशघाती प्रकृतियोंके उदय होनेपर जो आत्मामें विशुद्धि होती है, उसको लब्धि कहते हैं। लब्धिरूप शक्तिको प्राप्त करनेमें भविष्यमें आनेवाले कर्मोंके उपशमकी इसलिये आवश्यकता है कि अपकर्षण न हो सके या उदीरणाके द्वारा वे कर्म उदयावलीमें न आ जावें तथा देशघाती प्रकृतियोंके उदय बने रहनेसे चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें परिपूर्णता या पूरी स्पष्टता नहीं होने पाती है। सर्वघातिप्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय तो ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण है ही, ऐसे क्षयोपशम स्वरूप जाननेकी शक्तिको अन्तरंग करणात्मक ज्ञान कहते हैं। द्रव्यार्थिक नयका आसरा लेकर विचारा जावे तो वह लब्धि और आत्मा अभिन्न हैं। इस कारण छद्मस्थ जीवोंको लब्धिरूप करणज्ञान जब परोक्ष है तो उससे अभिन्न आत्मा भी परोक्ष सिद्ध हुआ। और अपना तथा अर्थका निश्चय करनेवाले फलज्ञानका प्रत्यक्ष होता है तो उस उपयोग स्वरूप फलज्ञानसे अभिन्न माने गये आत्माका भी प्रत्यक्षपना सिद्ध हुआ। इसपर स्याद्वाद-मतका सहारा लेनेसे तो हमको कोई भी विरोध नहीं दीख रहा है। हां, सर्वथा एकान्तका अवलम्ब लेनेपर नैयायिक और बौद्धोंको विरोध दोष लगेगा। उस कारणसे अबतक सिद्ध हुआ कि क्षयोपशम-स्वरूप लब्धिसे अभिन्न हो रहा आत्मा कथञ्चित् परोक्ष है और उपयोगस्वरूप आत्माका प्रत्यक्ष भी होता है। यों अपेक्षासे कथञ्चित् लगा कर आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध हुआ।

प्रभाकरस्याप्येवमविरोधः किं न स्यादिति चेत् न, करणफलज्ञानयोः परोक्षप्रत्यक्षयोरव्यवस्थानात्। तथाहि—

प्रभाकर मीमांसक कहते हैं कि स्याद्वादियोंके समान हमारे मतमें भी आत्माके प्रत्यक्षपने और परोक्षपनेका इस प्रकार अविरोध क्यों न हो जावे? आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि मीमांसकोंके द्वारा माने गये करणज्ञानका परोक्षपना और फलज्ञानका प्रत्यक्षपना युक्तियोंसे व्यवस्थित नहीं हो पाता है। भावार्थ—प्राभाकरोंसे माना गया करणज्ञान परोक्ष सिद्ध नहीं है। उसका सब जीवोंको स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष हो रहा है। यद्यपि लब्धिरूप ज्ञान परोक्ष है किंतु उसको प्राभाकर इष्ट नहीं करते हैं। प्रभाकर जिस फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना मानते हैं, वह करणज्ञानसे सर्वथा सिद्ध होकर व्यवस्थित होता नहीं है। इसी बातको स्पष्टतासे दिखलाते हैं—

प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदे स्वार्थाकारावभासिनि।
किमन्यत्करणज्ञानं निष्फलं कल्प्यतेऽमुना॥ २२३॥

अपना और अर्थका उल्लेख कर प्रकाशित होनेवाले अर्थज्ञानका यदि प्रभाकर प्रत्यक्ष होना मान रहे हैं तो इस ज्ञानसे भिन्न एवं दूसरा करणज्ञान व्यर्थ ही प्रभाकरद्वारा क्यों कल्पित किया जा रहा है ? जिसकी कि कोई आवश्यकता नहीं। यह वार्त्तिक भट्ट और प्रभाकर दोनोंके लिये कही गयी है ॥

अर्थपरिच्छेदे पुंसि प्रत्यक्षे स्वार्थाकारव्यवसायिनि सति निष्फलं करणज्ञानमन्यच्च फलज्ञानं, तत्कृत्यस्यात्मनैव कृतत्वादिति तदकल्पनीयमेव ।

जब भट्टमतानुयायी मीमांसक अर्थको जाननेवाले एवं स्वको तथा अर्थको उल्लेखसहित समझने और समझानेवाले आत्माका यदि प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं, तब आत्मा ही अर्थोंका परिच्छेद कर लेता है, तो ऐसी दशामें करणज्ञान और उससे भिन्न एक फलज्ञान इन दोनोंका स्वीकार करना व्यर्थ है, क्योंकि उनसे होनेवाले कार्यको आत्मा ही कर देता है। इस कारण प्रमाणज्ञान और फलज्ञानकी कल्पना ही मीमांसकोंको नहीं करनी चाहिये।

स्वार्थव्यवसायित्वमात्मनोऽसिद्धं व्यवसायात्मकत्वात्तस्येति चेत् न, स्वव्यवसायिन एवार्थव्यवसायित्वघटनात्। तथा ह्यात्मार्थव्यवसायसमर्थः सोऽर्थव्यवसाय्येवेत्यनेनापास्तम्, स्वव्यवसायित्वमन्तरेणार्थव्यवसितेरनुपपत्तेः कलशादिवत् ।

मीमांसक कहते हैं कि उस आत्माका स्वरूप ही निश्चयात्मक है। अतः निश्चय कर लेनेवालापन आत्माका स्वभाव नहीं है, तभी तो वह स्वका निश्चय नहीं कर पाता है। अतः अपनेको और अर्थको निश्चय करनेवालापन आत्माके सिद्ध नहीं है जोकि जैन कह रहे हैं। आचार्य समझाते हैं कि यह उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपना निश्चय करनेवाले पदार्थके ही अर्थका व्यवसायीपन घटित होता है यह स्पष्ट है। इस कथनसे किसीका यह मंतव्य भी खण्डित हो जाता है कि " आत्मा अर्थके निश्चय करनेमें समर्थ है, अतः वह अर्थको ही निश्चयकर जान सकता है स्व को नहीं " क्योंकि अपना निश्चय किये विना अर्थका निश्चय करना सिद्ध नहीं होता है। जैसे घट, पट आदिक अपनेको नहीं जानते हैं। तभी तो वे किसी अर्थका निश्चय नहीं कर सकते हैं।

सत्यपि स्वार्थव्यवसायिन्यात्मनि प्रमातरि प्रमाणेन साधकतमेन ज्ञानेन भाव्यम्। करणाभावे क्रियानुपपत्तेरिति चेत् न, इन्द्रियमनसोरेव करणत्वात् ।

मीमांसक कहते हैं कि अच्छी बात है। अपनेको और अर्थको निश्चय करनेवाला प्रमाता आत्मा सिद्ध हुआ ऐसा होनेपर फिर भी ज्ञप्तिक्रियाका साधकतम यानी प्रकृष्ट उपकारक प्रमाण ज्ञान अवश्य होना चाहिये। क्योंकि करणके विना क्रिया हो नहीं सकती है। अतः हमारा करणज्ञान मानना व्यर्थ नहीं हुआ। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञप्ति

क्रियाका आत्मा कर्ता है और चक्षुरादिक इंद्रियां तथा मन साधकतम करण विद्यमान हैं ही। मीमांसकोंका इनसे भिन्न परोक्षज्ञानको करण मानना फिर भी निष्प्रयोजन है।

तयोरचेनत्वादुपकरणमात्रत्वात् प्रधानं चेतनं करणमिति चेत् न, भावेन्द्रियमनसोः परेषां चेतनतयावस्थितत्वात्। तदेव करणज्ञानमस्माकमिति चेत्, तत्परोक्षमिति सिद्धं साध्यते। लब्ध्युपयोगात्मकस्य भावकरणस्य छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्, तज्जनितं तु ज्ञानं प्रमाणभूतं नाप्रत्यक्षं स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्, तच्च नात्मनोऽर्थान्तरमेवेति स एव स्वार्थव्यवसायी यदीष्टस्तदा व्यर्थं, ततोऽपरं करणज्ञानं फलज्ञानं च व्यर्थमनेनोक्तं तस्यापि ततोऽन्यस्यैवासम्भवात्।

मीमांसक कहते हैं कि बहिरंग इंद्रियां और मन वे तो अचेतन हैं। इस कारण करणके समीपवर्ती या सहायक उपकरण हो सकते हैं। प्रधान करण तो चेतन ज्ञान ही है। श्रीविद्यानन्द आचार्य समझाते हैं कि मीमांसकोंका यह भी कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि तुमसे भिन्न वादी जैनोंके मतमें, भावस्वरूप इंद्रिय और मनको चेतनात्मक रूपसे व्यवस्थित माना गया है। यहां मीमांसक यदि यों कहें कि वे ही लब्धिरूप इंद्रियां हमारे मतमें करणज्ञान इष्ट की गयी हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि उन लब्धिरूप इंद्रियोंको यदि आप परोक्ष सिद्ध करते हैं तो आपके ऊपर सिद्धसाधन दोष है। लब्धिरूप ज्ञान उपयोग तो आत्माका अंतरङ्ग अतीन्द्रिय परिणाम है। वह आत्माकी भावशक्ति ही ज्ञानका अभ्यंतर करण है। सर्वज्ञके अतिरिक्त छद्मस्थ जीवोंको उस लब्धिरूप ज्ञानशक्तिका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। लब्धिको भले ही आप मीमांसक परोक्ष मानें, हम भी मानते हैं। सिद्ध पदार्थोंको क्यों साध्य किया जाता है। ऐसी बातें सुननेके लिये किसके पास अवसर है। अतः सिद्धसाधन दोष हुआ। हां! उस लब्धिसे उत्पन्न हुआ प्रमाणभूत ज्ञान तो अप्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि उस ज्ञानका स्वरूप अपना और अर्थका निश्चय करना है और वह ज्ञान आत्मासे सर्वथा भिन्न ही होय यों भी नहीं। ऐसा होनेपर वह आत्मा ही स्व और अर्थका निश्चय करनेवाला यदि मान लिया गया तब तो उस आत्मासे भिन्न एक करणज्ञान मानना व्यर्थ ही है। इस उक्त कथनसे करणज्ञानके समान फलज्ञानका भी व्यर्थ होना कह दिया गया है। क्योंकि वह फलज्ञान भी उस आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं सम्भव है। उन दोनोंका कार्य अकेला आत्मा ही साध लेता है।

अथवा प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदे फलज्ञाने स्वार्थाकारावभासिनि सति किमतोऽन्यत्करणं ज्ञानं पोष्यते निष्फलत्वात्तस्य।

अब तक आत्माका प्रत्यक्ष होना माननेवाले कुमारिलभट्टके सम्प्रदायानुसार इस वार्तिक कारिकाका अर्थ किया अर्थात् अपनेको और अर्थको जाननेवाले आत्माका जब विशदरूपसे प्रत्यक्ष होना मानते हो तो उससे भिन्न करणज्ञान और फलज्ञानको स्वीकार करना मीमांसकोंका व्यर्थ है।

अब उसी कारिकाका द्वितीय अर्थ प्राभाकर मीमांसकोंके प्रति घटाते हैं कि अथवा स्वयंको और अर्थको प्रत्यक्ष करनेवाले अर्थज्ञप्तिरूप फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना जो प्रभाकर इष्ट कहते हैं। तब अकेले फलज्ञानसे ही अर्थकी परिच्छित्ति होना सिद्ध है ऐसा होनेपर इस फलज्ञानसे भिन्न एक निराला प्रमाणस्वरूप करणज्ञान [illegible] किया जाता है [illegible] बीचका यह प्रमाणज्ञान मानना सर्वथा व्यर्थ है।

तदेव तस्य फलमिति चेत्, प्रमाणादभिन्नं भिन्नं वा ? यद्यभिन्नं प्रमाणमेव तदिति कथं फलज्ञाने प्रत्यक्षे करणज्ञानमप्रत्यक्षम् ? भिन्नं चेन्न करणज्ञानं प्रमाणं स्वार्थव्यवसायादर्थान्तरत्वात् घटादिवत्। कथञ्चिदभिन्नमिति चेन्न सर्वथा करणज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं विरोधात्, प्रत्यक्षात्फलज्ञानात् कथंचिदभिन्नत्वात्।

प्राभाकर कहते हैं कि जैसे कि काठका फटनारूप क्रियाका करण कुठार है। कुठारके बिना छेदनारूप क्रिया किसकी कही जावे ? उसी प्रकार अर्थज्ञप्तिरूप-क्रिया बिना करणके नहीं हो सकती है। इस कारण प्रमाणज्ञान मानना आवश्यक है, तभी तो उस प्रमाणज्ञानका फल वहीं अर्थज्ञप्ति कही जाती है। जैसे वेगके साथ उठना और गिरनारूप क्रियाओंसे युक्त कुल्हाडीका फल काठका फट जाना है। आचार्य कहते हैं कि यदि प्राभाकर ऐसा कहेंगे तब तो हम पूंछते हैं कि वह अर्थज्ञप्तिरूपी फल प्रमाणसे भिन्न है या अभिन्न है ? बताओ।

यदि फलको प्रमाणसे अभिन्न मानोगे तब तो वह फल प्रमाणरूप ही हो गया। भला ऐसी दशामें फलज्ञानका तो प्रत्यक्ष माना जावे और उससे अभिन्न करणज्ञानका प्रत्यक्ष न माना जावे यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् प्रमाणका भी प्रत्यक्ष होना प्राभाकरोंको मानना पडेगा।

द्वितीय पक्षके अनुसार यदि प्रमाणसे फलज्ञानको भिन्न मानोगे, तब तो करणज्ञान प्रमाण न बन सकेगा। क्योंकि अपने और अर्थके निश्चय करनेवाले फलज्ञानसे वह प्रमाणज्ञान सर्वथा भिन्न माना गया है। जैसे फलज्ञानसे सर्वथा भिन्न हो रहे घट, पट आदिक तटस्थ पदार्थ प्रमाण नहीं बनते हैं वैसे ही भिन्न उदासीन पडा हुआ करणज्ञान भी प्रमाण न हो सकेगा। उक्त दोनों दोषोंके निवारणके लिये यदि प्रमाण और फलज्ञानका कथञ्चित् अभेद मानोगे, तब तो करणज्ञान सर्वथा ही अप्रत्यक्ष न हो सकेगा। अभेदपक्ष लेनेपर फलज्ञानका प्रत्यक्षपना धर्म करणज्ञानमें भी प्रविष्ट हो जावेगा। फलज्ञानमें प्रत्यक्षत्व माना जावे और उससे अभिन्न प्रमाणज्ञानमें अप्रत्यक्षपना माना जावे यह बात विरुद्ध है हो नहीं सकती। प्रत्यक्ष होनेवाले फलज्ञानसे कथञ्चित् अभिन्न हो रहा प्रमाण भी प्रत्यक्षविषय हो जावेगा। अर्थात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे प्रमाण जान लिया जावेगा।

कर्मत्वेनाप्रतिभासमानत्वात्करणज्ञानमप्रत्यक्षमिति चेन्न, करणत्वेन प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः, कथञ्चित्प्रतिभासते च कर्म च न भवतीति व्याघातस्य प्रतिपादितत्वात्।

मीमांसक कहते हैं कि जाननारूप क्रियाका जो कर्म होता है उसका प्रत्यक्ष होना हम इष्ट करते हैं किंतु करणज्ञानको ज्ञप्तिक्रियाका कर्मपना नहीं प्रतिभासित हो रहा है। वह तो करण है। इस कारण प्रमाणज्ञानका प्रत्यक्ष होना नहीं माना जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि यह कोई राजाकी आज्ञा नहीं है कि जो ज्ञप्तिक्रियाका कर्म न होगा, उसका प्रत्यक्ष भी न हो सकेगा। उक्त नियमका भट्टके मतमें आत्मासे और प्राभाकरके मतमें फलज्ञानसे व्यभिचार होता है क्योंकि आत्मा तो ज्ञप्तिका कर्ता है और फलज्ञान स्वयं क्रिया है। इन दोनोंमेंसे कर्म कोई नहीं है फिर भी इनका प्रत्यक्ष हो जाना माना है, अतः प्रमाणज्ञानका करणपनेसे प्रतिभास होते हुए भी प्रत्यक्ष होना बन सकता है, कोई बाधा नहीं है। ज्ञान अन्य पदार्थोंका प्रकाश तो करे और वह स्वयं किसी भी प्रकारसे ज्ञप्तिक्रियाका कर्म न हो सके इस बातमें व्याघात दोष है; इसको हम पूर्वमें कह चुके हैं। कथञ्चित् प्रतिभासता है और कर्म नहीं होता है यह बोलना ही पूर्वापर विरुद्ध है। भावार्थ—जो ज्ञान पदार्थोंका प्रतिभास करता है वह अपनेको जानता हुआ अंशरूपसे ज्ञप्तिक्रियाका कर्म भी हो सकता है। कोई क्षति नहीं है। प्रदीप दृष्टान्त विद्यमान है।

कथञ्चायं फलज्ञानं कर्मत्वेनाप्रतिभासमानमपि प्रत्यक्षमुपयन् करणज्ञानं तथा नोपैति न चेद्व्याकुलान्तःकरणः।

हम अन्य परीक्षकोंके सम्मुख घोर गर्जना करते हुए प्राभाकरोंके प्रति कटाक्ष करते हैं कि यह प्राभाकर कर्मपनेसे नहीं भी प्रतिभासित हो रहे ऐसे फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना कैसे मान लेते हैं? बताओ, ज्ञप्तिक्रियाके नहीं कर्म बने हुए भी फलज्ञानको प्रत्यक्षविषय मानता है और ज्ञप्तिक्रियाके करणको कर्म न होनेके कारण फलज्ञानके समान प्रत्यक्षगोचर नहीं मानता है। क्यों जी! इसका अन्तःकरण क्या घबडाया हुआ नहीं है? यह अवश्य व्याकुल है। ऐसी ओंधी बाते तो आपेसे रहित मनुष्य कहा करते हैं। दार्शनिकोंको अयुक्त पक्षपात नहीं करना चाहिये।

फलज्ञानं कर्मत्वेन प्रतिभासत एवेति चेत् न, फलत्वेन प्रतिभासनविरोधात्।

पुनः प्राभाकर कहते हैं कि फलज्ञानका ज्ञप्तिक्रियाके कर्मपनसे प्रतिभास हो रहा ही है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि जिसका कर्मपनेसे प्रतिभास न हो रहा है, आपके मतानुसार उसका फलपनेसे प्रतिभास होनेका विरोध है। भावार्थ—एकांतवादियोंके मतमें जो कर्म है वह फल नहीं हो सकता है। स्याद्वादसिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है।

ननु च प्रमाणस्य परिच्छित्तिः फलं सा चार्थस्य परिच्छिद्यमानता, तत्प्रतीतिः कर्मत्वप्रतीतिरेवेति चेत् किं पुनरियं परिच्छित्तिरर्थधर्मः? तथोपगमे प्रमाणफलत्वविरोधोऽर्थवत् प्रमातृधर्मः सेति चेत् कथं, कर्मकर्तृत्वेन प्रतीतेः।

प्राभाकर अपनी पहिली शंका करते हुए अनुनय करते हैं कि प्रमाणका फल ज्ञप्ति होना है और वह ज्ञप्ति तो अर्थका जाना जा रहापन है। उस परिच्छित्तिक्रियाके द्वारा जाने गयेपनकी प्रतीतिको ही ज्ञप्तिक्रियाके कर्मपनेकी प्रतीति कहते हैं। इस कारण फलरूप परिच्छित्तिको कर्मपना भी बन जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि फिर यों बताओ कि यह ज्ञप्ति क्या अर्थका धर्म है ? या आत्माका धर्म है ? यदि आप अर्थकी ज्ञप्तिको इस प्रकार घट, पट आदि अर्थोंका स्वभाव मानेंगे तब तो घट या उसके रूप, रस आदि अर्थोंके समान वह प्रमाणका फल न हो सकेगी, विरोध है। अर्थके धर्म तो प्रमाणके फल नहीं हो सकते हैं अन्यथा चेतनके फल काला, नीला, शीत, उष्ण भी हो जावेंगे।

यदि अर्थकी उस ज्ञप्तिको प्रमाता—आत्माका धर्म मानोगे, तब तो वह अर्थकी ज्ञप्ति भला कर्म कैसे हो सकेगी ? क्योंकि कर्तापनेसे उसकी प्रतीति हो रही है। कर्ताके धर्मोंका कर्मपनेके साथ विरोध है।

न कर्मकारकं नापि कर्तृकारकं परिच्छित्तिः क्रियात्वात्, क्रियायाः कारकत्वायोगात्। क्रियाविशिष्टस्य द्रव्यस्यैव कारकत्वोपपत्तेरिति चेत्, तर्हि न फलज्ञानस्य कर्मत्वेन प्रतीतिर्युक्ता, क्रियात्वेनैव फलात्मना प्रतीतिरिति न प्रत्यक्षत्वसम्भवः करणज्ञानवदात्मवद्वा।

पुनः साकुल होकर प्राभाकर कहते हैं कि परिच्छित्ति न तो कर्मकारक है और न कर्ता कारक है, क्योंकि वह तो क्रिया है। क्रिया कारक थोडी ही होती है। किंतु क्रियासहित हो रहे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण स्वरूप द्रव्यको ही कारकपना युक्तियोंसे सिद्ध है। आचार्य समझाते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तब तो फलज्ञानकी कर्मपनेसे प्रतीति होना युक्त नहीं है। आपने जो पहिले कहा था कि फलज्ञानकी कर्मपनेसे प्रतीति होती है, उस कथनको आप लौटा लीजियेगा। आपके वर्तमान कथनके अनुसार फलस्वरूप करके अर्थज्ञप्तिकी क्रियापनसे ही सब जीवोंको प्रतीति हो रही है। ऐसी दशामें तो फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना नहीं सम्भव है। जैसे कि आपके यहां प्रमाणज्ञानका और आत्माका कर्म न हो सकनेके कारण प्रत्यक्ष होना नहीं माना गया है, उसी प्रकार क्रिया हो जानेके कारण फलज्ञानका भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। क्रियासे सहित पदार्थको कर्मकारक कहते हैं। स्वयं क्रिया तो कर्मकारक कैसे भी नहीं हो सकती है। अतः क्रियाका प्रत्यक्ष न हो सकेगा।

तस्यापि च परोक्षत्वे प्रत्यक्षोऽर्थो न सिद्धयति।
ततो ज्ञानावसायः स्यात् कुतोऽस्यासिद्धवेदनात् ॥ २२४ ॥

करणज्ञान और आत्माके समान यदि उस फलज्ञानका भी प्रत्यक्ष होना न मानेंगे अर्थात् आप फलज्ञानका भी परोक्ष होना स्वीकार करेंगे तो घट, पट आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना नहीं

सिद्ध होता है और जिस ज्ञानका प्रत्यक्ष होना ही असिद्ध है, उस ज्ञानसे अपने या दूसरे ज्ञानका निर्णय भी कैसे हो सकेगा ? आप ही कहिये। जो स्वयं अंधगर्तमें पडा हुआ है, वह दूसरे ज्ञेय और ज्ञानोंका प्रकाशन कैसे कर सकता है ? कथमपि नहीं ॥

फलज्ञानमात्मा वा परोक्षोऽस्तु करणज्ञानवदित्ययुक्तमर्थस्य प्रत्यक्षतानुपपत्तेः प्रत्यक्षां स्वपरिच्छित्तिमधितिष्ठन्नेव ह्यर्थः प्रत्यक्षो युक्तो नान्यथा, सर्वस्य सर्वदा सर्वथार्थस्य प्रत्यक्षत्वप्रसंगात् ।

अर्थपरिच्छित्तिरूप फलज्ञान और प्रमाता आत्मा भी प्रमाणात्मक करणज्ञानके समान परोक्ष रहो। अर्थात् तीनोंका स्वसंवेदनसे या ज्ञानांतरसे प्रत्यक्ष न होओ। इस प्रकार मीमांसकोंका कहना भी युक्तिशून्य है। क्योंकि ऐसा माननेपर पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना नहीं सिद्ध हो पाता है। जो रंग स्वयं पीला नहीं है या पीला करनेकी नैमित्तिक शक्तिसे युक्त नहीं है, वह वस्त्रको पीला नहीं कर सकता है। अपनेको जाननेवाले ज्ञानकी प्रत्यक्षात्मक परिच्छित्ति पर आरूढ होता हुआ ही पदार्थ निश्चय कर प्रत्यक्षविषय ठीक ठीक युक्तिपूर्ण कहा जाता है। दूसरे प्रकार उपाय नहीं है अर्थात् जो अपने विषयी ज्ञानकी प्रत्यक्षरूप ज्ञप्ति होनेपर आरूढ नहीं है उसका प्रत्यक्ष होना मानना अयुक्त है। यदि अपने ज्ञानकी प्रत्यक्षता किये बिना पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाना मान लिया जावे तो सब जीवोंको सम्पूर्ण कालके सभी प्रकारसे अर्थोंका प्रत्यक्ष होनेका प्रसंग आ जावेगा। भावार्थ—ज्ञानमें प्रत्यक्षताके बिना लाये पदार्थोंका प्रत्यक्ष करना माना जावे तो सम्पूर्ण जीव सर्वज्ञ बन जावेंगे क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंकी ज्ञप्तिके अप्रत्यक्षरूप अंधेरेमें सुलभतासे सम्पूर्ण जीव बैठे हुए हैं। उनको पदार्थोंका प्रत्यक्ष करना बिना परिश्रमके प्राप्त हो जावेगा। अन्य आत्माओंके ज्ञानोंका भले ही हमको प्रत्यक्ष न होय फिर भी उन ज्ञानोंसे हमें उनके देखे हुये सभी पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये।

तथात्मनः परोक्षत्वे सन्तानान्तरस्येवार्थः प्रत्यक्षो न स्यादन्यथा सर्वात्मान्तरप्रत्यक्षः सर्वस्यात्मनः प्रत्यक्षोऽसौ किं न भवेत् ? सर्वथा विशेषाभावात् ।

उस प्रकार आत्माका प्रत्यक्ष न मानकर आत्माका परोक्ष ज्ञान होना इष्ट करोगे तो अन्य दूसरी सन्तानात्मक आत्माओंके समान प्रकृत आत्माको भी सन्मुख पदार्थका प्रत्यक्ष न हो पावेगा। यदि अन्य प्रकारसे मानोगे यानी देवदत्तको अपनी आत्माके परोक्ष होनेपर भी पदार्थोंका प्रत्यक्ष करना मानोगे तो संपूर्ण दूसरे जिनदत्त, यज्ञदत्त, पशु, पक्षियोंकी भिन्न आत्माओंके द्वारा जाने गये विषयोंका भी देवदत्तको प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये। तथा देवदत्तसे जाने हुए अर्थका अन्य इन्द्रदत्त आदि सम्पूर्ण आत्माओंको वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं होवेगा ? जब कि सम्पूर्ण आत्मा और उनके ज्ञान सर्वथा परोक्ष ही हैं तो ऐसी दशामें सभी प्रकारोंसे विशेष अन्तर डालनेका कोई

कारण नहीं दीखता है जिससे कि विवक्षित आत्मा ही उन पदार्थोंको जान सकें। दूसरे भिन्न आत्माएं न जानने पावें। एक स्थानपर अनेक अन्धे मनुष्य बैठे हुए हैं उनको काले, पीले, नीले रंगोंके तारतम्यसे पदार्थोंका विभाग करना अशक्य है। या तो सभी अन्धे काले, नीले, पीले सभी पदार्थोंको एकसा जानेंगे और परस्परमें एक दूसरेके ज्ञानोंका साङ्कर्य हो जायेगा। या एक भी अन्धा किसी भी पदार्थको नहीं जान पावेगा क्योंकि परस्परमें कोई अन्तर नहीं है।

ततश्चाप्रत्यक्षादर्थात् न कुतश्चित् परोक्षज्ञाननिश्चयोऽस्य वादिनः स्यात् येनेदं शोभेत ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छतीति।

इस कारण अर्थका प्रत्यक्ष होना जब अलीक हो गया तो ऐसे किसी भी अप्रत्यक्ष अर्थसे इस मीमांसक वादीको परोक्ष ज्ञानकी सत्ताका निर्णय किसी भी अनुमानसे न हो पावेगा। जिससे मीमांसकोंका यह कहना शोभा देता कि "पदार्थोंके ज्ञान हो जानेपर अनुमानसे बुद्धिका ज्ञान कर लिया जाता है।" जब ज्ञानका ही निर्णय नहीं है तो ज्ञानके विषय और ज्ञातपदार्थकी ज्ञातता-रूप हेतुका निर्णय कैसे होगा? और बिना हेतुज्ञानके बुद्धिरूप साध्यका अनुमान कैसे हो सकता है? कथमपि नहीं। यहां यह अन्योन्याश्रय दोष भी है कि ज्ञानका ज्ञान हो जावे तब विषयमें ज्ञातता प्रतीत होवे और ज्ञाततांके जाननेपर ज्ञानका अनुमान हो सके।

नाप्यसिद्धसंवेदनात्पुरुषात्तन्निश्चयो यतोऽनवस्था न भवेत्, तल्लिंगज्ञानस्यापि परोक्षत्वे अपरानुमानान्निर्णयात्तल्लिंगस्याप्यपरानुमानादिति।

और नहीं सिद्ध है ज्ञान जिसका ऐसे आत्मासे भी आपके उस परोक्ष ज्ञानकी सत्ताका निर्णय नहीं हो सकता है जिससे कि अनवस्था दोष न होवे। भावार्थ—अज्ञात अप्रत्यक्ष आत्मासे परोक्ष ज्ञानका निर्णय करनेपर अनवस्था दोष अवश्य लगता है। क्योंकि ज्ञानको अनुमानसे सिद्ध करनेमें जो हेतु दिया गया है उस हेतुके ज्ञानको भी आप परोक्ष मानेंगे तब तो उस हेतुके ज्ञानका भी दूसरे अनुमानसे निर्णय किया जावेगा। एवञ्च दूसरे अनुमानमें पडे हुए हेतुका ज्ञान भी तीसरे अनुमानसे जाना जावेगा। तीसरा हेतुज्ञान चौथे अनुमानसे इस प्रकार अनवस्थाव्याघ्री प्रकृत परोक्षज्ञानकी सिद्धिको खा जावेगी। ज्ञापकपक्षमें हेतुको बिना जाने हुए साध्यका निर्णय हो पाता नहीं है। अतः ज्ञानको जाननेकी आकांक्षायें शांत नहीं होवेंगी, बढती ही जावेंगी।

स्वसंवेद्यत्वादात्मनो नानवस्थेति चेत् न, तस्य ज्ञानासंवेदकत्वात्, तत्संवेदकत्वे वार्थसंवेदकत्वं तस्य किन्न स्यात्।

यदि आप मीमांसक यों कहें कि हम आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना मानते हैं। ऐसे स्वसंवेद्य आत्मासे ज्ञानका अनुमान कर लेवेंगे। आकांक्षायें शांत हो जानेके कारण अनवस्था नहीं

हो पावेगी। ऐसा कहना तो ठीक नहीं जचता है। क्योंकि आपने उस आत्माको ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करनेवाला नहीं माना है। जो ज्ञानका स्वसंवेदन करता है, वही स्वका संवेदन कर पाता है। किन्तु जो ज्ञानका वेदक नहीं है, वह अपना भी संवेदक नहीं है। यदि आत्माको उस ज्ञनका संवेदक मानोगे तो ऐसी दशामें उस आत्माको अर्थका संवेदकपना भी क्यों नहीं होगा।? भावार्थ– आत्मा और ज्ञान दोनों ही सूर्यके समान स्वको और परको प्रकाश करनेवाले पदार्थ हैं। वे स्वको और अर्थको अवश्य जानते हैं। आत्मा और ज्ञानका परोक्ष मानना अतीव प्रकाशमान दीपकका उस कोठरीमें छिपाना है, जिसमें रखी हुयी उससे प्रकाशित छोटी सुई तकको हम देख रहे हैं।

स्वतोऽर्थान्तरं कथञ्चिद् ज्ञानमात्मा संवेदयते न पुनरर्थमिति किंकृतोऽयं नियमः ?

अपनेसे किसी अपेक्षा करके भिन्न माने गये ज्ञानको आत्मा बढिया जान लेता है। किंतु फिर अपनेसे सर्वथा भिन्न हो रहे अर्थको नहीं जान पाता है ऐसा यह नियम किसने किया है? बताओ तो सही क्या सूर्य अपनी किरणोंका प्रकाश करें और गृह, नदी, पर्वत आदिका प्रकाश न करे? ऐसे थोथे नियम बनाना क्या न्याय्य है? अर्थात् नहीं!

संवेदयमानोपि ज्ञानमात्मा ज्ञानान्तरेण संवेदयते स्वतो वा? ज्ञानान्तरेण चेत्, प्रत्यक्षेणेतरेण वा? न तावत् प्रत्यक्षेण, सर्वस्य सर्वज्ञानस्य परोक्षत्वोपगमात्। नापीतरेण ज्ञानेन सन्तानान्तरज्ञानेनेव तेन ज्ञातुमशक्तेः। स्वयं ज्ञातेन चेत् ज्ञानान्तरेण स्वतो वा? ज्ञानान्तरेण चेत् प्रत्यक्षेणेतरेण वेत्यादि पुनरावर्तत इति चक्रकमेतत्।

आपने आत्माको ज्ञानका ही संवेदन करनेवाला माना है। इस पर हम जैन आपसे पूंछते हैं कि ज्ञानको संवेदन करनेवाला भी वह आत्मा क्या दूसरे ज्ञानसे प्रकृतज्ञानका संवेदन करता है? या स्वयं अपने द्वारा ही ज्ञानको जान लेता है? बतलाइये। यदि दूसरे अन्यज्ञानसे इस ज्ञानका जानना मानोगे तो यहां प्रश्न करेंगे कि वह दूसरा ज्ञान क्या स्वयं प्रत्यक्षस्वरूप है? या परोक्षरूप? जिस करके ज्ञान जान रहा है। कहिये, प्रथम विकल्प अनुसार यदि दूसरे स्वयं प्रत्यक्ष हो रहे ज्ञानसे प्रकृतज्ञानका जानना मानोगे सो तो ठीक नहीं है, कारण कि आपको अपसिद्धांत दोष होगा क्योंकि आपने सभी आत्माओंके सम्पूर्ण ज्ञानोंको परोक्ष स्वीकार किया है। द्वितीय पक्षके अनुसार यदि न्यारे परोक्षज्ञानसे ज्ञानका जानना इष्ट करोगे तो अन्यसंतान आत्माओंके ज्ञान करके जैसे उन आत्माओंसे जाने हुए पदार्थोंका हम ज्ञान नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन आत्माओंके ज्ञानोंका हमको प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। उसी प्रकार हमारे उस परोक्षज्ञानसे भी हम ज्ञान, घट आदि तत्त्वोंको जान नहीं सकते हैं।

यदि आप मीमांसक आद्यमें उठाये गये द्वितीय विकल्पके अनुसार स्वयं जाने हुए परोक्ष-ज्ञानसे आत्माको ज्ञानका जानना इष्ट करेंगे तब तो हम पुनः पक्ष उठावेंगे कि द्वितीय ज्ञानको

आत्माने जान लिया, वह ज्ञानांतरसे जाना या स्वही करके जाना ? बताओ। यहां भी आप पूर्वमें कहे हुए के सदृश तृतीयज्ञानसे द्वितीयज्ञानका जानना मानोगे तो हम पुनः विकल्प उठावेंगे कि वह तृतीय ज्ञान प्रत्यक्षरूप है या परोक्षस्वरूप है ? कहिये। इस प्रकारसे बार बार चक्कर देकर पुनः उन्हीं विकल्पोंकी आवृत्ति की जावेगी, अतः यह आपके ऊपर यह चक्रकदोष हुआ, ज्ञानांतर या स्वतः तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष और स्वयंज्ञात इन तीनोंका चक्कर देकर अनवस्थागर्भित चक्रकदोष है।

स्वतो ज्ञानमात्मा संवेदयते स्वरूपवदिति चेत् तथैव ज्ञानमर्थं स्वञ्च स्वतः किं न वेदयते ? यतः परोक्षज्ञानवादो महामोहविजृम्भित एव न स्यात्।

आत्मा जैसे अपने स्वरूपको अपने आप जान लेता है वैसे ही ज्ञानका भी अपने आपसे संवेदन कर लेता है। यदि मीमांसक आप ऐसा कहोगे तब तो उस ही प्रकार ज्ञान भी अपनेको और बहिरङ्गपदार्थोंको अपने आपसे क्यों नहीं जान लेवेगा ? जिससे कि मीमांसकोंके द्वारा ज्ञानका सर्वथा परोक्ष माननेका उठाया हुआ और पक्षपरिग्रहको कह रहा पूर्वपक्ष गाढ मोहांधकारका ही विकार न कहा जावे। अर्थात् जैसे आत्मा अपनेको और ज्ञानको जान लेता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपनेको और अर्थको स्वशक्तिसे जान लेता है। मीमांसकोंका हठसे ज्ञानको परोक्ष कहते जाना केवल अपने आगमकी मिथ्याश्रद्धाका कुफल है। ज्ञानका स्वभाव सूर्यके समान स्व और परका प्रकाश करना है। मिथ्याज्ञान भी स्वको जाननेमें प्रमाणरूप है। क्योंकि वह सच्चे स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे स्वयं अपने आपको जान रहा है। बहिरङ्ग विषयके न ग्रहण करनेकी अपेक्षासे सीपमें चांदीके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहा है " भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः " श्रीसमंतभद्राचार्य महाराज संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल इन सम्पूर्ण ज्ञानोंको स्वांशके ग्रहण करनेमें प्रमाणस्वरूप मानते हैं। झूंठ बोलनेवाला यदि अपनेको असत्य बोलनेवाला कहे तो वह उस अंशमें सत्य वक्ता ही है। अतः ज्ञानके परोक्षपनेका आग्रह छोडकर मीमांसकोंको ज्ञानका प्रत्यक्ष स्वरूपस्वसंवेदन होना अभीष्ट करना चाहिये। अलं वावदूकतया।

कथञ्चात्मा स्वसंवेद्यः संवित्तिर्नोपगम्यते।
येनोपयोगरूपोऽयं सर्वेषां नाविगानतः॥ २२५॥

आत्मा स्वयं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जानने योग्य है, यह प्रमिति क्यों नहीं स्वीकार की जाती है ? जिससे कि सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियोंको निर्दोषपनेसे यह आत्मा ज्ञानोपयोगस्वरूप सिद्ध न हो सके। भावार्थ— स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे आत्मा उपयोगस्वरूप सिद्ध हो जाता है।

कुतः पुनरुपयोगात्मा नरः सिद्ध इति चेत्—

फिर आत्मा उपयोगस्वरूप भला किस ढंगसे सिद्ध किया गया है ? बताओ, जो कि तीसरी वार्त्तिकमें कहा है, पूंछनेपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं—

कथञ्चिदुपयोगात्मा पुमानध्यक्ष एव नः ।
प्रतिक्षणविवर्तादिरूपेणास्य परोक्षता ॥ २२६ ॥

हम स्याद्वादियोंके मतमें आत्मा किसी अपेक्षासे सर्व अंगोंमें उपयोगस्वरूप है अतः वह आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है । भावार्थ— जैसे कपूरमें या कस्तूरीमें रूप, रस और स्पर्शके होते हुए भी गन्धकी प्रधानतासे उनको गंध द्रव्य कहा जाता है । वैसेही आत्मामें अस्तित्व, द्रव्यत्व, चारित्र आदि गुणोंके रहते हुए भी चेतनागुणका विशेषरूपसे समन्वय होनेके कारण आत्माको ज्ञान, चैतन्य-स्वरूप और स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे गम्य इष्ट किया जाता है । आत्माके गुणोंमें स्वपर-प्रकाशक और उल्लेख करनारूप साकार होनेके कारण चेतनागुण प्रधान है । क्योंकि आत्माके सम्पूर्ण गुण और पर्यायोंमें चेतना ओतप्रोत होकर अन्वित हो रही है । सुखको चेतते हैं । उत्साहको जान रहे हैं चारित्रको चेत रहे हैं इस प्रकार अनेक गुणोंमें संचेतनका अनुबन्ध हो रहा है, चेतनाकी ज्ञान और दर्शन पर्यायोंमें अतिप्रकाशमान होनेके कारण ज्ञानपर्याय मुख्य मानी गयी है तथा ज्ञानकी विशेष प्रत्यक्ष परोक्ष अनेक पर्यायोंमें प्रत्यक्षको प्राधान्य दिया गया है । उस प्रत्यक्षज्ञानसे आत्माका तादात्म्यसंबंध है । अतः आत्मा प्रत्यक्षरूप उपयोगात्मक है तथा आत्मा स्वयं अपने ढीलसे स्वयं प्रत्यक्ष हो रहा है । प्रत्यक्ष माननेमें अन्य भी उपपत्तियां हैं; तथा प्रत्येक समयमें होने वाले परिणाम, स्वभाव और विभाव आदि स्वरूपोंसे यह आत्मा परोक्ष स्वरूप भी है । प्रत्येक क्षणमें होने वाली सूक्ष्म अर्थपर्यायोंका सर्वज्ञके अतिरिक्त संसारी जीव प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं । अग्निकी दाहकत्व, पाचकत्व शक्तियोंका उत्तरकालमें होनेवाले वस्त्रदाह या ओदनपाक द्वारा जैसे अनुमान कर लिया जाता है वैसे ही आत्माके अनेक गुण, स्वभाव और अर्थपर्यायोंका अनुमान कर लिया जाता है । असंख्य पर्यायोंको तो सर्वज्ञोक्त आगमसे ही हम लोग जान पाते हैं । हमारा प्रत्यक्ष और हेतुवाद सूक्ष्म अर्थपर्यायोंमें पहाडसे सिर टकरानेके समान व्यर्थ हो जाता है । अतः आत्मा अनेक अंशोंमें स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ज्ञेय न बन सकनेके कारण परोक्षस्वरूप भी है । हम कहांतक कहें, आत्माके कतिपय अंश तो हम लोगोंके ज्ञेय ही नहीं हैं । सर्वज्ञको छोडकर कोई भी जीव आत्माके उन अनभिलाप्य अंशोंको प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञानसे भी नहीं जान पाता है फिर भी अंश और अंशीके अभेद होनेके कारण पूरा आत्मा प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे दो व्यवहारोंमें नियमित कर दिया जाता है ।

स्वार्थाकारव्यवसायरूपेणार्थालोचनमात्ररूपेण च ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकः पुमान् प्रत्यक्ष एव तथा स्वसंविदितत्वात् । प्रतिक्षणपरिणामेन, स्वावरणक्षयोपशमविशिष्टत्वेना-

संख्यातप्रदेशत्वादिना चानुमेयः, प्रवचनसमधिगम्यश्चात्यन्तपरोक्षरूपेणेति निर्णेतव्यं बाधकाभावात् ।

इस वार्त्तिकका भाष्य यों है कि अपना और बहिरङ्ग पदार्थोंका समझने और समझाने योग्य उल्लेख कर निश्चय करनारूप ज्ञानसे तथा पदार्थोंका केवल सत्तारूप आलोचन करनेवाले दर्शनसे आत्मा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग–स्वरूप होता हुआ स्वयं प्रत्यक्ष ही है । क्योंकि ज्ञान और दर्शनसे आत्मा सभीको अपने आप उस प्रकार विदित हो रहा है । तथा प्रत्येक समयमें होनेवाले पर्यायोंसे आत्मा अनुमानका विषय है क्योंकि अनुमानके बिना एक समयमें हुए उन विशेष परिणामोंको हम न्यारे न्यारे नहीं जान सकते हैं । हां ! उनका सच्चे हेतुसे अनुमान कर लिया जाता है । अपने ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमसे सहित आत्मा है इस स्वरूप करके भी आत्माका अंश अनुमानसे जाना जाता है । जैसे कि उत्तम रंगीला चित्र देखनेसे भित्तिकी स्वच्छताका अनुमान कर लेते हैं । उसीके सदृश ज्ञान, दर्शन, उत्साह, भोग, उपभोग करना इन क्रियाओंसे इनके अपना अपना आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षयोपशम अनुमित कर लिया जाता है । एवं आत्माके असंख्यात प्रदेशीपन, ऊर्ध्वगौरव स्वभाव, पर्याप्ति, योग आदि भावोंका भी उत्तरकालके फलरूप कार्योंको जानकर उस रूपसे अनुमान कर लिया जाता है । अतः उक्त स्वभावोंसे आत्मा अनुमेयस्वरूप भी है । एवञ्च आत्मा आगमगम्य भी है । क्योंकि आत्माके ज्ञान आदि गुणोंके अविभाग प्रतिच्छेद,अगुरुलघुगुण, भव्यत्व, अभव्यत्व, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, यथाख्यात चारित्र ये सर्वही आत्माके धर्म श्रीजिनेन्द्र देव करके कहे हुए आगमसे जाने जाते हैं । इस प्रकार आत्मा किसी अपेक्षासे प्रत्यक्षगोचर है और एक अपेक्षासे अनुमानविषय है तथा अत्यन्त परोक्ष माने गये धर्मोंसे आगमगम्य है, ऐसा निर्णय करना चाहिये । इसमें कोई बाधा नहीं दे सकता है । जिसका तर्क या हेतुसे ज्ञान किया जाता है ऐसे पर्वतमें रहनेवाली अग्नि या जलकी प्यासको दूर करनेकी शक्ति और अग्निको बुझानेकी शक्ति आदि ये पदार्थ परोक्ष कहे जाते हैं किन्तु जिन पदार्थोंके जाननेके लिये इन्द्रियां, मन, हेतु, तर्क, दृष्टान्त, सादृश्य आदि कारण नहीं हैं, उन आकाश, कालाणु, धर्मद्रव्य, अविभागप्रतिच्छेद आदिको अत्यन्त परोक्ष कहते हैं, वे पदार्थ आप्तके कहे हुए आगमसे ही जाने जाते हैं, फिर भी अनेक भाव छूट जाते हैं । सर्वज्ञ ही उनका प्रत्यक्ष कर सकते हैं, अन्य जीव नहीं । यहांतक मीमांसक प्रतिवादियोंको समझाया गया है । अब सांख्य मतानुयायीके साथ विचार चलाते हैं ।

स्वरूपं चेतना पुंसः सदौदासीन्यवर्तिनः ।
प्रधानस्यैव विज्ञानं विवर्त इति चापरे ॥ २२७ ॥
तेषामध्यक्षतो बाधा ज्ञानस्यात्मनि वेदनात् ।
भ्रान्तिश्चेन्नात्मनस्तेन शून्यस्यानवधारणात् ॥ २२८ ॥

आत्मा ज्ञानोपयोग स्वरूप है यह बात सांख्यको सह्य नहीं है। अतः वे कहते हैं कि सदा उदासीनरूपसे देखनेवाले आत्माका स्वभाव चेतना मानना तो ठीक है। किंतु विज्ञान तो प्रकृतिका ही परिणाम है। इस प्रकार जो अन्य कपिल मतानुयायी मानते हैं उनके मंतव्यमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही बाधा आती है। क्योंकि आत्मामें ज्ञानका समीचीन वेदन हो रहा है। अतः ज्ञान आत्माका विवर्त है, जड प्रकृतिका परिणाम ज्ञान नहीं है।

यदि कापिल यों कहें कि प्रकृतिके कर्तापन आदि परिणाम आत्मामें प्रतिफलित हो जाते हैं और आत्माके चेतन, भोक्तापन आदि स्वभाव भ्रमवश प्रकृतिमें जाने जाते हैं। प्रकृति और आत्माका संसर्ग होनेके कारण प्रकृतिका ही ज्ञानपरिणाम आत्मामें विदित हो जाता है। उस ज्ञानको आत्माका समझ लेना यह भ्रांति है, वस्तुतः ज्ञान प्रकृतिमें ही है। आचार्य कहते हैं कि यह कापिलोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस ज्ञानसे रहित होरहे आत्माका कभी निर्णय नहीं किया गया है। सर्वदा आत्मा ज्ञानसहित ही प्रतीत हो रहा है यदि एक बार भी आत्मा ज्ञानरहित प्रतीत हो गया तो स्फटिकमें जपाकुसुमसे आई हुई ललाईके समान आत्मामें भी प्रकृतिके ज्ञानका आरोप करना मान लिया जाता, किंतु ऐसा नहीं है। जैसे जपाके फूलमें ललाई उसीके घरकी है। उसी प्रकार ज्ञान गुण भी आत्माका गांठका है बाहिरसे आया हुआ नहीं है।

यथात्मनि चैतन्यस्य संवेदनं मयि चैतन्यं, चेतनोऽहमिति वा तथा ज्ञानस्यापि मयि ज्ञानं, ज्ञाताहमिति वा प्रत्यक्षतः सिद्धेर्यथोदासीनस्य पुंसश्चैतन्यं स्वरूपं तथा ज्ञानमपि, तत्प्रधानस्यैव विवर्तं ब्रुवाणस्य प्रत्यक्षबाधा।

जैसे आत्मामें चेतनपनेका संवेदन हो रहा है कि मेरेमें चैतन्य है अथवा मैं चेतन हूं, इस कारण आत्मा चेतन माना जाता है। उसी प्रकार आत्मामें ज्ञानका भी संवेदन हो रहा है कि मुझमें ज्ञान है अथवा मैं स्वयं ज्ञाता हूं यह भी प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हो रहा है। अतः आत्माको ज्ञानस्वरूप भी मान लेना चाहिये और जैसे सांसारिकविषयोंसे उपेक्षा करनेवाले उदासीन पुरुषका स्वरूप चैतन्य है, उसी प्रकार उदासीन पुरुषका ही ज्ञान भी स्वभाव है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होनेपर भी उस ज्ञानको सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रकृतिका ही पर्याय कहनेवाले सांख्यको प्रत्यक्षप्रमाणसे ही बाधा आ रही है।

ज्ञानस्यात्मनि संवेदनं भ्रांतिरिति चेत् न, स्यात्तदैवं यदि ज्ञानशून्यस्यात्मनः कदाचित्संविदभ्रांता स्यात्।

आत्मामें ज्ञानका संवेदन होना भ्रान्तिरूप है यह कापिलोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार यह बात तब हो सकती थी यदि किसी भी समय मूलरूपसे ज्ञानरहित

आत्माका भ्रान्तिरहित संवेदन हुआ होता, किन्तु इसके विपरीत ज्ञानसहित आत्माका सर्वदा ही अभ्रान्त प्रतिभास हो रहा है ।

सर्वदा ज्ञानसंसर्गादात्मनो ज्ञानित्वसंवित्तिरिति चेत्—

ज्ञानपर्यायवाली प्रकृतिसे आत्माका सदासे संसर्ग हो रहा है अतः संसर्गसे दूसरेमें भी गुण और दोष हो जाया करते हैं । इस रीतिके अनुसार आत्माके ज्ञानीपनकी जप्ति हो रही है । वास्तवमें आत्मा ज्ञानी नहीं है यदि सांख्य ऐसा कहेंगे यों तो—

औदासीन्यादयो धर्माः पुंसः संसर्गजा इति ।
युक्तं सांख्यपशोर्वक्तुं ध्यादिसंसर्गवादिनः ॥ २२९ ॥

जो सांख्य पशुके समान आत्माको नहीं जानता है या अपनी गांठकी वस्तुको अपनी नहीं कह रहा है तभी तो वह आत्मामें बुद्धि, सुख, इच्छा, कर्तापन, परिणाम आदि धर्मोंको आत्माके स्वभाव स्वीकार नहीं करता है । कापिलोंके मतमें प्रकृतिके संबंधसे हो जाते हुए बुद्धि, सुख, दुःख आदिक धर्म आत्मामें कहे जाते हैं यों उस सांख्यको पुरुषके उदासीनता, भोक्तापन, चैतन्य आदि धर्म भी प्रकृतिके संसर्गसे उत्पन्न होकर प्रकृतिकी ओरसे आये हुए औपाधिक भाव ही कहना युक्त होगा । आत्मामें इन चार धर्मोंका भी व्यर्थ क्यों बोझ लादा जाता है ? भावार्थ—उदासीनता आदि धर्म भी आत्माकी गांठके नहीं ठहरेंगे । जिसको बाहरसे ऋण या भीख मांगनेकी टेव पड गयी है वह सब कुछ दूसरोंसे मांग सकता है ।

ज्ञानसंसर्गतो ज्ञानी, सुखसंसर्गतः सुखी पुमान्न तु स्वयमिति वदतः सांख्यस्य पशोरिवात्मानमप्यजानतो युक्तं वक्तुमौदासीन्यस्य संसर्गादुदासीनः पुरुषः, चैतन्यसंसर्गाच्चेतनो, भोक्तृत्वसंसर्गाद्भोक्ता, शुद्धिसंसर्गाच्च शुद्ध इति, स्वयं तु ततो विपरीत इति विशेषाभावात् । न हि तस्यानवबोधस्वभावतादौ प्रमाणमस्ति ।

प्रकृतिके बने हुए ज्ञानके संबंधसे आत्मा ज्ञानवान् है तथा सत्त्वगुणकी प्रधानता लेकर परिणत हुयी प्रकृतिके सुखरूप विवर्तका संसर्ग हो जानेके कारण आत्मा सुखी हो जाता है किंतु वस्तुतः स्वभावसे आत्मा सुखी और ज्ञानी नहीं है । इस प्रकार पशुके समान आत्मतत्त्वको न जानकर कहनेवाले सांख्यको यों भी कहना उचित है कि अन्य किसीकी उदासीनताके संबंधसे आत्मा उदासीन है । दूसरेके चैतन्यके योगसे आत्मा चेतन है । किसीके भोक्तापनकी उपाधि लग जानेसे आत्मा भोक्ता बन गया है । एवं आकाशके सन्निहित होनेके कारण उसकी शुद्धिके संबंध हो जानेसे आत्मा शुद्ध हो गया है । परमार्थसे स्वयं तो उसके विपरीत है । अर्थात् न तो

उदासीन है और न चेतन, भोक्ता तथा शुद्ध है। यों आत्मामें जैसे ज्ञान, प्रसाद आदि स्वयं उसके घरके नहीं माने जाते हैं, वैसे ही उदासीनता आदि भी आत्माके स्वभाव नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान, कर्तापन, आदि धर्मोंसे उदासीनता, भोक्तृता आदि स्वभावोंमें कोई अंतर नहीं है। जिससे कि कतिपय धर्म तो आत्मामें निजके मान लिये जावें और मन माने कुछ धर्म प्रकृतिकी ओरसे आये हुए माने जावें। यह " अर्धजरतीय " न्यायका अधेडपना अच्छा नहीं है। यदि सांख्य जन परीक्षक मनुष्योंके समान विचार करेंगे तो वे इस बातका निर्णय कर लेवेंगे कि आत्मा, ज्ञान, सुख-स्वरूप है, उस आत्माके अज्ञान, असुख और अकर्ता स्वभाव माननेमें या ज्ञान और सुखको आत्माके गुण न होनेमें कोई भी प्रमाण नहीं है। न अवबोधः स्वभावो यस्यासौ अनवबोधस्वभावस्तस्य भावः अनवबोधस्वभावता, यों विग्रह करना।

सदात्मानवबोधादिस्वभावश्चेतनत्वतः।
सुषुप्तावस्थवन्नायं हेतुर्व्याप्त्यात्मवादिनः ॥ २३० ॥

सांख्य अनुभव बनाकर कहते हैं कि सर्वदासे ही आत्मा अज्ञानस्वभाव और असुखस्वभाववाला है। (प्रतिज्ञा) अर्थात् ज्ञान, सुख आदिक आत्माके स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि आत्मा चेतन है। (हेतु) जैसे कि गहरी नींदकी अवस्थामें सोये हुए पुरुषके ज्ञान और सुख कुछ भी नहीं प्रतीत हो रहे हैं। (अन्वयदृष्टांत) इसी प्रकार जागृत अवस्थामें भी आत्मा ज्ञान, सुख स्वभाववाला नहीं है। भावार्थ—आत्माके ज्ञान, सुख स्वभाव होते तो सोते समय अवश्य जाने जाते, द्रव्य अपने स्वभावोंको कभी छोडता नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कापिलोंका दिया गया यह हेतु अच्छा नहीं है। आत्माको व्यापक माननेवाले सांख्योंका चेतनत्वहेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्धो हि हेतुरयं व्यापिनमात्मानं वदतः कुतः—

आत्माको सर्व व्यापक कहनेवाले सांख्य मतके एकदेशीय वादियोंके मतमें यह हेतु निश्चय कर पक्षमें न रहनेके कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, वह कैसे है ? सो सुनो !

जीवो ह्यचेतनः काये जीवत्वाद्बाह्यदेशवत्।
वक्तुमेवं समर्थोऽन्यः किं न स्याज्जडजीववाक् ॥ २३१ ॥

अनुमान बनाकर हम जैन भी आपके ऊपर अनिष्ट आपादन करते हैं कि शरीरमें भी जीव (पक्ष) निश्चयसे अचेतन है। (साध्य) जीव होनेसे, (हेतु) जैसे कि शरीरके बाहिर देशमें जीव अचेतन है। (दृष्टांत) इस प्रकार भी दूसरा कोई वादी कहनेको समर्थ हो सकता है तथा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

च यों जीवको सर्वथा जड हो जानेका सिद्धांतवचन क्यों न हो जावे ? आप उत्तर क्या दोगे। भावार्थ—कायमें भी जीव अचेतन हो जायगा।

कायाद्बहिरचेतनत्वेन व्याप्तस्य जीवत्वस्य सिद्धेः कायेऽप्यचेतनत्वसिद्धिरिति नानवबोधादिस्वभावत्वे साध्ये चेतनत्वं साधनमासिद्धस्यासाधनत्वात्।

देश देशांतरोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण मूर्तद्रव्योंसे आत्मा संयोग रखता है इस कारण शरीरसे बाहिर घट, पट आदिकोंमें जीवत्व हेतुको अचेतनत्व साध्यके साथ व्याप्ति रखनेवाला सिद्ध कर लिया है। वह जीवत्व हेतु विवादग्रस्त शरीरमें रहनेवाली आत्मामें भी देखा जाता है अतः अचेतनत्वसाध्यको सिद्ध कर देवेगा। इस प्रकार आत्मा अचेतन सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशामें आत्माके ज्ञान, सुख स्वभावरहित होना साध्यको सिद्ध करनेमें दिया गया चेतनत्व हेतु अच्छा हेतु नहीं है, किंतु उक्त अनुमानसे आत्माको अचेतन बन जानेके कारण आत्मामें चेतनत्व हेतुके न रहनेसे वह असिद्ध हेत्वाभास है। स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास तो साध्यका साधक नहीं होता है।

शरीराद्बहिरप्येष चेतनात्मा नरत्वतः।
कायदेशवदित्येतत्प्रतीत्या विनिवार्यते॥ २३२॥

जैसे घट आदिको दृष्टांत कह कर शरीरमें भी आत्माको आप अचेतन सिद्ध करते हैं वैसे ही शरीरको दृष्टांत लेकर घट आदिक में भी आत्मा सचेतन क्यों न माना जावे अर्थात् आत्माको चेतन सिद्ध करनेके लिये यह अनुमान हम कहेंगे कि शरीरसे बाहिर घट, पट आदिमें भी विद्यमान यह आत्मा चेतन है, क्योंकि वह आत्मा है। जैसे कि शरीरदेशमें विद्यमान आत्मा चेतन है। इस प्रकार यह कापिलोंका अनुमान तो प्रसिद्ध प्रतीतिसे रोक दिया जाता है।

काये चेतनत्वेन व्याप्तस्य नरत्वस्य दर्शनात्ततो बहिरप्यात्मनश्चेतनत्वसिद्धेर्नासिद्धं साधनमिति न मन्तव्यं प्रतीतिबाधनात्। तथाहि—

सांख्यका मंतव्य है कि शरीरमें रहनेवाले आत्मारूप दृष्टांतमें चेतनत्व साध्यके साथ व्याप्ति रखता हुआ आत्मत्व हेतु देखा गया है, इस कारण शरीरसे बाहिर घट, पट, पर्वत आदिमें भी रहनेवाले आत्माको चेतनापना सिद्ध हो जावेगा। अतः हमारा आत्माको अज्ञानस्वभाव सिद्ध करनेमें दिया गया चेतनत्व हेतु असिद्ध नहीं है। ग्रंथकार कह रहे हैं कि इस प्रकार कापिलोंको नहीं मानना चाहिये क्योंकि घट, पट, पर्वत आदिकोंमें आत्माकी सत्ता मानना प्रतीतिसे बाधित है। इसी बातको स्पष्ट कर दिखलाते हैं—सावधान होकर सुनिये।

तथा च बाह्यदेशेऽपि पुंसः संवेदनं न किम्।
कायदेशवदेव स्याद्विशेषस्याप्यसम्भवात्॥ २३३॥

यदि आत्माको सर्वत्र पर्वत आदिकोंमें इस प्रकार व्यापक स्वीकार करोगे, तब तो शरीरसे बाहिर घट, पट, नदी, पर्वत आदि देशोंमें भी आत्माका संवेदन क्यों नहीं होता है ? जैसा ही कि शरीरदेशमें हो रहा है। शरीरमें रहनेवाली और पर्वत आदिकमें रहनेवाली उस आत्मामें कोई विशेषता तो सम्भव है नहीं फिर क्यों नहीं बाहिर देशोंमें आत्माका स्वसंचेतन (ज्ञान) होता है ? बतलाइये ।

यस्य हि निरतिशयः पुरुषस्तस्य कायेऽन्यत्र च न तस्य विशेषोऽस्ति यतः काये संवेदनं न ततो बहिरिति युज्यते ।

जिस कापिलके यहां पुरुषको अखण्ड, कूटस्थ, सब स्थानोंमें एकसा माना गया है आत्माके किसी भी अंशमें कोई अतिशय घटता बढता नहीं है । उसके उस मतानुसार शरीरमें और घट, पट, पर्वत आदिमें एकस्वरूप रहनेवाली उस आत्माकी कोई विशेषता तो है नहीं, जिस विशेषतासे कि आत्माका शरीरमें तो वेदन होवे और उससे बाहिर घट आदिकमें आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना युक्तिसहित न बन सके। या तो दोनों स्थलोंमें आत्माका ज्ञान होगा या दोनोंमेंसे कहीं भी उस आत्माका संचेतन (ज्ञान) न हो सकेगा । न्यायोचित अभियोगको झेलना चाहिये ।

कायाद्बहिरभिव्यक्तेरभावात्तद्वेदने ।
पुंसो व्यक्तेतराकारभेदाद्भेदः कथं न ते ॥ २३४ ॥

यदि आत्माको व्यापक माननेवाले सांख्य यों कहें कि शरीरसे बाहिर आत्मा विद्यमान तो है किंतु वह प्रगट नहीं हो सका है । इस कारण तिरोभूत आत्माका शरीरके बाहिर संवेदन नहीं होता है । ऐसा कहनेपर तुम्हारे (आपके मतमें आत्माका प्रगट आकार और अप्रगट आकारके भेदसे भेद क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात्—एक ही आत्मा तिरोभूत और आविर्भूत दो स्वभाववाली मानी गयी जो कि आत्माके एक स्वभाव कूटस्थपनका विघातक है ।

कायेऽभिव्यक्तत्वात् पुंसः संवेदनं न ततो बहिरनभिव्यक्तत्वादिति ब्रुवाणः कथं तस्यैकस्वभावतां साधयेत्, व्यक्तेतराकारभेदाद्भेदस्य सिद्धेः ।

शरीरमें आत्मा प्रकट हो गयी है इस कारण आत्माका संवेदन हो जाता है किन्तु उस शरीरसे बाहिर पर्वत आदिमें आत्मा लकडीमें अग्निके समान प्रगट नहीं है, अतः आत्माका ज्ञान नहीं हो पाता है । इस प्रकार कहनेवाला सांख्य उस आत्माके एकस्वभावपनेको कैसे सिद्ध कर सकेगा ? क्योंकि शरीरमें व्यक्त और पर्वत आदिकोंमें उससे भिन्न अव्यक्त आकारके भेदोंसे वह एक आत्मा भिन्न दो स्वभाववाला सिद्ध हुआ जाता है अथवा दो विरुद्धस्वभावोंसे आत्माका भेद सिद्ध हो जावेगा । भावार्थ—प्रत्येक आत्मा दो हो जावेंगे ।

यत्र व्यक्तसंसर्गस्तत्रात्मा संवेद्यते नान्यत्रेत्यप्यनेनापास्तम् । निरंशस्य क्वचिदेव व्यक्तसंसर्गस्येतरस्य वा सकृदयोगात् ।

जहां आत्मामें अव्यक्त मानी गयी प्रकृतिके विवर्तस्वरूप हो रहे शरीर, इन्द्रिय, मन, पुण्य और श्वास आदि व्यक्त पदार्थोंका सम्बन्ध हो रहा है वहां आत्माका संवेदन हो जाता है किन्तु जहां शरीर आदि व्यक्तपदार्थोंका संसर्ग नहीं है वहां अन्य स्थानोंमें आत्माका ज्ञान नहीं होता है । ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना भी इस पूर्वोक्त कथनसे खण्डित कर दिया गया है क्योंकि जब आपके मतमें आत्मा अंशोंसे रहित माना है तो आत्माके खण्ड, खण्ड देश ही नहीं बन सकते हैं । ऐसी दशामें कहीं शरीरके निकटवाली उसी आत्मामें शरीरके साथ ही आत्माका संसर्ग और कहीं कहीं पर्वत आदिके पास उसी आत्मामें ही व्यक्तशरीरका नहीं संसर्ग यों एक समयमें उक्त दोनों विरुद्धस्वभाव बन नहीं सकते हैं । अंशोंसे रीते हो रहे पदार्थके युगपद् कहीं किसीका सम्बंध अथवा क्वचित् असम्बंध हो जानेका योग नहीं है ।

सकृदेकस्य परमाणोः परमाण्वन्तरेण संसर्गं क्वचिदन्यत्र चासंसर्गं प्रतिपद्यत इति चेत् न, तस्यापि क्वचिद्देशे सतो देशान्तरे च तदसिद्धेः ।

कापिल कहते हैं कि देखो ! अंशरहित भी एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे संसर्ग और उसी समय किसी दूसरे देशमें अन्य परमाणुओंका असंसर्ग इस प्रकारके दो विरुद्धस्वभाव परमाणुमें जाने जा रहे हैं । यदि एक परमाणु सर्वांगरूपसे दूसरे परमाणुसे चिपक जाता तो परमाणुके बराबर ही द्व्यणुक हो जाता, यहांतक कि मेरु और सरसों दोनों ही एक बराबर हो जाते, अतः परमाणुका दूसरे परमाणुसे एकदेशमें संसर्ग और दूसरे देशमें असंसर्ग अवश्य मानना पडेगा । जैसे निरंश एक परमाणु संसर्ग और असंसर्ग दोनों स्वभावोंको एकसमयमें धारण करलेता है, वैसे ही निरंश आत्मा भी व्यक्तके संसर्ग और असंसर्ग इन दो स्वभावोंको धारण कर लेवेगा । आचार्य कहते हैं कि यह कापिलोंका कहना ठीक नहीं है क्योंकि वास्तवमें विचारा जावे तो परमाणु भी निरंश नहीं है । बरफीके समान छह पहलोंको धारण करनेवाले परमाणुके शक्तिकी अपेक्षासे छह अंश हैं । प्रत्यक्षमें बरफीकी चकतीके आठ कोने दीखते हैं किंतु वह स्थूल है । कोनोंसे दूसरी बरफीके कोने भले ही मिलजावें किंतु अन्य बरफी की पूरी भींत नहीं भिड सकती है । कोनोंको दृष्टांत न समझना क्योंकि परमाणुसे छोटा कोई अंश नहीं है । किंतु पैलोंको परमाणुके अंशोंका दार्ष्टान्त मान लेना । बरफी की चौरस भीतें छह हैं वे ही उसके अंश हैं । यदि बरफीके सभी ओर अन्य बरफियां रख दी जावें तो बरफीकी एक एक ओर की भीतों को छूती हुयीं छह बरफियां संसर्ग करेंगी, इसी प्रकार अत्यंत छोटे परमाणुके चारों दिशा और ऊपर, नीचे, इस प्रकार छह परमाणुएं भिन्न अंशोंमें सम्बन्धित हो जावेंगे । तभी मेरु और सरसोंकी समानताका दोषप्रसंग भी निवृत्त हो सकेगा ।

जैन सिद्धांतमें परमाणुको बरफीके समान षट्कोण माना है, तभी तो लोक कालाणुओंसे ठसा ठस भरा है। परमाणुओंको गोल नहीं मानना अन्यथा गोलके बीचमें खाली स्थान छूट जायगा। अधोलोकके सात राजूसे मध्य लोकमें आनेपर या मध्य लोकसे ब्रह्म स्वर्गके किनारे किनारे जानेपर वातवलयोंमें परमाणुओंके कोने निकलते रहेंगे। कोई भी रंदा उन कोनोंको चीकना सुथरा नहीं कर सकता है। क्योंकि परमाणुयें नौकीली अखंड द्रव्य है। परमाणु एकांतरूपसे निरंश नहीं है। निरंश पदार्थमें दो विरुद्ध धर्म एक समयमें नहीं रहते हैं। अतः किसी देशमें विद्यमान हो रहे उस परमाणुका भी अन्य दूसरे देशोंमें वह ठहरना सिद्ध नहीं होता है। इसलिये निरंश व्यापक आत्माके दो विरुद्ध धर्मोंको स्वीकार करनेमें परमाणुका दृष्टांत सम नहीं है विषम है। भावार्थ—आत्मा, परमाणु, दोनों ही सांश होकर तो संसर्ग होजाने या असंसर्ग होजाने को धारण कर सकती है। अन्यथा उपाय नहीं है।

गगनवत्स्यादिति चेत् न, तस्यानन्तप्रदेशतया प्रसिद्धस्य तदुपपत्तेरन्यथात्मवदघटनात्।

यदि कापिल यों कहें कि जैसे अंशोंसे रहित हो रहा आकाश अनेक पदार्थोंसे संसर्ग रखता हुआ व्यापक है, वैसे ही निरंश आत्मा भी व्यापक हो जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो ठीक नहीं है, क्योंकि वह आकाश अनंत प्रदेशवाला प्रसिद्ध है। तभी तो एक आकाशका उन अनेक देशोंमें रहनापन युक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है। अन्यथा यानी यदि आकाश अनंतप्रदेशी नहीं माना जावेगा तो आत्माके समान आकाशका भी अनेक देशवर्ती पदार्थोंसे संबंध होना न बन सकेगा। समझ लीजिये।

नन्वेकं द्रव्यमनन्तपर्यायान्सकृदपि यथा व्याप्नोति तथात्मा व्यक्तविवर्तशरीरेण संसर्गं क्वचिदन्यत्र वाऽसंसर्गं प्रतिपद्यत इति चेन्न, वस्तुनो द्रव्यपर्यायात्मकस्य जात्यन्तरत्वात्, व्याप्यव्यापकभावस्य नयवशात्तत्र निरूपणात्, नैवं नानैकस्वभावः पुरुषो जात्यन्तरतयोपेयते निरतिशयात्मवादविरोधादिति।

सांख्य पुनः समदृष्टांत ढूंढनेका प्रयत्न करते हुए स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि जैसे जैनोंके मतमें एक द्रव्य एक समयमें भी अनंत पर्यायोंको व्याप्त कर लेता है वैसे ही एक आत्मा व्यक्त पर्यायस्वरूप शरीरके साथ संसर्गको और कहीं दूसरे पर्वत आदि स्थानोंमें असंसर्गको धारण कर लेता है। आचार्य प्रतिपादन करते हैं कि कापिलोंका इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्याद्वादसिद्धांतमें द्रव्य और पर्यायसे तादात्म्य रखनेवाली वस्तुको द्रव्य और पर्यायसे तीसरी ही न्यारी जातिवाला कथंचित् भेद अभेद स्वरूप करके तदात्मक हो रहा पदार्थ स्वीकार किया है ऐसी वस्तुमें नयोंके द्वारा विवक्षित धर्मोंके वशसे वहां व्याप्यव्यापकभावका कथन कर दिया जाता है। भावार्थ—पर्यायोंसे द्रव्य भिन्न नहीं है। पर्यायोंके समुदायको ही द्रव्य कहते हैं। वस्तुमें अनेक

स्वभाव हैं। अतः उन कथञ्चित् भिन्न स्वभावोंसे नित्य द्रव्यरूप अंशोंमें तथा अनित्य पर्यायरूप अंशोंमें वस्तु व्यापक रह जाता है। एक द्रव्य अनेक स्वभावोंसे अपनी अनंत पर्यायोंमें विद्यमान है। किंतु इसीके सदृश आपने अनेक एक एक स्वभावोंको धारण करनेवाला पुरुष तो एक और अनेकपनेसे तीसरी जातिसहितपनेसे नहीं माना है। यदि आप सांख्य भी हम जैनोंके समान आत्माको कथञ्चित् भिन्न और अभिन्न या एक, अनेक स्वरूप मान लेवेंगे तब तो आपके माने हुए आत्माके कूटस्थपनका विरोध हो जावेगा। जो बाहिरसे अतिशयोंको नहीं लेता है और अन्य निमित्तोंसे अपने कुछ स्वभावोंको नहीं छोडता है, अनाधेयाप्रहेयातिशय ऐसा कूटस्थ निरतिशय आत्मा आपने इष्ट किया है किंतु अनेकांतमतमें आत्माको परिणामी नित्य माना है। वह अपने कतिपय स्वभावोंको छोड देता है और कतिपय स्वभावोंको ग्रहण भी कर लेता है। ऐसा आत्मा परिशेषमें आपको अवश्य मानना पडेगा। यों अपने आत्माको अतिशयरहित माननेके सिद्धांतसे विरोध हो जावेगा।

कायेऽभिव्यक्तौ ततो बहिरभिव्यक्तिप्रसक्तेः सर्वत्र संवेदनमसंवेदनं नो चेत् नानात्वापत्तिर्दुःशक्या परिहर्तुम्। ततो नैतौ सर्वगतात्मवादिनौ चेतनत्वमचेतनत्वं वा साधयितुमात्मनः समर्थौ यतोऽसिद्धं साधनं न स्यात्।

यदि आप सांख्य पंडित शरीरमें आत्माकी अभिव्यक्ति हो जाना मानोगे तो उस शरीरके बाहिर घट, घटी, किवाड आदिमें भी आत्माके प्रकट होनेका प्रसंग आता है, क्योंकि आत्मा सब स्थानोंमें एकसा होकर व्यापक है। अतः या तो सभी स्थानोंमें आत्माका ज्ञान होना चाहिये अथवा कहीं भी आत्माका ज्ञान नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा न मानकर शरीरमें ही आत्माका वेदन मानोगे और घट, कडाही आदिमें आत्माका वेदन न मानोगे, तब तो एक आत्माको अनेकपनेका प्रसंग आता ही है। जिस दोषका कि कोई कठिनतासे भी परिहार नहीं कर सकता है। एक निरंश आत्मा कहीं प्रकट है और अन्यत्र अप्रकट है ऐसी दशामें वह आत्मा अवश्य दो हैं, अथवा विरुद्ध दो स्वभावोंवाला है। इस कारणसे अबतक सिद्ध हुआ कि आत्माको सर्वत्र व्यापक माननेवाले ये दोनों सांख्य और नैयायिक आत्माके चेतनपनेको या अचेतनपनेको सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं है। कपिलमतानुयायी आत्माको स्वभावसे चेतन मानते हैं किन्तु पूर्वोक्त कथनसे उनके व्यापक आत्माका चेतनपना सिद्ध नहीं हो सका है। नैयायिक आत्माको स्वभावसे अचेतन मानते हैं, किंतु चेतनागुणके समवायसे चेतन हो जाना इष्ट करते हैं। यों सम्पूर्ण मूर्तद्रव्योंसे संयोग रखनेवाले व्यापक माने गये आत्माका चेतन सिद्ध करना अशक्य है। जिससे कि आत्माको चेतनपना सिद्ध करनेके लिये दौसौ बत्तीसवीं वार्त्तिकमें दिया गया आत्मत्व हेतु असिद्ध न होवे। अर्थात् अत्मत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास ही है। जब कापिलोंके यहां चेतनत्वकी सिद्धि न हो सकी तो चेतनत्व हेतुसे आत्माका अज्ञान और असुखस्वभाव भी कैसे सिद्ध हो सकते हैं?

स्याद्वादिनः सांख्यस्य च प्रसिद्धमेव चेतनत्वं साधनमिति चेन्नानवबोधाद्यात्मकत्वेन प्रतिवादिनश्चेतनत्वस्येष्टेस्तस्य हेतुत्व विरुद्धसिद्धविरुद्धो हेतुः स्यात् ।

सांख्य कहते हैं कि स्याद्वादी और हम सांख्योंके मतमें आत्माका चेतनपना प्रसिद्ध ही है । अतः चेतनत्व हेतु समीचीन है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कापिलोंका कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि प्रतिवादी कापिलोंने अज्ञान, असुख और अकर्त्ता आदि स्वरूप करके आत्माके चेतनपनेको इष्ट किया है । और उस ज्ञानरूपसे प्रसिद्ध होरहे चेतनपनेको आप हेतु मानेंगे तो उस हेतुसे आपके मन्तव्यके विरुद्ध ज्ञानी आत्माकी सिद्धि हो जावेगी । अथवा चेतनत्व हेतु आपके माने हुए साध्यरूप अज्ञान, असुख स्वभावोंसे विरुद्ध समझे गये ज्ञान, सुखस्वभावोंके साथ व्याप्ति रखता है । इस कारण चेतनत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जावेगा । भावार्थ—आपने चेतनत्वको अज्ञानी आत्माका धर्म माना है और वास्तवमें आत्मा ज्ञानवान् है । अतः हम अपने जैनमतानुसार आपके चेतनत्व हेतुको सिद्ध मान लेवेंगे तो पूर्वोक्त असिद्ध दोषका निवारण तो हो जावेगा, किन्तु दूसरा विरुद्ध दोष आपके चेतनत्व हेतुमें आजावेगा ।

साध्यसाधनविकलश्च दृष्टान्तः सुषुप्तावस्थस्याप्यात्मनश्चेतनत्वमात्रेणानवबोधादिस्वभावत्वेन चाप्रसिद्धेः । कथम्—

और आपका दिया गया गाढ निद्रामें सोता हुआ मनुष्यरूपी दृष्टांत तो ज्ञानी सुखी होनेके कारण अज्ञान, असुख स्वभावरूप साध्यसे रहित है और पूर्वमें कहे हुए अनुसार आपकी व्यापक आत्मामें चेतनपना सिद्ध नहीं हो सका है । अतः गहरा सोता हुआ मनुष्य चेतनपना रूप साधनसे भी रहित है । जिस दृष्टांतमें साध्य और साधन ये दोनों ही नहीं रहते हैं, उसको आपने अन्वय दृष्टांत कैसे प्रयुक्त किया है ?, जब कि आप गाढ सोते हुए आत्माको सामान्य चेतनापनेसे और अज्ञान असुख स्वभावीपनेसे प्रसिद्ध नहीं कर सके हैं । वस्तुतः विचारा जाय तो सोता हुआ वह आत्मा भी ज्ञानसुखस्वभाववाला है । सो कैसे ? वह सुनिये !

सुषुप्तस्यापि विज्ञानस्वभावत्वं विभाव्यते ।
प्रबुद्धस्य सुखप्राप्तिस्मृत्यादेः स्वप्नदर्शिवत् ॥ २३५ ॥

विचार कर देखा जाय तो गहरे सोते हुए मनुष्यके भी विज्ञान और सुख स्वभावसहितपना सिद्ध हो जाता है । जैसे कि सोते समय स्वप्न देखनेवाले पुरुषके सुख और ज्ञान होते हुए अनुभवमें आरहे हैं, उसीके सदृश गहरी नींद लेकर पुनः अच्छा जगे हुए मनुष्यके भी सुखकी प्राप्ति और नींदमें भोगे हुए सुखका स्मरण तथा चार छह दिन पहिले शयनकी अवस्थामें उत्पन्न हुए सुखका आजके शयनसुखके साथ सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि हो रहा देखा जाता है । अतः

सिद्ध है कि गाढ सोती हुयी अवस्थामें भी ज्ञान और सुख विद्यमान था। तभी तो जागते समय उसका प्रतिफलस्वरूप सुख और ज्ञानकी लहरें उठ रही हैं। सुखके उत्पन्न हो जानेपर कुछ देर पीछे तक भी सुखास्वादनकी स्मृतिलहरें उठती रहती हैं। सोकर उठनेपर भी वैसे ही सुखके पीछे होनेवाले अनुवेदनोंका अनुभव हो रहा है। सोती हुयी अवस्थामें संकल्प विकल्प रूप जो स्वप्न आते रहते हैं, उसको स्वप्न अवस्था कहते हैं और स्वप्नरहित सुखपूर्वक गहरी नींद लेनेको आत्माकी सुषुप्तावस्था कहते हैं।

स्वप्नदर्शिनो हि यथा सुप्तप्रबुद्धस्य सुखानुभवनादिस्मरणाद्विज्ञानसुखभावत्वं विभावयन्ति तथा सुषुप्तस्यापि सुखमतिसुषुप्तोऽहमिति प्रत्ययात्। कथमन्यथा सुषुप्तौ पुंसश्चेतनत्वमपि सिद्धयेत् प्राणादिदर्शनादिति चेत्—

स्वप्न देखनेवाले पुरुषके सोकर उठे पीछे जागृतदशामें होनेवाले सुखके अनुभव आदिका स्मरण करनेसे स्वप्नदर्शी आत्माका विज्ञान, सुख, स्वभावसहितपना जैसे अनुमित किया जाता है वैसे ही स्वप्नरहित गाढ सोते हुए मनुष्यके भी मैंने बहुत देरसे सुखपूर्वक अधिक शयन किया ऐसी प्रतीति होनेसे गहरी अवस्थामें भी आत्माके ज्ञान और सुखकी सिद्धि कर ली जाती है। यदि ऐसा न स्वीकार कर अन्य प्रकार माना जावेगा तो सोती हुई अवस्थामें मनुष्यके चेतनपना भी आप कैसे सिद्ध कर सकोगे? सुख, ज्ञान आदिका संवेदन करना ही तो चेतना है, बताओ। यदि प्राणवायु लेना, नाडीका चलना, आंखोंको मीचे रहनेका आभ्यन्तर प्रयत्न करना, मलमूत्र धारे रहना, मांस, रक्तमें दुर्गन्ध न आकर ताजा बनाये रखना, आदि क्रियाओंसे सोते हुए पुरुषकी चेतनाका साधन (अनुमान) करोगे यों तो—

यथा चैतन्यसंसिद्धिः सुषुप्तावपि देहिनः।
प्राणादिदर्शनात्तद्वद्बोधादिः किन्न सिद्धयति ॥ २३६ ॥
जाग्रतः सति चैतन्ये यथा प्राणादिवृत्तयः।
तथैव सति विज्ञाने दृष्टास्ता बाधवर्जिताः ॥ २३७ ॥

जैसे श्वासोच्छ्वास चलना आदिके देखनेसे गाढ सोती हुयी अवस्थामें भी आत्माके चेतनपनेकी बढिया सिद्धि मानते हो। भावार्थ—उन क्रियाओंसे जीवित रहनेके स्वभावका पता चलता है, उसीके समान सोते हुए और जागते हुए आत्माके स्वभाव जाने जा रहे ज्ञान, सुख, कर्तापन आदि क्यों नहीं सिद्ध हो जावेंगे? दूसरी युक्ति यह है कि जागते हुए पुरुषके चैतन्यके होनेपर ही जैसे श्वासोच्छ्वास चलना, आंखोंका खोलना मींचना, उठना, बैठना, शब्द बोलना आदि प्रवृत्तियां देखी जाती हैं, वैसे ही जागते हुए मनुष्यके विशेष ज्ञानके होनेपर ही वे प्रवृत्तियां देखी जाती हैं।

ज्ञानके द्वारा उन प्रवृत्तियोंके होनेमें कोई बाधक नहीं है। यों वे वृत्तियां भी बाधारहित होनेके कारण समीचीन हैं। भावार्थ—सोते हुए मनुष्यके जैसे चेतनपनेके कार्योंको आप मानते हैं वैसे ही ज्ञानके द्वारा होते हुये कार्योंको भी आत्माके कार्य मानो। वस्तुतः चेतनपने और ज्ञानमें कुछ अंतर नहीं है।

वीरणादौ चैतन्याभावे प्राणादिवृत्तीनामभावनिश्चयान्निश्चितव्यतिरेकाभ्यस्ताभ्यः सुषुप्तौ चैतन्यसिद्धिरिति चेत्।

सांख्य कहते हैं कि कोरीके द्वारा तन्तुओंको स्वच्छ सुथरा करनेके लिये खसके बने हुए कूंचेमें या तुरी, वेमा आदिमें चैतन्यके न होनेपर श्वासोच्छ्वास लेना, नाडी चलना आदि प्रवृत्तियोंके अभावका निश्चय हो रहा है। इस कारण निश्चित कर लिया है साध्यके बिना हेतुका अभाव जिनका ऐसी व्यतिरेकव्याप्तिवाली उन श्वासोच्छ्वास आदिकी प्रवृत्तियोंसे गाढ सोती हुयी अवस्थामें चैतन्यकी सिद्धि अनुमानसे कर ली जाती है, किंतु ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो पाती है, क्योंकि चैतन्यके साथ ही प्राणवायु चलने आदिकी व्याप्ति है। अब आचार्य बोलते हैं कि यदि सांख्य ऐसा कहेंगे तो—

प्राणादयो निवर्तन्ते यथा चैतन्यवर्जिते।
वीरणादौ तथा ज्ञानशून्येऽपीति विनिश्चयः ॥ २३८ ॥

हम वैसे ही व्यतिरेकको ज्ञानके साथ घटाते हैं। सुनिये! जैसे चैतन्यसे रहित खसके कूंचे, तुरी, तन्तु आदिमें श्वासोच्छ्वास चलना, नाडीकी गति, अवयवोंका फडकना आदि कर्म निवृत्त होजाते हैं वैसे ही उन कूंचे, तुरी आदिमें ज्ञानरहित होनेपर भी प्राण आदिक की निवृत्ति होनेका विशेष निश्चय हो रहा है, अतः वे ज्ञानके भी कार्य सिद्ध हुए। भावार्थ—ज्ञान और चैतन्य दो पदार्थ नहीं है, आत्माके एक ही गुण हैं। शब्दका भेद है, अर्थभेद नहीं। चेतना तीनों कालोंमें रहनेवाला गुण हैं और ज्ञान उसकी अभिन्न पर्याय है। अतः अन्वयव्यतिरेक द्वारा जो चैतन्यकी व्याप्ति श्वास लेने आदिके साथ बनाई है वह ज्ञानकी भी समझनी चाहिये। ज्ञान आत्माका परिणाम है प्रकृतिका नहीं।

न हि चेतनत्वे साध्ये निश्चितव्यतिरेकाः प्राणादिवृत्तयो न पुनर्ज्ञानात्मकतायामिति शक्यं वक्तुम्, तदभावेऽपि तासां वीरणादावभावनिर्णयात्। चैतन्याभावादेव तत्र ता न भवंति न तु विज्ञानाभावादिति कोशपानं विधेयम्।

आत्माके चेतनपनेको साध्य करनेपर श्वासोच्छ्वास आदि प्रवृत्तियोंका व्यतिरेक निश्चय चोखा हो जावे और आत्माको ज्ञान-स्वरूप सिद्ध करनेपर, प्राण, अपान आदि प्रवृत्तियोंके व्यतिरेकका

तुरी आदिमें निश्चय न होवे, यह पक्षपातवाला नियम नहीं कह सकते हो, क्योंकि साध्यके न होने पर हेतुके न रहनेको अथवा कारणके न होनेपर कार्य उत्पन्न न होनेको व्यतिरेक कहते हैं। प्रकरण में चैतन्यके समान उस ज्ञानके भी न होनेपर उन श्वासोच्छ्वास आदि प्रवृत्तियोंके अभावका निश्चय हो रहा है। यदि सांख्य यह आग्रह करें कि उन तुरी, कूंचा आदिमें चेतनापना न होनेके कारण ही वे श्वास आदि प्रवृत्तियां नहीं होपाती हैं। किंतु जैन लोग जो ज्ञानके अभाव होनेसे वहां उन प्रवृत्तियोंका निषेध कर रहे हैं सो तो नहीं है।

इस प्रकार कापिलोंका कथन करना विना युक्तियोंके अपने कदाग्रह करनेकी सोगन्ध खा लेना है। अथवा अहिफेन खाकर बौराया हुआ पुरुष जैसे अपनी मनमानी हांकता रहता है वैसे ही ये सांख्य प्राण आदिकोंको विज्ञानका कार्य न मानकर केवल चैतन्यसे होना मान रहे हैं। वास्तवमें विचारा जाय तो वे विज्ञानके कार्य सिद्ध होते हैं। ज्ञानपर्यायसे परिणत होकर ही चैतन्य गुण कुछ कार्य कर सकेगा।

सत्यम्, विज्ञानाभावे ता न भवन्ति, सत्यपि चैतन्ये मुक्तस्य तदभावादित्यपरे, तेषां सुषुप्तौ विज्ञानाभावसाधनमयुक्तम्, प्राणादिवृत्तीनां सद्भावात्, तथा च न सोदाहरणमिति कुतः साध्यसिद्धिः।

यहां सांख्यमतके एकदेशीय कोई कहते हैं कि जैनियोंका कहना सत्य है। विज्ञानके हीन होनेपर श्वासोच्छ्वास आदिकी वे प्रवृत्तियां नहीं होती हैं, तभी तो मुक्तजीवोंके चैतन्यके होनेपर भी उन प्राण आदि प्रवृत्तियोंका अभाव है। यदि चैतन्यके कार्य प्राणादि माने जावें तो मोक्ष अवस्थामें भी श्वास लेने आदिका प्रसंग आवेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई दूसरे वादी कह रहे हैं। श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाओंको ज्ञानके होनेपर मानना तो मुखप्रदेशमें अमृत लगे हुए घटके समान सुंदर प्रतीत होता है, किंतु मोक्ष अवस्थामें ज्ञान, सुखका न मानना पेटमें विष भरे हुए घटके समान अग्राह्य है। और उन एकदेशीय कापिलोंके यहां गहरी सोती हुयी अवस्थामें विज्ञानका अभाव सिद्ध करना तो युक्त नहीं पडेगा। क्योंकि सोते हुए मनुष्यके श्वासोच्छ्वास लेना, नाडी चलना, पाचनक्रिया होना आदि प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। तब तो आत्मामें ज्ञान, सुख स्वभावके निषेध सिद्ध करनेके लिये दिया गया वह सोती हुयी अवस्थाका दृष्टांत नहीं बन सकेगा। इस कारण साध्यकी सिद्धि भला कैसे होगी? बताओ। भावार्थ—कपिलके शिष्योंके कथनानुसार ही सोती हुयी अवस्थामें ज्ञान, सुख, वाले आत्माको बना कर जागते हुए, तथा स्वप्न लेते हुए और मोक्ष प्राप्त करनेपर भी आत्मामें ज्ञान सुख स्वभावोंकी सिद्धि हो जाती है। अतः दो सौ तीसवीं कारिकामें दिया गया सांख्योंका अनुमान सिद्ध नहीं हुआ।

सुखबुद्ध्यादयो नात्मस्वभावाः स्वयमचेतनत्वाद्रूपादिवदित्यनुमानादिति चेत्, कुतस्तेषामचेतनत्वसिद्धिः?

अब सांख्यजन अपने प्रकृतको सिद्ध करनेके लिए दूसरा अनुमान उठाते हैं कि सुख, बुद्धि, प्रसन्नता, कर्तापन, आदि परिणाम (पक्ष) आत्माके स्वभाव नहीं हैं (साध्य) क्योंकि वे सुख आदिक स्वयं अचेतन हैं (हेतु) जैसे कि रूप, रस, आदि गुण अचेतन होनेके कारण आत्माके स्वभाव नहीं हैं। (अन्वयदृष्टांत) अब आचार्य कहते हैं कि आप सांख्य इस अनुमानसे यदि अपने साध्यकी सिद्धि करोगे तो हम पूंछते हैं कि उन सुख आदिकोंमें आपने अचेतनपने हेतुकी सिद्धि किससे की है? बताओ। अन्यथा आपका अचेतनत्वहेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा।

सुखबुद्ध्यादयो धर्माश्चेतनारहिता इह ।
भंगुरत्वादितो विद्युत्प्रदीपादिवदित्यसत् ॥ २३९ ॥
हेतोरात्मोपभोगेनानेकांतात्परमार्थतः ।
सोऽप्यनित्यो यतः सिद्धः कादाचित्कत्वयोगतः ॥ २४० ॥

ये सुख, ज्ञान, उत्साह, अभिमनन, आदिक धर्म (पक्ष) चेतनासे रहित हैं (साध्यदल) क्योंकि ये सुख आदिक थोडी देरतक ठहरकर नष्ट हो जाते हैं। या कारणोंके द्वारा किये गये कार्य हैं अथवा उत्पत्तिमान् हैं आदि (इत्यादि ज्ञापक हेतु हैं) जो कार्य हैं, उत्पत्तिवाले हैं, और थोडी देर ठहरते हैं, वे अवश्य अचेतन हैं, जैसे कि बिजली, दीपकलिका, बुदबुदा, इन्द्रधनुष आदि पदार्थ अचेतन हैं। (अन्वयव्याप्तिपूर्वक दृष्टांत)। ग्रंथकार कहते हैं कि यह सांख्योंका अनुमान समीचीन नहीं है, क्योंकि कृतकत्व, भंगुरत्व आदि हेतुओंका आत्माके उपभोगसे व्यभिचार हो जाता है, सांख्योंने वास्तविकरूपसे आत्माके उपभोगको कभी कभी होनारूप क्रियाके संबंधसे अनित्य सिद्ध किया है। सांख्यमतमें इंद्रियोंके द्वारा रस आदिकका ज्ञान होनेपर आत्मासे उसका उपभोग होना माना है। और वह उपभोग करना तो आत्माका स्वभाव है ही ऐसी दशामें कदाचित् होनेवालेपनके योगसे आत्माके भोगमें जब कि अनित्यपना सिद्ध हो गया और उस भोगमें अचेतनपन साध्य न रहा अतः आपके कृतकत्व, उत्पत्तिमत्त्व और भंगुरत्व ये तीनों हेतु व्यभिचार दोषवाले हो गये। यों सांख्योंका निरूपण प्रशस्त नहीं है।

पुरुषानुभवो हि नश्वरः कादाचित्कत्वाद्दीपादिवदिति परमार्थतस्तेन भंगुरत्वमनैकान्तिकमचेतनत्वे साध्ये।

जब कि आत्माके द्वारा प्राकृतिक हर्ष, अभिमान, अध्यवसाय, आदिकोंका भोग करना निश्चयरूपसे नाश होनेवाला है, क्योंकि वह भोग कभी हुआ करता है, जैसे दीपकलिका नाशस्वभाववाली है। इस अनुमानसे वास्तवमें भोगको क्षणध्वंसीपना सिद्ध हो जाता है। अतः अचेतनत्व साध्यको सिद्ध करनेमें दिया गया भंगुरत्व हेतु इस आत्मसंबंधी भोगसे व्यभिचारी है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कादाचित्कः कुतः सिद्धः पुरुषोपभोगः स्वसद्भावादिति चेत्—

जैनोंने पुरुषके भोगको नश्वरत्व सिद्ध करनेके लिये कभी कभी होनापन हेतु दिया था। हम सांख्य पूंछते हैं कि जब आत्मा सर्वदा विद्यमान रहता है तो आत्माका उपभोग कभी कभी होवे, यह बात आपने किस प्रमाणसे सिद्ध कर लीनी है। समझाइये। आचार्य कहते हैं कि यदि सांख्य ऐसा कहेंगे तो—

कादाचित्कः परापेक्षासद्भावाद्विभ्रमादिवत्।
बुद्ध्यध्यवसितार्थस्य शब्दादेरुपलम्भतः॥ २४१॥
परापेक्षः प्रसिद्धोऽयमात्मनोऽनुभवोऽञ्जसा।
परानपेक्षितायां तु पुंदृष्टेः सर्वदार्शिता॥ २४२॥

हम जैन दूसरा अनुमान करते हैं कि वह पुरुषका भोग कभी कभी होनेवाला है (प्रतिज्ञा) क्योंकि भोगको दूसरेकी आकांक्षा करनेका सद्भाव बना रहता है। (हेतु) जैसे चकाचौंध, कामल, चाकचक्य आदि दोषोंसे भ्रांतिज्ञान, संशयज्ञान कभी कभी होते हैं, वैसे ही बुद्धिके द्वारा निश्चित किये हुए शब्द, रूप, रस आदि विषयोंका आत्माको भोग होना देखा जाता है। इस कारण यह आत्माका अनुभव परकी अपेक्षा रखनेवाला स्पष्ट अभ्रांतरूपसे प्रसिद्ध है। यदि पुरुषको चेतना करने या उपभोग करनेमें बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा हुई न मानोगे तो आत्मा सर्वदर्शी और सर्वभोक्ता बन जावेगा। किसीके साथ दूरपना और अन्य किसीके साथ समीपपना तो रहा नहीं, आत्मा सर्वत्र व्यापक है ही।

परापेक्षितया कादाचित्कत्वं व्याप्तम्, तेन चानित्यत्वमिति तत्सिद्धौ तत्सिद्धिः। परापेक्षिता पुरुषानुभवस्य नासिद्धा, परस्य बुद्ध्यध्यवसायस्यापेक्षणीयत्वात्, बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयत इति वचनात्। परानपेक्षितायां तु पुरुषदर्शनस्य सर्वदर्शितापत्तिः, सकलार्थबुद्ध्यध्यवसायापायेऽपि सकलार्थदर्शनस्योपपत्तेरिति योगिन इवायोगिनोऽमुक्तस्य च सार्वज्ञमनिष्टमायातम्।

वार्त्तिकोंका भाष्य यों हैं कि दूसरे कारणोंकी अपेक्षा रखनेवालापन हेतु व्याप्य है और कभी कालमें उत्पन्न होनापन साध्य व्यापक है। इस कारण परापेक्षीपनसे कादाचित्कपना व्याप्त हो रहा है। अर्थात् जहां जहां परापेक्षीपना है, वहां वहां कादाचित्कपना भी अवश्य विद्यमान है और इस साध्यको जब हेतु बना लिया तो उस कादाचित्कपन हेतुसे अनित्यपना साध्य अविनाभाव रखता है अर्थात् जहां जहां कादाचित्कपना है, वहां वहां अनित्यपना भी अवश्य है। भङ्गुरका और अनि-

त्यका एक ही अर्थ है। इस प्रकार उस अनित्यपनेकी सिद्धि होनेपर आपके भङ्गुरत्व हेतुसे पुरुषके उस भोगमें अचेतनपना सिद्ध हो जाता है, जो कि आपको अनिष्ट है। अतः सुख आदिकको अचेतनपना सिद्ध करनेमें दिया गया आपका भंगुरत्व हेतु व्यभिचारी है। पुरुषके उपभोगरूप पक्षको (मैं) परकी अपेक्षा रखनापन हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि आत्माका भोग अपनी उत्पत्तिमें बुद्धिके द्वारा किये गये निर्णयरूप दूसरे कारणकी अपेक्षा करता है आपके सांख्यदर्शनका वाक्य है कि "बुद्धिसे निर्णीत किये गये अर्थको ही आत्मा अनुभव करता है"। यदि पुरुषकी चेतना करनेमें दूसरे कारणकी अपेक्षा न मानी जावेगी तो आत्माको सर्व पदार्थोंकी चेतनारूप अनुभव करनेका प्रसंग आवेगा। आत्मा सबका द्रष्टा बन जावेगा क्योंकि सकल पदार्थोंका बुद्धिके द्वारा निर्णय न करनेपर भी आपके कथनानुसार सकलपदार्थोंका अनुभव या दर्शन करना बन जाता है। इस कारण सम्प्रज्ञात योगवाले सर्वज्ञोंके समान सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योगसे होरहे मुक्त जीवोंके अथवा साधारण संसारी जीवोंके भी सर्वज्ञपना प्राप्त हो जावेगा, जो कि आप सांख्योंको इष्ट नहीं है। पतञ्जलि दर्शन भी इस बातको इष्ट नहीं करता है।

सर्वस्य सर्वदा पुंसः सिद्ध्युपायस्तथा वृथा।
ततो दृग्बोधयोरात्मस्वभावत्वं प्रसिद्ध्यतु ॥ २४३ ॥
कथञ्चिन्नश्वरत्वस्याविरोधान्नर्यपीक्षणात्।
तथैवार्थक्रियासिद्धेरन्यथा वस्तुताक्षतेः ॥ २४४ ॥

जब कि बिना उपायके ही सम्पूर्ण जीव सर्वज्ञ हो जावेंगे तैसा होनेपर तो सब कालमें सम्पूर्ण जीवोंको सिद्धिके कारण दीक्षा, तपस्या, योग, तत्त्वज्ञान आदि उपायोंका अवलम्ब करना निष्फल है। उस कारणसे हमारा कहना ही प्रसिद्ध हो जाओ कि चैतन्य और ज्ञान दोनों ही आत्माके स्वभाव हैं, दोनों अभिन्न है। और जो आत्माको ज्ञानस्वरूप माननेसे आत्माकी अनित्यताके प्रसंगका भय लगा हुआ है। वह भय भी आप सांख्योंको हृदयसे निकाल देना चाहिये। क्योंकि घटके समान आत्मामें भी किसी अपेक्षासे अनित्यपनेका कोई विरोध नहीं है। आत्मासे तादात्म्यसम्बन्ध रखनेवाले परिणामोंका कथञ्चित् उत्पाद और विनाश माना है। इस प्रकार होनेपर ही तो आत्मामें अर्थक्रियाकी सिद्धि देखी जाती है। आत्माकी अर्थक्रिया यही है कि मतिज्ञानका नाश और श्रुतज्ञानका उत्पाद होवे तथा बाल्य अवस्थासे कुमार अवस्था और कुमार अवस्थाका विनाश होकर युवा अवस्थाका उत्पाद होवे। इत्यादि अर्थक्रियाएं यदि आत्मामें नहीं मानी जावेंगी तो अन्य प्रकारोंसे आत्माका वस्तुपन नष्ट हो जावेगा। भावार्थ—अर्थक्रियाओंके बिना आत्मा वस्तु न ठहर सकेगा। एककल्पित पदार्थ मान लिया जावेगा। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" यह

अखण्ड सिद्धान्त है। द्रव्यत्वगुण और कालाणुयें प्रत्येक वस्तुको प्रतिक्षण नवीन पर्यायोंको धारनेके लिये उत्तेजित करते रहते हैं।

सर्वस्य सर्वज्ञत्वे च वृथा सिद्ध्युपायः साध्याभावात्। सिद्धिर्हि सर्वज्ञता मुक्तिर्वा कुतश्चिदनुष्ठानात्साध्यते ? तत्र न तावत्सर्वज्ञता तस्याः स्वतः सिद्धत्वात्। नापि मुक्तिः सर्वज्ञतापाये तदुपगमात्तस्य चासम्भवात्। परानपेक्षितायाः सर्वदर्शितायाः परानिवृत्तावपि प्रसक्तेः।

सदा सब जीवोंको सुलभतासे ही जब सर्वज्ञपना प्राप्त हो गया तो सिद्धिका तपस्या, उपवास, वैराग्य आदिके द्वारा उपाय करना व्यर्थ है। क्योंकि मोक्षमें हमको सर्वज्ञताके अतिरिक्त कोई अन्य साधने योग्य कार्य करना नहीं है। आप कापिलोंसे हम पूंछते है कि जिस सिद्धिको आप भेदविज्ञान, तपस्या, पुण्यकर्मका अनुष्ठान आदि किन्ही उपायोंसे साधते हैं, वह सिद्धि आपके यहां क्या मानी गयी है ? बताओ। केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका एक समयमें प्रत्यक्ष करना सिद्धि है? अथवा ज्ञान, सुख आदिकका नाश होकर आत्माका स्वरूपमें स्थित रहनारूप मोक्षको आप सिद्धि मानते हैं। कहिये। उन उक्त दोनों पक्षोंमें पहिली सर्वज्ञतारूप सिद्धि मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञता तो तपस्या, पुण्यकर्म आदि उपायोंके बिना ही अपने आप सुलभतासे सिद्ध हो जाती मान ली गयी है। आपके मतमें सर्वज्ञपना प्रकृतिका धर्म है और प्रकृतिका आत्मासे संसर्ग हो रहा है। बुद्धिसे निर्णय किये जा चुकनेपर अनुभव करनेका झगडा अभी आपने निकाल ही दिया है।

दूसरे पक्षके अनुसार आत्माकी मोक्ष हो जानेको सिद्धि मानेंगे, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि आपने असंप्रज्ञात योगसे प्रकृतिकी ओरसे आई हुई सर्वज्ञताका नाश हो जाने पर द्रष्टा, चेतयिता, आत्माकी उस स्वरूपमें स्थितिको मोक्ष माना है। किंतु जब सर्वज्ञता आत्माको स्वतः सिद्ध प्राप्त हो गयी है तो उसका नाश करना सम्भव नहीं है। सबको देखनेवाली सर्वज्ञताको जब दूसरे कारण कहे गये बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा ही नहीं है तो प्रकृतिकी बनी हुयी बुद्धिका मोक्ष अवस्थामें निवारण या अनिवारण होनेपर भी सर्वज्ञताके अक्षुण्ण बने रहनेका प्रसंग विद्यमान है। भावार्थ— सर्वज्ञता अब आत्मासे दूर नहीं हो सकती है। क्योंकि दर्शनके समान ज्ञान भी आत्माका स्वभाव है स्वभावमें परकी अपेक्षा नहीं मानी गयी है।

स्यान्मतम् न बुद्ध्यध्यवसितार्थालोचनं पुंसो दर्शनं तस्यात्मस्वभावत्वेन व्यवस्थितत्वादिति तदपि नावधानीयम्, बोधस्याप्यात्मस्वभावत्वोपपत्तेः। न ह्यहंकाराभिमतार्थाध्यवसायो बुद्धिस्तस्याः पुंस्वभावत्वेन प्रतीतेर्बाधाभावात् इति दर्शनज्ञानयोरात्मस्वभावत्वमेव प्रसिद्ध्यतु विशेषाभावात्।

भले ही आप सांख्योंका यह भी मन्तव्य होवे कि बुद्धिके द्वारा निर्णीत किये गये अर्थका आलोचन करना पुरुषका चैतन्य करना नहीं है। क्योंकि अर्थका वह संचेतन करना या दर्शन करना तो आत्माका स्वभाव है, यह प्रमाणोंसे सिद्ध कर दिया गया है। आचार्य कहते हैं कि सो वह मन्तव्य भी सांख्योंको अपने चित्तमें नहीं विचारना चाहिये, क्योंकि ऐसा माननेपर तो ज्ञानको भी आत्माका स्वभाव होना सिद्ध हो जाता है। दर्शन और ज्ञान एक ही थैलीके चट्टे बट्टे हैं। सम्पूर्ण विषयोंका मैं ही भोक्ता हूं, मेरे सिवाय कोई इनका अधिकारी नहीं है ऐसा अभिमानरूप " मैं मैं " इस प्रकार आत्मगौरव के साथ आत्माका अर्थनिर्णय करना तो जड प्रकृतिकी बनी हुयी बुद्धि नहीं है। प्रत्युत वह बुद्धि चेतन आत्माका स्वभाव है। ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रतीत हो रहा है। इस प्रतीतिका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस प्रकार दर्शन और ज्ञान दोनों उपयोगोंको आत्माका स्वभावपना ही प्रसिद्ध होता है, सो आप मानलो। दर्शनको आत्माका स्वभाव माना जावे और ज्ञानको प्रकृतिका धर्म कहा जावे आपके इस कथनमें कोई विशेषता नहीं पायी जाती है।

ननु च नश्वरज्ञानस्वभावत्वे पुंसो नश्वरत्वप्रसंगो बाधक इति चेत् न, नश्वरत्वस्य नरेऽपि कथञ्चिद्विरोधाभावात्, पर्यायार्थतः परपरिणामाक्रान्ततावलोकनात्। अपरिणामिनः क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेर्वस्तुत्वहानिप्रसंगाच्चित्यानित्यात्मकत्वेनैव कथञ्चिदर्थक्रियासिद्धिरित्यलं प्रपञ्चेन। आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकस्य प्रसिद्धेः।

शंकाकारकी मुद्रा बनाकर स्वपक्षका अवधारण करते हुए सांख्यज्ञानको आत्माका स्वभाव सिद्ध करनेवाली प्रतीतिमें बाधक उपस्थित करते हैं कि यदि उत्पाद विनाश होनेकी लत रखनेवाले ज्ञानको आत्माका स्वभाव होना माना जावेगा तो आत्मासे अभिन्न माने गये ज्ञानके समान आत्माको भी नाशशील होनेका प्रसंग होवेगा। यही आत्माको ज्ञानस्वभाव सिद्ध करनेवाली प्रतीतिका बाधक है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि कथञ्चित् नाश होनापने–स्वभावका आत्मामें भी कोई विरोध नहीं है। पर्यायार्थिक नयसे वही एक आत्मा भिन्न भिन्न दूसरी अनेक पर्यायोंमें व्याप्त होता हुआ देखा जा रहा है। आत्मा द्रव्य नित्य है। उसकी अभिन्न पर्यायें उत्पाद विनाशशाली हैं। एक ज्ञान नष्ट होता है, दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है। युवावस्था नष्ट होती है और वृद्धावस्था उत्पन्न होती है। मनुष्यपर्यायका नाश होकर देवपर्याय उत्पन्न हो जाती है। यदि आत्माको कूटस्थ अपरिणामी माना जावेगा तो उसकी क्रमसे होनेवाली और साथ होनेवाली अनेक अर्थक्रियाएं नहीं बन सकेंगी। इस कारण अर्थक्रियाके बिना आत्माका वस्तुपना ही नष्ट हो जावेगा। यह वस्तुत्वकी हानिका प्रसंग न होवे, इसलिये कथञ्चित् नित्य और अनित्य स्वरूपपनेसे ही आत्माके देखना, जानना, भोगना आदि अर्थक्रियाओंकी सिद्धि हो सकती है। आत्माको ज्ञानस्वभाव

सिद्ध करनेमें अच्छा विचार हो चुका । अब पुनः पुनः आप सांख्य ज्ञानस्वभावका खण्डन-करनेकेलिये जो युक्तियां देते हैं, वे निस्तत्त्व, पुनरुक्त और पोच हैं। अतः अधिक प्रपञ्च बढानेसे आपका कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। आत्माके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनोंही आत्मीय स्वभाव हैं। प्रतिवादियोंका प्रत्याख्यान करते हुए अबतक यह बात विस्तारके साथ सिद्ध हो चुकी हैं।

संसारव्याधिविध्वंसः क्वचिज्जीवे भविष्यति ।
तन्निदानपरिध्वंससिद्धेर्ज्वरविनाशवत् ॥ २४५ ॥
तत्परिध्वंसनेनातः श्रेयसा योक्ष्यमाणता ।
पुंसः स्याद्वादिनां सिद्धा नैकान्ते तद्विरोधतः ॥ २४६ ॥

ग्रंथके आदिमें तीसरी वार्तिकद्वारा पहिले सूत्रकी प्रवृत्तिका कारण उपयोगस्वरूप और कल्याणमार्गसे भविष्यमें संसर्ग करनेवाले आत्माकी समझनेकी इच्छा होना बतलाया गया है। तिनमें पहिला यानी आत्माको ज्ञानस्वभाववाला सिद्ध कर दिया जा चुका है। अब आत्माका कल्याणमार्गसे संबंध हो जानेकी जिज्ञासाको अनुमानद्वारा सिद्ध करते हैं। किसी न किसी विवक्षित आत्मामें संसारके सर्वदुःखोंका विनाश हो जावेगा (प्रतिज्ञा) क्योंकि आदिकारण ज्ञानावरण आदि कर्मोंका रत्नत्रयसे प्रागभावका असमानकालीन परिक्षय होना सिद्ध हो रहा है। (हेतु) जैसे कि ज्वराकुंश, कुटकी, चिरायता आदिसे ज्वरके कारणोंके नाश हो जानेपर जड-सहित ज्वरका नाश हो जाता है। (अन्वयदृष्टांत) इस कारण उस संसारकी व्याधियोंके नाश हो जानेसे आत्माका कल्याण मार्गसे भविष्यमें सम्बन्धित हो जाना सिद्ध हो जाता है। स्याद्वादियोंके मतमें परिणामी आत्माके यह बात बन जाती है। नित्य एकांत या अनित्य एकांतमें पहिलेके दुःखी आत्माका वर्तमानमें सुखी हो जानापन नहीं बनता है क्योंकि विरोधदोष आता है। जिस सांख्यके मतमें कूटस्थ नित्य आत्मा माना है वह सर्वदा एकसा ही रहेगा। बौद्धमतमें प्रतिक्षण बदलता ही रहेगा। जो दुःखी था वही सुखी न हो सकेगा। दुःख एकका है तत्त्वज्ञान दूसरेको, और मोक्ष तीसरेको होगी। तथा च एकांतवादियोंको जैनमतानुसार परिणामी नित्य आत्माके माननेपर अपने मंतव्योंसे विरोध हो जावेगा।

सन्नप्यात्मोपयोगात्मा न श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चित् सर्वदा रागादिसमाक्रान्त-मानसत्वादिति केचित्सम्प्रतिपन्ना तान्प्रति तत्साधनमुच्यते ।

आत्मा ज्ञानदर्शनोपयोगस्वरूप होकर विद्यमान रहता है। ऐसा होते हुए भी कोई आत्मा मोक्षमार्गसे सम्बन्धित हो जासके, यह जैनोंका सिद्ध करना ठीक नहीं है। क्योंकि सभी आत्माओंके

अन्तःकरण राग, द्वेष, मोह आदिकसे सदा ही भरे रहते हैं। जिन आत्माओंका मन क्रोध, प्यार, मूढतासे परिपूर्ण हो रहा है वे दूषित आत्मायें भला मोक्षमार्गसे कैसे तदात्मक बन सकेंगे, इस प्रकार कोई कोई प्रतिवादी समझ बैठे हैं। उनके प्रति जीवोंका मोक्षमार्गमें लग जानेको सिद्ध करनेवाला हेतुसहित अनुमान कहा जाता है।

श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चित् संसारव्याधिविध्वंसित्वान्यथानुपपत्तेः। श्रेयोऽत्र सकलदुःखनिवृत्तिः, सकलदुःखस्य च कारणं संसारव्याधिस्तद्विध्वंसे कस्यचित्सिद्धं श्रेयसा योक्ष्यमाणत्वम्, तल्लक्षणकारणानुपलब्धेः।

कोई आत्मा (पक्ष) कल्याणमार्गसे युक्त होनेवाला है (साध्य) क्योंकि संसाररूप व्याधियोंका नाश करनेवालापन हेतु इस साध्यके विना अन्यप्रकार बन नहीं सकता है। भावार्थ—संसारके दुःखोंका नाशकपना-हेतु मोक्षमार्गसे युक्त होनेवाले साध्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है। इस अनुमानमें कल्याणका अर्थ शारीरिक, मानसिक, चेतन, अचेतनकृत और कर्मकृत सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति हो जाना है तथा सम्पूर्ण दुःखोंका कारण जीवका पञ्च-परावर्तनरूपसे संसरण करना—स्वरूप व्याधि है। उसके कारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम और कषाय है। संसारके इन प्रधान कारणोंका सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रसे जब नाश कर दिया जाता है तो संसाररूप व्याधिका भी नाश हो जाता है। और उस संसाररूप—व्याधिके नष्ट हो जानेपर किसी आत्माका सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिरूप कल्याणसे संयुक्त हो जाना भी सिद्ध हो जाता है। उस संसारव्याधिरूप कारणकी अनुपलब्धि हो जानेसे कल्याणमार्गसे लग जानारूप साध्यकी सिद्धि हो जाती है। पहिले अनुमानमें कारणके नाशसे संसारव्याधिस्वरूप—कार्यका नाश सिद्ध किया है। यहां क्षयका अर्थ निषेध किया जावे तो हेतु अविरुद्धकारणानुपलब्धि—स्वरूप है। अथवा क्षयको भावकार्य माना जावे तो अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतु है। और दूसरे अनुमानमें व्याधि-ध्वंस—हेतुसे कल्याणसम्बन्धीपना सिद्ध किया है, यह हेतु विरुद्ध कारणानुपलब्धि रूप है। यदि ध्वंसको भावरूप माना जावे तो पूर्ववत् अविरुद्धकारणोपलब्धि स्वरूप है।

न च संसारव्याधेः सकलदुःखकारणत्वमसिद्धं जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्। पारतन्त्र्यं हि दुःखमिति। एतेन सांसारिकसुखस्य दुःखत्वमुक्तं स्वातन्त्र्यस्यैव सुखत्वात्।

संसाररूपी रोगको सकल दुःखोंका कारणपना असिद्ध नहीं है क्योंकि कर्मोंके आधीन चारों गतियोंमें परिभ्रमण करनारूप—संसार ही जीवकी परतन्त्रताका कारण है और पराधीनता ही निश्चयसे दुःख है। इस प्रकार संसाररूप—रोग ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण सिद्ध हुआ। इस समर्थनसे संसारमें होनेवाले इंद्रियजन्य क्षणिक सुखोंको दुःखपना कह दिया गया है। क्योंकि वास्तवमें स्वतं-

व्रताको ही सुख माना गया है। इंद्रियजन्य स्पर्श, रस आदिकके सुख स्वतंत्र नहीं है, पराधीन हैं। पराधीन अवस्थामें भला सुख कहां ?। वे कल्पितसुख क्षणिक हैं, बाधासहित हैं, विपक्ष-सहित भी हैं।

शक्रादीनां स्वातन्त्र्यसुखमस्त्येवेति चेन्न, तेषामपि कर्मपरतन्त्रत्वात्।

यहां कोई दोष उठाता है कि इंद्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती, भोगभूमियां तथा राजा, महाराजाओं आदिको स्वाधीनतारूप सुख है ही। आचार्य समझाते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे सभी शुभ और अशुभ कर्मोंसे परतंत्र हो रहे हैं, जकडे हुए हैं। भावार्थ—हम समझते हैं कि हम स्वतंत्रतासे खा रहे हैं, भोग भोग रहे हैं, पढा रहे हैं, गाना गाते या सुन रहे हैं, हंस रहे हैं, आनंद कर रहे हैं, किंतु इन सम्पूर्ण क्रियाओंमें स्वतंत्रता तो अत्यल्प है और कर्मोंकी पराधीनता ही बहुभाग प्रधान कारण है। इस जीवको कर्मके उदयसे स्त्रीका शरीर मिलता है, तब पुरुषसे रमण करनेके भाव होते हैं और पुरुषका शरीर मिलनेपर पुंवेदका उदय होनेसे पुरुषोचितभाव होते हैं। स्वर कर्मके उदय होनेपर तथा भाषावर्गणाके आ जानेपर गाना गाया जाता है। हास्य कर्मका उदय होनेपर हंसता है। बाल्यावस्थामें खेलने, कूदनेके परिणाम होते हैं। आत्माको सिंहका शरीर मिलने पर क्रूरता, शूरताके भाव हो जाते हैं। बकरीके शरीरमें भय, पत्ता खाना, मैं मैं शब्दसे रोना, आदि विकार होते हैं। कोई पशु या स्त्री अपने हठसे मनुष्य बननेका पुरुषार्थ करे, वह सब व्यर्थ है। अभिप्राय यह है कि जितना कुछ हम पुरुषार्थपूर्वक कार्य करना समझ रहे हैं, उनमें कर्मोंकी प्रेरणाका हाथ अधिक है। चिरकालका तीव्र रोगी एक पलमें नीरोग होनेका यदि प्रयत्न करे तो वह प्रयत्न निष्फल हो जावेगा। सामायिकको छोडकर आत्माके यश, काम, अर्थका उपार्जन, चलना आदि व्यापारोंमें, कठपुतलियोंके नचानेमें बाजीगरके समान पुण्य, पाप, कर्म ही प्रयोक्ता माना गया है। अतः सम्राट् आदिकोंका सुख पराधीन होनेसे वास्तविक सुख नहीं है। वेदनाका प्रतीकार मात्र है, बहुभाग दुःखसे ही मिश्रित है। एक जैन कविने ठीक कहा है कि " न कोऽपि कस्यापि सुखं ददाति न कोऽपि कस्यापि ददाति दुःखम् ॥ परो ददातीति कुबुद्धिरेषा स्वकर्मसूत्र-ग्रथितो हि जीवः ॥ " न तो कोई भी किसीको सुख देता है और न कोई किसी जीवको दुःख ही देता है। जो मनुष्य यह कहता है कि अमुक हमको सुख देता है। यह हमको दुःख देता है यह सब कुबुद्धि है क्योंकि यह संसारी जीव अपने अपने कर्मसूत्रोंसे गुथा हुआ है।

निराकांक्षतात्मकसन्तोषरूपं तु सुखं सांसारिकं, तस्य देशमुक्तिसुखत्वात्। देशतो मोहक्षयोपशमे हि देहिनो निराकाङ्क्षता विषयरतौ नान्यथातिप्रसंगात्।

इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंकी आकांक्षाओंसे रहित जो संतोषसुख है, वह तो संसारका सुख नहीं है किन्तु एकदेशमोक्षका सुख है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कर्मोंका

उदय न होनारूप एकदेश कर्मोंकी मोक्ष हो जानेपर वह संतोषामृतसुख आत्मामें स्वभावसे प्रगट हो जाता है। मोहनीयकर्मका कुछ अंशोंसे क्षयोपशम हो जानेपर ही विषयोंकी आसक्ति में आत्माके वीतरागता उत्पन्न होजाती है। संसारके संकल्पविकल्पोंसे रहित वीतरागी होनेका अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है। अन्यथा एकेन्द्रियजीवोंको भी संन्तोषी वीतरागी बननेका अतिप्रसंग हो जावेगा। यदि नदीस्नान, बाल मुंडाना आदि बहिरंग क्रियाओंसे वीतरागी साधु बन सकें तो मच्छली, मेंढक, भेड आदि भी प्रधान वीतरागी बन जावेंगे।

तदेतेन यतिजनस्य प्रशमसुखमसांसारिकं व्याख्यातम्। क्षीणमोहानां तु कात्स्न्र्यतः प्रशमसुखं मोहपरतन्त्रत्वनिवृत्तेः।

इस कारण इस उक्त कथनसे छठवें, सातवें आदि गुणस्थानवाले मुनि ऋषियोंको जो प्रकृष्ट शान्तिस्वरूप सुख है, वह संसारसम्बन्धी नहीं है। यह बात भी समझा दी गयी है और जिनका मोहनीय कर्म सर्वथा बन्ध, उदय और सत्त्वपनेसे क्षयप्राप्त हो गया है। उन बारहवे गुणस्थानवाले निर्ग्रन्थ और तेरहवेंवाले स्नातक साधुओंके तो सम्पूर्णरूपसे आत्मीय स्वाभाविक प्रशान्तिका सुख है। क्योंकि मोहनीय कर्मकी पराधीनता सर्वथा नष्ट हो गयी है। तभी तो आत्माका स्वाभाविक सुख गुण व्यक्त हो गया है। जीवन्मुक्ति है ही, परममुक्ति भी अब दूर नहीं है।

यदपि संसारिणामनुकूलवेदनीयप्रातीतिकं सुखमिति मतम्, तदप्यभिमानमात्रम् पारतन्त्र्याख्येन दुःखेनानुपक्तत्वात्तस्य तत्कारणत्वात् कार्यत्वाच्चेति न संसारव्याधिर्जातुचित्सुखकारणं येनास्य दुःखकारणत्वं न सिद्ध्येत्।

जो भी संसारी जीवोंके सातावेदनीयका उदय होनेपर अपनी अनुकूल प्रतीतिके अनुसार वैभाविक आनंदका अनुभवन करनारूप सुख प्रतीत हो रहा है यह मंतव्य है, वह भी केवल अभिमान करना मात्र है; क्योंकि वास्तवमें संसारी जीवोंको अभीतक ठीक सुखका अनुभव ही नहीं हुआ है। मिश्रीके रससे लिपटी हुयी छुरीको चाटनेके समान या दादको खुजानेके समान सांसारिक सुखका अनुकूलवेदन हो रहा है, किंतु ये सब सुखाभास हैं। वे परतंत्रतानामक–दुःखसे भरपूर होकर सन रहे हैं क्योंकि वे सब माने हुए सुख बिचारे कर्मोंकी अधीनतारूप कारणोंसे ही तो उत्पन्न हुए हैं और पीछेसे पराधीन कर देना भी उन सुखोंका कार्य है। भावार्थ—दुःखसे ही वे सुख उत्पन्न हुए हैं और भविष्यमें भी दुःखकार्यको उत्पन्न कर देते हैं। एक मनुष्यको लाल मिर्च खाना अच्छा लगता है। किसीको दूसरोंके पीटनेमें आनंद आता है, वह दुःखका कार्य और दुःखका कारण भी है। यही दूध पीना, भोजन करना, भोग करना आदि सुखाभासोंमें भी समझ लेना। इस प्रकार संसाररूपव्याधि कभी सुखका कारण नहीं हो सकती है। जिससे कि संसार-

रोगको दुःखकारणपना सिद्ध न होवे। अर्थात् संसारकी व्याधि, आधि, उपाधियां अनेक दुःखोंके कारण हैं। जो जीव व्याधियोंका नाश कर देता है, वह सुखके मार्गमें लग जाता है।

तद्विध्वंसः कथमिति चेत्, क्वचिन्निदानपरिध्वंससिद्धेः। यत्र यस्य निदानपरिध्वंसस्तत्र तस्य परिध्वंसो दृष्टो यथा क्वचिज्ज्वरस्य। निदानपरिध्वंसश्च संसारव्याधेः शुद्धात्मनीति कारणानुपलब्धिः। संसारव्याधेर्निदानं मिथ्यादर्शनादि, तस्य विध्वंसः सम्यग्दर्शनादिभावनाबलात् क्वचिदिति समर्थयिष्यमाणत्वान्न हेतोरसिद्धता शङ्कनीया।

उन व्याधियोंका ध्वंस कैसे होगा? ऐसा पूंछनेपर तो हम उत्तर देते हैं कि किसी न किसी निकटभव्य आत्मामें (पक्ष) व्याधियोंके प्रधानकारणोंका नाश सिद्ध हो चुका है (साध्य)। जहां जिस कार्यके आदिकारणका पूर्ण क्षय हो जाता है। वहां उस कार्यका नाश हो जाना देखा गया है। जैसे कि ज्वरके कारण वात, पित्त, कफके दोषोंका विनाश हो जानेपर किसी रोगीमें ज्वरका नाश हो जाता है, या अग्निके प्रकर्ष होनेपर जैसे शीतस्पर्शका नाश हो जाता है (व्याप्ति पूर्वक अन्वय दृष्टांत) इसीके सदृश संसाररोगके निदानका क्षय शुद्ध आत्मामें विद्यमान है। (उपनय) इस प्रकार कारणकी अनुपलब्धिसे कार्यका अभाव जान लिया जाता है। (निगमन) संसारव्याधिके प्रधानकारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका यथायोग्य परिपालन और पूर्णताकी भावना भावनेकी सामर्थ्यसे उन मिथ्यादर्शन आदिकोंका बढिया नाश किसी एक मुमुक्षु आत्मामें हो जाता है। इस बातका भविष्यमें अच्छी तरहसे समर्थन कर देनेवाले हैं। अतः कल्याणमार्गसे युक्त होना नामक साध्य करनेमें दिये गये व्याधिविध्वंसकपना हेतुके असिद्धतादोषकी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि किसी निकटभव्य जीव आत्मारूप पक्षमें यह हेतु विद्यमान है।

सरसि शंखकादिनानैकान्तिकोऽयं हेतुः, स्वनिदानस्य जलस्य परिध्वंसेऽपि तस्यापरिध्वंसादिति चेन्न तस्य जलनिदानत्वासिद्धेः। स्वारम्भकपुद्गलपरिणामनिदानत्वात् शंखकादेस्तत्सहकारिमात्रत्वाज्जलादीनाम्। न हि कारणमात्रं केनचित्कस्यचिन्निदानमिष्टं नियतस्यैव कारणस्य निदानत्वात्। न च तन्नाशे कस्यचिन्निदानिनो न नाश इत्यव्यभिचार्येव हेतुः कथंचन संसारव्याधिविध्वंसनं साधयेद्यतस्तत्परिध्वंसनेन श्रेयसा योक्ष्यमाणः कश्चिदुपयोगात्मकात्मा न स्यात्।

यहां कोई शंका करते हैं कि आप कार्यके नाशको सिद्ध करनेवाला निदानध्वन्सरूप यह जैनोंका हेतु तो तालाबमें रहनेवाले शंख, सीप आदिसे व्यभिचारी है, क्योंकि शंख, सीपोंका प्रधानकारण जल है किंतु अपने निदान माने गये जलके सर्वथा सूख जानेपर भी उन शंख और सीपोंका नाश नहीं हो जाता है। वे सूखे तालाबमें बेखटके पडे रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो

ठीक नहीं है। क्योंकि उन शंख, सीपों आदिका प्रधानकारण जलको मानना सिद्ध नहीं है। शंख आदिकोंका प्रकृष्ट कारण अपने बनानेवाले पुद्गलकी वर्गणास्वरूप पर्यायें हैं अर्थात् शंख आदिक द्वीन्द्रिय जीवोंके योगोंसे आकर्षित हुयीं आहार वर्गणाओंसे शंखका पौद्गलिक शरीर बना है। जल, कीच, शैवाल आदि तो उसके केवल सहकारी कारण हैं। उनमें शंखशरीरके योग्य आहारवर्गणायें अधिक हैं। किसी भी कार्यके सम्पूर्ण ही कारणोंको या चाहे किसी सामन्यकारणको निदान मान लेना किसी भी वादीने इष्ट नहीं किया है। अनेक कारणोंमेंसे किसी विशेष उपयोगी नियत कारणको ही निदानरूपकारण माना गया है और ऐसे प्रधानकारणके नष्ट हो जानेपर किसी भी निदानसे होनेवाले कार्यका नाश न होवे यह नहीं है। इस कारण हमारा हेतु व्यभिचार दोषसे रहित ही है, वह संसारव्याधिके नाशकपनेको क्यों नहीं सिद्ध करावेगा ? जिससे कि उस व्याधिके नाश करनेसे कोई न कोई ज्ञानोपयोगस्वरूप आत्मा भविष्यमें कल्याणसे युक्त न हो सके। भावार्थ— निदानक्षयरूप निर्दोषहेतुसे मिथ्यादर्शन आदि व्याधियोंका ध्वंस सिद्ध होता है और व्याधियोंके ध्वंसकपने हेतुसे किसी आत्माका मोक्षमार्गमें लग जाना ज्ञात हो जाता है।

निरन्वयविनश्वरं चित्तं श्रेयसा योक्ष्यमाणमिति न मन्तव्यम्, तस्य क्षणिकत्वविरोधात्।

प्रत्येक क्षणमें अन्वयसहित नष्ट होकर नहीं ध्रुवपनेको रखता हुआ क्षणिकचित्त मोक्षमार्गसे युक्त हो जावेगा। इस प्रकार बौद्धोंको नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जो कल्याणसे युक्त होनेवाला है उसको क्षणिकपनेका विरोध है। अर्थात् बिजली चमकनेके समान किसीको क्षणमात्रमें तो हितमार्ग प्राप्त नहीं होता है किंतु पहिलेसे ही नाना प्रयत्न करने पडते हैं। तब कहीं बडी देरमें सुधरते सुधरते आत्माके अनेक परिणामोंके बाद कल्याणमार्ग मिलता है। बौद्धोंके माने हुए सर्वथा क्षणिक विज्ञानरूप आत्माकी कल्याणमार्गमें नियुक्ति नहीं बन सकती है।

संसारनिदानरहिताच्चित्ताच्चित्तान्तरस्य श्रेयःस्वभावस्योत्पद्यमानतैव श्रेयसा योक्ष्यमाणता, सा न क्षणिकत्वविरुद्धेति चेन्न, क्षणिकैकान्ते कुतश्चित्कस्यचिदुत्पत्त्ययोगात्।

बौद्ध कहते हैं कि सातिशय मिथ्यादृष्टिके जैसे चरम मिथ्यादर्शनके उत्तरक्षणमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है, बारहवें गुणस्थानकी अन्तिम अल्पज्ञतासे तेरहवेंके आदिमें सर्वज्ञता उत्पन्न हो जाती है, जैनोंके यहां चौदहवें गुणस्थानके अन्तसमयकी असिद्धतासे दूसरे क्षणमें आत्माकी सिद्ध अवस्था बन जाती है. वैसे ही संसारके आदिकारण मानी गयी अविद्या और तृष्णासे रहित हो गये पहिले चित्तसे कल्याणस्वभाववाले दूसरे चित्तका उत्पन्न हो जाना ही कल्याणमार्गके साथ भावी नियुक्तपना है। वह नियुक्ति हमारे माने हुए क्षणिकपनेसे विरुद्ध नहीं पडती है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वथा क्षणिकत्वपक्षका एकान्त

माननेपर किसी भी कारणसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। बिजली और दीपकलिका भी कई क्षणतक ठहरती हैं, तभी पदार्थोंका प्रकाशन कर पाती हैं। एकक्षणमें पैदा होकर झटही नष्ट हो जानेवाली पर्यायको आत्मलाभ करनेका भी अवसर नहीं मिलता है। जिसने आत्मलाभ ही नहीं किया है, वह अर्थक्रिया भी क्या करेगा और बिना अर्थक्रियाके वस्तुपना ही नहीं ठहरता है।

सन्तानः श्रेयसा योक्ष्यमाण इत्यप्यनेन प्रतिक्षिप्तम्, सन्तानिव्यतिरेकेण सन्तानस्यानिष्टेः, पूर्वोत्तरक्षणा एव ह्यपरामृष्टभेदाः सन्तानस्स चावस्तुभूतः कथं श्रेयसा योक्ष्यते?।

बौद्ध कहते हैं कि जैसे हिंसककी एकसमयकी पर्याय हिंसा नामक लम्बे कर्मको नहीं करती है, किंतु हिंसक आत्माकी अनेकपर्यायें हिंसाकार्यमें लगी हुयी हैं। वैसे ही विज्ञानकी अकेली क्षणिक पर्याय कल्याणमार्गमें नहीं लगती हैं किंतु भूत, भविष्यत् कालकी अनेक पर्यायोंकी लडीरूपसंतति कल्याणसे संयुक्त हो जावेगी। आचार्य कह रहे हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी इस पूर्वोक्तकथनसे खण्डित हो जाता है। यदि आप क्षणिकपर्यायोंमें अन्वितरूपसे रहनेवाला एक संतान मानते होते, तब तो आपका कहना ठीक हो सकता था किंतु आप बौद्धोंने क्षणिक संतानियोंसे अतिरिक्त एक संतान कोई इष्ट किया नहीं है। आपका ग्रंथ है कि "पूर्वोत्तर क्षणोंमें होनेवाले संपूर्ण पर्याय वास्तवमें एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं"। भ्रांतिके वश उन पर्यायोंमें यदि भेदका विचार न किया जावे तो वे अनेक परिणाम ही संतानरूप कल्पित कर लिये जाते हैं। और यथार्थमें वह संतान वस्तुभूत नहीं हैं। आप बौद्ध किसी भी वास्तविक संबंधको नहीं मानते हैं तो पूर्वापरकालभावी परिणामोंका कालिकसंबंध काहेको मानने लगे। भला ऐसी अपरमार्थरूप संतान कल्याण मार्गके साथ कैसे संयुक्त हो सकेगी? अर्थात् आपका माना गया तुच्छसंतान कल्याणमार्गी नहीं बन पाता है।

प्रधानं श्रेयसा योक्ष्यमाणमित्यप्यसम्भाव्यम्, पुरुषपरिकल्पनविरोधात्। तदेव हि संसरति तदेव च विमुच्यत इति किमन्यत्पुरुषसाध्यमास्ति? प्रधानकृतस्यानुभवनं पुंसः प्रयोजनमिति चेत्, प्रधानस्यैव तदस्तु। कर्तृत्वात्तस्य तन्नेति चेत्, स्यादेवं यदि कर्तानुभविता न स्यात्।

सांख्य कहते हैं कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप प्रकृति ही मोक्षमार्गसे युक्त होनेवाली है। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार कापिलोंका मन्तव्य भी सम्भवने योग्य नहीं है। क्योंकि यदि प्रकृतिका ही मुक्तिमार्गमें प्रवेश माना जावेगा तो आत्मतत्त्वकी कल्पना करनेका विरोध आता है। जब कि प्रकृति ही संसारमें संसरण करती है और वह प्रकृति ही विशेषरूपसे मोक्षको प्राप्त करती है। ऐसा सिद्धांत करनेपर फिर आत्माके द्वारा साध्य करनेके लिये कौन दूसरा कार्य अव-

शिष्ट रह जाता है ? जिसके लिये कि पचीसवां तत्त्व आत्मा माना जा रहा है। यदि आप सांख्य यों कहेंगे कि प्रधानके द्वारा किये गये कार्योंका भोग करना आत्माका साध्य प्रयोजन है। यों तब तो हम जैन कहते हैं कि प्रकृतिके बने हुए उन सुख, दुःख, अहंकार, रासनप्रत्यक्ष आदिका भोग करना भी प्रकृतिका ही कर्तव्य मान लो, जो करे सो ही भोगे। यदि सांख्य यों कहेंगे कि वह प्रकृति तो कार्योंकी करनेवाली है, अतः वह भोगनेवाली नहीं हो सकती है, ऐसा सांख्योंका कहना तो जब हो सकता था कि यदि कार्य करनेवाला उस कार्यका भोक्ता न होता। किंतु सामायिक, स्वाध्याय, अध्ययन करनेवाले और अपनी अंगुलीमें सुईको चुभानेवाले मनुष्य उनका सुख दुःखरूपी-फल स्वयं भुगत रहे हैं। यद्यपि कुम्हार अपने बनाये हुए सम्पूर्ण घडोंसे ठण्डा पानी नहीं पीता है और सूचीकार अपने बनाये गये सम्पूर्ण वस्त्रोंको नहीं पहिनता है, फिर भी ये लोग अपने बनाये हुए कतिपय घट, पटोंका उपभोग करते ही हैं। तथा अतिरिक्त घट, पटोंका अन्य पुरुषोंसे परितोष प्राप्त कर उसका पूर्णरूपसे उपभोग करते हैं। उपभोग करना अनेक प्रकारका है। परोपकारी सज्जन भी निस्वार्थ सेवा कर आत्मीय कर्तव्यके सुख, शांति, लाभको भोग रहे हैं। सेवावृत्ति यानी सेवा करके आजीविका करना निकृष्ट कर्म है, किंतु सेवाधर्म पावन कार्य है। जो अपराध करता है उसीको दण्ड भोगना पडता है और तपस्वी जीव ही मुक्तिके शाश्वत आनंदका भोग करते हैं। कर्तापन और भोक्तापनका सामानाधिकरण्य है अन्यथा भुजिक्रियाका कर्ता भी भोक्ता न बन सकेगा।

द्रष्टुः कर्तृत्वे मुक्तस्यापि कर्तृत्वप्रसक्तिरिति चेत्, मुक्तः किमकर्तेष्टः ?।

चेतना करनेवाले या भोग करनेवाले द्रष्टा आत्माको यदि कर्ता माना जावेगा तो मुक्त जीवोंको भी कर्तापनका प्रसंग आवेगा। मोक्षमें बैठे हुए उनको भी कुछ न कुछ काम करना पडे तो वे कृतकृत्य कैसे माने जावेंगे ? यदि सांख्य ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि आपने मुक्त जीवोंको क्या अकर्ता माना है ? भावार्थ—वास्तवमें सिद्धांत तो यही ठीक है कि मुक्त जीव भी अपनी सुख, चैतन्य, सत्ता, वीर्य, क्षायिक दर्शन आदि अर्थक्रियाओंको करते रहते हैं, तभी तो वे वस्तुभूत होकर अनंतकाल तक मोक्षमें स्थित रहते हैं। उत्पाद व्यय ध्रौव्य उनके होते रहते हैं। अर्थक्रियाकारित्व वस्तुका लक्षण है। स्वपरादानापोहनव्यवस्था सबको करनी पडती है। सोता या मूर्च्छित मनुष्य भी रक्त मांस आदिको ठीक बनाये रखता है, ताकि मृतके समान दुर्गंध न आ सके। स्वात्मनिष्ठा बनी रहे, कर्म बंध नहीं हो सके, क्षायिक ज्ञान, चारित्र, सम्यक्त्व, द्रव्यत्वकी परिणतियां मुक्तोंमें सर्वदा होती रहती हैं। हां, लौकिक आजीविका, दान, भोजन, शयन, अध्ययन, स्नान, पूजन, आदि कृत्योंको वे कर चुके हैं। उन्हे अब करने नहीं हैं। अतः वे कृतकृत्य कह दिये जाते हैं किंतु अन्य मुक्तोपयोगी कार्योंको तो वे अनुक्षण करते ही रहते हैं। सिद्ध निठल्ले नहीं बैठे है।

मोक्ष अवस्था कोई बेहोशी, या मूर्छित या प्रदीपनिर्वाण, सारिखी नहीं है। परंतु सदा चैतन्यमय सुख, ज्ञान, अनुभव, वस्तुत्व, द्रवण आदि परिणतियों स्वरूप हैं।

विषयसुखादेरकर्त्तैवेति चेत्, कुतः स तथा ? तत्कारणकर्मकर्तृत्वाभावादिति चेत्, तर्हि संसारी विषयसुखादिकारणकर्मविशेषस्य कर्तृत्वाद्विषयसुखादेः कर्ता स एव चानुभविता किन्न भवेत् ?।

यदि सांख्य यों कहें कि मुक्तजीव विषयोंसे उत्पन्न हुए सुख और क्रोध, राग, शरीर, इंद्रिय, शब्द, रस आदिकोंका अकर्त्ता ही है। इस पर तो हम जैन पूंछते है कि आपने कैसे जाना कि वह मुक्तजीव उस प्रकार शरीर, सुख आदिकका कर्ता नहीं है ? बताओ।

यदि आप सांख्य यों कहें कि मुक्तजीवोंमें उन शरीर, शब्द, सुख, दुःख आदिको बनानेके कारण पुण्य-पापकर्मोंका कर्तापन नहीं है, अतः शरीर आदि या सुख आदिको नहीं बना पाता है। कारणके विना कार्य नहीं हो सकता है। पुण्य, पाप के बिना अकेले आत्मासे भी शरीर आदि नहीं बनते हैं। ऐसा कहने पर तो आपके कथनसे ही यह बात निकल पडती है कि संसारी जीवको शरीर, घट, विषयसुख, क्रोध आदिके कारण माने गये विशिष्ट पुण्यपापोंका कर्त्तापन है जिस कारण संसारी जीव विषयसुख आदिका करनेवाला कर्त्ता है, तब तो वही उनका अनुभव करनेवाला भोक्ता भी क्यों नहीं होगा ? अर्थात् वही आत्मा भोक्ता भी है, कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अधिकरण समान है।

संसार्यवस्थायामात्मा विषयसुखादितत्कारणकर्मणां न कर्ता चेतनत्वान्मुक्तावस्थावदित्येदपि न सुन्दरम्, स्वेष्टविघातकारित्वात्, कथम् ? संसार्यवस्थायामात्मा न सुखादेर्भोक्ता चेतनत्वान्मुक्तावस्थावदिति स्वेष्टस्यात्मनो भोक्तृत्वस्य विघातात्।

सांख्य कहते हैं कि संसारमें प्रकृतिके साथ संसरण करनेवाली दशामें भी आत्मा विषय, सुख, दुःख आदिक और उनके कारण पुण्य पाप कर्मोंका करनेवाला नहीं है। क्योंकि आत्मा सदा द्रष्टा, चेतन है जैसे कि मुक्त अवस्थामें विषयसुख, पुण्य आदिकका कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार सांख्योंका यह कहना भी सुंदर नहीं है क्योंकि अपने इष्टसिद्धांतका ही विघात करनेवाला है। कैसे है ? सो सुनो ! हम भी कटाक्षरूप अनुमान प्रमाण देते हैं कि, संसरण करनेकी दशामें आत्म, सुख, दुःख, शरीर आदिका भोगनेवाला नहीं है क्योंकि वह चेतन है। जैसे कि मोक्ष अवस्थामें विषयसुख आदिका नहीं भोगनेवाला आत्मा आपने माना है। इस प्रकार आप सांख्योंके स्वयं इष्ट किये गये भोक्तापनका भी विघात हुआ जाता है। पक्ष या प्रतिपक्षको पुष्ट करनेवाले अनुमान बनाये जासकते हैं।

प्रतीतिविरुद्धमिष्टविघातसाधनमिति चेत्, कर्तृत्वाभावसाधनमपि, पुंसः श्रोता घ्राताहमिति स्वकर्तृत्वप्रतीतेः ।

सांख्य कहते हैं कि हमारे इष्टका विघात सिद्ध करना आप जैनियोंको प्रामाणिक प्रतीतिओंसे विरुद्ध पडेगा, क्योंकि संसार अवस्थामें आत्माका सुख, दुःख आदिकोंको भोगना सर्वको अनुभूत हो रहा है; इस प्रकार स्याद्वादी भी स्वीकार करते हैं। अब आचार्य बोलते हैं कि यदि आप सांख्य ऐसा कहेंगे तो तदनुसार हम भी कहते हैं कि सांख्योंको संसार अवस्थामें आत्माके कर्तापनका अभाव सिद्ध करना भी प्रतीतिओंसे विरुद्ध पडेगा। क्योंकि मैं शब्दोंका श्रवण करनेवाला हूं, गंधको सूंघ रहा हूं, मैं पदार्थोंका दर्शन करता हूं, मैं आत्मध्यान करता हूं, इस प्रकार आत्माके कर्तापन की परीक्षकोंको प्रतीति हो रही है।

श्रोताहमित्यादिप्रतीतेरहंकारास्पदत्वादहंकारस्य च प्रधानविवर्तत्वात्प्रधानमेव कर्तृ तया प्रतीयत इति चेत्, तत एवानुभवितृ प्रधानमस्तु। न हि तस्याहंकारास्पदत्वं न प्रतिभाति शब्दादेरनुभविताहमिति प्रतीतेः सकलजनसाक्षिकत्वात्।

यदि सांख्य यों कहें कि मैं सुनता हूं, चखता हूं इत्यादिक प्रतीतियां तो अहंकारके साथ संबंध रखती हैं और वह मैं मैं करनारूप अहंकार तो त्रिगुणात्मक प्रकृतिका परिणाम है। इस कारण प्रकृति ही कर्तापनसे प्रतीत हो रही है, आत्मा नहीं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि इसी कारणसे अनुभव करनेवाली भी प्रकृतिको ही मानलो, क्योंकि भोग करनेवालेके भी साथमें मैं लगा हुआ है। भोक्ताको अहंकारका समभिव्याहार नहीं प्रतीत होता है। यह नहीं समझना। मैं आत्मा शब्दका आनंद भोग रहा हूं, रसका अनुभव कर रहा हूं, मैं द्रष्टा हूं, मैं भोक्ता हूं इत्यादि प्रतीतियां सम्पूर्ण मनुष्योंके सन्मुख जानी जा रही हैं। बाल, वृद्ध, परीक्षक, सभी इस बातके साक्षी (गवाह) हैं।

भ्रान्तमनुभवितुरहंकारास्पदत्वमिति चेत्, कर्तुः कथमभ्रान्तम्? तस्याहंकारास्पदत्वादिति चेत्, तत एवानुभवितुस्तदभ्रांतमस्तु।

भोक्ता आत्माको अहंकारका समानाधिकरण जानना आपका भ्रमरूप है। सांख्योंके ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि क्योंजी! कर्ताको अहंकारका एकार्थपना कैसे प्रामाणिक मान लिया जावे! बताओ। इसको भी भ्रांत कहिये। यदि आप कहो कि वह कर्ता तो अहंकारका स्थान है ही, इस कारण प्रधानरूप कर्ताको अहंकारका स्थान मानना प्रमाणरूप है। इसपर हम भी कहते हैं कि उसी कारणसे भोक्ताको भी अहंपना अभ्रांत मान लिया जावे। भोक्ताके साथ भी अहंकारका बाधारहित उल्लेख होता है।

तस्यौपाधिकत्वादहंकारास्पदत्वं भ्रांतमेवेति चेत्, कुतस्तदौपाधिकत्वसिद्धिः?।

उस भोक्ता आत्माको अहंकारके साथ एकार्थपना तो प्रकृतिकी उपाधि लग जानेके कारण भ्रांत ही है जैसे कि टेसूके फूलके संबंधसे कांचमें ललाई आ जाती है। यदि आप कापिल ऐसा कहोगे तब तो बताओ कि तुमने आत्माके अहंपनेको बाहिरसे आया हुआ औपाधिक भाव कैसे सिद्ध किया है ?।

पुरुषस्वभावत्वाभावादहंकारस्य तदास्पदत्वं पुरुषस्वभावस्यानुभवितृत्वस्यौपाधिकमिति चेत्, स्यादेवं यदि पुरुषस्वभावोऽहंकारो न स्यात्।

सांख्य कहते हैं कि गर्वके साथ यह कहना कि मैं ज्ञाता हूं, मैं कर्ता हूं, मेरे शरीर, धन आदिक हैं, इत्यादि अहंपनेके और मेरेपनेके भाव आत्माके नहीं हैं, किंतु आत्माका स्वभाव तो अनुभवन करना है। इस कारण भोक्ता चेतयिता स्वरूप आत्माके अहंकारके साथ समानाधिकरणपना प्रकृतिकी उपाधिसे प्राप्त हुआ धर्म है। आत्माकी गांठका नहीं। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार सांख्योंका कहना तब हो सकता था, यदि पुरुषका स्वभाव अहंकार न होता, किंतु मैं मैं इस प्रतीतिके उल्लेख करने योग्य आत्मा ही है। अतः अहंकार पुरुषका स्वभाव है।

मुक्तस्याहंकाराभावादपुरुषस्वभाव एवाहंकारः, स्वभावो हि न जातुचित्तद्वन्तं त्यजति, तस्य निःस्वभावत्वप्रसंगादिति चेन्न, स्वभावस्य द्विविधत्वात्, सामान्यविशेषपर्यायभेदात्। तत्र सामान्यपर्यायः शाश्वतिकः स्वभावः, कादाचित्को विशेषपर्याय इति न कादाचित्कत्वात्पुंस्यहंकारादेरतत्स्वभावता ततो न तदास्पदत्वमनुभवितृत्वस्यौपाधिकम्, येनाभ्रांतं न भवेत् कर्तृत्ववत्।

सांख्य कहते हैं कि पुरुषका स्वभाव अहंकार नहीं हो सकता है, क्योंकि मुक्तजीवोंके अहंकार सर्वथा नहीं है। यदि अहंकार आत्माका स्वभाव होता तो मोक्ष अवस्थामें भी अवश्य पाया जाता, कारण कि स्वभाव कभी भी उस स्वभाववान्को नहीं छोडता है। यदि स्वभाव अपने तदात्मक भावतत्त्वोंको छोड देते होते तो वह वस्तु विचारी स्वभावोंसे रहित हो जाती, तथाच अश्वविषाणके समान असत् बन बैठती, अतः अहंकार आत्माका तदात्मक स्वभाव नहीं है। अब आचार्य सिद्धांतकी प्रतिपत्ति कराते हैं कि उनका यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि सामान्यपर्याय और विशेषपर्यायके भेदसे स्वभाव दो प्रकारके होते हैं। तिनमें सामान्यपर्यायरूप स्वभाव तो अनादि कालसे अनंत काल तक सर्वदा वस्तुमें ठहरता है। जैसे कि जीवद्रव्यमें चेतना और पुद्गलमें रूप, रस आदिक। तथा विशेषपर्याय नामक स्वभाव तो द्रव्यमें कभी कभी हो जाते हैं। इस कारण सादि सांत हैं जैसे जीवके क्रोध, मतिज्ञान, आदिक स्वभाव हैं और पुद्गलके कालापन, मीठापन आदि। इसी प्रकार आत्माके अहंकार, अभिलाषा आदिक कर्मोदयजनित स्वभाव हैं। अतः आत्मामें कभी कभी होनेकी अपेक्षासे इन अहंकार आदिको उस आत्माके स्वभाव न मानना ठीक

नहीं है। औपशमिक आदि पांचों प्रकारके भाव आत्माके तदात्मक तत्त्व हैं। उस कारण सिद्ध हुआ कि भोग या अनुभवन करनेवाले आत्माका उस अहंकारके साथ एकार्थपना अन्यद्रव्यसे आया हुआ औपाधिक भाव नहीं हैं किंतु आत्माके घरका है। जिसके कि कर्तापनके समान अहंकारीपन भी निर्बाध होकर आत्माका स्वभाव न बने। अर्थात् प्रकरणमें अहंकारका अर्थ अभिमान करना ही नहीं है, किंतु आत्मगौरव और आत्मीय सत्ताके द्वारा होनेवाला मैं का स्वसंवेदन करना है। मैं केवलज्ञानी हूं, मैं क्षायिक सम्यग्दृष्टि हूं, मैं सिद्ध हूं, मैं मार्दव गुणवाला हूं, इस प्रकारका वेदन मुक्त जीवोंके भी विद्यमान है। मोक्ष अवस्थामें इच्छा नहीं है, ज्ञान और प्रयत्न हैं। इच्छा मोहका कार्य है, किंतु ज्ञान और यत्न तो चैतन्य, वीर्य, इन आत्मगुणोंकी पर्यायें हैं।

न चाभ्रान्ताहंकारास्पदत्वाविशेषेऽपि कर्तृत्वानुभवितृत्वयोः प्रधानात्मकत्वमयुक्तम्, यतः पुरुषकल्पनमफलं न भवेत्, पुरुषात्मकत्वे वा तयोः प्रधानपरिकल्पनम्। तथाविधस्य चासतः प्रधानस्य गगनकुसुमस्येव न श्रेयसा योक्ष्यमाणता।

मैं कर्ता हूं, मैं चेतायेता भोक्ता हूं इस प्रकार कर्तापन और भोक्तापनको भ्रांतिरहित अहंकारके समानाधिकरणकी समानता होनेपर भी दोनोंको प्रकृतिस्वरूप ही आपादन करना अयुक्त नहीं है जिससे कि सांख्योंके यहां आत्मतत्त्वकी कल्पना करना व्यर्थ न होवे। अथवा उन दोनोंको यदि पुरुषस्वरूप मान लिया जावे तो तेईस परिणामवाले प्रकृतितत्त्वकी भूमिका सहित कल्पना व्यर्थ न होवे। भावार्थ—कर्तापन और भोक्तापन एक ही द्रव्यमें पाये जाते हैं। अतः प्रकृति और आत्मामेंसे एक ही तत्त्व मानना चाहिये, आत्मा मानना तो अत्यावश्यक है। हम और तुम आत्मा ही तो हैं। तब आपका अहंकार, सुख, दुःख परिणतिसे परिणामी माना गया प्रधान ही आकाशके फूलके समान असत् पदार्थ हुआ, उस असत् पदार्थका कल्याणमार्गसे भविष्यमें युक्त होनापन नहीं बन सकता है।

पुरुषस्य सास्तु इति चेन्न, तस्यापि निरतिशयस्य मुक्तावपि तत्प्रसंगात्, तथा च सर्वदा श्रेयसा योक्ष्यमाण एव स्यात्पुरुषो न चाऽऽयुज्यमानः।

वह कल्याण मार्गसे युक्त होनेका अभिलाषीपना आत्माके मान लिया जावे, इस प्रकार सांख्योंका कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि कापिलोंने पुरुषको कूटस्थ नित्य माना है। आत्मामें कोई धर्म या अतिशय घटते बढते नहीं है। वेके वे ही स्वभाव सदा बने रहते हैं।

यदि पुरुषकी कल्याणमार्गसे भाविनी अभिलाषुकता मानोगे तो मोक्षमें भी भविष्यमें कल्याण मार्गसे युक्त हो जानेकी उस अभिलाषाके विद्यमान रहनेका प्रसंग होगा। क्योंकि आपका आत्मा सर्वदा एकसा रहता है। तब तो आत्मा मोक्षमार्गका सदा अभिलाषी ही बना रहेगा। सब ओरसे कल्याणमार्गमें लग जाना और लग चुकनापन कभी नहीं पाया जा सकेगा। दीर्घ संसारीका कल्याण

मार्गसे नहीं लगनापन भी नहीं बनेगा। आत्माको कूटस्थ नित्य माननेमें यह बडी आपत्ति है कि जो पुंछल्ला लग गया, वह टल नहीं सकता है। हां, आत्मा कुछ अतिशयोंको छोडे और अन्योंके ग्रहण करे तब तो योक्ष्यमाण, युज्यमान, युक्त होना या नहीं युज्यमान ये बन सकते हैं। अन्यथा नहीं।

पूर्वं योक्ष्यमाणः पश्चात्तेनायुज्यमान इति चायुक्तम्, निरतिशयैकान्तत्वविरोधात्।

पहिली अवस्थामें आत्मा कल्याणमार्गसे भावी युक्त होनेवाला है और पीछे वर्तमानमें उस कल्याणसे संयुक्त हो जाता है, यह कहना भी युक्ति रहित है। क्योंकि आत्मा ज्ञातापन, कर्तापन भविष्यमें लगनापन, वर्तमानमें लगचुकनापन, आदि अतिशयोंसे रहित कोरा कूटस्थ है। अर्थात् कुछ चमत्कारोंको आगे पीछे लेता छोडता नहीं है। इस कदाग्रहरूप एकान्त मन्तव्यसे आपका विरोध होगा। भावार्थ—आत्माको परिणामी नित्य मानना पडेगा ऐसा माननेपर आपके पुरिस्राजन स्वमतबाह्य समझना चाहते विरोध दान देवेंगे।

स्वतो भिन्नैरतिशयैः सातिशयस्य पुंसः श्रेयसा योक्ष्यमाणता भवत्विति चेन्न, अनवस्थानुषङ्गात्। पुरुषो हि स्वातिशयैः सम्बध्यमानो यदि नानास्वभावैः सम्बध्यते, तदा तैरपि सम्बध्यमानः परैर्नानास्वभावैरित्यनवस्था। स तैरेकेन स्वभावेन सम्बध्यते इति चेत् न, अतिशयानामेकत्वप्रसंगात्। कथमन्यथैकस्वभावेन क्रियमाणानां नानाकार्याणामेकत्वापत्तेः पुरुषस्य नानाकार्यकारिणो नानातिशयकल्पना युक्तिमधितिष्ठेत्।

सांख्य कहते हैं, कि हम आत्माको कूटस्थ नित्य मानते हैं किंतु स्वयं आत्मासे सर्वथा भिन्न माने गये अतिशयोंसे आत्माको अतिशयसहित भी मान लेते हैं। जैसे कि छडी, टोपी, कडे, कुण्डलसे सहित देवदत्त है। ऐसे अतिशयवान् आत्माको कल्याणमार्गसे भावी कालमें सहितपना हो जावेगा और वर्तमान तथा भूतकालकी युक्तता भी बन जावेगी। आचार्य कहते हैं कि यह सांख्योंका विचार भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनवस्था दोषका प्रसंग आता है। सुनिये, आत्मा अपने सर्वज्ञपन, उदासीनता, नित्यता, होनेवाली कल्याणमार्गसे युक्तता आदि अतिशयोंके साथ संबंध करता हुआ यदि अनेक स्वभावोंसे सम्बन्धित होगा, तब तो संबंध करानेवाले उन स्वभावोंके साथ भी उनसे भिन्न अनेक स्वभावोंसे सम्बन्धित होगा और उन तीसरे अनेक स्वभावोंको धारण करनेके लिये आत्माको चौथे न्यारे अनेक स्वभावोंकी आवश्यकता होगी। चौथोंको स्थापन करनेके लिये पांचमे स्वभावोंकी आकांक्षा होगी। इस तरह अनवस्था हुयी। यदि वह आत्मा अनेक अतिशयोंको धारण करनेवाले अनेक स्वभावोंके साथ एक ही स्वभावसे सम्बन्धित हो जाता है, यह कथन भी तो ठीक नहीं है। क्योंकि एक स्वभावसे रहनेवाले उन अनेक अतिशयोंको और स्वभावोंको एकपनेका प्रसंग हो जावेगा। अन्यथा यानी यदि ऐसा न स्वीकार कर अन्यप्रकार माना जावेगा तो एक स्वभाव

द्वारा किये गये नाना कार्योंको एकपनेकी आपत्ति हो जानेके डरसे नाना कार्य करनेवाले पुरुषके नाना अतिशयोंकी कल्पना करना कैसे युक्तियोंपर आरूढ होगा ? बताओ। भावार्थ—एक स्वभावसे जैसे अनेक अतिशय धारण कर लिये जाते हैं, वैसे ही एक स्वभावसे आत्मा अनेक कार्योंको भी कर सकेगा। तीसरी कोटीपर एक स्वभाव माननेकी अपेक्षा सीधे दूसरी कोटीपर ही एक स्वभाव माननेमें लाघव है। सिद्धान्त यह है कि कारणके एक स्वभावसे एक ही कार्य होसकता है, दो कार्योंके लिये दो स्वभाव चाहिये। दूध पीना, पेडा जीमना, खीचडी सपोटना, रोटी रोंधना, कचौडी खाना, चना चबाना, सुपारी खुरचना इन सब क्रियाओंमें दांतोंके प्रयत्न न्यारे न्यारे हैं। यदि कोई जवान सेखी से कहे कि मैं एक ही प्रयत्नसे इन सबको खा लेता हूं तो वह झूंठा है। वह केवल एक एक ही पदार्थको खारहा है। यही तो जैन (स्याद्वाद) सिद्धान्तकी महत्ता है। " यावन्ति कार्याणि तावन्तः स्वभावभेदाः " यह अकलङ्कसिद्धान्त है।

स्वातिशयैरात्मा न सम्बन्ध्यत एवेति चासम्बन्धे तैस्तस्य व्यपदेशाभावानुषंगात् । स्वातिशयैः कथंचित्तादात्म्योपगमे तु स्याद्वादसिद्धिः इत्यनेकान्तात्मकस्यैवात्मनः श्रेयोयोक्ष्यमाणत्वं न पुनरेकान्तात्मनः सर्वथा विरोधात्।

आप सांख्य यदि अपने भिन्न अतिशयोंके साथ आत्मा सम्बन्ध ही नहीं करता है, इस कारण उन स्वभाव और अतिशयोंके साथ यदि उस आत्माका सम्बन्ध न मानोगे तो " ये अतिशय आत्माके हैं " इस व्यवहारके अभाव हो जानेका प्रसंग आता है। जैसे कि सह्यका विन्ध्य है, यह व्यवहार नहीं होता है। क्योंकि स्वस्वामिसम्बन्धके बिना तो देवदत्तके कटक, कुण्डल हैं, यह व्यवहार भी नहीं होता है। यदि आप सांख्य अपने अतिशयोंके साथ आत्माका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करोगे, तब तो स्याद्वाद सिद्धान्तकी ही सिद्धि हो गयी। इस प्रकार अनेक धर्मस्वरूप एक आत्माके ही भविष्यमें कल्याणसे लगजानापन बनता है। किन्तु फिर सर्वथा कूटस्थ नित्य या क्षणिक अनित्यरूप एक धर्मवाले आत्माके कल्याणमार्गकी अभिलाषा और कल्याणमें संलग्न हो जाना एवं कल्याणको प्राप्तकर चुकना नहीं बन सकते हैं। क्योंकि एकान्त पक्षोंमें अनेक प्रकारोंसे विरोध आता है। यहांतक कि अपने ही से अपना विरोध हो जाता है।

कालादिलब्ध्युपेतस्य तस्य श्रेयःपथे बृहत्-
पापापायाच्च जिज्ञासा संप्रवर्तेत रोगिवत् ॥ २४७ ॥

काललब्धि, आसन्नभव्यता, कर्मभारका हलका हो जाना कषायोंकी मन्दता आदि कारणोंसे सहित आत्माके अधिक स्थिति अनुभागवाले ज्ञानावरण आदि दुष्कर्मोंके क्षयोपशम होजानेसे मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा भले प्रकार प्रवृत्त होती है। जैसे कष्टसाध्य चिररोगवाले

दुःखित जीवके नीरोग होजानेके उपायोंको जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न होजाती है। सन्निपात या रोगके तीव्रवेग अथवा आयुष्यका अंत निकट होनेपर रोगको दूर करनेकी कारणभूत इच्छा नहीं पैदा होती है। भाग्यमें टोटा बदा होनेकी अवस्थामें नफाके प्रकरण पर माल खरीदनेकी इच्छा नहीं उपजती है।

श्रेयोमार्गजिज्ञासोपयोगस्वभावस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य कस्यचित्कालादिलब्धौ सत्यां बृहत् पापापायात् सुप्रवर्तते श्रेयोमार्गजिज्ञासात्वात् रोगिणो रोगविनिवृत्तिजश्रेयोमार्गजिज्ञासावत्।

करुणाकर आचार्य इसी अनुमानको भाष्य द्वारा स्पष्ट करते हैं कि कल्याणमार्गको जाननेकी इच्छा (पक्ष) ज्ञानोपयोग स्वरूप और कल्याणसे युक्त होनेवाले किसी एक आत्माके काललब्धि, देशनालब्धि, सुकुल, योग्यदेश, शील, विनयाचार आदिके प्राप्त होनेपर बड़े ज्ञानावरण आदि पापोंके उपशम, क्षयोपशम हो जानेसे अच्छी तरह प्रवर्तती है (साध्य) मोक्ष मार्गको जाननेकी अभिलाषापन होनेसे (हेतु) जैसे कि रोगीके रोगकी निवृत्ति होनेपर पीछे उत्पन्न होनेवाले नीरोगता रूप कल्याणमार्गके जाननेकी इच्छा पहिले रोगअवस्थामें हो जाती है।

न तावदिह साध्यविकलमुदाहरणं, रोगिणः स्वयमुपयोगस्वभावस्य रोगविनिवृत्तिजश्रेयसा योक्ष्यमाणस्य कालादिलब्धौ सत्यां बृहत्पापापायात् संप्रवर्तमानायाः श्रेयोजिज्ञासायाः सुप्रसिद्धत्वात्, तत्त एव न साधनविकलं श्रेयोमार्गजिज्ञासात्वस्य तत्र भावात्।

प्रथम इस बातको विचार लो कि इस अनुमानमें दिया गया दृष्टांत तो साध्यसे रहित नहीं है। क्योंकि रोगी स्वयं ज्ञानस्वरूप है और रोगकी भली प्रकार निवृत्तिसे उत्पन्न हुए स्वस्थपनेके कल्याणमार्गसे भविष्यमें लग जानेवाला भी है। उस रोगीके काललब्धि, सद्बोधकी प्राप्ति, आयुष्यकर्म, रोगका भोग करचुकना आदि कारणोंके मिलनेपर असाता वेदनीय आदि बड़े पापोंके नाश हो जानेसे प्रवर्तित होती हुयी कल्याणमार्गके जाननेकी इच्छा अच्छी तरह प्रसिद्ध हो रही है। उस ही कारणसे वह उदाहरण विचारा हेतुसे रहित भी नहीं है। क्योंकि रोगीके कल्याणमार्गकी उस इच्छामें कल्याणमार्गका जिज्ञासापन विद्यमान है।

निरन्वयक्षणिकचित्तस्य संतानस्य प्रधानस्य वाऽनात्मनः श्रेयोमार्गजिज्ञासेति न मंतव्यमात्मन इति वचनात्तस्य च साधितत्वात्।

बौद्धके माने हुए अन्वयरहित होकर क्षणमें नष्ट होनेवाले आत्मभिन्न चित्तके अथवा पूर्व उत्तरक्षणोंके भेदका परामर्श नहीं कर उन चित्तोंकी संतानरूप धाराके या कापिलोंके माने गये त्रिगुणस्वरूप प्रधानके जो कि आत्मा नहीं है मोक्षमार्गकी जिज्ञासा होती है, यह नहीं मानना

चाहिये। क्योंकि उक्त तीनों ही पदार्थ जीव–द्रव्य–स्वरूप आत्मा पदार्थ नहीं हैं और हमने आत्माके मोक्षमार्गकी जिज्ञासा होना कहा है और उस परिणामी नित्य–आत्मद्रव्यको हम सिद्ध भी कर चुके हैं।

जडस्य चैतन्यमात्रस्वरूपस्य चात्मनः सेत्यपि न शंकनीयमुपयोगस्वभावस्येति प्रतिपादनात् तथास्य समर्थनात्।

नैयायिककी मानी हुयी ज्ञानसे भिन्न जडरूप आत्माके या सांख्यकी केवल चैतन्यरूप आत्माके कल्याणमार्गको जाननेकी वह इच्छा होती है, यह भी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि हमने अनुमानमें उपयोग स्वभाववाली आत्माके जिज्ञासा होना बतलाया है। उस प्रकार अनादिसे अनंत काल तक चैतन्यसे अन्वित इस आत्माका हम युक्तियोंसे समर्थन कर चुके हैं। आत्मा सामान्यविशेष धर्मस्वरूप है। आत्माका दर्शनोपयोग सामान्यरूपसे पदार्थोंका संचेतन करता है और विशेषरूपसे ज्ञानोपयोग वेदन करता है। ये दोनों आत्माके स्वात्मभूत परिणाम हैं।

निःश्रेयसेनासंपित्स्यमानस्य तस्य सेति च न चिन्तनीयम्, श्रेयसा योक्ष्यमाणस्येति निगदितत्वात् तस्य तथा व्यवस्थापितत्वात्।

तथा कल्याणमार्गसे नहीं सम्पन्न होनेवाले उस आत्माके वह जिज्ञासा हो जाती है, यह भी नहीं विचारना चाहिये। क्योंकि कल्याणमार्गसे युक्त होनेवाले ऐसा विशेषण हमने अनुमानमें कह रखा है। उस आत्माका उस प्रकार कल्याणसे युक्त होना भी हम निर्णीत कर चुके हैं।

कालदेशादिनियममन्तरेणैव सेत्यपि च न मनसि निधेयम्, कालादिलब्धौ सत्यामित्यभिधानात्तथा प्रतीतेश्च।

विशिष्ट काल और नियतदेश तथा कार्यहानि आदि नियमोंके बिना ही आत्माके कल्याणमार्गको जाननेकी वह इच्छा हो जाती है, यह भी मनमें नहीं विचार करना चाहिये। क्योंकि काललब्धि, सुदेश, सुकुलत्व आदि की प्राप्ति हो जानेपर, ऐसा हमने कहा है और उस प्रकार प्रतीत भी हो रहा है। बिना देश, कालकी योग्यताके आम फलते नहीं, ज्वर भी दूर नहीं होता है। यहांतक कि प्रत्येक कार्यमें देश, काल, सम्पत्तिकी आवश्यका देखी जा रही है।

बृहत्पापापायमन्तरेणैव सा सम्प्रवर्तत इत्यपि माभिमंस्त, बृहत्पापापायात्तत्संप्रवर्तनस्य प्रमाणसिद्धत्वात्।

बडे पापोंके दूर हुए बिना ही वह जिज्ञासा भली भान्ति प्रवृत्त हो जाता है। यह भी ऐंठ सहित नहीं मानना चाहिये। क्योंकि तीव्र अनुभाग और दीर्घ स्थितिवाले पापोंके नाश हो जानेसे ही शुभमार्गके जाननेमें बढिया प्रवृत्ति करना प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहा है। तीव्र दुष्कर्मका उदय रहता है, उस समय तो मैं कौन हूं? कहांसे आया हूं? कहां जाऊंगा? क्या मेरा स्वभाव

है, इत्यादि बातोंके जाननेकी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदिक जीवोंके इच्छा ही नहीं होती है। किन्तु कर्मोंका मन्द उदय होनेपर ही मैं कौन हूं ? मेरा धर्म क्या है ? स्वभाव प्राप्त करनेका निमित्त क्या है ? ऐसी इच्छाएं संज्ञी जीवोंके होती हुयीं देखी जा रही हैं।

नहि क्वचित्संशयमात्रात् कचिज्जिज्ञासा, तत्प्रतिबन्धकपापाक्रान्तमनसः संशयमात्रेणावस्थानात्।

किसी पदार्थमें केवल संशय हो जानेसे ही किसी आत्मामें जिज्ञासा होती हुयी नहीं देखी गयी है, क्योंकि जिस जीवका अंतःकरण कल्याणमार्गका प्रतिबंध करनेवाले पापोंसे घिर रहा है, वे जीव केवल संशयको लेकर बैठे रहेंगे। तीव्र पापका उदय होनेपर उनके संशयकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती है, कल्याणमार्गको जाननेकी इच्छा होना तो बहुत दूर है।

सति प्रयोजने जिज्ञासा तत्रेत्यपि न सम्यक्, प्रयोजनानन्तरमेव कस्यचिज्ज्यासंगतस्तदनुपपत्तेः।

किसी पदार्थके प्रयोजन होनेपर उस पदार्थमें जाननेकी इच्छा आत्माके उत्पन्न हो जाती है, यह कहना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि किसी पदार्थका प्रयोजन होनेपर उसके अव्यवहित उत्तर कालमें ही यदि किसी एक पुरुषका चित्त इधर उधर कार्यान्तरमें लग जावे, यों तो वह जिज्ञासा नहीं बन सकती है। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि प्रयोजन होनेपर भी यदि चित्तवृत्ति अन्यत्र चली जावे तो उसके जाननेकी इच्छा नहीं होने पाती है। अतः जिज्ञासाका प्रयोजन होना अव्यभिचारी कारण नहीं है। पराधीन सेवक, पशु, पक्षियोंमें प्रयोजन होनेपर भी जाननेकी इच्छा नहीं होपाती है। प्रयोजन नहीं होनेपर भी ठलुआ पुरुषोंके जिज्ञासायें उपजती रहती हैं।

"दुखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ" इति केचित्, तेऽपि न न्यायवादिनः सर्वसंसारिणां तत्प्रसंगात्, दुःखत्रयाभिघातस्य भावात्।

आध्यात्मिक आधिदैविक, और आधिभौतिक तीन दुःखोंसे पीडित होजानेसे उन दुःखोंका नाश करनेवाले कारणोंके जाननेकी इच्छा उत्पन्न होती है। शारीरिक दुःखका रसायन जडी बूटी आदिके सेवनसे और मानस दुःखोंका सुंदर स्त्री, खाना पीना आदिसे तथा आधिभौतिक दुःखका नीतिशास्त्रके अभ्याससे या उपद्रवरहित स्थानपर रहने आदिसे उच्छेद हो जायगा ऐसी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि एकांतरूपसे अनन्तकाल तकके लिये दुःखोंका उच्छेद करना हमको आवश्यक है जो रसायान आदि कारणोंसे नहीं हो सकता है। इस प्रकार कोई कपिलमतानुयायी कह रहे हैं वे भी न्यायपूर्वक कहनेवाले नहीं हैं। यों तो सम्पूर्ण संसारी जीवोंके उस जिज्ञासाके होनेका प्रसंग आता है। क्योंकि तीनों दुःखोंसे पीडित होना

सबके विद्यमान है तथा च सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदिक जीव मुक्तिमार्गकी जिज्ञासावाले या मुक्तिमार्गमें लगे हुए दीखना चाहिये। केवल भव्य ही मुक्तिमार्गमें लगे हुए क्यों दीखते हैं ?।

आम्नायादेव श्रेयोमार्गजिज्ञासेत्यन्ये, तेषा—" अथातो धर्मजिज्ञासे " ति सूत्रेऽथशब्दस्यानन्तर्यार्थे वृत्तेरथेदमधीत्याम्नायादित्याम्नायादधीतवेदस्य वेदवाक्यार्थेषु जिज्ञासाविधिरवगम्यत इति व्याख्यानम्, तदयुक्तम्, सत्यप्याम्नायश्रवणे तदर्थावधारणेऽभ्यासे च कस्यचिद्धर्मजिज्ञासानुपपत्तेः। कालान्तरापेक्षायां तदुत्पत्तौ सिद्धं कालादिलब्धौ तत्प्रतिबन्धकपापापायाच्च श्रेयःपथे जिज्ञासायाः प्रवर्तनम्।

अनादि कालसे आये हुए वेदवाक्योंसे ही मोक्षमार्गके जाननेकी इच्छा होती है। इस प्रकार अन्य मीमांसक कह रहे हैं। उनके यहां भी मीमांसादर्शनके " इसके अनन्तर यहांसे धर्मके जाननेकी इच्छा है, " इस सूत्रका जो यह व्याख्यान किया गया है कि अथ शब्दकी व्यवधान रहित उत्तर क्षणमें होनेवाले अर्थमें वृत्ति है। प्रारम्भमें इस वेदको पढकर अर्थात् वेदवाक्योंकी धारासे इस प्रकार पढलिया है वेद जिसने, उस पुरुषके वेदवाक्यके वाच्यार्थोंमें जाननेकी इच्छा का विधान जाना जाता है, वह व्याख्यान करना अयुक्त हो जावेगा। भावार्थ—वेद पढनेके बाद इच्छा होती बतायी है और आप पूर्व आम्नात वेदसे ही इच्छा होना मान बैठे हैं। हम देखते हैं कि परिपाटीसे प्राप्त वेदका श्रवण करते हैं और उसके अर्थका भी निर्णय करते हैं। ज्ञान और क्रियाका अभ्यास भी करते हैं। ऐसा होनेपर भी किसी किसी पुरुषके धर्म की जिज्ञासा नहीं होने पाती है।

यदि मीमांसक यों कहेंगे कि तत्काल जिज्ञासा भले ही न हो किंतु सुनते निर्णय करते और अभ्यास करते करते कुछ काल बीत जानेपर विशिष्ट कालकी सहकारिताकी अपेक्षा होनेपर वह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, ऐसा माननेसे तो हमारी बात सिद्ध हुयी! काल, देश आदिकी प्राप्ति होनेपर और उसके प्रतिबंधक पापोंके दूर हो जानेसे कल्याणमार्गमें जिज्ञासाकी प्रवृत्ति करना बना।

संशयप्रयोजनदुःखत्रयाभिघाताम्नायश्रवणेषु सत्स्वपि कस्यचित्तदभावादसत्स्वपि भावात् कदाचित्संशयादिभ्यस्तदुत्पत्तिदर्शनात्तेषां तत्कारणत्वे लोभाभिमानादिभ्योऽपि तत्प्रादुर्भावावलोकनात्तेषामपि तत्कारणत्वमस्तु नियतकारणत्वं तु तज्जनने बृहत्पापापायस्यैवांतरंगस्य कारणत्वं बहिरंगस्य तु कालादेरिति युक्तम्, तदभावे तज्जननानीक्षणात्।

अब तक जो जिज्ञासाकी प्रवृत्तिके कारण बतलाये हैं, उनमें अन्वय व्यभिचार व्यतिरेक व्यभिचार दोनों ही दोष आते हैं। संशय और प्रयोजन तथा तीनों दुःखोंसे ताडन एवं आम्नायका

सुनना, इन कारणोंके होनेपर भी किसी किसीके वह जिज्ञासा नहीं होपाती है। यह अन्वय व्यभिचार है और उक्त चार कारणोंके न होते हुए भी कचित् जिज्ञासा होना देखा जाता है। यह व्यतिरेकव्यभिचार है।

यदि आप यों कहेंगे कि कभी कभी कालमें संशय आदि कारणोंसे भी उस जिज्ञासाकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः उनको उस जिज्ञासाका कारण मानेंगे तब तो लोभ, अभिमान, ईर्ष्या, कीर्तिकी अभिलाषा, लौकिक ऋद्धि सिद्धियोंकी प्राप्ति आदि कारणोंसे भी उस जिज्ञासाका उपजना देखा जाता है। अतः उन लोभादिकोंको भी उस जिज्ञासाका कारणपना मान लो। वास्तवमें ये संशयादिक और लोभ आदिक अनियत कारण हैं। उस जाननेकी इच्छाको उपजानेमें अन्वय व्यतिरेकके नियमसे कार्यको करनेवाले अंतरंग कारण तो बडे पापोंका नाश होना ही है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम और दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम आदि ही जिज्ञासाको पैदा करनेमें आभ्यंतर कारण है और जिज्ञासा उत्पन्न करनेमें नियमयुक्त बहिरंगकारण काल, देश, सुकुलता, शुद्धता आदिक हैं। यह सिद्धांत तो युक्तियोंसे पूर्ण है। क्योंकि उन कारणोंके बिना उस जिज्ञासाका उत्पाद होना नहीं देखा जाता है।

कालादि न नियतं कारणं बहिरंगत्वात् संशयलोभादिवदिति चेन्न, तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात्, कार्यान्तरसाधारणत्वात्तु बहिरंगं तदिष्यते, ततो न हेतोः साध्याभावेऽपि सद्भावः संदिग्धो निश्चितो वा, यतः संदिग्धव्यतिरेकता निश्चितव्यभिचारिता वा भवेत्।

आक्षेपकर्ता कहता है कि काल, देश, आदि भी अन्वय व्यतिरेकके नियमको लेकर नियत कारण नहीं हैं, क्योंकि वे कार्यके बहिर्भूत अङ्ग हैं। जैसे कि संशयादिक और लोभ आदिक नियत कारण नहीं हैं। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिमें उन काल आदिकी अवश्य अपेक्षा होती है। दूसरे कार्योंमें भी तो साधारण होकर वे सहायक हो रहे हैं। अतः उनको बहिरंगकारण माना जाता है। इसलिए साध्यके न रहनेपर भी हेतुके सद्भावका संदेह नहीं है, जिससे कि व्यतिरेकव्यभिचारका संशय भी हो सके। और साध्यके न रहनेपर हेतुके सद्भावका निश्चय भी नहीं है, जिससे कि निश्चयसे व्यभिचार दोष हो जावे। भावार्थ—काल आदि बहिरंग कारणोंके साथ भी जिज्ञासाका समीचीन व्यतिरेक बन जाता है। जो कि कार्यकारणभावका प्रयोजक है। अतः विपक्षमें वृत्तिपनके संशय और निश्चय करनेसे आनेवाले व्यभिचार दोष यहां नहीं हैं।

ननु च स्वप्रतिबंधकाधर्मप्रक्षयात्कालादिसहायादस्तु श्रेयःपथे जिज्ञासा, तद्धानेव तु प्रतिपाद्यते इत्यसिद्धम्। संशयप्रयोजनजिज्ञासाशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासतद्वचनवतः प्रतिपाद्यत्वात्। तत्र संशयितः प्रतिपाद्यस्तत्त्वपर्यवसायिना प्रश्नविशेषेणाचार्यं प्रत्युपसर्पकत्वात्,

नाव्युत्पन्नो विपर्यस्तो वा तद्विपरीतत्वाद्बालकवदस्युवद्वा । तथा संशयवचनवान् प्रतिपाद्यः स्वसंशयं वचनेनाप्रकाशयतः संशायितस्यापि ज्ञातुमशक्तेः ।

यहां किसीकी लम्बी चौडी शंका है कि अपने प्रतिबंधक पापोंके अच्छी तरह नाश हो जानेसे और काललब्धि आदिकी सहायतासे कल्याण मार्गमें जाननेकी इच्छा भले ही हो किंतु उस जाननेकी इच्छावाला पुरुष ही तो उपदेष्टाके द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। इस प्रकार जैनोंका कहना तो सिद्ध नहीं है। क्योंकि संशय, प्रयोजन, जाननेकी इच्छा, शक्यकी प्राप्ति, और संशयको दूर करना, इनसे युक्त तथा इनके प्रतिपादक वचनोंको बोलनेवाला पुरुष ही प्रतिपादित किया जाता है। प्रतिपाद्य शिष्यके उक्त दश विशेषणोंको शंकाकार इसप्रकार स्पष्ट करते हैं कि जिस शिष्यको संशय उत्पन्न हो चुका है, वही गुरुओंके द्वारा समझाने योग्य है। क्योंकि संशयालु पुरुष ही तत्त्वनिर्णय करानेवाले विशेष प्रश्नसे प्रतिपादक आचार्यके निकट उत्कण्ठा सहित होकर जाया करता है। जो अज्ञानी, मूर्ख, व्युत्पत्तिरहित है, वह समझाया नहीं जा सकता है। जैसे कि दो महीनेका बालक, अथवा जो मिथ्या अभिनिवेशसे विपर्ययज्ञानी हो रहा है, वह भी उपदेश सुननेका पात्र नहीं है। क्योंकि वह शिष्यके लक्षणसे विरहित है, जैसे कि चोर डाकू आदि। भावार्थ - दोषोंकी तीव्रता होनेपर इनको सत्यव्रत, अचौर्य, आदिका उपदेश देना व्यर्थ पडेगा तथा अपने संशयको कथन करनेवाले वचनोंको बोलनेवाला प्रतिपाद्य होता है। जो प्रश्नकर्ता अपने संशयको वचनोंके द्वारा प्रगट नहीं कर रहा है, ऐसी अवस्थामें संशय उत्पन्न हुए पुरुषको प्रतिपादक जान नहीं सकता है तो वह समझावेगा किसको ?। यदि दिव्यज्ञानी आचार्यने प्रश्नकर्ताका संशय निमित्तज्ञानसे जान भी लिया फिर भी अलुड शिष्यके प्रति उत्तर कहना अनुचित है। इसमें ज्ञानकी अविनय होती है। अतः अपने संशयको विनयपूर्वक कहता हुआ शिष्य ही उपदेश्य है।

परिज्ञातसंशयोपि वचनात् प्रयोजनवान् प्रतिपाद्यो न स्वसंशयप्रकाशनमात्रेण विनिवृत्ताकांक्षः, प्रयोजनवचनवांश्च प्रतिपाद्यः, स्वप्रयोजनं वचनेनाप्रकाशयतः प्रयोजनवतोऽपि निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

पूर्वपक्षी कह रहा है कि जिस शिष्यका वचनके द्वारा संशय जान भी लिया जावे किंतु उस शिष्यको किसी कार्यकी सिद्धिका प्रयोजन है, तब तो वह समझाया जावेगा, अन्यथा नहीं समझाया जावेगा। अपने संशयको केवल प्रकाशन करके ही जो शिष्य आकांक्षाओंसे रहित हो जाता है, वह गुरुके समझाने योग्य नहीं है। भावार्थ – प्रश्नकर्ता जब उत्तर सुननेके लिए उत्कण्ठित नहीं है, ऐसी दशामें गुरुका प्रयत्न व्यर्थ जावेगा। किसी शिष्यको प्रयोजन है और उस प्रयोजनका अपने वचन द्वारा गुरुके सन्मुख प्रतिपादन कर रहा है, तब तो वह प्रतिपादन करनेके लिए गुरुकी कृपाका पात्र बनेगा। किंतु जो अपने प्रयोजनको वचनोंसे प्रकाशित नहीं कर रहा है, वह प्रयोजन-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वान् होता हुआ भी प्रयोजन सहितपनेसे निश्चय नहीं किया जा सकता है। प्रयोजनका कथन करनेसे विनयीपन भी व्यक्त होता है, कोरे ऐंठूके प्रति यदि समीचीन ज्ञान उपदिष्ट किया जावेगा तो ऐसी दशामें ऐंठूके ज्ञानावरण कर्मका बन्ध होगा। प्रकृष्ट विद्वान् भी अपने गौरवयुक्त पूज्य ज्ञानको यों ही व्यर्थ फेंकते नहीं फिरेंगे।

तथा जिज्ञासावान् प्रतिपाद्यः प्रयोजनवतो निश्चितस्यापि ज्ञातुमनिच्छतः प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्, तद्वानपि तद्वचनवान् प्रतिपाद्यते, स्वां जिज्ञासां वचनेनानिवेदयतस्तद्वत्तया निर्णेतुमशक्तेः।

और जाननेकी इच्छावाला शिष्य ही समझाया जाता है। शिष्य प्रयोजनवान् है, ऐसा निश्चित भी हो चुका है, किंतु गुरुजीसे तत्त्वोंको नहीं जानना चाहता है, वह चेला हितैषी गुरुके द्वारा भी नहीं समझाया जा सकता है। अमृतस्वरूप ज्ञानका व्यर्थ उपयोग करना अनुचित है। तथा उस जाननेकी इच्छावाला होता हुआ भी उस जाननेकी इच्छाको विनीत वचनोंसे कहेगा, तब तो गुरु उसको शिक्षण देंगे, किंतु जो अपनी जिज्ञासाको वचनोंके द्वारा गुरुजीके सन्मुख निवेदन नहीं कर रहा है, वह जिज्ञासावान्पनेसे निर्णीत भी नहीं किया जा सकता है और उद्दण्ड अभिमानीको उपदेश देनेसे फल भी क्या निकलेगा ? ऐसे आत्माभिमानियोंमें अवधि ज्ञानीका वह उपदेश स्फुरायमाण भी न होगा। शिष्यकी विनययुक्त जिज्ञासामें उसके वचनोंसे ही व्यक्त होनी चाहिए। तभी शिष्यकी आत्मामें कोमलता, धर्मोपदेश, और मोक्षमार्गपरिणतियां उपजेंगी।

तथा जिज्ञासुर्निश्चितोऽपि शक्यप्राप्तिमानेव प्रतिपादनायोग्यस्तत्त्वमुपदिष्टं प्राप्तुमशक्नुवतः प्रतिपादने वैयर्थ्यात्, स्वां शक्यप्राप्तिं वचनेनाकथयतस्तद्वत्तेन प्रत्येतुमशक्तेः शक्यप्राप्तिवचनवानेव प्रतिपाद्यः।

अभीतक पूर्वपक्ष ही चल रहा है कि वह शिष्य जिज्ञासु है। यह गुरुने निर्णय भी कर लिया है, फिर भी उपदिष्ट पदार्थको प्राप्ति कर सकनेवाला ही प्रतिपादन करने योग्य है। गुरुके द्वारा उपदेश दिये गये तत्त्वको जो प्राप्त नहीं कर सकता है, कन्धा डाले हुए बैलके समान जो कार्य करनेमें अधीर होगया है, उसको तत्त्वका प्रतिपादन करना व्यर्थ जावेगा। उग्रवीर्य रसायन साधारण पुरुषको नहीं किंतु उसको झेलने वाले समर्थ पुरुषको ही वह दी जाती है। जो कमर कस कर तत्त्वप्राप्ति करनेके लिये समर्थ भी है किंतु अपनी सामर्थ्यका वचनसे निरूपण नहीं कर रहा है, उसके सन्नद्धपनेको प्रतिपादक नहीं जान सकता है। जो शक्य प्राप्तिमान्पने करके नहीं जानागया है वह शिक्षण देने योग्य नहीं हैं। अतः बोलनेकी अवज्ञासे भयभीत शिष्यको उपदेश सुननेकी योग्यता नहीं है। तथा च उपदिष्ट पदार्थके प्राप्तिकी सामर्थ्यको वचनोंसे कहनेवाला ही सत्पुरुष शिक्षाके योग्य है। गुरुजीको शिष्यका उपकार करना है। स्वमुखसे उन वचनोंको कहरहे विद्यार्थीके क्षयोपशम, विनय, ग्राह्यता पात्रता गुण, विकसित होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथा संशयव्युदासवान् प्रतिपाद्यः सकृत्संशयितोभयपक्षस्य प्रतिपादयितुमशक्तेः संशयव्युदासवानपि तद्वचनवान् प्रतिपाद्यते, किमयमनित्यः शब्दः किं वा नित्य इत्युभयोः पक्षयोरन्यतरत्र संशयव्युदासस्यानित्यः शब्दस्तावत्प्रतिपाद्यतामिति वचनमन्तरेणावबोद्धुमशक्यत्वादिति केचित्, तान् प्रतीदमभिधीयते ।

और भी अपने संशयको दूर करनेवाला पुरुष ही समझाने योग्य है। जिसने एक समयमें दोनों ही पक्षोंका संशय कर रखा है, उसको छोडता नहीं है, वह समझाया नहीं जा सकता है। ज्ञानको ग्रहण करनेवाला समझाया जाता है। मूर्ख रहनेवाला नहीं। संशयको निवारण करनेवाला भी यदि उस संशय दूर करनेको वचनसे बोलेगा, तब तो समझा दिया जावेगा। अन्यथा नहीं। जैसे कि यह शब्द क्या अनित्य है ? अथवा क्या नित्य है ? इन दोनों पक्षोंमेंसे किसी एक पक्षमें संशयको दूर करनेकेलिये पहिले आप शब्दकी अनित्यताको समझा दीजिये। इस प्रकारके वचनके विना आचार्य उसके अभिप्रायको समझ नहीं सकते हैं। यहांतक १ संशय, २ संशयवचन, ३ प्रयोजन, ४ प्रयोजनवचन, ५ जिज्ञासा, ६ जिज्ञासावचन, ७ शक्यप्राप्ति, ८ शक्यप्राप्तिवचन, ९ संशयव्युदास, १० संशयव्युदासवचन। इन दश धर्मोंसे युक्त शिष्य ही गुरुके द्वारा समझाने योग्य है, ऐसा कोई शंकाकार पूर्वपक्ष कह रहे हैं। उनके प्रति आचार्यके द्वारा छोटी बूटीके समान यह उत्तर कहा जाता है—दत्तचित्त होकर सुनिये।

तद्वानेव यथोक्तात्मा प्रतिपाद्यो महात्मनाम् ।
इति युक्तं मुनीन्द्राणामादिसूत्रप्रवर्तनम् ॥ २४८ ॥

यथा उक्त गुणोंवाला, कल्याण मार्गकी जिज्ञासासे युक्त और निकट भविष्यमें कल्याणमें लगनेवाला उपयोग स्वरूप आत्मा ही गुरुस्वरूप महान् आत्माओंके द्वारा समझाने योग्य है। इस प्रकार मुनियोंमें परम ऐश्वर्यको धारण करनेवाले गणधरदेव और उमास्वामीका पहिला " सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्रका प्रवर्तन युक्त है।

यः परतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गः स श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावानेव, यथातुरः सद्वैद्यादिभ्यः प्रतिपद्यमानव्याधिविनिवृत्तिजश्रेयोमार्गः परतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गश्च विवादापन्नः कश्चिदुपयोगात्मकात्मा भव्य इति। अत्र न धर्मिण्यसिद्धसत्ताको हेतुरात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्योपयोगस्वभावस्य च विशिष्टस्य प्रमाणसिद्धस्य धर्मित्वात्तत्र हेतोः सद्भावात्, तद्विपरीते त्वात्मनि धर्मिणि तस्य प्रमाणबाधितत्वादसिद्धिरेव।

जो शिष्य दूसरेके द्वारा मोक्षमार्गको जान रहा है, वह अवश्य कल्याणमार्गको जाननेकी अभिलाषासे सहित ही है। जैसे नीरोग होनेका अभिलाषी क्लेशित रोगी विचारा श्रेष्ठवैद्य, मंत्रवित्,

तांत्रिक आदि द्वारा रोग दूर होनेसे उत्पन्न होनेवाले कल्याणके मार्गको जान रहा है। अतः ज्ञात (अनुमित) किया जाता है कि रोगीको कल्याणमार्गके जाननेकी इच्छा अवश्य है। विवादमें प्राप्त हुआ कोई उपयोग स्वरूप भव्य आत्मा दूसरोंके द्वारा मोक्षमार्गको जान रहा है। उस कारण वह कल्याणमार्गको समझनेकी इच्छावाला है, इस पांच अवयववाले अनुमानके पक्षमें हेतुकी सत्ता असिद्ध है, यह नहीं कहना। क्योंकि अतिशीघ्र कल्याणके साथ युक्त होनेवाले ज्ञान उपयोग स्वरूप विलक्षण आत्माकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो चुकी है। यहां उस आत्माको धर्मी बनाया गया है, उसमें हेतु विद्यमान रहता है। हां, उक्त आत्मासे भिन्न प्रकार नैयायिक, कापिलोंके द्वारा माने गये आत्मारूपी धर्मीमें तो उस हेतुका रहना प्रमाणोंसे बाधित है। यदि उनके माने गये आत्मामें साध्यकी सिद्धि की जावेगी तो हेतु अवश्य असिद्ध हेत्वाभास हो ही जावेगा। इसको हम भी कहते हैं।

नहि निरन्वयक्षणिकचित्तसन्तानः, प्रधानम् अचेतनात्मा, चैतन्यमात्रात्मा वा परतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गः सिद्ध्यति; तस्य सर्वथार्थक्रियारहितत्वेनावस्तुत्वसाधनात्। नापि श्रेयसा शश्वदयोक्ष्यमाणस्तस्य गुरुतरमोहाक्रान्तस्यानुपपत्तेः।

बौद्धोंकी मानी गयी अन्वयरहित केवल एक क्षणमें रहकर दूसरे क्षणमें विनष्ट होनेवाले चित्तोंकी अवस्तु रूप सन्तान, या कापिलोंकी मानी हुयी सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रकृति अथवा वैशेषिक और नैयायिकोंसे माना गया चेतनासे भिन्न स्वयं अचेतन स्वरूप आत्मा और ब्रह्माद्वैतवादियोंसे स्वीकृत केवल चैतन्यरूप आत्मा, ये चारों प्रकारके आत्मा तो दूसरे गुरुओंसे कल्याणमार्गको जाननेवाले सिद्ध नहीं होते हैं। कारण कि उक्त प्रकारके वे चारों ही आत्माएं सर्व प्रकारसे अर्थक्रियाओंसे रहित हैं। इस कारण उनको वस्तुपना सिद्ध नहीं होता है। इस बातको हम पहिले कह चुके हैं। और जो आत्मा सर्वदा कल्याणमार्गसे युक्त होनेवाला ही नहीं है, वह भी दूसरे हितोपदेष्टाओंसे मोक्षमार्गको समझ नहीं सकता है। क्योंकि उसके ऊपर बडे भारी मोहनीय कर्मके उदयोंका आक्रमण हो रहा है। ऐसे दूरभव्य या तीव्रमोहीके प्रति कल्याणमार्गका प्रतिपादन करना प्राकृतिक नियमसे ही नहीं बन सकता है।

स्वतः प्रतिपद्यमानश्रेयोमार्गेण योगिना व्यभिचारी हेतुरिति चेत् न, परतो ग्रहणात्। परतः प्रतिपद्यमानप्रत्यवायमार्गेणानैकान्तिक इति चायुक्तम्, तत्र हेतुधर्मस्याभावात्। तत एव न विरुद्धो हेतुः, श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावन्तमन्तरेण क्वचिदप्यसम्भवात्। इति प्रमाणसिद्धमेतत्तद्वानेव यथोक्तात्मा प्रतिपाद्यो महात्मनाम्, नातद्वान्ना यथोक्तात्मा वा तत्प्रतिपादने सतामप्रेक्षावत्त्वप्रसंगात्।

स्वयं अपने आप जान लिया है मोक्षमार्ग जिन्होंने ऐसे प्रत्येक बुद्ध मुनिराज अथवा केवलज्ञानी जिनेंद्र देवसे प्रकृत हेतु व्यभिचारी है, ऐसा तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि हमने हेतुके

शरीरमें परतः ऐसा विशेषण दे रखा है। जो दूसरोंसे मोक्षमार्गको समझता है वह जिज्ञासावान् अवश्य है। जहां अभीष्ट हेतु ठहर जायगा, वहां साध्य अवश्य पाया जायगा। पुनः इस अनुमानमें व्यभिचार उठाया जाता है कि दूसरेसे पापमार्गको जाननेवाले पुरुषसे हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि दूसरेसे पापका उपदेश सुननेवाले पुरुषमें हेतु रह जाता है और मोक्षमार्गकी जिज्ञासा रूप साध्य नहीं रहता है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि पापमार्गको जाननेवालेमें हमारे माने गये मोक्षमार्गको समझनारूप हेतु स्वरूप धर्मका अभाव है। भावार्थ–हेतुके शरीरमें भीतर पडा हुआ मोक्षमार्गको समझनारूपी धर्म वहां नहीं घटता है। उसी कारणसे हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि कल्याणमार्गकी जिज्ञासावाले जीवके विना दूसरोंसे मोक्षमार्गको समझनेवालापन कहीं भी नहीं सम्भवता है। अर्थात् व्यभिचार दोषके दूर हो जानेसे ही प्रायः विरुद्ध दोष दूर हो जाता है। विरुद्ध और व्यभिचार दोष दोनों भाईके समान हैं। साध्याभाववान्में हेतुका न रहनारूप अन्वयव्याप्तिको व्यभिचार दोष बिगाड देता है और साध्यभावके व्यापकीभूत अभावका प्रतियोगीपन हेतुमें रहना रूप व्यतिरेकव्याप्तिको विरुद्धदोष बिगाड देता है, इतना ही अंतर है। कहीं व्यभिचारके स्थल और विरुद्धके स्थलोंमें भी अंतर पड जाता है। इस कारण यह साधन या अनुमान दूसरे प्रमाणोंसे सिद्ध है। अतः उस कल्याणमार्गकी जिज्ञासावाला और काललब्धि आदिसे युक्त ज्ञानोपयोगी आत्मा ही महात्मा गुरु लोगोंको समझाने योग्य है। जो जिज्ञासावान् नहीं है अथवा जो पूर्वमें कहे गये अनुसार पापभार और मोहभारसे रहित होकर कल्याणसे युक्त होनेवाला चेतनस्वरूप आत्मा नहीं है, वह उपदेशका भी पात्र नहीं है। ऐसे मोही, दूर भव्य अथवा अभव्योंको भी यदि मोक्षमार्गका प्रतिपादन किया जावेगा तो प्रतिपादक गुरु सज्जनोंको विचारशालीपन न होनेका प्रसंग आता है। भावार्थ–पात्रका विचार न कर जो ऊषर-वपनके समान उपदेश दे रहे हैं, वे प्रेक्षावान् नहीं हैं। जिनवाणीकी भी तो प्रतिष्ठा रखनी है।

परमकरुणया काश्चन श्रेयोमार्गं प्रतिपादयतां तत्प्रतिपित्सारहितानपि नाप्रेक्षावत्त्वमिति चेन्न, तेषां प्रतिपादयितुमशक्यानां प्रतिपादने प्रयासस्य विफलत्वात्, तत्प्रतिपित्सामुत्पाद्य तेषां तैः प्रतिपादनात् सफलस्तत्प्रयासः इति चेत्, तर्हि तत्प्रतिपित्सावानेव तेषामपि प्रतिपाद्यः सिद्धः।

अत्यंत बढी हुयी दयासे उस जिज्ञासासे रहित और मोही भी किन्ही किन्ही जीवोंके प्रति कल्याणमार्गको प्रतिपादन करनेवाले हितैषी गुरुओंको अविचारवान्पनेका प्रसंग नहीं होता है। यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि जो जीव शक्तिहीन हैं, उपदेष्टाओंके द्वारा समझानेके लिए समर्थ नहीं हैं, जो समझना भी नहीं चाहते हैं; उनको प्रतिपादन करनेमें वक्ताका परिश्रम व्यर्थ पडेगा।

हां, यदि आप यों कहे कि उन जीवोंको कल्याणमार्गके समझनेकी इच्छाको उत्पन्न कराकर उन हितैषियोंके द्वारा प्रतिपादन करनेसे वक्ताका वह प्रयत्न सार्थक हो जावेगा, ऐसा कहो तब तो

उस हितमार्गको समझनेकी इच्छा युक्त जीव ही हितैषी उन वक्ताओंको भी समझाने योग्य विद्यार्थी सिद्ध हुआ। वही तो हम कह रहे हैं।

तद्वचनवानेवेति तु न नियमः सकलविदां प्रत्यक्षत एवैतत्प्रतिपित्सायाः प्रत्येतुं शक्यत्वात्। परैरनुमानाद्वास्य विकारादिलिंगजादाप्तोपदेशाद्वा तथा प्रतीतेः।

शंकाकार अनुज्ञा करनेवालेने पूर्वपक्षमें यह कहा था कि जिज्ञासाको वचन द्वारा प्रकाशित करनेवाला ही प्रतिपाद्य होता है। उनका यह नियम तो ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञानी सर्वज्ञोंको प्रत्यक्ष ज्ञानसे ही शिष्योंकी इस जिज्ञासाका निर्णय करलेना शक्य है और दूसरे वक्ता या आचार्य और विद्वान् गुरुजन इस प्रतिपाद्यके विकार, जाननेकी चेष्टा, प्रश्न पूंछनेके लिये आना, आदि हेतुओंसे उत्पन्न हुए अनुमान प्रमाणसे जिज्ञासाको समझ सकते हैं। अथवा सत्यवक्ताओंके उपदेशसे भी इस प्रकार जिज्ञासाओंका आगमज्ञानसे जानना प्रतीत हो रहा है कि अमुक पुरुष कुछ पूंछना चाहता है। महाराजजी! इसको समझा दीजियेगा।

संशयतद्वचनवांस्तु साक्षान्न प्रतिपाद्यस्तत्त्वप्रतिपित्सारहितस्य तस्याचार्यं प्रत्युपसर्पणाभावात्, परम्परया तु विपर्ययतद्वचनवानव्युत्पत्तितद्वचनवान् वा प्रतिपाद्योस्तु विशेषाभावात्, यथैव हि संशयतद्वचनानन्तरं स्वप्रतिबन्धकाभावात्तत्त्वजिज्ञासायां कस्यचित्प्रतिपाद्यता तथा विपर्ययाव्युत्पत्तितद्वचनानन्तरमपि।

शंकाकारके पांच युगलोंमें से पहिले युगलका विचार हो चुका। अब दूसरे युगलका परीक्षण करते हैं। संशयवान् और उस संशयको प्रकाश करनेवाले वचनोंसे युक्त पुरुष तो संशय और संशय वचनको कारण मानकर अव्यवहित रूपसे प्रतिपाद्य नहीं है। भावार्थ—प्रतिपाद्य बननेमें साक्षात् कारण जिज्ञासा है। संशय और उसके वचन तो परम्परासे भले ही प्रतिपाद्यपनेमें उपयोगी हो जावें, जो संशय और उसके वचनको कहनेवाला है, किंतु समझनेकी अभिलाषा नहीं रखता है, वह जीव आचार्य महाराजके पास पूंछनेके लिये उत्कण्ठासहित गमन ही नहीं करता है।

हां, यदि संशय और उसके वचनको परम्परासे कारण मानना इष्ट कर लोगे, तब तो विपर्ययज्ञान और उसके वचनसे युक्त अथवा अज्ञानी (नासमझ) और उसका शब्दसे निरूपण करनेवाला जीव भी प्रतिपाद्य बन जाओ। क्योंकि परम्परासे कारण बननेकी अपेक्षासे तीनों मिथ्याज्ञानोंमें कोई अंतर नहीं है। जिस ही प्रकार संशय और उसके वचनके उत्तर कालमें जिज्ञासाके अपना प्रतिबंध करनेवाले ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम और मोहनीय कर्मके मंद उदय होनेसे तत्त्वोंकी जिज्ञासाके उत्पन्न होजानेपर ही किसी किसी जीवको प्रतिपाद्यपना आता है, वैसे ही विपर्यय, अज्ञान और उनके वचनके उत्तर कालमें भी जिज्ञासाके उत्पन्न होनेपर किसीको प्रतिपाद्यपना बन जाता है।

विपर्यस्ताव्युत्पन्नमनसां कुतश्चिद्दृष्टविशेषात् संशये जाते तत्त्वजिज्ञासा भवतीति चायुक्तम्, नियमाभावात्, न हि तेषामदृष्टविशेषात्संशयो भवति न पुनस्तत्त्वजिज्ञासेति नियामकमस्ति।

यदि शंकाकार स्वपक्षका अवधारण करता हुआ यों कहें कि जिज्ञासा तो अव्यहित पूर्ववर्ती कारण है किन्तु जिज्ञासाके ठीक प्रथम यदि कोई प्रतिपाद्यपनेकी पात्रताका कारण है तो वह संशय ही है। जो विपर्ययज्ञानी या अज्ञ मूढमनवाले जीव हैं, उनको अज्ञान या विपर्ययके पीछे एक पुण्यविशेषसे संशयके उत्पन्न हो जानेपर ही तत्त्वोंकी जिज्ञासा होजाती है। अतः जिज्ञासाके पूर्ववर्ती संशयको कारण मानलो। विपर्यय और अज्ञानको कारण न मानो। आचार्य कहते हैं कि यह शंकाकारका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि विपर्यय और अज्ञानके पीछे संशय होकर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है। उन विपर्ययज्ञानी और अज्ञानियोंको बादमें विशेष पुण्यसे संशय तो हो जावे, परंतु फिर अनंतर कालमें जिज्ञासा न होवे यह एकांत ठीक नहीं है। भावार्थ—पुण्यसे एकदम सीधे जिज्ञासा तो न होवे किंतु संशय हो जावे इसका कोई नियम करनेवाला नहीं है। विपर्ययज्ञानके अव्यवहित उत्तर कालमें भी तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है बहुतसे विपरीतज्ञानवाले या अव्युत्पन्न जीव जिज्ञासा रखकर गुरुके पास गये और तत्त्वज्ञान लेकर लौटे। शास्त्रोंमें ऐसे कतिपय दृष्टांत हैं।

तत्त्वप्रतिपत्तेः संशयव्यवच्छेदरूपत्वात् संशयितः प्रतिपाद्यत इति चेत्, तर्ह्यव्युत्पन्नो विपर्ययस्तो वा प्रतिपाद्यः संशयितवत्, तत्त्वप्रतिपत्तेरव्युत्पत्तिविपर्यासव्यवच्छेदरूपत्वस्य सिद्धेः संशयव्यवच्छेदरूपत्ववत् संशयविपर्ययाव्युत्पत्तीनामन्यतमाव्यवच्छेदे तत्त्वप्रतिपत्तेर्यथार्थतानुपपत्तेः यथा वाऽविद्यमानसंशयस्य प्रतिपाद्यस्य संशयव्यवच्छेदार्थं तत्त्वप्रतिपादनमफलम्, तथैवाविद्यमानाव्युत्पत्तिविपर्ययस्य तद्व्यवच्छेदार्थमपि यथा भविष्यत्संशयव्यवच्छेदार्थं तथा भविष्यदव्युत्पत्तिविपर्ययव्यवच्छेदार्थमपि इति तत्त्वप्रतिपित्सायां सत्यां त्रिविधः प्रतिपाद्यः, संशयितो विपर्यस्तबुद्धिरव्युत्पन्नश्च।

यदि आप शंकाकार अनुनयसहित यह कहेंगे कि तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति करना संशयका निवृत्त होना स्वरूप है। इस कारण जिस पुरुषको संशय उत्पन्न हो गया है, वही पुरुष प्रतिपादित किया जाता है। भावार्थ—तत्त्वप्रतिपत्तिका कारण यदि संशय न होता तो उससे संशय दूर कैसे किया जाता ? ऐसा कहनेपर तब तो हम कहेंगे कि यों संशयित पुरुषके समान ही अज्ञानी और विपर्ययज्ञानी भी समझाया जा सकता है। तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति जैसे संशय दूर होना रूप है वैसे ही अज्ञान दूर होना और विपर्यय दूर होना रूप भी सिद्ध है। अज्ञान तीन माने गये हैं। चांदीमें रांग या चांदीका संशयकरनेवाले पुरुषका संशय जैसे चांदीके निर्णयसे दूर हो जाता है, वैसे ही चांदीका निर्णय कर

देनेपर निपट अज्ञानी गंवारका अथवा चांदीको रांग समझनेवाले विपर्यय ज्ञानीका अज्ञान और विपर्ययज्ञान भी अव्यवहित उत्तर कालमें निवृत्त हो जाता है। संशय, विपर्यय और अज्ञान इन तीनोंमेंसे किसी एकका भी निराकरण न होनेपर तत्त्वोंकी प्रतिपत्तिको यथार्थपना सिद्ध नहीं है। अकेले विपर्ययज्ञानका या औदयिक अज्ञानभावके होनेपर उन अकेलोंका भी निराकरण हो जावेगा। तब भी तत्त्वोंका निर्णय ठीक ठीक माना गया है। तत्त्वज्ञानसे वर्तमानके सर्व ही कुज्ञानोंका नाश हो जाता है, चाहे एक हो या तीनों होवें। तथा जिस प्रतिपादन करने योग्य शिष्यके संशय विद्यमान नहीं है, उसके प्रति संशय दूर करनेके लिये कहा गया तत्त्वोंका निरूपण जैसे व्यर्थ है, उस ही प्रकार जिस प्रतिपाद्यके अज्ञान और विपरीतज्ञान विद्यमान नहीं हैं, उसके लिये भी अज्ञान और विपर्ययके निरासार्थ तत्त्वनिरूपण करना निरर्थक है। और यदि आपका जैसे यह विचार है कि किसी तत्त्वप्रतिपत्तिने वर्तमान संशयका नाश न भी किया हो किंतु उसने भविष्य कालमें होने वाले संशयोंका नाश अवश्य किया है, वैसे ही हम भी कह सकते हैं कि वर्तमान कालमें होने वाले अज्ञान और विपर्ययका नाश भले ही किसी निर्णयने न किया हो, किंतु भविष्य कालमें अज्ञान और विपर्यय न उत्पन्न हो सकें, इसके लिये भी तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति करना सफल है। सर्वथा नवीन माने गये किसी क्षेत्र, जिनालय, नदी, पर्वत, समुद्र या विद्वान्के देखनेपर भूत या वर्तमानके संशय और विपर्ययका निवारण नहीं होता है। हां! वर्तमानके अज्ञानका नाश अवश्य हो जाता है। और भविष्यके संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानका निराकरण होजाता है। इस प्रकार शिष्यको तत्त्वोंके समझनेकी अभिलाषा होनेपर तीनों ही प्रकारके शिष्य वक्ताके द्वारा समझाने योग्य हैं। चाहे वे तत्त्वोंमें संशय करनेवाले हों या विपर्यय ज्ञानी हों और भले ही वे कोरे अव्युत्पन्न मूर्ख अज्ञानी हों। योग्य प्रतिपादक गुरु तीनोंको समानरूपसे तत्त्वोंका निर्णय करा देवेगा।

प्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासतद्वचनवान् प्रतिपाद्य इत्यप्यनेनापास्तम्, तत्प्रतिपित्साविरहे तस्य प्रतिपाद्यत्वविरोधात्। सत्यां तु प्रतिपित्सायां प्रयोजनाद्यभावेऽपि यथायोग्यं प्रतिपाद्यत्वप्रसिद्धेस्तद्वानेव प्रतिपाद्यते। इति युक्तं परापरगुरूणामर्थतो ग्रन्थतो वा शास्त्रे प्रथमसूत्रप्रवर्तनम्, तद्विषयस्य श्रेयोमार्गस्य परापरप्रतिपाद्यैः प्रतिपित्सितत्वात्।

पहिले शंकाकारने यह कहा था कि प्रयोजनवान् और प्रयोजनको प्रतिपादन करनेवाला, तथा तत्त्वोंको प्राप्त कर सकनेवाला और इस प्रमेयको बोलनेवाला, एवं संशयको दूर करनेवाला और संशय दूर करनेको कहनेवाला ही सज्जन प्रतिपाद्य होता है, इन तीन युगलोंकी भी शिष्य बननेमें आवश्यकता है। ग्रन्थकार कह रहे हैं कि यह भी शंकाकारका कहना पूर्वोक्त इसी कथनसे खण्डित हो जाता है। क्योंकि तत्त्वोंको जाननेकी इच्छाके विना उक्त तीनों युगलोंके होने पर भी उस शिष्यको प्रतिपाद्यपनेका विरोध है और समझनेकी इच्छा होनेपर तो प्रयोजन आदि तीन युगलोंके न होनेपर भी योग्यताके अनुसार प्रतिपाद्यपना जगतमें प्रसिद्ध हो रहा है। अतः

संशय आदि चार युगलोंमें अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार दोष आते हैं। इस कारण उस तत्त्वोंके जाननेकी इच्छावाला ही विद्वान् वक्ताके द्वारा समझाया जाता है। इस प्रकार पर (उत्कृष्ट) गुरु अर्हन्तोंने और अपर—गुरु गणधर आदिकोंने अर्थकी और ग्रंथ रचनाकी अपेक्षासे शास्त्रके आदिमें पहिले " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " सूत्रका प्रवर्तन किया है, वह युक्त ही है। क्योंकि उन गुरुओंके द्वारा प्रतिपादित किये हुए सूत्रका मोक्षमार्ग रूपी विषय उन उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट शिष्यों करके समझनेके लिये इच्छित हो रहा है। विनीतोंमें प्रधान गणधर महाराज तीर्थङ्करोंके उत्कृष्ट शिष्य हैं। और आरातीय विद्वान् अपर शिष्य हैं। इन सबको मोक्षमार्गको जाननेकी बलवती अभिलाषा हो रही है। तभी तो अर्थरूपसे श्री अर्हन्तके द्वारा और गणधर, धरसेन, भूतबलि पुष्पदंत, उमास्वामी आदिके द्वारा ग्रंथरूपसे उक्त सूत्र प्रवर्तित हो रहा है यानी गुरुशिष्य परिपाटीसे आम्नायपूर्वक चला आ रहा है।

ननु निर्वाणजिज्ञासा युक्ता पूर्वं तदर्थिनः।
परिज्ञातेभ्युपेयेऽर्थे तन्मार्गो ज्ञातुमिष्यते ॥ २४९ ॥

यहां शंका है कि उस मोक्षके अभिलाषी शिष्यकी पहिले मोक्षको जाननेकी अभिलाषा करना युक्त है। वह सहसा मोक्षमार्गको क्यों जानना चाहता है ?। बात यह है कि पहिले प्राप्त करने योग्य पदार्थका निर्णय हो जानेपर पीछे उसके मार्गको जानना नियमके अनुसार इष्ट किया है।

यो येनार्थी स तत्प्रतिपित्सावान् दृष्टो लोके, मोक्षार्थी च कश्चिद्भव्यस्तस्मान्मोक्षप्रतिपित्सावानेव युक्तो न पुनर्मोक्षमार्गप्रतिपित्सावान्, अप्रतिज्ञाते मोक्षे तन्मार्गस्य प्रतिपित्साऽयोग्यतोपपत्तेरिति मोक्षसूत्रप्रवर्तनं युक्तं तद्विषयस्य बुभुत्सितत्वान्न पुनरादावेव तन्मार्गसूत्रप्रवर्तनमित्ययं मन्यते।

शङ्काकारकी ओरसे कही गयी आक्षेपक वार्तिकका भाष्य यों है कि संसारमें जो जीव जिस पदार्थके साथ अभिलाषा रखता है, वह उसके जाननेकी इच्छावाला देखा गया है। कोई निकट भव्यजीव मोक्षका अभिलाषी है। उस कारणसे मोक्षके जाननेकी इच्छावाला होना ही युक्त है। परंतु मोक्षमार्गके जाननेकी इच्छा रखनेवाला होना तो उचित नहीं है। मोक्षके सर्वथा न जानचुकनेपर उसके मार्गके जाननेकी इच्छाकी योग्यता ही नहीं बन सकती है। इस कारण सर्वज्ञको मूल मानकर धाराप्रवाहसे मोक्षके प्रतिपादक सूत्रका प्रवर्तन होना युक्त है। क्योंकि उस सूत्रसे मोक्षरूपी विषयका जानना अभीष्ट हो रहा है। परन्तु फिर आदिमें ही उस मोक्षके मार्गको समझानेवाले सूत्रका प्रचलित रहना नहीं हो सकता है। इस प्रकार यह शंकाकार मान रहा है। अब आचार्य समाधान करते हैं कि:—

तन्न प्रायः परिक्षीणकल्मषस्यास्य धीमतः ।
स्वात्मोपलब्धिरूपेऽस्मिन् मोक्षे सम्प्रतिपत्तितः ॥ २५० ॥

वह शंकाकारका कहना ठीक नहीं है । कारण कि जिस बुद्धिमान् शिष्यके बहुलताकरके कर्मोंका भार कुछ नष्ट हो गया है, इस बुद्धिमान् शिष्यको निज शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धि होनारूप इस मोक्षमें भले प्रकार ज्ञप्ति हो रही है, भावार्थ—आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाना रूप मोक्षका सामान्यपनेसे इन सब पर अपर शिष्योंको ज्ञान है । अतः मोक्षकी जिज्ञासा नहीं हुयी किंतु मोक्षमार्गको समझनेकी ही शिष्योंको अभिलाषा है ।

न हि यत्र यस्य सम्प्रतिपत्तिस्तत्र तस्य प्रतिपित्सानवस्थानुषंगात् सम्प्रतिपत्तिश्च मोक्षे स्वात्मोपलब्धिरूपे प्रकृतस्य प्रतिपाद्यस्य प्रायशः परिक्षीणकल्मषत्वात्, सातिशयमज्ञत्वाच्च। ततो न तदर्थिनोपि तत्र प्रतिपित्सा तदर्थित्वमात्रस्य तत्प्रतिपित्सया व्याप्यसिद्धेः सति विवादेऽर्थित्वस्य प्रतिपित्साया व्यापकत्वमिति चेन्न, तस्यासिद्धत्वात् न हि मोक्षेऽधिकृतस्य प्रतिपत्तुर्विवादोऽस्ति ।

जिस विषयमें जिसको भले प्रकार ज्ञप्ति हो रही है, उस विषयमें उसको जाननेकी इच्छा नहीं होती है । यदि जाने गये विषयमें भी जिज्ञासाएं होने लगे तो ज्ञात हो चुके विषयमें फिर जिज्ञासा हो जावेगी एवं चर्वितचर्वण या पिष्टपेषणके समान अनवस्थाका प्रसंग होगा । प्रकरणमें पडे हुए सभी वादी, प्रतिवादी, और निकट भव्य इन शिष्योंको स्वात्माकी परिप्राप्ति हो जाना स्वरूप मोक्षमें सामान्यपनेसे प्रायः करके ज्ञप्ति हो रही है । क्योंकि उनके ज्ञानावरण कर्मोंके कुछ सर्वघाती स्पर्द्धकोंका और अज्ञान, व्यामोह, करनेवाले पापोंका कतिपय अंशोंसे नाश हो गया है । तथा वे निकटभव्य चमत्कारसहित बुद्धिसे युक्त भी है । उस कारण उस मोक्षके अभिलाषी भी जीवकी उस मोक्षके जाननेमें इच्छा नहीं हो पाती है । किसी पदार्थके प्राप्त करनेकी अर्थिता मात्रसे उसके ही जाननेकी अभिलाषा होनेकी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । जैसे कि मोदकको प्राप्त करना है, किंतु घृत, चना आदिके जाननेकी अभिलाषा होती है । तीव्र मायाचारीको धन प्राप्त करना है और पहिलेसे अन्य अन्य पदार्थोंकी अभिलाषायें करता है । अतः जिसको प्राप्त करना है, उसीकी अभिलाषा होवे यह व्याप्ति बिगड जाती है ।

यदि शंकाकार यों कहे कि प्राप्तव्य अर्थके विवाद होनेपर उसके अर्थीपनका प्रतिपित्सासे व्यापकपना अवश्य है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हो, क्योंकि यह व्याप्ति तो ठीक है । किंतु प्रकरणमें विवाद होनेपर वह विशेषण सिद्ध (घटित) नहीं हो पाता है । क्योंकि अधिकार या प्रकरणमें प्राप्त समझनेवाले प्रतिपाद्योंको मोक्षके स्वरूपमें विवाद नहीं है, सर्व ही मोक्षको स्वीकार करते हैं ।

नाना प्रतिवादिकल्पनाभेदादस्त्येवेति चेत्—

सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, वेदांती, बौद्ध आदि अनेक प्रतिवादियोंकी मोक्षके लक्षणमें नाना कल्पनाएं हैं, अतः भिन्न भिन्न कल्पनायें होनेसे मोक्षके स्वरूपमें भी विवाद है ही। फिर पहिली व्याप्तिके अनुसार मोक्षको क्यों नहीं पूंछा जा रहा है ? यदि शंकाकार ऐसा कहेंगे तो हम जैन कहते हैं कि:—

प्रवादिकल्पनाभेदाद्विवादो योपि सम्भवी ।
स पुंरूपे तदावारपदार्थे वा न निर्वृतौ ॥ २५१ ॥

अनेक प्रवादिओंकी कल्पनाओंके भेदसे जो भी मोक्षमें विवाद सम्भव हो रहा है, वह आत्माके स्वाभाविक स्वरूपमें है अथवा मोक्षके आवरण करनेवाले कर्म, अविद्या, मिथ्याज्ञान आदि पदार्थोंमें विवाद है, किंतु आत्माकी मोक्ष होनेमें कोई विवाद नहीं है ।

स्वरूपोपपलब्धिर्निवृत्तिरिति सामन्यतो निवृत्तौ सर्वप्रवादिनां विवादोऽसिद्ध एव, यस्य तु स्वरूपस्योपलब्धिस्तत्र विशेषतो विवाद स्तदावरणे वा कर्मणि कल्पनाभेदात्, तथाहि-

प्रभास्वरमिदं प्रकृत्या चित्तं निरन्वयक्षणिकम्, अविद्यातृष्णे तत्प्रतिबन्धिके, तदभावान्निरास्रवचित्तोत्पत्तिर्मुक्तिरिति केषाञ्चित्कल्पना ।

आत्माके वास्तविक शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो जाना ही मोक्ष है। इस प्रकार सामान्यरूपसे मोक्ष विषयमें सम्पूर्ण मीमांसक, नैयायिक, बौद्ध आदि प्रवादियोंका विवाद करना असिद्ध ही है। हां, तो मोक्षमें आत्माके जिस स्वरूपकी प्राप्ति होती है, उसमें विशेषरूसे विवाद है अथवा उस आत्माके स्वरूपको रोकनेवाले कर्मोंमें अनेक कल्पनाओंके भेदसे विवाद पड रहा है, इसीको प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं—सुनिये ।

यह विज्ञानस्वरूप आत्मा या चित्त, स्वभावसे ही अतीव प्रकाशमान है और अन्वयरहित होकर क्षण क्षणमें नष्ट होता रहता है अर्थात् पहिले समयका चित्त सर्वथा नष्ट हो जाता है और दूसरे क्षणमें सर्वथा नवीन दूसरा चित्त उत्पन्न होजाता है। स्वभावसे प्रकाशमान उस चित्तके प्रतिबन्ध करनेवाले अविद्या और तृष्णा हैं। अनित्य, असुख और अनात्मक पदार्थोंमें नित्य, सुख, और आत्मीयपना समझनेको अविद्या कहते हैं तथा सांसारिक आकांक्षाओंको तृष्णा कहते हैं। संसारी जीवोंके विकल्प बुद्धियोंके द्वारा ये दोनों दोष लग रहे हैं। अतः पूर्वकी मिथ्या वासनाओं तथा खोटे संस्कारोंके वश उत्तर कालमें भी आस्रव सहित चित्त उत्पन्न होते रहते हैं। किंतु इन दोनों आवरणोंका जब योगबलसे नाश हो जाता है, तब उससे आस्रव रहित शुद्ध प्रकाशमान क्षणिक चित्तकी उत्पत्ति होते रहनेको मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार किन्हीं सौत्रांतिक बौद्धोंकी कल्पना है।

सर्वथा निःस्वभावमेवेदं चित्तम्, तस्य धर्मिधर्मपरिकल्पना प्रतिबन्धिका, तदपक्षयात्सकलनैरात्म्यं प्रदीपनिर्वाणवत्स्वान्तनिर्वाणमित्यन्येषाम् ।

यह शुद्ध विज्ञानरूप चित्त विचारा ग्राह्य, ग्राहक, धर्मधर्मी आदि सर्वस्वभावोंसे सर्वथा रहित है। किन्तु संसारी जन धर्म, धर्मी, कार्य, कारण, मेरा, तेरा आदि कल्पनाएं कर लेते हैं। ये कल्पनाएं ही उस निःस्वभाव चित्तकी प्राप्तिमें रोक लगा रही हैं। जब उन कल्पनाओंका तत्त्वज्ञानके द्वारा ध्वंस होजाता है, तब उससे सम्पूर्ण स्वभावोंका निषेधरूप अपने कल्पित धर्मोंका दूर होजाना ही मोक्ष है। जैसे कि दीपके बुझनेपर वह दीपककी लौ कहीं दिशा विदिशामें नहीं चली जाती है, केवल स्नेह (तैल) के क्षयसे वहीं शान्त होजाती है, वैसे ही मुक्त अवस्था भी नहीं कुछ रूप पदार्थ है। वहां निज आत्माका अंत होजाता है। इस प्रकार दूसरे वैभाषिक बौद्ध मान रहे हैं।

सकलागमरहितं परमात्मनो रूपमद्वयम्, तत्प्रतिबन्धिकानाद्यविद्या, तद्विलयात्प्रतिभासमात्रस्थितिर्मुक्तिरिति परेषाम् ।

सम्पूर्ण आगमोंसे न जाना जावे अर्थात् शब्दोंकी योजनाओंसे रहित हो रहा परमब्रह्मका अद्वैत ही स्वरूप है। उस ब्रह्माद्वैतका प्रतिबंध करनेवाली अनादि कालसे संसारी जीवोंके अविद्या लग रही है। उस अविद्याके नाशसे चैतन्यरूप प्रतिभास सामान्यमें स्थित हो जाना अर्थात् अकेले परमब्रह्ममें लीन होजाना ही मोक्ष है। इस प्रकार अन्य वेदान्तवादियोंका सिद्धांत है।

चैतन्यं पुरुषस्य स्वं रूपं, तत्प्रतिपक्षः प्रकृतिसंसर्गस्तदपायात् स्वरूपेऽवस्थानं निःश्रेयसमित्यपरेषाम् ।

आत्माका वास्तविक अपना स्वरूप चैतन्य है। संसार अवस्थामें उसकी शत्रुता करनेवाला सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रकृतिके साथ आत्माका संबंध हो जाना है। तत्त्वज्ञानसे व्यभिचारिणी स्त्रीके समान प्रकृतिका मायावित्व जाननेपर प्रकृति अपने भोग सम्पादनरूप कार्यको पुरुषके प्रति नहीं करती है। तब उस प्रकृतिके संसर्गका नाश हो जानेसे आत्माका चैतन्य, द्रष्टा, उदासीन, रूपमें स्थित हो जाना ही मोक्ष है, इस प्रकार अन्य सांख्योंका मत है।

सर्वविशेषगुणरहितमचेतनमात्मनः स्वरूपम्, तद्विपरीतो बुद्ध्यादिविशेषगुणसम्बन्धस्तत्प्रतिबंधकस्तत्क्षयादाकाशवदचेतनावस्थितिः परा मुक्तिरितीतरेषाम् ।

आत्मामें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ये चौदह गुण रहते हैं। इनमेंसे पहिलेके नौ विशेष गुण हैं। अर्थात् केवल आत्मद्रव्यमें ही पाये जाते हैं। इन आत्माके सम्पूर्ण विशेषगुणोंसे रहित अचेतन हो जाना

ही आत्माका स्वाभाविक रूप है। उस स्वाभाविक रूपके विपरीत (विरुद्ध) होकर बिगाडनेवाले बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोंका आत्माके साथ समवाय संबंध हो जाना है। वह संबंध मोक्षकी प्राप्तिका प्रतिबंध कर रहा है। तत्त्वज्ञानके द्वारा मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दुःखके नाश क्रमसे नौ गुणोंके उस संबंधका सदाके लिये नाश हो जानेसे आकाशके समान अचेतन व्यापक आत्माकी स्थिति रहजाना उत्कृष्ट मुक्ति है। इस प्रकार अन्य नैयायिक और वैशेषिकोंका मत है। इनके यहां जीवन्मुक्ति रूप अपर मोक्षमें ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदिका संबंध बना रहता है। ईश्वरमें भी आठ गुण रहते हैं। पहिले नौमेंसे ज्ञान इच्छा और प्रयत्न तथा पांच सामान्य गुण हैं। मुक्तमें ५ पांच सामान्य गुण हैं। मुक्त आत्मासे ईश्वरमें विशेषता है।

परमानन्दात्मकमात्मनो रूपम्, बुद्ध्यादिसंबंधस्तत्प्रतिघाती, तदभावादानन्दात्मकतया स्थितिः परा निर्वृतिरिति च मीमांसकानाम्।

उत्कृष्ट आनंद स्वरूप रहना ही आत्माका निज-स्वभाव है, संसार दशामें आत्माके साथ बुद्धि, इच्छा आदिका संबंध उस प्रकृष्ट आनंदका विघात करनेवाला है। अच्छा कर्मकाण्ड करनेपर बुद्धि आदिके संबंधका नाश हो जानेपर आनंद स्वरूपसे नित्य आत्माका स्थित रहना ही उत्कृष्ट मोक्ष है, इस प्रकार मीसांसकोंका कथन है।

नैवं निर्वृतिसामान्ये कल्पनाभेदो यतस्तत्र विवादः स्यात्। मोक्षमार्गसामान्येऽपि न प्रवादिनां विवादः, कल्पनाभेदाभावात्। सम्यग्ज्ञानमात्रात्मकत्वादावेव तद्विशेषे विप्रतिपत्तेः। ततो मोक्षमार्गेऽस्य सामान्ये प्रतिपित्सा विनेयविशेषस्य माभूत् इति चेत्, सत्यमेतत्, निर्वाणमार्गविशेषे प्रतिपित्सोत्पत्तेः। कथमन्यथा तद्विशेषप्रतिपादनं सूत्रकारस्य प्रयुक्तं स्यात्। मोक्षमार्गसामान्ये हि विप्रतिपन्नस्य तन्मात्रप्रतिपित्सायाम्-'स्ति मोक्षमार्ग' इति वक्तुं युज्येत, विनेयप्रतिपित्सानुरूपत्वात् सूत्रकारप्रतिवचनस्य।

ऊपर कहे अनुसार मोक्षके विशेष स्वरूपोंमें ही जैसा बौद्धादिकोंका विवाद है, इस प्रकार मोक्षके सामान्य स्वरूपमें किसीकी कल्पना भिन्न भिन्न नहीं है, जिससे कि वहां विवाद होता। आत्माके स्वाभाविक स्वरूपकी प्राप्तिको मोक्ष सब ही मानते हैं। यहां कोई पूर्वपक्ष करता है कि मोक्षमार्गके भी तो सामान्य स्वरूपमें बौद्ध आदिक प्रवादियोंका विवाद नहीं है। क्योंकि मोक्षमार्गके सामान्यस्वरूपमें भी मीमांसक आदिकोंकी भिन्न भिन्न कल्पनाएं नहीं हैं। हां! मोक्षमार्गके उस विशेष अंशमें अवश्य झगडा है। कोई अकेले सम्यग्ज्ञानसे ही मोक्ष होना मानते हैं। दूसरे लोग ज्ञान और चारित्रसे ही, एवं तीसरे श्रद्धान और चारित्रसे ही, चौथे अकेले श्रद्धानसे ही मोक्ष होना स्वीकार करते हैं। इत्यादि प्रकारसे मार्गके विशेष अंशोंमें ही अनेक विवाद हैं। तिस कारण इस विलक्षण शिष्यकी मोक्षमार्गके सामान्यमें भी समझनेकी इच्छा न होवे जैसे कि मोक्ष सामान्यकी

जिज्ञासा नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा पूर्वपक्ष करोगे तो आपका यह कहना ठीक है। वास्तवमें शिष्यकी मोक्षमार्गके विशेषमें ही जाननेकी इच्छा उत्पन्न हुयी है। अन्यथा यदि ऐसा न होता तो सूत्रकार उमास्वामी महाराजका उस रत्नत्रयको विशेष रूपसे मोक्षमार्गका प्रतिपादन करना भला कैसे प्रकृष्ट युक्तियोंसे सहित माना जाता? बताओ। यदि कोई शिष्य सामान्यरूपसे मोक्षमार्गमें विवाद करता पाया जाता है और उस केवल सामान्य मोक्षमार्गको जाननेकी अभिलाषा रखता है। ऐसी दशामें तो सूत्रकारको (कोई न कोई) मोक्षका मार्ग जगत्में है। इसी प्रकार कहना उचित था। क्योंकि शिष्यके जाननेकी इच्छाके अनुसार ही सूत्रकारके उत्तर वचन हुआ करते हैं। फिर जो सूत्रकारने मोक्षमार्गका विशेष रूपसे निरूपण किया है इससे ध्वनित होता है कि मार्ग सामान्यमें कोई विवाद नहीं है। मोक्षमार्गमें हुये विशेष विवादोंकी निवृत्तिके लिये ही प्रथमसूत्र कहा है।

तर्हि मोक्षविशेषे विप्रतिपत्तेस्तमेव कस्मान्नाप्राक्षीत् इति चेत् किमेवं प्रतिपित्सेत विनेयः सर्वत्रेदृक्कार्यस्य सम्भवात्। तत्प्रश्नेऽपि हि शक्येत चोदयितुं किमर्थं मोक्षविशेषमप्राक्षीन्न पुनस्तन्मार्गविशेषम्, विप्रतिपत्तेरविशेषादिति।

पुनः शंकाकार कहता है कि तब तो मोक्षमार्गके विशेष अंशके समान मोक्षके विशेष स्वरूपमें भी नाना प्रवादियोंका विवाद हो रहा है। इस कारण उस शिष्यने मोक्षके विशेष स्वरूपको ही सूत्रकारसे क्यों नहीं पूंछा? बताओ। ऐसा कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि वह उमास्वामी महाराजसे प्रश्न करनेवाला शिष्य इस प्रकार मोक्षविशेषके जाननेकी ही इच्छा क्यों करता है? इस प्रकारके कुचोद्य कार्य करना सभी स्थलोंपर सम्भव हैं। देवदत्त मिष्टपदार्थ ही क्यों खाना चाहता है? लवणके व्यञ्जनोंको क्यों नहीं खाता है?। जिनदत्त न्यायसिद्धांतको ही क्यों पढना चाहता है? ज्योतिष, वैद्यक ग्रंथोंको क्यों नहीं पढता है?। पगडीका अभिलाषी टोपी क्यों नहीं लगाता है? आदि अनेक स्थलोंमें अपनी अपनी इच्छाके अनुसार कार्य होते देखे जा रहे हैं। यदि आपके कथनानुसार शिष्य उस मोक्षविशेषका भी प्रश्न कर देता, तब भी आप बलात्कारसे यह कटाक्ष कर सकते थे कि शिष्यने मोक्षविशेषको किस लिये पूंछा, किंतु फिर उस मोक्षके मार्गविशेषको क्यों नहीं पूंछा? क्योंकि मोक्षविशेष और मोक्षके मार्गविशेषमें विवाद होना एकसा है। कोई भी अंतर नहीं है, प्रत्युत मोक्षमार्ग पूर्ववर्ती है। यों अनेक कुत्सित कटाक्ष किये जा सकते हैं जो कि शिष्टोंका मार्ग नहीं है।

ततः कस्यचित्कचित् प्रतिपित्सामिच्छतो मोक्षमार्गविशेषप्रतिपित्सा न प्रतिक्षेप्तव्या।

इस कारण अबतक निर्णीत हुआ कि किसी भी जीवकी किसी भी विषयमें जाननेकी इच्छा हो जाती है। इस सिद्धांतको यदि आप चाहते हैं तो शिष्यकी मोक्षमार्ग विशेषके समझनेकी इच्छाका खण्डन नहीं कर सकते हैं।

ननु च सति धर्मिणि धर्मचिन्ता प्रवर्तते नासति, न च मोक्षः सर्वथास्ति येन तस्य विशिष्टत्वकारणं जिज्ञासत, इति न साधीयः। यस्मात्—

यहां दूसरे प्रकारसे अनुनय पूर्वक आक्षेप उठाया जा रहा है कि धर्मीकी सिद्धि हो जानेपर धर्मोंका विचार करना प्रवर्तित होता है, धर्मीके सिद्ध न होनेपर उसके अंश उपांशरूप धर्मोंका विचार नहीं किया जाता है, जिस कारण कि सर्व प्रकारसे मोक्ष ही सिद्ध नहीं है तो उसके विशेष स्वरूप मोक्षमार्ग नामक कारणकी जिज्ञासा कैसे होवेगी ? अर्थात् मोक्षतत्वकी सिद्धि हो गयी होती तो उसके कारणका विचार करना सुंदर, न्याय्य होता। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है। जिस कारणसे कि—

येऽपि सर्वात्मना मुक्तेरपह्नवकृतो जनाः।
तेषां नात्राधिकारोऽस्ति श्रेयोमार्गावबोधने ॥ २५२ ॥

जो भी चार्वाक, शून्यवादी आदि जन सभी स्वरूपोंसे मोक्षका खण्डन (छिपाना) कर रहे हैं, उन नास्तिकोंका इस मोक्षमार्गको समझानेवाले प्रकरणमें अधिकार नहीं है। वे इस विद्वत्सभाके सभ्य नहीं हो सकते हैं।

को हि सर्वात्मना मुक्तेरपह्नवकारिणो जनान्मुक्तिमार्गं प्रतिपादयेत्तेषां तत्रानधिकारात् को वा प्रमाणसिद्धं निःश्रेयसमपन्हुवीत, अन्यत्रप्रलापमात्राभिधायिनो नास्तिकात्।

ऐसा कौन विचारशील विद्वान् होगा जो कि मोक्षका सभी स्वरूपोंसे निषेध करनेवाले मूर्ख जनसमाजके प्रति मोक्षमार्गका उपदेश देवे। क्योंकि उन जीव, मोक्ष, पुण्य, पाप न माननेवाले दुराग्रहियोंका इस प्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथके सुननेमें अधिकार नहीं है। और ऐसा अज्ञ भी कौन होगा, जो प्रमाणोंसे प्रसिद्ध होरहे मोक्षरूप धर्मीका अपह्नव करे, केवल बकवाद करनेवाले नास्तिकोंके अतिरिक्त। भावार्थ—कोरा मूर्ख नास्तिक ही मोक्षका अस्वीकार भले ही करे, विचारशील पण्डित किसी न किसी स्वरूपसे मोक्षको मानते ही हैं।

कुतस्तर्हि प्रमाणात्तन्निश्चीयत इति चेत्—

क्यों जी! तब तो किस प्रमाणसे उस मोक्षका निश्चय कर लिया जाता है बतादो न ? आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो सुनो!

परोक्षमपि निर्वाणमागमात्संप्रतीयते।
निर्बाधाद्भाविसूर्यादिग्रहणाकारभेदवत् ॥ २५३ ॥

समझिये साधारण जीवोंको मोक्षका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। इस कारण वह मोक्ष परोक्ष है। फिर भी वह मोक्ष बाधारहित आगमप्रमाण द्वारा (हेतु) सम्पूर्ण वादियोंसे अच्छी तरह निर्णीत कर लिया जाता है (प्रतिज्ञा) जैसे कि भविष्य कालमें होनेवाले सूर्य, चंद्रमाके ग्रहण और उनके अनेक भिन्न भिन्न आकारोंका ज्योतिषशास्त्रसे निश्चय कर लिया जाता है (अन्वयदृष्टांत)

परोक्षोऽपि हि मोक्षोऽस्मादृशामागमात्तज्ज्ञैः सम्प्रतीयते यथा सांवत्सरैः सूर्यादिग्रहणाकारविशेषस्तस्य निर्बाधत्वात्, न हि देशकालनरांतरापेक्षयापि बाधातो निर्गतोयमागमो न भवति, प्रत्यक्षादेर्बाधकस्य विचार्यमाणस्यासम्भवात् नापि निर्बाधस्याप्रमाणत्वमास्थातुं युक्तम्, प्रत्यक्षादरप्यप्रमाणत्वानुषक्तेः।

स्थूल बुद्धि हम सरीखे पुरुषोंको मोक्ष यद्यपि परोक्ष है तो भी उस श्रेष्ठ आगमको जाननेवाले विद्वानोंके द्वारा आगमसे अच्छी तरह मोक्ष जान लिया जाता है। जैसे कि अनेक वर्षोंकी आगे पीछेकी बातोंको बतानेवाले ज्योतिषी विद्वानोंसे सूर्य, चंद्रमाके ग्रहणोंका, लम्बाई, चौडाई, अल्पग्रास, खग्रास, पूर्व दिशासे या पश्चिम दिशासे राहू, केतुके विमानका आना आदि विशेष आकार जान लिया जाता है, क्योंकि वह ज्योतिषशास्त्र बाधारहित होनेसे आगम प्रमाण रूप है। अन्य देश या भिन्न काल अथवा दूसरे मनुष्योंकी अपेक्षासे भी यह आगम बाधाओंसे रहित नहीं है, यह बात नहीं कह बैठना। क्योंकि इस आगमके प्रत्यक्ष, अनुमान प्रत्यभिज्ञा आदि प्रमाण बाधक हैं, यह बात विचार किये जानेपर असम्भव हो जाती है। भावार्थ—इस आगमका कोई प्रमाण बाधक नहीं है। और जो बाधाओंसे रहित है, उसको अप्रमाणपनेकी व्यवस्था करना भी युक्त नहीं है। अन्यथा यदि ऐसी पोल चलेगी तब तो निर्बाध प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंको भी अप्रमाण बन जानेका प्रसंग आवेगा और ऐसी उत्क्रांतिके समयमें प्रमाणाभास रूप ज्ञान प्रमाणताको लूटनेके लिये हाथ फैला देवेंगे।

सूर्यादिग्रहणस्यानुमानात्प्रतीयमानत्वाद्विषमोयमुपन्यास इति चेत् न, तदाकारविशेषलिंगाभावादनुमानानवतारात्, न हि प्रतिनियतदिग्देशकालप्रमाणफलतया सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणेन व्याप्तं किंचिदवगन्तुं शक्यम्।

यहां कोई कहते हैं कि मोक्षको आगमसे जाननेमें आप जैनोंने सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहणका दृष्टांत दिया, किंतु यह कथन करनेवाला आपका दृष्टांत तो विषम है। कारण कि सूर्य, चंद्रमाके ग्रहणोंका हम लोग अनुमान प्रमाणसे निश्चय कर लेते हैं और मोक्षका निर्णय आगमके विना अनुमानसे किसी भी प्रकार नहीं होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि सो यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस सूर्य ग्रहणके आकार विशेषोंको जाननेके लिये कोई अविनाभावी हेतु नहीं है। अतः सूर्य ग्रहणके विशेष आकारोंको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण नहीं उतरता है। नियत दिशा या

नियत समय अथवा नियत प्रमाण या फलरूपसे सूर्य, चंद्रमाके ग्रहणके साथ व्याप्ति रखता हुआ कोई पदार्थ जाना नहीं जासकता है। अर्थात् सामान्य रूपसे ग्रहणके साथ व्याप्ति रखनेवाला कोई हेतु भले ही मिल जावे, किंतु अमुक दिशासे, अमुक समयमें, इतने परिमाणमें सूर्यग्रहण या चंद्रग्रहण होगा और अमुक राशिवालेको शुभ अथवा अशुभ फलका सूचक होगा, इन विशेष अंशोंके साथ व्याप्ति रखनेवाला हमारे पास कोई हेतु नहीं है। जिसके साथ साध्यकी व्याप्ति समझी जासके। अतः इन विशेष आकारोंके जाननेमें आगम (ज्योतिष शास्त्र) की ही शरण लेनी पडती है। हमने केवल सूर्यग्रहणका दृष्टांत नहीं दिया है, किंतु उसके विशेष आकारको उदाहरण बनाया है।

विशिष्टाङ्कमाला लिंगमिति चेत्, सा न तावत्तत्स्वभावस्तद्वदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, नापि तत्कार्यं ततः प्राक् पश्चाच्च भावात्।

यदि कोई यों कहे कि ज्योतिषी लोग ग्रहणके समय दिशा आदि निकालनेके लिए गणितसे एक, दो, तीन, चार आदि अङ्कोंके जोड गुणा, भाग करके ठीक प्रमाण निकाल लेते हैं, वह गणितके विशेष अंकोंकी माला ही विशेष आकारोंका ज्ञापक हेतु हो जावेगी। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूछते हैं कि वह अंकमाला स्वभाव हेतु है या कार्यहेतु है? बताओ। उसको स्वभाव हेतु मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि साध्यरूप विशेष आकारोंका स्वभाव वह अंकमाला होगी तो उस आकार विशेषस्वरूप साध्यके समान प्रत्यक्षसे न जानी जा सकेगी। अर्थात् हेतुको भी अनुमेय होनेका प्रसंग आ जावेगा, और जबतक हेतुका ही प्रत्यक्ष न होगा तो वह साध्यका ज्ञापक कैसे हो सकेगा?। शिंशपाको प्रत्यक्षसे जाननेपर ही उस स्वभाव हेतुसे वृक्षपनेका अनुमान हो जाता है अथवा उष्णताके प्रत्यक्ष होनेपर अग्निका अनुमान होता है। दूसरे पक्षके अनुसार यदि अंकमालाको उस ग्रहणके विशेष आकारका कार्य मानोगे सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि पट्टीके ऊपर गणितके अंकोंका लिखना ग्रहणके बहुत काल पहिले और बहुतकाल पीछे भी होता है। अनेक वर्षोंके पूर्वमें हुए सूर्य, चंद्रग्रहण भी गणितसे निकालकर बताये जाते हैं तथा दस बीस महीने पहिले ही पञ्चाङ्ग बनाकर सूर्य चंद्रग्रहण बता दिये जाते हैं। किंतु कार्य हेतु तो कारणके अव्यवहित उत्तर कालमें होना चाहिये। बहुत देर पहिले और बहुत देर पीछे होनेवाले ग्रहणोंके आकारोंका कार्य भला अंकमाला कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं।

सूर्यादिग्रहणाकारभेदो भाविकारणं विशिष्टाङ्कमालाया इति चेन्न, भाविनः कारणत्वायोगात् भावितभवत् कार्यकाले सर्वथाप्यसत्त्वादतीततमवत्।

यदि यहां कोई भविष्य कारणवादी बौद्ध मतके अनुसार यों कहे कि भविष्यमें होनेवाले सूर्य चंद्र ग्रहणके आकारोंका भेद ही विशिष्ट अंकमालाका भावी कारण है, अर्थात् जैसे भविष्यमें होनेवाला राज्य पहिलेसे ही हथीलीमें हाथी मछली आदिके चिन्ह बना देता है, वैसे ही पट्टीपर

लिखी गयी ग्रहणज्ञानके उपयोगी संख्याके अक्षरोंकी विलक्षण पंक्तिको भविष्यका सूर्यग्रहण बना देता है, आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि भविष्यमें होनेवाले पदार्थको वर्तमान कार्यका कारणपना सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि जो कारण अत्यंत दूर भविष्यमें होवेंगे, वे पूर्वकालीन पदार्थोंके जनक नहीं हैं। क्योंकि कार्य करनेके समय वे सर्व प्रकारसे विद्यमान नहीं हैं। जो कार्यकालमें रहकर कार्यकी उत्पत्ति करनेमें व्यापार करता है, उसको कारण कहते हैं किंतु जो कार्य कालमें सर्वथा भी नहीं है, वह कारण नहीं है। जैसे कि अत्यंत दूरवर्ती भूतकालमें हो चुका कारण विद्यमानकार्यका जनक नहीं है। भविष्यका शंख राजा, भूतकालके ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीको उत्पन्न नहीं कर सकता है। पडबाबाको नाती उत्पन्न नहीं कर पाता है। और इसी प्रकार बहुत समय पहिले हो चुके त्रिपृष्ठ पीछे होनेवाले लक्ष्मणके जनक नहीं हो सकते हैं। किंतु कार्यके अव्यवहित पूर्व समयमें रहकर कृति करनेवालेको ही कारण माना गया है, बाप शब्दके प्रयोग करानेमें बेटा कारण भी हो सकता है। किंतु यहां व्यपदेशका कारण तो माना जा रहा है, मुख्य कारणका विचार हो रहा है, जो कि पहिले नहीं किंतु अब हो रहे कार्यका सम्पादक है।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तस्यास्तत्कारणत्वमिति चेन्न, तस्यासिद्धेः। न हि सूर्यादिग्रहणाकारभेदे भाविनि विशिष्टाङ्कमालोत्पद्यते न पुनरभाविनीति नियमोस्ति, तत्काले ततः पश्चाच्च तदुत्पत्तिप्रतीतेः।

उस अङ्कमालाका ग्रहणके आकारविशेषोंके साथ अन्वय और व्यतिरेकका अनुविधान घट जाता है। इस कारण अंकमाला कार्यहेतु हो जावेगी, यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस अन्वयव्यतिरेकका घट जाना सिद्ध नहीं है। सूर्य, चन्द्रमाके ग्रहणका भिन्न भिन्न आकार भविष्यमें होनेवाला है। ऐसा होनेपर ही वह विशिष्ट अंकमाला पट्टीपर लिखी जाकर उत्पन्न होगयी है; किंतु फिर यदि आकारभेद होनेवाला न होता तो ऐसे विशिष्ट अंकोंकी आवली पट्टीपर नहीं उत्पन्न हो सकती थी। इस प्रकारका कोई नियम बनता नहीं है। उस सूर्यग्रहणके कालमें और उससे बहुत पीछे भी लिखने पर पट्टीमें वह अंकमाला उत्पन्न हुयी प्रमाणोंसे देखी गयी है, जो कारण है वह अपने समयमें तो कार्यको पैदा नहीं करता है किंतु उत्तरक्षणमें करता है और बहुत देर पीछे भी कार्यको नहीं करता है। अतः यहां अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार दोष लग जाते हैं।

कस्याश्चिदंकमालायाः स भाविकारणं कस्याश्चिदतीतकारणमपरस्याः स्वसमानकालवर्तिन्याः कारणकार्यमेकसामग्र्यधीनत्वादिति चेत्, किमिन्द्रजालमभ्यस्तमनेन सूर्यादिग्रहणाकारभेदेन, यतोऽयमतीतानागतवर्तमानाखिलांकमालाः स्वयं निर्वर्तयेत्।

वह ग्रहणका आकार भेद किसी किसी अंकमालाका तो भावी कारण है और किसीका भूत कारण है तथा अपने समान कालमें होनेवाली अन्य अंकमालाका वह वर्तमान कारण है। यहां

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तीसरे पक्षमें कारणके द्वारा कृति करते हुए कार्यका होना लक्षण घट जाता है। उक्त तीन कालके विशेषणोंसे घिरा हुआ आकार भेद भी उसी एक सामग्रीमें पडा हुआ है। जिस सामग्रीके अधीन होकर अंकमाला उत्पन्न होती है। ऐसा कहनेपर तो हम कहेंगे कि क्या इस सूर्य आदिकके ग्रहण भेदने इंद्रजालका अभ्यास किया है। जिससे कि यह भूतकाल और वर्तमानकालकी होनेवाली सम्पूर्ण संख्या अक्षरोंकी लिपियोंको अपने आप बना देता है। इंद्रजालिया (बाजीगर) ही हस्त कौशलसे या दृष्टिबंधन करके आगे पीछे होनेवालों अनेक वस्तुओंको वर्तमान बनती हुयी दिखा देता है अथवा कार्यकारण भावका भंगकर गेहूं के बीजसे आम्र और बालसे सर्पकी उत्पत्ति कर दिखा देता है। भविष्य कारणसे वर्तमान कार्य करना सुझा देता है। किंतु यह सब धोका है। अव्यवहित पूर्ववर्ती कारणके विना कभी कार्य नहीं होसकता है। यह कार्यकारण भावका नियम अटल है।

कथं वा क्रमाक्रमभाव्यनन्तकार्याणि नित्यैकस्वभावो भावः स्वयं न कुर्यात्, ततो विशेषाभावात्।

बुद्ध सिद्धांतके अनुसार परमार्थभूत पदार्थको शब्द नहीं छूते हैं। इस कारण बौद्ध लोग आगमको प्रमाण नहीं मानते हैं। इसीलिये वे सूर्य, चंद्र ग्रहणके आकार विशेषोंका निर्णय भी अनुमान प्रमाणसे करते हैं तथा भविष्यमें होनेवाले आकार भेद रूप कारणका पट्टीपर लिखी हुयी अक्षर पंक्तिको कार्य मानते हैं। क्योंजी! चिरकालका भूत पदार्थ और दूर भविष्यका पदार्थ भी वर्तमान कार्यका यदि जनक बन जावे तो नित्य कूटस्थ एक स्वभाववाला पदार्थ भी क्रम और युगपत्से होनेवाले अनंत कार्योंको अपने आप क्यों नहीं कर लेवेगा? इस सिद्धांतसे तो कापिलोंके नित्यपनके मंतव्यमें कोई अंतर नहीं है तथा च आपके क्षणिक बादके स्थानपर नित्यवाद भी प्रतिष्ठित हो जावेगा, तब तो अब आप बौद्ध नित्यवादका उक्त कुयुक्ति देकर खण्डन नहीं कर सकेंगे।

भवन् वा स तस्याः कारणम्, उपादानं सहकारि वा? न तावदुपादानं खटिकादिकृतायास्तदुपादानत्वात्, नापि सहकारिकारणमुपादानसमकालत्वाभावात्।

" अस्तुतोष " न्यायसे वह आकारभेद उस पट्टीकी अंकमालाका कारण भी हो जावे, किंतु हम पूंछते हैं कि उस अंकमालाका वह आकारभेद क्या उपादान कारण है या सहकारी कारण है? बताओ। पहिला उपादान कारण तो आप मान नहीं सकते हैं। क्योंकि खडिया, शीशलेखनी, (पेंसिल) मषी, गेरू, आदिसे बनायी गयी अंकमालाका वे खडिया आदि उपादान कारण हैं। वे ही पट्टीपर संख्या अक्षर रूपसे परिणत होते हैं। ग्रहणका आकार भेद तो उपादान कारण नहीं है, खडिया आदिकी बनाई गई बत्तीसे पट्टीपर गणितके अंक लिखे जाते हैं। और अंकमालाका आकारभेद सहकारी कारण भी नहीं हो सकता है। क्योंकि उपादान कारणके कालमें रहकर कार्य

करनेवालेको सहकारी कहते हैं किंतु यह समान कालमें नहीं रहता है। मृत्तिकाके समान कालमें रहते हुए दण्ड, चक्र, कुलाल आदिक तो घटके सहकारी कारण माने गये हैं। किंतु अंकमाला लिखने या छापनेके बहुत देर पीछे ग्रहणका आकारभेद उत्पन्न होता है।

यथोपादानभिन्नदेशं सहकारिकारणं तथोपादानभिन्नकालमपि दृष्टत्वादिति चेत्। किमेवं कस्य सहकारि न स्यात्। पितामहादेरपि हि जनकत्वमनिवार्यं विरोधाभावात्। ततो नांकमाला सूर्यादिग्रहणाकारभेदे साध्ये लिंगं स्वभावकार्यत्वाभावात्।

सौगत कहते हैं कि उपादान होरही मृत्तिका चाकके ऊपर रहती है। मिट्टीसे दो हाथ दूरपर कुलाल रहता है। केवल हाथके सम्बन्धसे मिट्टी और कुलालका एक एक देश नहीं हो जाता है। दण्ड भी मिट्टीसे कुछ दूरपरसे चाकको घुमाता है। इसी प्रकार कपडेके उपादान कारण तन्तुओंसे कोरिया आदि भी भिन्न देशमें रहते हैं। पुण्यवान् जीव कहीं रहता है और तदनुसार कार्य अनेक भिन्न देशोंमें होते रहते हैं। मालव देशमें भाग्यशाली पुरुष हैं, उनके पुण्य से पंजाब और काबुलमें मेवा पकती है, रक्षित होती है और अनेक निमित्तोंसे खिंचकर मालवामें पहुंच जाती है। अतः जैसे उपादान कारणसे भिन्न देशमें रहनेवाला भी सहकारी कारण हो जाता है, वैसे ही उपादान कारणके भिन्न समयमें रहनेवाला भी सहकारी कारण हो जावेगा। देखा भी जाता है कि पहिले अधिक घाम पडनेसे या लुएं और आंधीके चलनेसे भविष्यमें महिने दो महिने में वृष्टि अच्छी होती है। पहिले तीस वर्षके भोगे हुए न्याय्य भोग परिहारविशुद्धि संयमके सहकारी कारण हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध इस प्रकार कहेंगे, तब तो इस ढंगसे कौन किसका सहकारी कारण न हो सकेगा ? भावार्थ—भिन्न देश और भिन्न कालके सभी पदार्थ चाहे जिस किसीके निमित्त कारण बन बैठेंगे। पितामह, प्रपितामह, (बाबा, पडबाबा, सडबाबा) आदि भी नियमसे पुत्रके जनक बिना रोकटोकके बन जावेंगे। कोई विरोध न होगा। चाहे किसी देश या किसी भी कालके उदासीन पदार्थ प्रकृतकार्यके नियत कारण बन बैठेंगे। इस कारणसे सिद्ध होता है कि सूर्य आदि ग्रहणके आकार भेदको साध्य करनेमें अंकमाला ज्ञापक हेतु नहीं है। क्योंकि साध्यका अंकमाला स्वभाव नहीं है और कार्य भी नहीं है। आप बौद्धोंने भावको सिद्ध करनेके लिये दो ही प्रकारके हेतु मान रखे हैं।

तदस्वभावकार्यत्वेऽपि तदविनाभावात्सा तत्र लिंगमित्यपरे। तेषामपि कुतो व्याप्तेर्ग्रहः? न तावत्प्रत्यक्षतो, भाविनोऽतीतस्य वा सूर्यादिग्रहणाकारभेदस्यासदाद्यप्रत्यक्षत्वात्, नाप्यनुमानादनवस्थानुषङ्गात्। यदि पुनरागमात्तद्व्याप्तिग्रहस्तदा युक्त्यनुगृहीतात्तदननुगृहीताद्वा ? न तावदाद्यः पक्षस्तत्र युक्तेरप्रवृत्तेस्तदसम्भवात्। द्वितीयपक्षे स्वतः सिद्धप्रामाण्यात् परतो वा ? न तावत्स्वतः स्वयमनभ्यस्तविषयेऽत्यंन्तपरोक्षे स्वतःप्रामाण्यासिद्धेरन्यथा तदप्रामाण्यस्यापि स्वतः सिद्धिप्रसंगात्।

बौद्धोंके समान वैशेषिक भी प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। किंतु वे हेतुके कितने ही भेद मान लेते हैं, उन न्यारे वैशेषिकोंका कहना है कि आकारभेदका अंकमाला स्वभाव न सही और कार्य भी भले ही न होवे। फिर भी उसके साथ अविनाभाव संबंध होनेके कारण वह अंकमाला वहां आकार भेदमें ज्ञापक हेतु हो जाती है, उन वैशेषिकोंके भी इस मन्तव्यपर हम पूंछते हैं कि यहां अविनाभावरूप व्याप्तिका ग्रहण किस प्रमाणसे होता है? बतलाइये! प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो व्याप्तिका ग्रहण हो नहीं सकता है। क्योंकि भविष्य और चिर भूतकालमें होनेवाले ग्रहणोंके आकारोंका भेद हम सरीखे चर्मचक्षुवाले पुरुषों आदिके प्रत्यक्षका विषय नहीं है। अतः साध्य और हेतु दोनोंके प्रत्यक्ष किये बिना दोनोंमें रहनेवाले अविनाभाव सम्बन्धको हम जान नहीं सकते हैं। और अनुमानसे भी व्याप्तिका ग्रहण हो नहीं सकता है। क्योंकि अनुमानका उत्थान व्याप्तिग्रहणपूर्वक होगा। उस व्याप्तिको जाननेके लिये भी तीसरे अनुमानकी आवश्यकता पडेगी। अतः वह भी चौथे व्याप्तिग्रहणसे उत्पन्न होगा। इस प्रकार आकांक्षाएं बढते रहनेके कारण अनवस्था दोषका प्रसंग आता है। अब आप काणादोंके पास व्याप्तिग्रहणका और कोई उपाय नहीं है।

नैयायिक, सांख्य और मीमांसकोंके बलपर आगमकी प्रमाणताका अनुसरण कर आगमसे व्याप्तिका ग्रहण करना इष्ट करोगे, तब तो हम पूंछते हैं कि युक्तियोंकी कृपासे युक्त हो रहे आगमसे व्याप्तिको जान लोगे? या युक्तियोंके कृपाभारसे रहित भी आगमसे सम्बन्धका ग्रहण कर लोगे? बताओ। इन दोनोंमेंसे पहिला पक्ष तो अच्छा नहीं है। क्योंकि अत्यंत परोक्ष विषयको प्रतिपादन करनेवाले उस आगममें युक्तियोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है। मंत्र, तंत्र, सामुद्रिक, ज्योतिष विषयके शास्त्रोंमें वे युक्तियां प्रवृत्त नहीं होती हैं। जब कि अग्निकी उष्णता, आत्माकी चेतनताको विषय करनेवाले प्रत्यक्षोंमें ही युक्ति चलाना पहाडसे माथा टकरानेके समान प्रत्यक्षकी अवज्ञाका कारण होकर व्यर्थ है तो भला आगमसे जानने योग्य कर्म, परमाणु, आकाश, सूर्यग्रहण, बीजाक्षरोंकी शक्ति आदि विषयोंमें भी युक्तियोंका प्रवेश कहां? अर्थात् नहीं है।

दूसरा पक्षग्रहण करनेपर हम आपसे पूंछते हैं कि उस आगमका प्रमाणपना स्वतः सिद्ध है? या दूसरे कारणोंसे जाना गया है? बताइये। मीमांसकोंके अनुसार पहिला स्वतः प्रमाणीकपना तो बन नहीं सकता है। क्योंकि जो विषय हमको स्वयं अभ्यास किये हुए नहीं हैं, उन अत्यन्तपरोक्ष माने गये पुण्य, पाप स्वर्ग आदिके प्रतिपादन करनेमें वेद स्मृति, पुराण आदि ग्रंथोंको स्वतः प्रमाणीकपन सिद्ध नहीं है। अन्यथा प्रमाणताके समान अप्रमाणताकी भी स्वतः सिद्धि हो जानेका प्रसंग आवेगा। ज्ञानमें प्रामाण्यको जो स्वतः अपने आप होना मानते हैं उनको ज्ञानमें अप्रामाण्यका उत्पाद भी स्वतः ही मानलेना पडेगा। तथा च वे व्याप्तिग्रहण करानेवाले शास्त्र अप्रमाण हो जावेंगे।

परतः सिद्धप्रामाण्यादागमात्तद्व्याप्तिग्रह इति चेत्, किं तत्परं प्रवृत्तिसामर्थ्यं बाधकाभावो वा? प्रवृत्तिसामर्थ्यं चेत्, फलेनाभिसम्बन्धः सजातीयज्ञानोत्पादो वा? प्रथमकल्पनायां किं तद्व्याप्तिफलम्? सूर्यादिग्रहणानुमानमिति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः। प्रसिद्धे हि आगमस्य प्रामाण्ये ततो व्याप्तिग्रहादनुमाने प्रवृत्तिस्तत्सिद्धौ चानुमानफलेनाभिसम्बन्धादागमस्य प्रामाण्यमिति।

नैयायिकोंके विचारानुसार आगममें दूसरे कारणोंसे प्रामाण्यकी उत्पत्ति मानी जावेगी और उस आगमसे व्याप्तिका ग्रहण करोगे, यों तो हम जैन पूंछते हैं कि आगममें प्रमाणताका उत्पादक वह परपदार्थ क्या है? बताइये। प्रवृत्तिकी सामर्थ्य है? अथवा क्या बाधक कारणोंका उत्पन्न नहीं होना है? कहिये।

यदि यों कहोगे कि जलको जानकर जलमें स्नान, पान, अवगाहनरूप प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे जलज्ञानमें प्रमाणता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रवृत्ति सामर्थ्यमें भी दो विकल्प हैं। पहिला फलके साथ ज्ञाताका चारों ओर सम्बन्ध होजाना और दूसरा उसी ज्ञातामें दूसरे सजातीय ज्ञानका उत्पाद हो जाना है?

पहिली कल्पना माननेपर तो आप बतलाओ कि उस व्याप्तिका फल क्या है? जिसके साथ सम्बन्ध करलिया जावे। यदि सूर्य, चंद्र आदिके ग्रहणका अनुमान करना यदि व्याप्तिका फल है, तब तो यह वही अन्योन्याश्रय दोष है। सो इस प्रकार है। उसे सुनिये। आगमको प्रमाणीकपना अच्छा सिद्ध हो जावे, तब तो उस प्रमाणीक आगमसे व्याप्तिग्रहण करते हुए ग्रहणके अनुमान करनेमें प्रवृत्ति होवे, और जब वह अनुमानमें प्रवृत्ति होना सिद्ध हो जावे, तब व्याप्तिके अनुमानरूप फलके साथ सुंदर सम्बंध हो जानेसे प्रवृत्तिसामर्थ्य द्वारा आगमको प्रमाणता आवे।

सजातीयज्ञानोत्पादः प्रवृत्तिसामर्थ्यमिति चेत्, तत्सजातीयज्ञानं न तावत्प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा, अनवस्थानुषङ्गात्, तदनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वात्, तद्व्याप्तेरपि तदागमादेव ग्रहणसम्भवात्तदागमस्यापि सजातीयज्ञानोत्पादादेव प्रमाणत्वाङ्गीकरणात्।

पहिले ज्ञानके विषयसे समानजातिवाले विषयका दूसरा ज्ञान उत्पन्न हो जाना यदि प्रवृत्तिसामर्थ्य है, ऐसा कहने पर तो पूर्वके समान दो पक्ष फिर उठाये जाते हैं कि प्रत्यक्षसे उस सजातीयका ज्ञान करोगे या अनुमानसे। बताओ, प्रत्यक्षसे ज्ञान होना मानोगे तब तो ग्रहणके आकारभेदके सदृश दूसरा पदार्थ प्रत्यक्षका विषय नहीं है। अतः प्रत्यक्षसे सजातीयको नहीं जान सकते हो। और अनुमानसे सजातीयका ज्ञान होना मानोगे तो अनवस्था दोषका प्रसंग आता है। क्योंकि वह अनुमान भी व्याप्तिग्रहण करनेके पीछे उत्पन्न होगा और उस व्याप्तिका ग्रहण करना भी उस आगमसे ही सम्भवे है और उस आगमको भी प्रमाणता सजातीयज्ञानके उत्पादसे ही

स्वीकार की गयी है। इस प्रकार चक्रकगर्भित अनवस्था दोष है। अतः अनुमानसे भी सजातीयका ज्ञान नहीं हो सकेगा।

बाधकाभावः पर इति चेत्, तर्हि स्वतोभ्याससामर्थ्यसिद्धाद्बाधकाभावात्प्रसिद्धप्रामाण्यादागमादंकमालायाः सूर्यादिग्रहणाकारभेदेन व्याप्तिः परिगृह्यते न पुनः सूर्यादिग्रहणाकारभेद एव, इति मुग्धभाषितम्, ततो न विषमोऽयमुपान्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरागमात्संप्रत्ययप्रसिद्धेः।

आगमको परके द्वारा प्रमाणपना माननेवाले नैयायिक बाधकोंके नहीं उत्पन्न होनेको पर मानेंगे तब तो यह मानना कुछ अच्छा है, किंतु प्रकृतमें ऐसा कहना भोलेपनेकासा भाषण है। अपने बार बार अभ्यासकी सामर्थ्यसे प्रसिद्ध हुए बाधकोंके रहितपनेसे जान लिया है प्रमाणपना जिसका ऐसे आगमसे अंकमालाकी, सूर्य, चंद्र आदि ग्रहणके आकार भेदके सहित व्याप्ति तो ग्रहण करली जाती है, किंतु फिर एकदम सीधे सूर्य, चंद्रग्रहणके आकारोंकाभेद ही नहीं जाना जाता है, ऐसी बातोंको भोली बुद्धिवाला ही कह सकता है; परीक्षक नहीं। भला विचारो तो सही कि जो पुरुष प्रमाणीक आगमके द्वारा पट्टीपर लिखी हुयी अंकमालाकी ग्रहणके आकार भेदोंके साथ व्याप्तिको जान लेवें, किंतु आकारभेदको अन्तरालरहित न जान पावे, यह कहीं हो सकता है ! वह आगमके द्वारा ग्रहणके आकारोंको भी अवश्य जान लेवेगा। इस कारण आगमसे परोक्ष भी मोक्षको निर्णय करनेके लिये दिया गया सूर्य आदिक ग्रहणके आकारभेद रूप यह दृष्टांत विषम कथन नहीं है, क्योंकि दृष्टांत ग्रहणका आकारभेद और दृष्टांतका उपमेय मोक्षरूप दार्ष्टान्तिकका प्रमाणीक आगमसे अच्छी तरह निर्णय करना प्रसिद्ध है।

सामान्यतो दृष्टानुमानाच्च निर्वाणं प्रतीयते तथा हि—

मोक्षको आगमसे सिद्ध कर अब अनुमानसे सिद्ध करते हैं। नैयायिकोंने तीन प्रकारके अनुमान माने हैं। १ पूर्ववत्, २ शेषवत् और ३ सामान्यतो दृष्ट। उनके अनुकूल सामान्यतो दृष्ट अर्थात् अन्वयव्यतिरेकी अनुमानसे भी मोक्षकी प्रतीति हो रही है, इसीको स्पष्ट कर वार्तिक द्वारा दिखलाते हैं—

शारीरमानसासातप्रवृत्तिर्विनिवर्तते।
क्वचित्तत्कारणाभावाद् घटीयन्त्रप्रवृत्तिवत् ॥ २५४ ॥

किसी आत्मामें (पक्ष) शरीर संबंधी क्षुधा, शीत, रोग, भय आदि व्याधि और मनः सम्बन्धी राग, द्वेष, चिंता आदि आधियोंकी असाता आकुलतारूप प्रवृत्ति अतिशयपनेसे निवृत्त हो जाती है (साध्यदल) क्योंकि उस असाताके कारण माने गये ज्ञानावरण, वेदनीय आदि

कर्मोंका अभाव हो गया है (हेतु) जैसे कि कुएंमें लटकी हुयी घडोंकी मालाके बने हुए पानी निकालनेवाले यंत्रकी प्रवृत्ति उसके कारण चक्रभ्रमणसे रुक जानेसे निवृत्त हो जाती है (अन्वयदृष्टांत)

यथा घटीयंत्रस्य प्रवृत्तिर्भ्रमणलक्षणा स्वकारणस्यारगर्तभ्रमणस्य विनिवृत्तेर्निवर्तते तथा क्वचिज्जीवे शारीरमानसासातप्रवृत्तिरपि चतुर्गत्यरगर्तभ्रमणस्य, तत्तत्कारणं कुत इति चेत्, तद्भाव एव भावाच्छारीरमानसासातभ्रमणस्य, न हि तच्चतुर्गत्यरगर्तभ्रमणाभावे सम्भवति, मनुष्यस्य मनुष्यगतिबाल्यादिविवर्तपरावर्तने सत्येव तस्योपलम्भात्, तद्वत्तिर्यक्सुरनारकाणामपि यथा स्वतिर्यग्गत्यादिषु नानापरिणामप्रवर्तने सति तत्तत्सम्वेदनं इति न तस्य तदकारणत्वम् ।

जैसे छोटे छोटे घडों या घलियोंकी बनी हुयी मालाको एक पहिएपर लटकानेवाले और उस पहिएसे भिडी हुयी लाटको इतर दो पहियोंके द्वारा बैलसे घुमाने योग्य तीन चक्रवाले यंत्रपर रस्सीके सहारे कुएंमें लटकती हुयी घटमालाकी भ्रमण करना रूप प्रवृत्ति अपने कारण होरहे लाटसे संयुक्त गड्ढेमें घूमते हुए चकाके घूमनेकी सर्वथा निवृत्ति हो जानेसे निवृत्त हो जाती है, वैसे ही किसी मुक्तजीवमें शरीरसंबंधी और मनःसम्बन्धी असातारूप दुःखोंकी प्रवृत्ति भी चार गति रूप गड्ढेके पहियेके भ्रमणकी निवृत्ति हो जानेसे निवृत्त हो जाती है । जैसे घटीमालाका घुमानेवाला कारण गड्ढेमें घूमनेवाला चार अरोंसे युक्त चका है, वैसे ही संसारके दुःखोंका कारण चारों गतियोंमें भ्रमण करना है । वह उसका कारण है, यह जैनियोंने कैसे जाना ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि यहां अन्वयव्यतिरेक घट जाता है । उस नरक आदि चार गतियोंमें भ्रमण करनेपर ही जीवको शरीर और मनःसंबंधी दुःखोंका परिभ्रमण रूप बार बार आना हो रहा है और उस चतुर्गति रूप अरहट चकाके भ्रमण न होनेपर वे आधियां और व्याधियां भी जीवके नहीं होने पाती हैं । देखो ! मनुष्योंके मनुष्यगतिमें होनेवाले बालक, कुमार, वृद्ध आदि अवस्थाओंके परावर्तन होने पर ही वे गर्भ, भूख, प्यास, रोग, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदिके दुःख बार बार होते हुए देखे जा रहे हैं । उसीके समान तिर्यञ्चगतिमें छेदन, भेदन, भारवहन, इष्टवियोग, खाद्यपान निरोध, शीत, उष्ण, मच्छर, पराधीनता आदि विपत्तियें तिर्यञ्चके भवोंमें परावर्तन करनेपर ही हुयी हैं । एवं देवोंके भी इष्टवियोग, ईर्ष्याभाव, दूसरेकी अधीनता, माला मुरझाना आदि बाधाएं देवगति, देवआयुष्य, कर्मके वश आत्माके देव शरीरमें ठुस जानेके कारण उत्पन्न हुयी हैं । नारकियोंके तो दिन रात दुःखोंका भोगना चालू ही रहता है, उन्हें तो एक क्षणको भी दुःख भोगनेसे अवकाश नहीं है । और जैसे अपने पूर्व जन्मोंमें हो चुकी तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति आदिमें अनेक अवस्थाओंके परिवर्तन होनेपर उन दुःखोंका प्रतिकूल संवेदन होता है वैसा सम्पूर्ण संसारी जीवोंमें वेदन हो रहा है । इस कारण उन शरीर संबंधी आदि दुःखोंका उस चतुर्गतिभ्रमणको अकारणपना नहीं है, अर्थात् चारों गतियोंमें घूमना जीवको अनेक दुःखोंका कारण है ।

तन्निवृत्तिः कुत इति चेत्, स्वकारणस्य कर्मोदयभ्रमणस्य निवृत्तेः, बलीवर्दभ्रमणस्य निवृत्तौ तत्कार्यारगर्तभ्रमणनिवृत्तिवत्, न च चतुर्गत्यरगर्तभ्रमणं कर्मोदयभ्रमणनिमित्तमित्यसिद्धं दृष्टकारणव्यभिचारे सति तस्य कदाचिद्भावात्, तस्याकारणत्वे दृष्टकारणत्वे वा तदयोगात्।

उस चतुर्गतिरूप गर्त चक्रके घूमनेकी निवृत्ति किससे होती है ? बताओ, यदि ऐसा पूछोगे तो उत्तर सुनो। अपने कारण हो रहे कर्मोंके उदयके भ्रमणकी निवृत्ति हो जानेसे चतुर्गतिके भ्रमणकी निवृत्ति हो जाती है, जैसे कि बैलके घूमनेकी निवृत्ति हो जानेपर उसके कार्य माने गये अरहटके भ्रमणकी निवृत्ति हो जाती है। चार गतिरूप चार अरवाले गड्ढेके चक्रभ्रमणका निमित्त कारण कर्मोंके उदयका परिभ्रमण है, यह बात असिद्ध नहीं है। क्योंकि लोकमें देखे गये खाद्य, पेय, पुत्र, धन, स्त्री आदि कारणोंका व्यभिचार हो जानेपर, नहीं देखनेमें आवे ऐसे सूक्ष्म ज्ञानावरण आदि कर्मोंके भ्रमणको ही कारण मानना पडता है। भावार्थ—सांसारिक सुख, दुःखोंका शरीर, पुत्र, धन आदिके साथ अन्वय, व्यतिरेक, नहीं है। अनेक पुरुष दृढशरीर और धनके होते हुए भी दुःखी देखे जाते हैं, और अनेक जीव शरीरसंपत्तिरहित होते हुए भी आनंदमें हैं। दूध यदि सुखका कारण होता तो ज्वरी और श्लेष्म रोगवालेको भी पुष्टिकर होता। विष भी अच्छी तरह प्रयुक्त किये जानेपर असंख्य प्राणियोंको नीरोग कर देता है। तपस्वी साधुओंकी धन, पुत्र आदिमें रुचि नहीं है, वे पत्थरकी शिला, वृक्षोंकी खोहोंमें ही निवास करते हैं। वृद्ध पुरुषको तरुणी विष समान प्रतीत होती है, तरुणको नहीं। शीतकालमें अग्नि अनुकूल हो जाती है। वही ग्रीष्ममें अस्वस्थ पैदा करती है। वैशाख और ज्येष्ठमें गर्दभको हर्ष उत्पन्न होता है। ऊंटको नीमके कडुए पत्ते अच्छे लगते हैं, आम्रके नहीं, इत्यादि दृष्टांतोंसे दृष्ट हो रही सामग्रीका लौकिक सुख, दुःखोंसे व्यभिचार देखा जाता है। अतः चतुर्गतिमें भ्रमणरूप आकुलताका कारण पुण्य, पाप, कर्म ही है। पुण्य भी सोनेकी बेडियोंके समान वास्तवमें आकुलताका ही कारण है। दूसरी बात यह है कि तिर्यंच आदि गतिमें होनेवाले भिन्न भिन्न जातिके अनेक दुःखोंको भोगते हुए वे परिभ्रमण कभी कभी होते हैं। भावार्थ—यह जीव कभी तो तिर्यग्गतिके दुःखोंको भोगता है और कभी नरक, मनुष्य, देवोंकी गतियोंमें परिभ्रमण करता है। इस कारण जो कभी होता है, वह परिभ्रमण कारणसहित अवश्य है। यदि उस सद्रूप भावका कारण न मानोगे तो वह नित्य हो जावेगा, उसका कभी कभी होना नहीं बन सकेगा। संसारमें अनेक दुःख प्रवाहरूपसे सर्वदा होते रहते हैं। किन्तु व्यक्तिरूपसे दुःख सादिसान्त हैं। एक दुःखका नाश होना, दूसरेका उत्पाद रहना यह परिभ्रमण होता है। एक समयमें होनेवाले अनेक दुःखोंके समुदायको भी सुखगुणकी एक सङ्कटरूप विभाव परिणति माना है अथवा जिन कण्टक, विष, दुग्ध आदि देखे हुए कारणोंका व्यभिचार हो रहा है, उन्हींको चतुर्गतिके भ्रमणका कारण मान लोगे तो भी नियमपूर्वक कार्य होनेका वह घटन नहीं हो सकेगा।

तन्निवृत्तिः पुनस्तत्कारणमिथ्यादर्शनादीनां सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभावनासात्मीभावात् कस्यचिदुत्पद्यत इति समर्थयिष्यमाणत्वात् तत्सिद्धिः।

आप फिर पूछेंगे कि उन कर्मोंके कारणरूप भ्रमणकी निवृत्ति भला किससे होगी ? बताओ। इसका उत्तर यह है कि उन कर्मोंके कारण हो रहे मिथ्यादर्शन, कुज्ञान, कषाय और असंयम आदिके विरोधी माने गये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और तपःकी आत्माके साथ तादात्म्यसम्बंधसे समरसरूप होनेवाली भावनाके बलसे किसी आत्माके कर्मोंकी निवृत्ति होना उत्पन्न होजाता है, इस बातको हम भविष्यमें समर्थन कर देवेंगे। यों अबतक घटीयंत्रकी प्रवृत्तिके रोकनेका कारण अरहटके भ्रमणकी निवृत्ति है और अरहटके भ्रमणको रोकनेका कारण बैलके घूमनेकी निवृत्ति होना है। दार्ष्टांतमें इसकी सिद्धि इस प्रकार करलेना कि शरीर और मनःसम्बंधी अनेक दुःखोंकी निवृत्तिका कारण चतुर्गतिमें भ्रमणकी निवृत्ति है और चतुर्गतिके भ्रमणकी निवृत्तिका कारण ज्ञानावरण आदि कर्मोंके उदय परिभ्रमणकी निवृत्ति है और ज्ञानावरण आदि कर्मोंका नाश तो रत्नत्रय या चार आराधनाओंसे होजाता है।

प्रकृतहेतोःकुम्भकारचक्रादिभ्रान्त्यानैकान्तः, स्वकारणस्य कुम्भकारस्य व्यापारस्य निवृत्तावपि तदनिवृत्तिदर्शनात्, इति चेत्—

कोई शंका करता है कि कारणके भ्रमणकी निवृत्ति होजानेसे कार्यके भ्रमणकी निवृत्तिको सिद्ध करनेवाले प्रकरणमें प्राप्त हुये हेतुका कुम्हारके चक्र आदिकी भ्रांतिसे व्यभिचार है। क्योंकि देखा जाता है कि चक्रके अपने घूमनेका कारण माने गये कुलालके हस्तव्यापारकी निवृत्ति होजाने पर भी वह चक्रका घूमना निवृत्त नहीं होता है। भावार्थ—कुम्हारके एक बार घुमानेपर पांच या दश पल पीछेतक भी चाक घूमता रहता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि—

न कुम्भकारचक्रादिभ्रांत्यानैकान्तसम्भवः।
तत्कारणस्य वेगस्य भावे तस्याः समुद्भवात् ॥ २५५ ॥

कुम्हारके चक्र या बच्चोंके खेलनेका भौंरा आदिके भ्रमण द्वारा हमारे कारण निवृत्तिरूप हेतुका व्यभिचार होना सम्भव नहीं है। क्योंकि उस कुम्हारके चाक और बच्चेके भौंरा घूमनेका कारण उनमें भर दिया गया वेग है। कुम्हार और बच्चेका व्यापार साक्षात् कारण नहीं है। जबतक वेग रहेगा तबतक वह चक्र और भौंराका भ्रमण उत्पन्न होता रहेगा।

न हि सर्वाचक्रादिभ्रान्तिः कुंभकारकरव्यापारकारणिका, प्रथमाया एव तस्यास्तथाभावात्, उत्तरोत्तरभ्रांतेः पूर्वपूर्वभ्रांत्याहितवेगकृतत्वावलोकनात्, न चोत्तरा तद्भ्रांतिः स्वकारणस्य वेगस्याभावे समुद्भवति, तद्भाव एव तस्याः समुद्भवदर्शनात् ततो न तया हेतोर्व्यभिचारः।

चक्र, भौंरा, चकई, के आगे, पीछे, बीचमें होनेवाले सब ही भ्रमण कुम्हार या बालकके हाथके व्यापारको कारण लेकर ही उत्पन्न हुए हैं, यह नहीं समझना। किंतु सबसे पहिला ही वह भ्रमण इस प्रकार कुम्हारके हाथके व्यापारसे उत्पन्न हुआ है और चाकके आगे आगे भविष्यमें होनेवाले अनेक भ्रमण तो पहिले पहिले भ्रमणोंके द्वारा संस्कार किये गये वेगसे बने हुए देखे जाते हैं। उत्तरकालमें होनेवाला वह चक्रका भ्रमण अपने कारण वेगके न होनेपर बराबर उत्पन्न होजाता है, यह नहीं समझना। क्योंकि उस वेगके होनेपर ही भविष्यके परिभ्रमणोंकी अच्छी उत्पत्ति देखी जाती है। इसकारण उस चक्र आदिके परिभ्रमणसे हमारे हेतुका व्यभिचार दोष नहीं है। भावार्थ—चक्रके पहिले घूमनेका कारण कुम्भकारका हाथ है और दूसरे, तीसरे आदि घूमोंका कारण परम्परासे कुम्भकार, साक्षात्कारण पूर्व घूमोंसे पैदा किया गया वेग है। प्रत्येक घूमके निकल जानेपर पहिले समयोंका वेग न्यून होता जा रहा है। अन्तिम घूममें वह वेग इतना निर्बल पड जाता है या नष्ट हो जाता है जिससे कि उससे आगे चाक या लट्टूमें भ्रमण पैदा नहीं होपाता है। अतः हमारे कार्यकारण भावकी अक्षुण्ण प्रतिष्ठा बनी रही।

पावकापायेपि धूमेन गोपालघटिकादिषूपलभ्यमानेनानैकान्त इत्यप्यनेनापास्तम्।

इन्द्रजालिया या ग्वालेके घडेमें अथवा रेलगाडीके निकलजानेपर मार्गमें धूम विद्यमान है किन्तु उसका कारण अग्नि नहीं है। इत्यादि स्थलोंमें यों अग्निके नहीं रहनेपर भी धूम पाया गया "साध्याभाववद्वृत्तित्वं" अतः यह फिर भी आपका हेतु व्यभिचारी हुआ। इस प्रकार किसीका कथन भी इसी पूर्वोक्त निर्णय कर देनेसे खण्डित हो जाता है। भावार्थ—सबसे पहिला धूम अग्निसे उत्पन्न हुआ है। उसका अग्निके साथ अन्वयव्यतिरेक है। उस धूमको पृथक् करके कहीं रख देनेपर धूमकी उत्तर पर्याय स्वरूप आगे होनेवाले अनेक अन्य धूम तो उस पहिले धूमकी धारासे ही उत्पन्न हुए हैं। तभी तो धूमसे अग्निकी सिद्धि करनेमें धुआंकी अग्निसे चुपटी हुयी मूलरेखाका न टूटना धूमका विशेषण माना गया है। अन्यथा अग्निके विना भी घडेमें बन्दकर कई दिनतक धुंआ ठहर जाता है। वह धूम भी हेतु बन जाता, जो कि इष्ट नहीं है।

शरीरमानसासातप्रवृत्तेः परापरोत्पत्तेरुपायप्रतिषेध्यत्वात्, संचितायास्तु फलोपभोगतः प्रक्षयात्। न चापूर्वधूमादिप्रवृत्तिः स्वकारणपावकादेरभावेऽपि न निवर्तते यतो व्यभिचारः स्यात्।

शरीर और मनकी असाता दुःखरूप प्रवृत्तियोंका उत्तरोत्तर कालमें धाराप्रवाहकरके उत्पन्न हो जाना भी गुप्ति, समिति, धर्म, आचरण आदि उपायोंसे निवृत्त हो जाने योग्य है। भावार्थ—द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्मकी धाराका भविष्यमें बहना तो गुप्ति तप आदि उपायोंसे रोक दिया जाता है। और पहिले सञ्चित कर्मोंके उदय होनेपर होनेवाली असाता-

रूप बाधाओंका तो कर्मोंका फल भोगनेसे सर्वथा नाश होता है। तथा तपस्याके बलसे बिना फल भोगे भी सञ्चित कर्मोंका नाश हो सकता है, किन्तु जिन कार्योंका असातारूप फल देना अनिवार्य है उनका फल भोगनेसे ही नाश होगा, चाहे वे तीन कल्याणके धारी तीर्थङ्करके हों, बारहवें गुणस्थानतक कोई संसारीजीव पूर्ण सुखी नहीं हो पाता है। धूमके अपने कारण माने गये अग्नि या पूर्व पूर्व धूम आदिके अभाव होजानेपर भी नये नये धूम आदि की प्रवृत्ति होना निवृत्त नहीं होता है, यह नहीं कहना। अथवा चाक घूमनेके कारण कुलाल या वेगके निवृत्त हो जानेपर भी चाक घूमना बन्द न होवे, यह नहीं समझ बैठना जिससे कि हमारे हेतुमें व्यभिचार हो सके। भावार्थ—कारणके अभावसे दुःखोंका निवृत्त होना सिद्ध हो जाता है। इसमें कोई दोष नहीं है।

अतोऽनुमानतोऽप्यस्ति मोक्षसामान्यसाधनम्।
सार्वज्ञादिविशेषस्तु तत्र पूर्वं प्रसाधितः॥ २५६॥

इस कारण अनुमानसे भी मोक्षसामान्यका साधन हो ही रहा है। मुक्तावस्थामें सर्वज्ञता, अनंतसुख, आठ कर्मोंका क्षय, आदि विशेषताओंको तो हम वहां पहिले प्रकरणोंमें सिद्ध करचुके हैं। यहां कहना पुनरुक्त पड़ेगा।

न हि निरवद्यादनुमानात् साध्यसिद्धौ संदेहः सम्भवति, निरवद्यं च मोक्षसामान्येऽनुमानं निरवद्यहेतुसमुत्थत्वादित्यतोनुमानात्तस्य सिद्धिरस्त्येव न केवलमागमात्, सार्वज्ञत्वादिमोक्षविशेषसाधनं तु प्रागेवोक्तमिति नेहोच्यते।

असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचार आदि दोषोंसे रहित होरहे अनुमानसे साध्यकी सिद्धि होजाने पर (पुनः) साध्यमें किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं सम्भवता है। यहां प्रकृतमें मोक्षसामान्यके सिद्ध करनेमें ऊपर दिया गया अनुमान निर्दोष है। क्योंकि वह अनुमान निर्दोष हेतुओंसे अच्छा उत्पन्न हुआ है। इस कारण इस अनुमानसे उस मोक्षकी सिद्धि हो ही जाती है। केवल आगम प्रमाणसे ही मोक्षकी सिद्धि नहीं है, किंतु अनुमानसे भी मोक्ष सिद्ध है। हां! मोक्षमें जीव सर्वज्ञ हो जाता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मोंसे रहित होजाता है इत्यादि मोक्षकी विशेषताओंकी सिद्धिको तो पहिले ही कह चुके हैं। इस कारण यहां नहीं कही जाती है।

तत्सिद्धेः प्रकृतोपयोगित्वमुपदर्शयति;—

इस मोक्षकी अनुमान और आगमसे सिद्धि करनेका इस प्रकरणमें क्या उपयोग हुआ! इस बातको आचार्य स्वयं संगतिपूर्वक दिखलाते हैं—

एवं साधीयसी साधोः प्रागेवासन्ननिवृतेः।
निर्वाणोपायजिज्ञासा तत्सूत्रस्य प्रवर्तिका॥ २५७॥

इस प्रकार सम्पूर्ण वादियोंके यहां मोक्षकी सामान्य प्रसिद्धि होजाने पर किसी निकट भव्य मोक्षगामी सज्जन शिष्यके पहिलेसे ही मोक्षमार्गके जाननेकी अभिलाषा हो जाती है। वह जिज्ञासा ही प्रथमसूत्रका प्रवर्तन करारही है। यों पहिले सूत्रका अवतार होना पुष्ट किया गया है।

सर्वस्याद्वादिनामेव प्रमाणतो मोक्षस्य सिद्धौ तत्राधिकृतस्य साधोरुपयोगस्वभावस्यासन्ननिर्वाणस्य प्रज्ञातिशयवतो हितमुपलिप्सोः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य साक्षादसाक्षाद्वा प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थप्रक्षीणकल्मषपरापरगुरुप्रवाहसभामधितिष्ठतो निर्वाणे विप्रतिपत्त्यभावात्तन्मार्गे विवादात् तत्प्रतिपित्साप्रतिबन्धकविध्वंसात्साधीयसी प्रतिपित्सा, सा च निर्वाणमार्गोपदेशस्य प्रवर्तिका।

सम्पूर्ण स्याद्वादसिद्धांतको माननेवाले या सर्व ही श्रेष्ठ वादियोंके मतमें जब अनुमान और आगम प्रमाणसे मोक्ष तत्त्वकी सिद्धि हो चुकी तो उसमें अधिकारको प्राप्त हो रहे साधु पुरुषके मोक्षमें विवाद न होने और मोक्षमार्गमें विवाद हो जानेसे मार्गकी जिज्ञासाके प्रतिबंधक कर्मोंके नाश हो जानेके कारण मार्गको ही जाननेकी इच्छाका होना बहुत अच्छा है। क्योंकि उसका मोक्षमें विवाद नहीं है। उस मोक्षके मार्गमें विवाद पडा हुआ है। जिस भव्यको जिज्ञासा होनेपर मोक्षमार्गका उपदेश दिया गया है, वह ज्ञानोपयोग स्वभाववाला आत्मा है और उसको निकट भविष्यमें मोक्ष होनेवाली है। वह नवीन श्रेष्ठ तर्कणाओंके चमत्कारोंको धारण करनेवाली बुद्धिसे युक्त है, और आत्महितको प्राप्त करना चाहता है। कल्याणमार्गसे युक्त होनेवाला है तथा केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंको जाननेवाले तथा नष्ट हो गये हैं घातिया कर्म जिनके ऐसे उत्कृष्ट गुरु अर्हन्तोंकी सभामें अथवा परोक्ष श्रुतज्ञानसे सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंको जानकर अनेक पापोंका क्षय करनेवाले गणधर आदिक अपर गुरुओंकी प्रवाहित सभामें बैठा हुआ है, और ऐसे शिष्यकी वह प्रबल जिज्ञासा मोक्षमार्गके उपदेशका भले प्रकार प्रवर्तन करानेवाली है।

सत्यामेव तस्यां प्रतिपाद्यस्य तत्प्रतिपादकस्य यथोक्तस्यादिसूत्रप्रवर्तकत्वोपपत्तेरन्यथा तदप्रवर्तनादिति प्रतिपत्तव्यं प्रमाणबलायत्तत्वात्।

ऐसे पूर्वमें कहे विशेषणोंसे युक्त हो रहे शिष्यकी उस प्रसिद्ध जिज्ञासाके होनेपर पहिले कहे गये आप्तके यथा उचित अनेक गुणोंसे युक्त, कर्मरहित, और ज्ञानवान् उसके प्रतिपादक आचार्य महाराजको आदिके सूत्रका प्रवर्तकपना ठीक सिद्ध हो जाता है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे मोक्षमार्गके प्रतिपादक उस सूत्रका अर्थरूपसे या ग्रंथरूपसे आज तक प्रवर्तन होना घटित नहीं होता है। यह बात विश्वास पूर्वक समझ लेना चाहिये। इस प्रकार प्रमाणोंकी सामर्थ्यके अधीन पूर्ण विचार हो जानेसे पूर्वमें कही हुयी योग्यताके मिल जानेपर अब आदिके सूत्रका अवतार करना न्याय प्राप्त हो जाता है। एक बार हृदय खोलकर कहिए "जैन धर्मकी जय"।

यहां तककी रचनाका अनुक्रम संक्षेपसे इस प्रकारसे है कि सूत्र अवतारकी आदिमें श्री विद्यानंद स्वामीने श्री श्लोकवार्तिक ग्रंथका प्रारम्भ कर मंगलाचरण पूर्वक परअपर गुरुओंका ध्यान करना आवश्यक बतलाया है। इस पर अच्छा खण्डन, मण्डन, करके ग्रंथकी सिद्धिके कारण गुरुओंका ध्यान करते हुए सूत्र, अध्याय आदिका लक्षण किया है। तथा श्लोकवार्तिक ग्रंथको आम्नायके अनुसार आया हुआ बतलाकर साक्षात्फल ज्ञानकी प्राप्ति और परम्परा फल कर्मोंके नाश करनेमें उपयोगी कहा है। अच्छे शास्त्र तो हेतुवाद और आगमवादसे संयुक्त होते हैं।

यह श्लोकवार्तिक ग्रंथ हेतुवादसे पूर्ण है। तर्क वितर्क करनेवाली बुद्धिको धारण करनेवाले विद्वान् इस ग्रंथसे तत्त्वोंको प्राप्त कर लेते हैं। आज्ञाप्रधानी, प्रतिभाशाली, श्रद्धालुओंको जानने योग्य विषय भी इस ग्रंथमें अधिक मिलेंगे। किंतु भोली बुद्धिवाले शिष्योंका इस इस ग्रंथमें प्रवेश होना दुस्साध्य है। वे अन्य उपयोगी ग्रंथोंको पढकर इस ग्रंथके अध्ययन करनेकी योग्यताको पहिले प्राप्त करलें। पीछे तर्कशालिनी बुद्धिके हो जानेपर हेतुवाद और आगमवाद रूप इस ग्रंथका अभ्यास करें। अपनी योग्यताका अतिक्रमण कर कार्य करनेमें सफलता प्राप्त नहीं होती है। श्री विद्यानंद स्वामीने इस ग्रंथकी रचना अतीव प्रकाण्ड विद्वत्ताके साथ की है। अतः बुद्धिशाली शिष्य इस ग्रंथका बहुत विचारके साथ स्वाध्याय करें वे जितना गहरा घुसेंगे उतना गम्भीर प्रमेय पावेंगे।

ग्रंथके आदिमें प्रयोजनको कहनेवाला आगम और परार्थानुमान रूप वाक्य कहना आवश्यक है। मोक्षमार्गके नेता और कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता तथा विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता ऐसे जिनेंद्र भगवान्के उपदेशक होनेपर मुमुक्षु भव्योंके प्रति यह सूत्र अर्थ रूपसे कहा गया है। उसी आम्नायसे आये हुए सूत्रका श्री उमास्वामी महाराजने प्रतिपादन किया है। यह सूत्ररूपी शब्द तो धारापवाहसे प्रमेयकी अपेक्षा अनादि है, किंतु पर्यायदृष्टिसे सादि है। शब्द पुद्गलकी पर्याय है, अव्यापक है, मूर्त है ऐसे पौद्गलिक सूत्रोंका गूंथना गणधर देवने द्वादशाङ्गमें किया है। विनीत शिष्योंके विना भगवान्की दिव्यध्वनि भी नहीं खिरती है। अत्युपयोगी वस्तु व्यर्थ नहीं जाती, तैसे ही प्रतिपादकोंकी इच्छा होनेपर सूत्र या अन्य आर्ष ग्रंथ प्रवर्तित होते हैं। हिंसा आदि पापोंका निरूपण करनेवाले ग्रंथ प्रामाणिक भी नहीं है। अतः ज्ञानी वक्ता और श्रोताओंके होनेपर समीचीन शास्त्रोंका निर्माण होता है। पहिले सूत्रको आगम और अनुमानरूप सिद्ध करते हुए अपौरुषेय वेदका खण्डन किया है। वीतराग, सर्वज्ञ, आदि हितोपदेशकका निर्णय कर लेनेपर उसके वाक्योंकी अक्षुण्णरूपसे प्रमाणता आजाती है।

मीमांसकोंने सर्वज्ञको नहीं माना है, उनके लिये सर्वज्ञ-सिद्धि सूक्ष्म आदिक अर्थोंके उपदेश करनेकी अपेक्षासे की गई है, जिनको हम श्रुतज्ञानसे जानते हैं, उन पदार्थोंका प्रत्यक्षकर्त्ता कोई आत्मा अवश्य है। प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोंसे सर्व पदार्थोंके जाननेवालेको सर्वज्ञ नहीं कहते हैं।

किंतु केवलज्ञानसे एक क्षणमें ही त्रिकाल त्रिलोकके पदार्थोंको जाननेवाला सर्वज्ञ है। सर्वज्ञताका कारण घातिया कर्मोंका क्षय हो जाना है, मूलसहित कर्मोंका क्षय हो जानेपर अर्हन्त देव स्वभावसे ही यावत् पदार्थोंको जान लेते हैं, प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। अल्प कार्योंमें प्रयत्न उपयोगी होता है। किंतु अनंतानंत कार्य प्रयत्नके विना स्वभावोंसे ही हो जाते हैं। विना इच्छा और प्रयत्नके दर्पण प्रतिबिम्ब ले लेता है।

संवर और निर्जरासे घातिया कर्मोंका किसी साधुके क्षय हो जाता है। इस कारण मोक्षमार्गका नेता विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता और कर्मोंका क्षय करनेवाला आत्मा ही उन गुणोंकी प्राप्तिके अभिलाषुक जीवोंके द्वारा स्तुत्य है। वे जिनेंद्रदेव तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदय हो जानेपर मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं, उपदेशकी धारा अनादि कालसे चली आ रही है। इस प्रकरणपर अकेले ज्ञानसे ही मोक्षको माननेवाले नैयायिक, सांख्य आदिका खण्डन कर रत्नत्रयसे ही मुक्तिकी व्यवस्था मानी है। ज्ञानके समवायसंबंधसे आत्मा ज्ञ नहीं हो सकता है। भिन्न पडा हुआ समवायसंबंध भी किसी गुणीमें किसी विशेष गुणको संबंधित करानेका नियामक नहीं हो सकता है। समवाय संबंध तादात्म्य संबंधसे भिन्न होकर सिद्ध नहीं होने पाता है। नैयायिकोंके ईश्वरके समान बौद्धोंसे माना गया बुद्धदेव भी मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है और न मोक्षमार्गका उपदेश देसकता है। निरन्वय क्षणिक अवस्थामें संतान भी नहीं बन पाती है। अन्वय सहित परिणाम माननेपर ही पदार्थोंमें अर्थक्रिया बन सकती है। वचन बोलनेमें विवक्षा कारण नहीं है। तीर्थंकर देव विवक्षाके विना दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं। चित्राद्वैत मतमें भी मोक्ष और मोक्षका उपदेश नहीं बनता है। विज्ञानाद्वैत और ब्रह्माद्वैतकी भी सिद्धि नहीं होसकती है। इस कारण घातिया कर्मोंसे रहित हुआ आत्मा ही उपदेशक है और ज्ञानसे तादात्म्य रखनेवाला विनीत आत्मा उपदेश सुननेका पात्र है। चार्वाकोंके द्वारा मानागया पृथ्वी, अप्, तेज, वायुसे उत्पन्न हुआ आत्मा द्रव्य नहीं है। आत्मा पुद्गलका बना हुआ होता तो बहिरंग इंद्रियोंसे जाना जाता, किंतु आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होरहा है। तथा आत्माका लक्षण न्यारा है और पृथ्वी आदिका लक्षण भिन्न है; पृथ्वी आदिक तत्त्व आत्माको प्रगट करनेवाले भी सिद्ध नहीं हैं। विना उपादान कारणके माने कारकपक्ष और ज्ञापक पक्ष नहीं चलते हैं। शब्द बिजली आदिके भी उपादान कारण हैं, जो कि स्थूल इंद्रियोंसे नहीं दीखते हैं। पिठी, महुआ आदिकसे मद शक्तिके समान शरीर, इंद्रिय आदिकसे चैतन्य शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है। शरीरका गुण बुद्धि नहीं है। अन्यथा मृत देहमें भी बुद्धि, सुख, दुःख आदिकका प्रसंग होगा। मैं सुखी हूं, मैं गुणी हूं, मैं कर्त्ता हूं इत्यादिक प्रतीतियोंसे आत्मा स्वतंत्र तत्त्व सिद्ध होरहा है। जो कि अनादि कालसे अनंत कालतक स्थिर रहनेवाला है। द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा नित्य है और पर्यायार्थिक नयसे अनित्य है। इस कारण आत्मा नित्यानित्यात्मक है। चार्वाकका माना गया पक्ष अच्छा नहीं है। बौद्धोंका आत्माको क्षणिक विज्ञानरूप मानना भी ठीक नहीं है। विशेषके

समान सामान्य पदार्थ भी वस्तुमें दीखता है अर्थात् वस्तु भेदाभेदात्मक है। एक आत्मद्रव्य क्रम-भावी और सहभावी पर्यायोंमें व्याप्त होकर रहता है। आत्मा अपने गुण और पर्यायोंको छोडता नहीं है तथा अन्य द्रव्योंके गुण पर्यायोंको लेशमात्र भी छूता नहीं है। बौद्धोंके पास इसका व्यवस्थापक कोई उपाय नहीं है। अवस्तुभूत वासनाओंसे कोई कार्य नहीं होसकता है। एकसंतानपनेको बौद्ध सिद्ध नहीं कर सकते हैं। इस कारण उपयोग स्वरूप आत्मद्रव्यके ही मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा होना सम्भव है। चेतनाके समवाय और ज्ञानयोगसे ज्ञानवान्पनेकी व्यवस्था होने लगे तो आकाश, घट आदि पदार्थ भी ज्ञानवान् हो जावेंगे, कोई रोकनेवाला नहीं है। प्रामाणिक प्रतीतियोंसे आत्माको ही चेतनपना सिद्ध है। आत्मामें रहनेवाला ज्ञान अपनेको स्वयं जानलेता है। उसको जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। इस बातको बहुत युक्तियोंसे आचार्य महाराजने पुष्ट किया है।

प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति ये चार स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं। प्रमाता भी प्रमेय होजाता है और प्रमाण भी प्रमेय तथा प्रमितिरूप है। अपनी आत्माका स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ज्ञान होजाता है।

ज्ञान और आत्मा सभी प्रकारोंसे परोक्ष नहीं हैं। मीमांसकोंको धर्मके प्रत्यक्ष होजाने पर उससे अभिन्न धर्मीका भी प्रत्यक्ष होना अवश्य स्वीकार करना पडेगा।

प्रमाण ज्ञान और अज्ञाननिवृत्तिरूप फलज्ञान ये दोनों अभिन्न हैं। हां! प्रमाणज्ञानसे हान, उपादान, बुद्धिरूप फलज्ञान भिन्न है। द्रव्यदृष्टिसे यहां भी अभेद माना जाता है। अतः मीमांसकोंका परोक्षरूपसे माना गया करणज्ञान व्यर्थ पडता है। ज्ञानके परोक्ष होनेपर अर्थका प्रत्यक्ष होना नहीं बन सकेगा, सर्व ही मिथ्या या समीचीन ज्ञान अपने स्वरूपकी प्रमिति करनेमें प्रत्यक्ष प्रमाणरूप हैं। आत्मा उपयोगवान् नहीं, किंतु उपयोगस्वरूप ही है। इस अपेक्षासे प्रत्यक्ष है तथा प्रतिक्षण नवीन नवीन परिणाम, असंख्यातप्रदेशीपना, आदि धर्मोंकरके छद्मस्थोंके ज्ञेय नहीं हैं। अतः परोक्ष भी है।

आत्मा सांख्योंके मतानुसार, अकर्ता, अज्ञानी, सुखरहित नहीं है। गाढनिद्रामें सोती हुयी अत्माके भी ज्ञान विद्यमान है। मत्त, मूर्छित अवस्थाओंमें भी आत्माके ज्ञान है। ज्ञानके अनित्य होनेसे उससे अभिन्न आत्मद्रव्य भी अनित्य हो जावेगा। इस प्रकारका भय सांख्योंको नहीं करना चाहिए। क्योंकि अनित्य भोग, उपभोगोंके समान ज्ञानसे अभिन्न होता हुआ आत्मा भी नित्यानित्यात्मक है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप परिणाम हुए विना पदार्थोंका सत्त्व ही नहीं रह पाता है। यदि अन्वय बना रहे तो नाश होना बहुत अच्छा गुण (स्वभाव) है। इस प्रकार ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप परिणामोंको धारण करनेवाले किसी जीवमें संसारके कारण मोह आदि कर्मोंके नाश हो जानेपर संसारका ध्वंस हो जाता है। जिसका संसार नष्ट हुआ है, उसने पूर्व समयमें

मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा की थी और वह जीव सिद्ध अवस्थामें अनंत काल तक रहेगा। यह व्यवस्था स्याद्वादसिद्धांतमें ही बनती है। अनेक अतिशयोंको छोडना और अनेक चमत्कारोंका धारण करना यह परिवर्तन आत्माको अनेकांत स्वरूप माननेपर सिद्ध हो जाता है, जिस जीवके काल-लब्धि प्राप्त हो गयी है, कर्मोंका भार लघु हो गया है, उसके मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा हो जाती है। वह विनीत भव्य जीव, महात्मा मुनींद्रपुरुषोंसे उपदेशको प्राप्त कर उसकी साधना करता हुआ इष्ट पदको प्राप्त कर लेता है। जिज्ञासा, संशय प्रयोजन आदिसे विशिष्ट शिष्यको उपदेश दिया जाता है। किंतु उपदेश सुननेवालेके जिज्ञासाका होना अत्यावश्यक कारण है।

आचार्यने मोक्षका कथन न करके मोक्षमार्गका कथन प्रथम क्यों किया? इसपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि प्रायः सम्पूर्ण वादियोंके यहां आत्माकी शुद्ध अवस्थाका हो जाना मोक्ष इष्ट किया है। मोक्षको सबने मान्य किया है।

मोक्ष सामान्यके विषयमें विशेष विवाद नहीं है। अर्थात् मोक्षको प्रायः सर्व संप्रदायवाले इष्ट करते हैं। परंतु मोक्षके मार्गके संबंधमें विवाद है। कोई भक्तिसे मुक्ति, और कोई ज्ञानसे मुक्ति और कोई कर्मसे मुक्ति, इस प्रकार एकांतसे मानते हैं। अतः शिष्यको मोक्षमार्गके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हुयी है। जो शून्यवादी या उपप्लववादी मोक्षको सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं, उनको इस ग्रंथके अध्ययन अध्यापन करनेमें अधिकार नहींहै। मोक्षको हम आगमसे भी जान लेते हैं। जैसे कि पञ्चाङ्ग द्वारा या गणितके नियमोंसे सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, संक्राति आदिको जान लेते हैं। आगमको प्रमाण माने विना गूंगे और बोलनेवालेमें कोई अन्तर नहीं है। आगमको प्रमाण माने विना कोई भी प्रकृष्ट विद्वान् नहीं बन सकता है। पेटमेंसे निकलते ही कोई पण्डित नहीं हो जाते हैं। जिन्होंने जन्म लेते ही श्रुतज्ञानप्राप्त कर लिया है, उन्होंने भी पूर्वजन्ममें आगमका बहुत अभ्यास किया था। "यही मेरे पिता हैं" इस ज्ञानको करनेके लिये आधुनिक युगमें मातृवाक्यके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। नास्तिकोंको भी आगमकी शरण लेनी पडती है। निर्दोष वक्तासे कहा गया आगम प्रमाण है। अनुमान प्रमाणसे भी मोक्ष जाना जा सकता है। अतः निकटभव्य जीवके मोक्षमार्गको जाननेकी उत्कट अभिलाषा होनेपर सूत्रका अवतार करना अत्यावश्यक है। परोपकार करनेवाले आचार्य महाराज अनेक विवादोंका निराकरण करते हुए शिष्यकी अभिलाषाको पूर्ण करनेकेलिये "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस चिन्तामणि-रत्नस्वरूप सूत्रका प्रकाश करते हैं—

सिद्धान्तशास्त्रोदधिसाररत्ना-। तत्त्वार्थसूत्रात्स्वपरात्मनीनाद् ॥
दृग्ज्ञप्तिवृत्तानि बुधाः प्रपद्य। युञ्जन्तु निर्वाणपथप्रवेके ॥ १ ॥

सूत्र

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

जीव आदिक तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और तत्त्वोंको कमती, बढती नहीं, किन्तु यथार्थरूपसे जानना सम्यग्ज्ञान है तथा आत्माका अपने स्वभावमें आचरण करना सम्यक्-चारित्र है। प्रतिपक्षी कर्मोंके आघातरहित इन तीनों गुणोंकी तादात्म्य सम्बन्धसे आत्माके साथ एकता हो जाना ही मोक्षका मार्ग है अर्थात् ये तीनों मिलकर मोक्षका एक मार्ग है।

तत्र सम्यग्दर्शनस्य कारणभेदलक्षणानां वक्ष्यमाणत्वादिहोद्देशमात्रमाहः—

उन तीन गुणोंमेंसे पहिले सम्यग्दर्शनके कारण, भेद और लक्षणोंको अग्रिम ग्रन्थमें कहेंगे। यहां केवल नाम कहनेकी परिभाषाको कहते हैं। सुनिये।

प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्यं रूपमात्मनः।
यथास्थितार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमुद्दिशेत् ॥ १ ॥

स्वच्छ चित्तकी एकाग्रताके विशेषसे उत्पन्न हुआ है दो प्रकारपना जिसमें ऐसा जैसेके तैसे विद्यमान होरहे अर्थोंका श्रद्धान करनारूप आत्माके स्वभावको सम्यग्दर्शन कहना चाहिये।

प्रणिधानं विशुद्धमध्यवसानं, तस्य विशेषः परोपदेशानपेक्षत्वं तदपेक्षत्वं च तस्मादुत्था यस्य तत्प्रणिधानविशेषोत्थम्। द्वे विधे प्रकारौ निसर्गाधिगमजविकल्पाद्यस्य तद्द्विविधम्, तस्य भावो द्वैविध्यम्, प्रणिधानविशेषोत्थं द्वैविध्यमस्येति प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्यम्, तच्चात्मनो रूपम्।

इस कारिकाका समास, तद्धित, वृत्तियोंसे स्पष्ट अर्थ करते हैं—प्रणिधानका अर्थ शुद्ध निर्दोष रूपसे अध्यवसाय करना है। उसकी विशेषता दूसरोंके उपदेशकी अपेक्षा नहीं होनेसे और उन सच्चे गुरुओंके उपदेशकी अपेक्षा करनेसे दो प्रकार हो जाती है। उस विशेषतासे है उत्पत्ति जिसकी वह "प्राणिधानविशेषोत्थ" हुआ। स्वभावसे उत्पन्न हुए और परोपदेशसे उत्पन्न हुए भेदसे, दो हैं। विध अर्थात् प्रकार जिसके उसको द्विविध कहते हैं। उस द्विविधका जो भाव अर्थात् परिणमन है, वह द्वैविध्य है। प्रणिधान विशेषसे उत्पन्न हुआ है द्वैविध्य इस श्रद्धानका इस कारण यह श्रद्धान प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्य है ऐसा जो आत्माका स्वरूप है, वह सम्यग्दर्शन है। परोपदेशके अतिरिक्त जिनमहिमदर्शन, देवऋद्धि दर्शन, वेदना, जातिस्मरण, आदि कारणोंको यहां निसर्ग शब्दसे लिया गया है। यदि निसर्गका मूल अर्थ स्वभाव पकडा जाय तो विना कारण सभी जीवोंके सम्यग् दर्शन उपज जानेका प्रसङ्ग आजावेगा।

यथास्थितार्थास्तत्त्वार्थास्तेषां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिहोद्देष्टव्यं तथैव निर्दोषवक्ष्यमाणत्वात्।

जिस प्रकार अपने अपने गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, अर्थक्रिया आदि धर्मोंसे पदार्थ ठीक स्थित हो रहे हैं, उसी प्रकार वर्तते हुए वे पदार्थ तत्त्वार्थ हैं। इन तत्त्वार्थोंका जो श्रद्धान करना है, इस प्रकरणमें जैन दर्शनकी संकेतप्रणाली (परिभाषा) के अनुसार उसे सम्यग्दर्शनके नामसे कहना चाहिये। क्योंकि उस ही प्रकारसे सम्यग्दर्शनका दोषरहित निरूपण आगे करनेवाले हैं। यहां कर्मधारय, बहुव्रीहि समास और ण्य प्रत्ययके द्वारा सम्यग्दर्शनके नाममात्रकी प्रतिपादक कारिकाका स्पष्टीकरण कर दिया है। जो कि सम्यग्दर्शन शब्दकी निरुक्तिसे ही अर्थ निकला है।

सम्यग्ज्ञानलक्षणमिह निरुक्तिलभ्यं व्याचष्टे;—

इस प्रकरणमें प्रकृति, धातु, और प्रत्ययसे बने हुए शब्दकी निरुक्तिसे प्राप्त होरहे सम्यग्ज्ञानके लक्षणका व्याख्यान करते हैं—

स्वार्थाकारपरिच्छेदो निश्चितो बाधवर्जितः।
सदा सर्वत्र सर्वस्य सम्यग्ज्ञानमनेकधा ॥ २ ॥

सब काल, सब देश और सम्पूर्ण व्यक्तियोंको बाधासे रहित होते हुए स्वयं ज्ञानको और अर्थको आकार सहित निश्चित रूपसे जानना सम्यग्ज्ञान है और वह अनेक प्रकारका है। यहां आकारका अर्थ विकल्प करना या स्वपरपरिच्छेद करना है जो कि अन्य गुणोंमें नहीं पाया जाकर ज्ञानगुणमें ही पाया जाता है।

परिच्छेदः सम्यग्ज्ञानं न पुनः फलमेव ततोऽनुमीयमानं परोक्षं सम्यग्ज्ञानमिति तस्य निराकरणात्।

अपनी प्रत्यक्षरूप ज्ञप्ति करानेवाले करणरूप ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं किंतु फिर फलरूप ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान नहीं कहते हैं। मीमांसकोंने ज्ञानजन्य ज्ञाततारूप फलसे परोक्ष ज्ञानका अनुमान होजाना माना है। ऐसे उस सर्वथा परोक्ष ज्ञानका जैनियोंने निराकरण कर दिया है। जैनोंने स्वांशमें सम्पूर्ण ज्ञानोंका प्रत्यक्ष होना इष्ट किया है। भावार्थ—स्वग्रहणकी अपेक्षा सर्व ही ज्ञान प्रत्यक्ष हैं कोई ज्ञान परोक्ष नहीं है। " भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः " ऐसा श्री समंतभद्राचार्यका प्रमाण वाक्य है।

स चाकारस्य भेदस्य न पुनरनाकारस्य किञ्चिदिति प्रतिभासमानस्य परिच्छेदः तस्य दर्शनत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

और वह घट, पट आदि विशेषरूप आकारका विकल्प करते हुये परिच्छेद करना, सम्यग्ज्ञान है, किंतु फिर बालक या गूंगेके मन्दज्ञानके समान पदार्थोंका कुछ कुछ सामान्य आलोचन

करनेवाले आकाररहित चेतना करनेको सम्यग्ज्ञान नहीं कहते हैं। क्योंकि उस सामान्य आलोचनको आगे ग्रंथमें दर्शनोपयोग रूपसे स्पष्ट कहनेवाले हैं। बालक या गूंगेका देखना, चाखना, भी ज्ञान है। केवल दृष्टांत देदिया है। कुछ है, वह भी अनध्यवसाय ज्ञान है। जो कुछ विकल्प किया जायगा ज्ञान ही पड जायगा। निर्विकल्पक सामान्य आलोचनको दर्शन कहते हैं। वह अवाच्य है।

स्वाकारस्यैव परिच्छेदः सोऽर्थाकारस्यैव वेति च नावधारणीयं तस्य तत्त्वप्रतिक्षेपात्।

कोई बौद्ध मतानुयायी योगाचार कहते हैं कि ज्ञान अपने ही आकारका परिच्छेद करता है, बहिरंग विषयोंको नहीं जानता है, तथा किन्ही अन्य वादियोंका यह सिद्धांत है कि वह परिच्छेद अर्थोंके आकारका ही है। स्वयं ज्ञानको ज्ञान नहीं जान सकता है। क्योंकि अपनेमें अपने आप क्रिया करनेका विरोध है। बलवान् पुरुष भी ठेलेपर बैठकर स्वयं ठेलेको नहीं ठेल सकता है, चक्षु स्वयं अपनेको नहीं देख सकती है, रसना इंद्रिय स्वयं अपना रस नहीं चखती है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार इन दोनों एकांतोंका निश्चय नहीं कर लेना चाहिये। क्योंकि उस अकेले ज्ञान या ज्ञेयको ज्ञानका वह विषयपना दूर हटा दिया गया है। इस जगत्में अकेला ज्ञान ही तत्त्व है या ज्ञेय ही तत्त्व है, सो नहीं है। क्योंकि दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। इनका अविनाभाव संबंध है, एकका निषेध होनेपर दूसरेका भी निषेध हो जावेगा। तथा च शून्यवाद छाजावेगा। दीपक या सूर्य जैसे अपना और परका प्रकाश करते हैं, वैसे ही ज्ञान भी अपना और परका प्रतिभास करता है, तभी तो कारिकामें अपनेको और अर्थको उल्लेख कर जाननेवाला ज्ञान कहा है। ज्ञानमें अपना और अर्थका विकल्प होता है।

संशयितोऽकिञ्चित्करो वा स्वार्थाकारपरिच्छेदस्तदिति च न प्रसज्यते, निश्चित इति विशेषणात्।

संशयरूपको प्राप्त हुआ अथवा कुछ भी प्रमितिको नहीं करनेवाला ऐसा अनध्यवसाय रूप ज्ञान भी अपने और अर्थके कुछ सच्चे, झूठे, आकारोंको जान रहा है, इसको उस सम्यग्ज्ञानपनेका प्रसंग न हो जावे, इस निमित्तसे सम्यग्ज्ञानके लक्षणमें निश्चय किया गया ऐसा विशेषण दिया है। ऊपर कहे गये संशय और अनध्यवसाय ज्ञान निश्चयरूप नहीं हैं। यों मिथ्याज्ञानोंसे भी स्वपर परिच्छित्ति हो रही मानी गयी है।

विपर्ययात्मा स तथा स्यादिति चेन्न, बाधवर्जित इति वचनात्, बाधकोत्पत्तेः पूर्वं स एव तथा प्रसक्त इति चेन्न, सदेति विशेषणात्।

दो मिथ्याज्ञानोंका तो निश्चित रीतिसे वारण कर दिया। किंतु सीपमें चांदीको जानना यह विपर्ययस्वरूप ज्ञान भी अपनेको और अर्थको जानता है, इस कारण वह भी इस प्रकार सम्यग्ज्ञान हो जावेगा, ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि हमने सम्यग्ज्ञानके लक्षणमें "बाधाओंसे रहित"

ऐसा विशेषण कहा है। सीपमें चांदीको जाननेवाले ज्ञानमें उत्तर कालमें बाधा उत्पन्न हो जाती है कि यह चांदी नहीं है किंतु सीप है।

यदि यहां कोई इस प्रकार कहे कि सीपमें चांदीका ज्ञान या लेजमें सर्पका ज्ञान भी बाधक प्रमाणोंकी उत्पत्तिके पहिले तो बाधकरहित होकर स्वार्थोंको जानते ही हैं। अतः उन विपर्यय ज्ञानोंको भी उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान बननेका प्रसंग आवेगा, सो यह कटाक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि हमने सम्यग्ज्ञानके लक्षणमें सदा ऐसा पद दे रखा है। इस कारण दोषका वारण हो गया, जो सर्वदा ही बाधाओंसे रहित है, वह सम्यग्ज्ञान होता है। कभी कभी बाधा नहीं होनेका कोई महत्त्व नहीं है। चोर या व्यभिचारी कभी कभी पाप करते हैं, सदा नहीं। किंतु तादृश भाव बने रहनेसे वे दूषित ही समझे जाते हैं। अणुव्रती नहीं।

क्वचिद्विपरीतस्वार्थाकारपरिच्छेदो निश्चितो देशांतरगतस्य सर्वदा तद्देशमवाप्नुवतः सदा बाधवर्जितः सम्यग्ज्ञाने भवेदिति च न शङ्कनीयम् सर्वत्रेति वचनात्।

किसी देशमें और अर्थके आकारको परिच्छेद करनेवाला निश्चयात्मक विपरीत ज्ञान हुआ और वह मनुष्य तत्काल देशांतरको चला गया तथा सर्वदा जन्मभर भी वह मनुष्य उस देशमें प्राप्त नहीं हुआ। रेलगाडीमें बैठकर चले जाते हुए देवदत्तको दूरवर्ती कांसोंमें जलका ज्ञान हुआ उस समय उसको जलकी आवश्यकता भी न थी और दौडती हुयी गाडीसे उतरना भी नहीं हो सकता था जिससे कि जलके प्रदेशमें जानेपर उसको बाधकप्रमाण उत्पन्न हो जाता। पश्चात् उसको उस मार्गसे जानेका कोई प्रसंग भी नहीं आया और न देवदत्तने किसीसे उसकी चर्चा ही की, ऐसी दशामें सर्वदा बाधकरहितपना विशेषण भी घट गया। तब तो वह भ्रमज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाना चाहिये। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार भी शंका नहीं करना। क्योंकि हमने सर्वत्र ऐसा लक्षणमें बोला है। इस कारण उस देशमें बाधा भले ही न हो किंतु दूसरे देशमें जानेकी सम्भावना होनेपर उस व्यक्तिको बाधकप्रमाण अवश्य उपस्थित हो जावेगा। अर्थात् सर्व स्थितिमें बाधकका अभाव नहीं रहा।

कस्यचिदतिमूढमनसः सदा सर्वत्र बाधकरहितोऽपि सोऽस्तीति तदवस्थोऽतिप्रसङ्गः इति चेन्न, सर्वेति वचनात् तदेकमेव सम्यग्ज्ञानमिति च प्रक्षिप्तमनेकधेति वचनात्।

मनमें अत्यंत मूर्खताके विचार रखनेवाले किसी किसी मोंदू मनुष्यके किसी मिथ्याज्ञानमें सर्व काल और सर्व देशमें बाधकरहितपना भी बन जाता है किसीके जन्मभर और सर्वत्र मिथ्याज्ञान होकर उसमें बाधक ज्ञान नहीं उपज पाता है। इस कारण वह विपर्ययज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जावेगा। इस प्रकार अतिप्रसङ्ग दोष वैसाका वैसा ही तदवस्थ रहा। यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि हमने ज्ञानमें सर्व जीवोंको बाधारहितपना ऐसा विशेषण दिया है। शशके आंखोंको

मींचनेपर सबके लिये अंधेरा नहीं हो सकता है। तथा कोई कोई वादी उस सम्यग्ज्ञानको एक ही प्रकारका मानते हैं। यह मंतव्य भी अनेकधा ऐसा विशेषण कहनेसे खण्डित हो जाता है। भावार्थ—वह सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष, परोक्ष या मति श्रुत आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका है।

तत्र निश्चितत्वादिविशेषणत्वं सम्यग्ग्रहणाल्लब्धम्। स्वार्थाकारपरिच्छेदस्तु ज्ञानग्रहणात्, तद्विपरीतस्य ज्ञानत्वायोगात्।

उस मोक्षमार्गके प्रकरणमें प्राप्त हुये सूत्रमें दिये गये सम्यग्ज्ञान शब्दसे ही ऊपर कहा हुआ सम्पूर्ण लक्षण निकल पडता है। निश्चितपना, बाधारहितपना, आदि विशेषण तो ज्ञानके साथ लगे हुए सम्यग्पदके ग्रहणसे प्राप्त हो जाते हैं। और ज्ञान पदके ग्रहण करनेसे तो अपने और अर्थके आकारका परिच्छेद करना, यह अर्थ निकल आता है। जो उस अपने और अर्थके परिच्छेद करनेवाले ज्ञानसे विपरीत हैं। उन घट, पट आदिकोंको ज्ञानपनका योग नहीं है। यहांतक सम्यग्ज्ञान शब्दका अर्थ कर दिया गया है।

सम्यक्चारित्रं निरुक्तिगम्यलक्षणमाहः—

अब सम्यक्चारित्र शब्दकी निरुक्तिसे ही जाना जावे, ऐसे सम्यक्चारित्रके लक्षणको कहते हैं—

भवहेतुप्रहाणाय बहिरभ्यन्तरक्रिया—।
विनिवृत्तिः परं सम्यक्चारित्रं ज्ञानिनो मतम् ॥ ३ ॥

सम्यग्ज्ञानी जीवकी संसारके हेतु होरहे मिथ्यादर्शन, अविरति और कषायोंके सर्वथा नाश करनेके लिये बहिरंग और अंतरङ्ग क्रियाओंकी विशेषरूपसे निवृत्ति होजाना ही उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र माना गया है।

विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रमित्युच्यमाने शीर्षोपहारादिषु स्वशीर्षादिद्रव्यनिवृत्तिः सम्यक्त्वादिस्वगुणनिवृत्तिश्च तन्माभूदिति क्रियाग्रहणम्।

सम्यक्चारित्रके लक्षणमें विशेष्यदल केवल विनिवृत्ति ही कह दिया जाता तो इष्टदेवीके सन्मुख शिरको काटकर चढा देने या पगडी, मुडासा (मुकुटसा) के उतार कर फेंकनेमें अपने सिर, पगडी आदि द्रव्योंकी निवृत्ति अथवा मिथ्यात्वका उदय आनेपर सम्यक्त्व, प्रशम, आदि गुणोंकी निवृत्ति होजाना भी सम्यक्चारित्र हो जावेगा। वह न होवे इसलिये क्रियाका ग्रहण किया है। भावार्थ—क्रियाओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। द्रव्य और गुणोंकी निवृत्तिको नहीं।

बहिःक्रियायाः कायवाग्योगरूपायाः एवाभ्यन्तरक्रियाया एव च मनोयोगरूपाया विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रं माभूदिति क्रियाया बहिरभ्यन्तरविशेषणम्।

शरीरके चलने, फिरने, को अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुयी आत्माके प्रदेशकम्परूप काय योग की क्रिया और आद्य शब्द बननेका कारण भाषावर्गणाको अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश कम्परूप वचनयोगस्वरूप क्रिया, केवल इन दोनों ही बहिरंग क्रियाओंकी विशेषनिवृत्ति सम्यक्-चारित्र न बनजावे अथवा संचित या उपार्जनीय मनोवर्गणाका अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुए आत्मप्रदेशकम्पनरूप मनोयोगस्वरूप केवल अंतरङ्ग क्रियाकी अच्छी निवृत्ति ही चारित्र नहीं बन बैठे, इसलिये क्रियाके बहिरंग और अन्तरंग ये दो विशेषण दिये हैं। भावार्थ—बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही क्रियाओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। मन, वचन, कायके त्रियोगकी अशुभ आचरणसे निवृत्तिको सम्यक्चारित्र माना है।

लाभाद्यर्थं तादृशक्रियानिवृत्तिरपि न सम्यक्चारित्रं भवहेतुप्रहाणायेति वचनात्।

कोई ढोंगी लाभ, यश और प्रयोजनको गांठनेके लिये भी वैसी बहिरंग और अन्तरंग क्रियाओंकी निवृत्ति करलेते हैं। सो भी सम्यक्चारित्र नहीं है। क्योंकि चारित्रके लक्षणमें हमने संसारके कारणोंको भले प्रकार नाश करनेके लिये यह वचन कहा है। अर्थलाभ और यशःकी प्राप्ति आदिके लिये किये गये योगनिरोध तो आर्त्त, रौद्र ध्यान बनते हुए दीर्घ संसारके कारण हो जाते हैं। जो संसारके कारण मिथ्यात्व और कषायके नाशके लिये त्रियोगका निरोध है, वही धर्म्य, शुक्ल ध्यान या शुभ और शुद्धपरिणाम होता हुआ संसारका क्षय करदेता है। मायाचार करना अतीव निन्द्य है।

नापि मिथ्यादृशः सा तद्भवति, ज्ञानिन इति वचनात्, प्रशस्तज्ञानस्य सातिशयज्ञानस्य वा संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमस्यैव सम्यक्चारित्रत्वप्रकाशनात्, अन्यथा तदाभासत्वासिद्धेः।

वह वैसी क्रियाकी निवृत्ति भी मिथ्यादृष्टी जीवके नहीं हो पाती है। क्योंकि सम्यग्ज्ञानी आत्माकी क्रिया निवृत्तिको सम्यक्चारित्र कहा गया है। जिस आत्माके प्रशंसनीय प्रमाणरूप मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान हैं या अनेक चमत्कारोंको धारण करनेवाला उत्कृष्ट केवलज्ञान है और जो आत्मा संसारके कारणोंको सर्वाङ्ग नष्ट करनेके अर्थ पूर्ण उद्यम कर रहा है, उस ज्ञानवान् आत्माके बहिरङ्ग और अंतरंग क्रियाओंके विशेषरूपसे नाश हो जानेको ही सम्यक्चारित्रपना पूर्वाचार्योंने प्रकाशित किया है, अन्यथा यानी दूसरे प्रकारसे मानोगे तो उस चारित्रका आभासपना सिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—मिथ्याज्ञानियोंका चारित्र तो चारित्रसदृश दीखता हुआ चारित्राभास है। उसमें उक्त विशेषण घटित नहीं होते हैं।

सम्यग्विशेषणादिह ज्ञानाश्रयता भवहेतुप्रहाणता च लभ्यते, चारित्रशब्दाद्बहिरभ्यन्तरक्रियाविनिवृत्तता सम्यक्चारित्रस्य सिद्धा, तदभावे तद्भावानुपपत्तेः।

छोटे सम्यक्चारित्र शब्दसे इतना लम्बा चौडा लक्षणमें कहा गया अर्थ कैसे निकल पडता है ! इस ग्रन्थिको सुलझाते हैं— देखिये, इस सम्यक्चारित्र पदमें पडे हुये सम्यक् इस विशेषणसे दो अर्थ निकलते हैं। एक सम्यक्चारित्रका धारण करनेवाला सम्यज्ञानी जीव ही है, जो कि भले ज्ञानका आधार है तथा दूसरा अर्थ संसारके हेतुओंका नाश करना यह प्रयोजन भी सम्यग्पदसे प्राप्त हो जाता है। और चारित्र शब्दसे बहिरंग और अंतरंग क्रियाओंका विशेषरूपसे निवृत्ति हो जाना अर्थ निकला। इस प्रकार सम्यक्चारित्र शब्दसे उक्त संपूर्ण अर्थ सिद्ध हो जाता है। उन उक्त विशेषणोंके न घटनेपर चाहे जिस क्रिया निरोधको वह सम्यक्चारित्रपना सिद्ध नहीं हो पाता है।

सम्प्रति मोक्षशब्दं व्याचष्टे;—

उद्देश्य दलमें पडे हुए तीनों गुणोंका शब्दशास्त्रके अनुसार निरुक्तिसे सिद्धान्तित अर्थ कर चुके हैं। अब इस समय विधेयदलमें पडे हुए मोक्षमार्गके मोक्षशब्दका श्रीविद्यानंद आचार्य महाराज व्याख्यानरूप अर्थ करते हैं।

निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स्वात्मलाभोऽभिधीयते।
मोक्षो जीवस्य नाऽभावो न गुणाभावमात्रकम् ॥ ४ ॥

बाहिरसे आये हुए सम्पूर्ण ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंका बंध, उदय, सत्त्वरूपसे अनन्त काल तकके लिये नाशकर स्वाभाविक आत्माके स्वरूपकी प्राप्तिको ही आत्माका मोक्ष कहा जाता है। दीपकके बुझनेके समान मोक्षको माननेवाले माध्यमिक बौद्ध, या शून्यवादियोंके कथनानुसार जीवका सर्वथा अभाव हो जाना, मोक्ष नहीं है। तथा ब्रह्माद्वैतवादियोंके मतानुसार अपनी आत्माका खोज खोजाना भी मोक्ष नहीं है। और नैयायिक, वैशेषिकोंके अनुसार ज्ञान आदि गुणोंका नाश होकर केवल आत्माका जड होकर अस्तित्व रहना भी मोक्ष नहीं है। किंतु परद्रव्यका बंध छूट जानेसे शुद्ध चैतन्य, सुख आदि स्वरूप आत्माके स्वभावोंकी प्राप्ति हो जाना मोक्ष है।

न कतिपयकर्मनिर्मोक्षोऽनुपचरितो मोक्षः प्रतीयते स निःशेषकर्मनिर्मोक्ष इति वचनात्।

प्रायोग्यलब्धिकी अवस्थामें मिथ्यादृष्टि जीवके भी कर्मभार कमती हो जाता है। सम्यग्दृष्टिके तो कर्मोंका बोझ और भी अधिक लघु हो जाता है तथा क्षपकश्रेणी अथवा बारहवें गुणस्थानके अंतमें तो कई कर्मोंका क्षयतक भी हो जाता है, ऐसे कतिपय (कितने ही) कर्मोंके विनाश हो जानेको मुख्यरूपसे मोक्ष नहीं कहते हैं। यह बात प्रमाणोंसे निर्णीत नहीं है। क्योंकि मोक्षके लक्षणमें हमने "सम्पूर्ण आठ कर्मोंके प्रागभावके समानकाल रहित ध्वंस हो जाना वह मोक्ष है" ऐसा कहा है। उपशमसम्यग्दृष्टि या वेदकसम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीके बंधका प्रागभाव विद्यमान है। चार घातिया कर्मोंके नाश हो जाने पर तेरहवे गुणस्थानमें जीवन्मुक्त श्रीअर्हंतपरमेष्ठीके अपर मोक्ष प्रतीत हो रहा है। मुख्यरूपसे मोक्ष होना तो श्री सिद्धपरमेष्ठी ही में विद्यमान है।

नाप्यस्वात्मलाभः स स्वात्मलाभ इति श्रुतेः, प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वथाप्यभावश्चित्तसंतानस्य मोक्षो न पुनः स्वरूपलाभ इत्येतन्न हि युक्तिमत्, तत्साधनस्यागमकत्वात् ।

और आत्माके स्वाभाविक स्वरूपोंका लाभ न होना भी मोक्ष नहीं है । क्योंकि वह प्रसिद्ध मोक्ष अपने आत्मीय स्वभावोंका लाभ होना रूप है, ऐसा आप्तोपज्ञ शास्त्रोंमें वर्णन होता चला आ रहा है । इसपर बौद्धोंका कहना है कि प्रदीपके बुझ जानेपर जैसे कलिकाका कुछ भी भाग अवशेष नहीं बचता है, सभी अंशोंका नाश हो जाता है, ऐसे ही विज्ञानस्वरूप चित्त आत्माकी ज्ञान धाराका सभी प्रकारसे क्षय हो जाना रूप मोक्ष है। किंतु फिर जैनियोंका माना हुआ आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होना मोक्ष नहीं है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वह बौद्धोंका कहना तो युक्तियोंसे सहित नहीं है । क्योंकि उस आत्मा द्रव्यका सर्व प्रकारसे अभाव हो जाता है । इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई साधक प्रमाण नहीं है और जो कुछ ढीला, थोथा, प्रमाण आपने दिया है वह अभाव रूप मोक्षको समझानेवाला प्रमाण नहीं है । उसमें दिया गया आपका हेतु हेत्वाभास है । साध्यका गमक नहीं है ।

नापि बुद्ध्यादिविशेषगुणाभावमात्रमात्मनः सत्त्वादिगुणाभावमात्रं वा मोक्षः, स्वरूपलाभस्य मोक्षतोपपत्तेः, स्वरूपस्य चानन्तज्ञानादिकदम्बकस्यात्मनि व्यवस्थितत्वात् ।

और न केवल नैयायिक, वैशेषिकोंके द्वारा माना गया बुद्धि, सुख, आदि विशेष गुणोंका ध्वंस हो जाना भी आत्माका मोक्ष है । तथा सांख्योंके द्वारा माना हुआ सत्त्व आदि यानी सत्त्व गुण, रजोगुण और तमो गुणका केवल अभाव भी आत्माकी मुक्ति नहीं है। क्योंकि स्वाभाविक रूपकी प्राप्ति होनेको मोक्षपना सिद्ध है । केवल अभावको ही मोक्ष माना जावेगा तो लोष्ठ, भित्ति आदिके भी मोक्ष होनेका प्रसंग हो जावेगा । बुद्धि आदि गुणोंका अथवा सत्त्व आदि गुणोंका ध्वंस कहकर लोष्ठमें अतिव्याप्तिका वारण नहीं कर सकते हो । क्योंकि नैयायिकोंने ध्वंस और अत्यंताभाव दोनोंको ही तुच्छ और स्वभावोंसे रहित अभाव पदार्थ माना है और वास्तवमें मोक्ष तो भावस्वरूप आत्माकी शुद्ध चिदानंद अवस्था है । अनंतज्ञान, अनंतसुख, क्षायिकसम्यक्त्व और अव्याबाध आदि गुणों तथा अहिंसा, क्षमा, उत्तम ब्रह्मचर्य आदि धर्मोंका समुदाय आत्माका स्वरूप है। गुणीसे गुण पृथक् नहीं होते हैं । अतः मोक्ष अवस्थामें स्वाभाविक परिणतिसे युक्त वे गुण आत्मामें व्यवस्थित रहते हैं । अनेक शुद्ध गुणोंसे युक्त आत्मा अनंत कालतक अपने स्वरूपमें विराजमान रहता है ।

नास्ति मोक्षोऽनुपलब्धेः खरविषाणवदिति चेत् न, सर्वप्रमाणनिवृत्तेरनुपलब्धेरसिद्धत्वादागमानुमानोपलब्धेः साधितत्वात्, प्रत्यक्षनिवृत्तेरनुपलब्धेरनैकान्तिकत्वात्, सकलशि-

ष्टानामप्रत्यक्षेष्वर्थेषु सद्भावोपगमात्, तदनुपगमे स्वसमयविरोधात्, न हि सांख्यादिसमयेऽस्मदाद्यप्रत्यक्षः कश्चिदर्थो न विद्यते।

मोक्ष तत्त्व सर्वथा है ही नहीं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह प्रमाणोंसे नहीं जाना जारहा है (हेतु) जैसे कि गर्दभके श्रृंग (अन्वयदृष्टांत), इस प्रकार कोई शून्यवादी या चार्वाक कहे सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्ष विषयमें सम्पूर्ण प्रमाणोंकी निवृत्ति नहीं देखी जाती है। इस कारण चार्वाकोंका दिया गया अनुपलब्धि हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। आगम और अनुमान प्रमाणसे मोक्षकी ज्ञप्ति होनेको हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं।

यदि आप मोक्षके निषेध करनेमें प्रत्यक्षप्रमाणकी निवृत्ति होना रूप अनुपलब्धि हेतु देंगे तो अभावको साधनेके लिये दिया गया आपका प्रत्यक्षनिवृत्तिरूप हेतु व्यभिचारी हो जावेगा। क्योंकि सम्पूर्ण सज्जन वादी प्रतिवादियोंने हम लोगोंके प्रत्यक्षसे न जाने जावें ऐसे अनुमेय और आगमगम्य पदार्थोंका भी सद्भाव स्वीकार किया है। जिन पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है यदि उनका सद्भाव न स्वीकार करोगे तो आपको अपने सिद्धांतसे ही विरोध हो जावेगा। सूक्ष्मपरमाणु, दूसरोंकी आत्माएं, आकाश, पुण्य, पाप आदि पदार्थोंको सभी स्वीकार करते हैं। सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध आदिके सिद्धांतोंमें हम लोगोंके प्रत्यक्षसे जाने न जावें ऐसे कोई अर्थ हैं ही नहीं, यह नहीं समझना चाहिये। भावार्थ—सर्व ही सम्प्रदायोंमें और पदार्थविज्ञान (साइन्स) में भी इंद्रियोंके अगोचर होरहे शक्ति, परमाणु आदि अनेक पदार्थ माने गये हैं।

चार्वाकस्य न विद्यत इति चेत्, किं पुनस्तस्य स्वगुरुप्रभृतिः प्रत्यक्षः। कस्यचित्प्रत्यक्ष इति चेत्, भवतः कस्यचित्प्रत्यक्षता प्रत्यक्षा न वा? न तावत्प्रत्यक्षा, अतीन्द्रियत्वात्, सा न प्रत्यक्षा चेत् यद्यस्ति तदा तयैवानुपलब्धिरनैकान्तिकी, नास्ति चेत् तर्हि गुर्वादयः कस्यचिदप्रत्यक्षाः संतीत्यायातम्, कथं च तैरनैकांतानुपलब्धिर्मोक्षाभावं साधयेद्यतो मोक्षोऽप्रसिद्धत्वाद्यथोक्तलक्षणेन लक्ष्यो न भवेत्।

यहां कोई कहे कि हम लोगोंके प्रत्यक्षका अगोचर पदार्थ चार्वाकके सिद्धांतमें विद्यमान नहीं है। चार्वाक तो अकेला प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्षके विषय पदार्थोंको ही मानते हैं। इसपर हम जैन पूंछते हैं कि क्या फिर उस चार्वाकको अपने गुरु बृहस्पति या माता, पिता, और बाबा, पडबाबा, इत्यादि पचासों पीढियोंके पुरिखाओंका प्रत्यक्ष है? बताओ। इस प्रकार प्रत्यक्षके अगोचर पदार्थ भी चार्वाकको मानने पडेंगे। अन्यथा वह माता पिता की उच्च आचरणवाली संतानसे रहित होकर कार्यकारण भावका भंग करनेवाला समझा जावेगा।

यदि चार्वाक यों कहें कि हमको व्यक्तिशः अपने गुरुपरिपाटी या पुरानी पीढियोंके पुरिखाओंका प्रत्यक्ष न सही, किंतु उस कालमें और उस देशमें होनेवाले अनेक प्रत्यक्षकर्ताओंको उनका

प्रत्यक्ष था। इसपर हम जैन पूंछते हैं कि उन पुरिखाओंकी सत्ताको सिद्ध करनेवाला आपके पास कौनसा प्रमाण है ? कहिये न। उस देश और उस कालमें होनेवाले किन्ही किन्ही मनुष्योंकी प्रत्यक्षताका आपको प्रत्यक्ष है या नहीं ? बताओ।

पहिले पक्षके अनुसार उन पुरुषोंका प्रत्यक्ष करना आपको प्रत्यक्षरूपसे नहीं दीख सकता है। क्योंकि अन्य पुरुषोंमें रहनेवाला प्रत्यक्षज्ञान अतीन्द्रिय है। आपकी इन्द्रियोंका विषय नहीं है।

यदि आपके गुरु, पुरिखाओंको देखनेवाले मनुष्योंके प्रत्यक्ष करनेको वर्तमानमें आप प्रत्यक्ष रूपसे नहीं जानते हैं, यह दूसरा पक्ष लोगे तो वे प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षके विषय आपके पुरिखा यदि विद्यमान हैं, तब तो उस ही प्रकारसे आपका दिया गया प्रत्यक्षनिवृत्तिरूप अनुपलब्धि हेतु व्यभिचारी होगया, और यदि उन पुरुषोंके प्रत्यक्ष करनेको आप प्रत्यक्ष नहीं कर रहे हैं, इस कारण वे नहीं हैं, तब व्यभिचार दोष तो निवृत्त होगया, किंतु आपके गुरु, बाबा, पडबाबा, फूफा आदि किसीके भी प्रत्यक्षगोचर नहीं हैं, यह कहना प्राप्त हुआ। ऐसी दशामें उन आपके गुरु माता पिताओंसे व्यभिचार दोषको प्राप्त हुयी अनुपलब्धि (हेतु) मोक्षके अभावको कैसे सिद्ध कर सकेगी? जिससे कि प्रमाणोंसे सिद्ध न होनेके कारण ऊपर कहे हुये लक्षणसे मोक्षरूप तत्त्व लक्ष्य न बनसके। भावार्थ—पूर्व पुरुषोंके समान मोक्ष भी प्रमाणोंसे सिद्ध है और उसका लक्षण सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित होकर स्वाभाविक गुणोंकी प्राप्ति होजाना है।

कः पुनस्तस्य मार्ग इत्याह;—

मोक्ष शब्दका निर्वचन करचुके, सो चोखा है। फिर उस मोक्षका मार्ग क्या है ?। मार्ग तो नगर, देश, पर्वत आदिकका हो सकता है। स्वरूपप्राप्तिका मार्ग कैसा है ? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य महाराज उसका स्पष्ट उत्तर कहते हैं—

स्वाभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायो निरुपद्रवः।
सद्भिः प्रशस्यते मार्गः कुमार्गोऽन्योऽवगम्यते ॥ ५ ॥

अपने अभीष्ट माने गये प्रदेश (स्थान) की प्राप्तिका विघ्नरहित जो उपाय है, सज्जन पुरुषोंसे वही प्रशंसनीय मार्ग कहा जाता है। उससे भिन्न कुमार्ग समझा जाता है। यह मार्गका लक्षण नगरके मार्ग और मोक्षके मार्ग इन दोनोंमें घट जाता है। सत्यार्थ विचारा जाय तो मार्गका लक्षण प्रधानरूपसे मोक्षमार्गमें ही घटित होता है। अन्यत्र उपचरित है।

न हि स्वयमनभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायोऽभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायो वा मार्गो नाम, सर्वस्य सर्वमार्गत्वप्रसङ्गात्, नापि तदुपाय एव सोपद्रवः सद्भिः प्रशस्यते तस्य कुमार्गत्वात्, तथा

च मार्गेरन्वेषणक्रियस्य करणसाधने घञि सति मार्ग्यतेऽनेनान्विष्यतेऽभिप्रेतः प्रदेश इति मार्गः, शुद्धिकर्मणो वा मृजेर्मृष्टः शुद्धोसाविति मार्गः प्रसिद्धो भवति।

जो स्वयं अपनेको अभीष्ट नहीं है, ऐसे प्रदेशकी प्राप्तिके उपायको अथवा जो हमको तो अभीष्ट नहीं है, किंतु अन्य लोलुपी जनोंको इष्ट है, ऐसे प्रदेशकी प्राप्तिके उपायको हम सच्चा मार्ग नहीं कहते हैं, अन्यथा यों तो सब ही को सर्व विषयोंके मार्गपनेका प्रसंग हो जावेगा। तथा उस इष्टप्रदेशकी प्राप्तिका विघ्नोंसे सहित उपाय ही सज्जन पुरुषोंसे प्रशंसनीय नहीं है, जो उपाय बाधाओंसे सहित है, वह कुमार्ग है। इस प्रकार चुरादि गणकी " मार्ग् अन्वेषणे " इस ढूंढना क्रियारूप अर्थको कहनेवाली मार्ग् धातुसे करणकारक अर्थको साधनेवाली व्युत्पत्तिसे करणमें घञ् प्रत्यय करनेपर मार्ग शब्द निष्पन्न होता है। जिससे अभीष्ट प्रदेश ढूंढा जावे, यह मार्ग शब्दका अर्थ हुआ। अथवा अदादि गणकी " मृज् शुद्धौ " इस शुद्धि क्रियारूप अर्थवाली मृज् धातुसे कर्म में घञ् प्रत्यय करने पर मार्ग शब्द बनता है। इसका अर्थ है कि जो शुद्ध है, यानी कांटा, कङ्कड आदि उपद्रवोंसे रहित है, वह प्रसिद्ध मार्ग होता है।

न चेवार्थाभ्यन्तरीकरणात्सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्ग इति युक्तम्, तस्य स्वयं मार्गलक्षणयुक्तत्वात्, पाटलिपुत्रादिमार्गस्यैव तदुपमेयत्वोपपत्तेर्मार्गलक्षणस्य निरुपद्रवस्य कात्स्न्र्यतोऽसम्भवात्।

श्रीअकलङ्क देवके मतानुसार " मार्ग इव मार्गः " ऐसा इवका अर्थ सादृश्यको अंतरंगमें करके सम्यग्दर्शन आदि मोक्षके मार्ग हैं अर्थात् जैसे कांटा, कङ्करी, पथरी लुटेरे आदि दोषोंसे रहित मार्गके द्वारा मनुष्य नगर, ग्राम, गृह, उद्यान आदि अभीष्ट स्थानको चले जाते हैं, वैसे ही मिथ्यादर्शन, अचारित्र, कुज्ञान आदि दोषोंसे रहित होरहे रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग करके मुमुक्षु जीव मोक्षको चले जाते हैं। अतः रत्नत्रय तो उपमेय है और नगरतक फैला हुआ मार्ग (पक्की सडक) उपमान है, यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि वास्तवमें मार्गके लक्षणसे युक्त वह स्वयं रत्नत्रय ही है। पटना, कालिकाता आदिके मार्गों (आदम सडक) को ही उसका उपमेयपना सिद्ध है। पूर्णरूपसे उपद्रवरहितपना रत्नत्रयमें है और थोडेसे कण्टक, चोर आदिके उपद्रवोंसे रहितपना पटनाको जानेवाली सडकमें है। जिसमें अधिक गुण होते हैं, वह उपमान होता है, जैसे कि चंद्रमा और न्यून गुणवाला उपमेय होता है जैसे मुख। उपमा अलंकारमें स्वच्छ जल उपमान है और मुनिमहाराजका मन उपमेय है, किंतु " मुनिमनसम उज्ज्वलनीर " यहां प्रदीप अलंकारमें मुनिमहाराजका मन उपमान है और जल उपमेय है। वास्तवमें यही ठीक भी है। प्रकरणमें पूर्णरूपसे उपद्रव रहितपना पटना, कानपुरको जाने वाले पंथाओंमें नहीं है। असम्भव है। अधिकारियों द्वारा पूर्ण प्रबंध करनेपर भी कतिपय उपद्रव हैं ही। इसकारण प्रधानपनेसे मोक्षमार्ग ही उपमान है। शेष पंथा

उस मार्गके कुछ थोडेसे सादृश्य मिल जानेसे उपमेय हैं। तभी तो मान्य श्रीअकलङ्कदेवने शुद्धि अर्थवाली मृजि धातुसे बनाये गये मार्ग शब्दमें अन्वेषण (ढूंढना) अर्थ वाली मार्ग धातुसे मार्ग शब्द निष्पन्न किया है। उन्हें भी मोक्षमार्गको उपमान बनाना अभीष्ट है।

तदेकदेशदर्शनात्तत्र तदुपमानप्रवृत्तेः प्रसिद्धत्वादुपमानं पाटलिपुत्रादिमार्गोऽप्रसिद्धत्वान्मोक्षमार्गोस्तूपमेय इति चेन्न, मोक्षमार्गस्य प्रमाणतः प्रसिद्धत्वात्, समुद्रादेरसिद्धस्याप्युपमानत्वदर्शनात् तदागमादेः प्रसिद्धस्योपमेयत्वप्रतीतेः, न हि सर्वस्य तदागमादिवत्समुद्रादयः प्रत्यक्षतः प्रसिद्धाः।

लोकप्रसिद्ध होरहे उस मार्गका एक देश दीखनेसे वहां मोक्षमार्गरूप उपमेयमें सादृश्यको सूचित करते हुए पटना, मथुरा, आदिके मार्गरूप उपमानकी प्रवृत्ति हो रही है। इस कारण पटना, इंद्रप्रस्थ, कानपुर आदिका मार्ग लोकप्रसिद्ध होनेसे उपमान है और अप्रसिद्ध होनेसे मोक्षमार्ग तो उपमेय है। लोकमें प्रसिद्धको उपमान कहते हैं और अप्रसिद्ध उपमेय कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार कहोगे सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्षमार्गकी प्रमाणसे प्रसिद्धि हो रही है, वह लोक प्रसिद्धिसे बढकर है। और अप्रसिद्ध होरहे भी वे समुद्र, पर्वत, बृहस्पति, दुर्ग आदि उपमान होते हुए देखे जाते हैं। जैसे कि यह शास्त्र समुद्रके समान गम्भीर है, यह राजा पर्वतके समान उन्नत है, यह विद्वान् बृहस्पतिके सदृश है, यह प्रासाद गढके समान दृढ है, इत्यादि स्थलों पर जिन मनुष्योंने समुद्र, पर्वत, बृहस्पति, दुर्ग आदिको नहीं भी देखा है, फिर भी उनके सन्मुख ये अप्रसिद्ध पदार्थ उपमान बना लिये जाते हैं और शास्त्र, विद्वान्, कोठी, राजा आदि प्रसिद्धोंको उनका उपमेयपना प्रतीत हो रहा है। प्रसिद्ध आगम, विद्वान् आदिकोंके समान वे समुद्र, राजा आदिक पदार्थ सभी उपमान उपमेय व्यवहार करने वाले प्राणियोंको प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं हैं। फिर भी वे उपमान हैं अर्थात् आगम, विद्वान् आदि उपमेय तो प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध होरहे हैं, किंतु समुद्र बृहस्पति, आदि उपमानोंका सभीको प्रत्यक्ष होनेका नियम नहीं है।

समुद्रादेरप्रत्यक्षस्यापि महत्त्वादुपमानत्वं तदागमादेः प्रत्यक्षस्याप्युपमेयत्वमिति चेत्, तर्हि मोक्षमार्गस्य महत्त्वादुपमानत्वं युक्तमितरमार्गस्योपमेयत्वमिति न मार्ग इव मार्गोऽयं स्वयं प्रधानमार्गत्वात्।

समुद्र, पर्वत आदिकोंका यद्यपि सबको प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी महान्, गम्भीर, उन्नत, होनेके कारण समुद्रादिकोंको उपमानपना है और प्रत्यक्ष होते हुए भी आगम आदिकोंको उनका उपमेयपना है, यदि ऐसा कहोगे तब तो मोक्षमार्गको भी महान्पना हो जानेके कारण उपमानपना मानना युक्त है। शेष अन्य पेशावरसे कलकत्तातक जानेवाले चौडे मार्ग (सडक) को उपमेयपना ठीक है। इस प्रकार नगरको जानेवाले मार्गके समान यह रत्नत्रय भी मोक्षमार्ग है। यों इनके

अर्थ मानेगये सदृशपनेको मध्यमें डालकर मोक्षमार्ग शब्दका समास करना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि रत्नत्रय स्वयं प्रधान होकर मोक्षका मार्ग है और इसके उपद्रवरहितपनेका अल्प सादृश्य लेकर नगरके मार्ग भी उपमानसे मार्ग मान लिये जाते हैं। वास्तवमें यही मार्ग आदरणीय है। उपमान है। शेष सडक गली आदि मार्ग तो इस महान् रत्नत्रयके कुछ समान होनेसे उपमेय हैं।

तत्र भेदविवक्षायां स्वविवर्तविवर्तिनोः।
दर्शनं ज्ञानमित्येषः शब्दः करणसाधनः ॥ ६ ॥
पुंसो विवर्तमानस्य श्रद्धानज्ञानकर्मणा।
स्वयं तच्छक्तिभेदस्य साविध्येन प्रवर्तनात् ॥ ७ ॥
करणत्वं न बाध्येत वन्हेर्दहनकर्मणा।
स्वयं विवर्तमानस्य दाहशक्तिविशेषवत् ॥ ८ ॥

उन तीनों रत्नस्वरूप मोक्षमार्गमें दर्शन और ज्ञान ये शब्द तो "दृशिर प्रेक्षणे" और "ज्ञा अवबोधने" इन धातुओंसे साधकतम करण अर्थको साधनेवाले युट् प्रत्यय करके बनाये गये हैं। दृष्टा और ज्ञाता आत्मा परिणामी है और उसके नित्य परिणाम दर्शन और ज्ञान हैं। यद्यपि परिणामीसे परिणाम सर्वथा भिन्न नहीं है, फिर भी कथञ्चित् भिन्न हैं। इस कारण अपने परिणाम और परिणामीमें भेदकी विवक्षा होनेपर ज्ञाता, दृष्टा, आत्माके दर्शन और ज्ञान करण हो जाते हैं। श्रद्धान और जानना रूप क्रियासे जब आत्मा स्वयं परिणमन कर रहा है, उस समय उस आत्माकी कथञ्चित् भिन्न मानी गयी वह दर्शनशक्ति और ज्ञानशक्ति उस कर्त्ता आत्माकी सहकारिणी होकर प्रवर्तती है। जैसे ईंधनको जलानेवाली अग्निकी दहनशक्तिको दाहक्रियाका करणपना बाधित नहीं है। क्योंकि स्वयं दाहक्रियासे परिणमन करने वाली अग्निका विशेष गुण वह दाहक शक्ति सहकारी कारण हो रही है। वैसे ही स्वयं परिणमन कर रहे आत्मारूपी कर्त्तासे ज्ञानको और दर्शनको कथञ्चित् भेदकी विवक्षा होनेपर करणपना सिद्ध हो जाता है। लोकमें भी देखा गया है कि अपनी शाखाओंके बोझसे वृक्ष टूटता है। अपनी गरमीसे मेंथीका शाक अपने आप झुलस जाता है।

यथा वन्हेर्दहनक्रियया परिणमतः स्वयं दहनशक्तिविशेषस्य तत्साविध्येन वर्तमानस्य साधकतमत्वात् करणत्वं न बाध्यते, तथात्मनः श्रद्धानज्ञानक्रियया स्वयं परिणमतः साविध्येन वर्तमानस्य श्रद्धानज्ञानशक्तिविशेषस्यापि साधकतमत्वाविशेषात्, ततो दर्शनादिपदेषु व्याख्यातार्थेषु दर्शनं ज्ञानमित्येषस्तावच्छब्दः करणसाधनोऽवगम्यते।

जैसे दाहक्रियासे परिणमन करती हुयी अग्निकी विशेष दाहकत्वशक्ति स्वयं उस अग्निकी सहायक होकर वर्तरही है, उस दाहकशक्तिको दाहक्रिया करनेमें प्रकर्षता करके कारण होजानेसे

करणपना बाधित नहीं है, वैसे ही श्रद्धान करना और जाननारूप क्रिया करके स्वयं परिणति करते हुए आत्माके सहकारी कारण बनकर प्रवर्त रहे श्रद्धान और ज्ञान इन दो विशेष गुणोंको भी क्रियासिद्धिमें प्रकृष्ट उपकारकपना है, कुछ भी अंतर नहीं है। इस कारणसे निरुक्ति द्वारा व्याख्यान कर दिये गये हैं अर्थ जिन्होंके, ऐसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि पदोंमेंसे पहिलेके दर्शन और ज्ञान ये शब्द तो व्याकरणकी रीतिसे करणमें युट् प्रत्यय करके साधे गये समझने चाहिये।

दर्शनशुद्धिशक्तिविशेषसन्निधाने तत्त्वार्थान्पश्यति श्रद्धत्तेऽनेनात्मेति दर्शनम्, ज्ञानशुद्धिशक्तिविशेषसन्निधाने जानात्यनेनेति ज्ञानमिति।

मिथ्यात्व कर्मके उदयसे आत्माका सम्यक्त्व गुण अशुद्ध (विभावपरिणत) हो रहा है। दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबंधी कर्मोंके उपशम क्षय और क्षयोपशम होजानेपर वह सम्यग्दर्शन गुण शुद्ध होजाता है। तथा मिथ्यात्व कर्मके उदयकी सहचारितासे ज्ञान गुण अशुद्ध हो रहा था, सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर वह ज्ञानगुण भी शुद्ध होजाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनरूप विशेष गुणकी शुद्धिके निकट तदात्मक परिणाम हो जाने पर आत्मा स्वयं तत्त्वार्थोंको स्वतंत्रतासे देखता है अर्थात् श्रद्धान करता है और सम्यग्दर्शन गुण करके श्रद्धान कर रहा है। इस प्रकार कर्तामें युट् प्रत्यय करने पर आत्मा स्वयं दर्शनरूप है और करणमें युट् प्रत्यय करने पर आत्माका सम्यक्त्व गुण ही सम्यग्दर्शन है। एवं चतुर्थ गुणस्थानसे ऊपर ज्ञानरूप विशेष गुणकी शुद्धताके निकटतम सात्मीभाव हो जानेपर ज्ञानका कर्त्ता आत्मा ही ज्ञान है और जिससे आत्मा तत्त्वार्थोंको जानता है, वह चेतनागुणकी विशेष आकाररूप ग्रहण करनेकी परिणति भी ज्ञान है, यहांपर ज्ञा धातुसे कर्ता और करणमें युट् प्रत्यय किया है। कर्तामें भी कचित् कचित् युट् प्रत्ययका विधान है अथवा आत्मा जिस शक्ति करके श्रद्धान करे और जाने वह दर्शन तथा ज्ञान है। इस प्रकार करणमें युट् प्रत्यय करके दर्शन, ज्ञान, यों शब्द बनाये गये हैं। यहांतक दर्शन, ज्ञान, शब्दोंकी निरुक्ति कर दी है।

नन्वेवं स एव कर्ता स एव करणमित्यायातं तच्च विरुद्धमेवेति चेत् न, स्वपरिणामपरिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात्, दर्शनज्ञानपरिणामो हि करणमात्मनः कर्तुः कथञ्चिद्भिन्नं वन्हेर्दहनपरिणामवत्, कथमन्यथाऽग्निर्दहतीन्धनं दाहपरिणामेनेत्यविभक्तकर्तृकं करणमुपपद्यते।

यहां पूर्वोक्त निर्णयपर शंका है कि इस प्रकार तो वही आत्मा कर्ता और वही करण है, ऐसा अभिप्राय आया। किन्तु यों वह उक्त कथन तो विरुद्ध ही है। जो ही कर्ता है, वही करण नहीं हो सकता है। बढई काठको कुल्हाडेसे छेदता है। यहां तक्षक कर्तासे कुठार करण न्यारा है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारकी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अपनी पर्याय और

पर्यायवाले परिणामीके भेदकी विवक्षा करनेपर हमारा पूर्वोक्त उस प्रकार कहना है। दर्शन और ज्ञानपरिणाम निश्चयसे करण हैं। वे कर्ता यानी गुणी आत्मासे कथञ्चित् भिन्न हैं; जैसे कि अग्निसे दाहकत्व शक्तिरूप परिणाम किसी अपेक्षासे भिन्न है। कभी कभी मणि, मन्त्र और औषधिके द्वारा अग्निकी दाहकत्व शक्ति नष्ट करदी जाती है। किन्तु अग्निका शरीर पूर्ववत् स्थिर रहता है। तभी तो यह व्यवहार चला आता है कि अग्नि अपनी दाहकत्वशक्तिसे जलाती है। अन्यथा यानी यदि अग्निको दाहकत्व शक्तिसे भिन्न नहीं माना जावेगा तो अग्नि ईंधनको दाह परिणामकरके जलाती है, ऐसा नहीं है, भिन्नकर्ता जिसका ऐसे करणका प्रयोग करना कैसे सिद्ध हो सकता था? घोडा अपने वेगसे दौडता है, डेल अपने गौरवसे नीचे गिरता है, ऐसे स्थलोंमें भी कर्तासे अभिन्नको ही करणपना माना गया है। घोडेसे वेग और डेलसे भारीपन पृथक् नहीं हैं।

स्यान्मतम्, विवादापन्नकरणं कर्तुः सर्वथा भिन्नं करणत्वाद्विभक्तकरणवदिति। तदयुक्तम्, हेतोरतीतकालत्वात् प्रत्यक्षतो ज्ञानादिकरणस्यात्मादेः कर्तुः कथञ्चिदभिन्नस्य प्रतीतेः। समवायात्तथा प्रतीतिरिति चेन्न, कचञ्चित्तादात्म्यादन्यस्य समवायस्य निराकरणात्। पक्षस्यानुमानबाधितत्वाच्च नायं हेतुः। तथाहि-करणशक्तिः शक्तिमतः कथञ्चिदभिन्ना तच्छक्तित्वात्, या तु न तथा सा न तच्छक्तिर्यथा व्यक्तिरन्या, तच्छक्तिश्चात्मादेः करणशक्तिस्तस्माच्छक्तिमतः कथञ्चिदभिन्ना।

यहां नैयायिकका यह मत भी होवे कि विवादमें पडा हुआ करण कारक तो कर्ता कारकसे सर्वथा भिन्न है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह छह कारकोंमेंसे एक कारक है (हेतु) जैसे कि काष्ठ छेदनका करणकारक कुठार उस कर्ता तक्षकसे सर्वथा भिन्न है (अन्वय दृष्टान्त) ग्रंथकार समझा रहे हैं कि इस प्रकार नैयायिकका वह कहना भी उसी कारणसे अयुक्त है। क्योंकि इस अनुमानमें दिया गया करणत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञान, दर्शन, गौरव, दाहकत्व आदि करण इन आत्मा लोष्ठ और अग्नि आदिक कर्ताओंसे कथञ्चित् अभिन्न ही प्रतीत हो रहे हैं। अतः प्रत्यक्षप्रमाणसे अभेद ज्ञात होने पर पीछेसे आपका हेतु बोला गया है। साधन कालके व्यतीत हो जानेपर कहे गये बाधित हेत्वाभासको अतीतकाल कहते हैं।

यदि नैयायिक यों कहें कि आत्मासे ज्ञान दर्शन और अग्निसे दाहकपना भिन्न हैं, किंतु समवाय हो जानेके कारण वे उस प्रकार एकमएक अभिन्नसदृश दीख रहे हैं, जैसे कि मिश्रीसे मीठापन अभिन्न दीखता है, उसी प्रकार ज्ञानवान् दर्शनवान् आत्मा समवाय संबंधसे ज्ञाता दृष्टा रूपसे प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः गुण और गुणी सर्वथा भिन्न हैं। आचार्य कहते हैं कि यह नैयायिकोंका कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि कथञ्चित् तादात्म्य संबंधके अतिरिक्त कोई समवाय संबंध न्यारा है नहीं। नित्य एक और अनेकोंमें विशेषणतासंबंधसे रहनेवाले ऐसे समवायका

खण्डन कर दिया गया है। दूसरा दोष यह है कि आपके दिये हुए अनुमानका प्रतिज्ञावाक्य दूसरे अनुमानसे बाधित हो जाता है। इस कारण आपका यह करणत्व हेतु सद्धेतु नहीं है। किंतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। इसी बातको दिखलाते हैं—करणरूप शक्ति (पक्ष) अपने शक्तिमान्से कथञ्चित् द्रव्यरूपसे अभिन्न है (साध्य) उसकी शक्ति होनेसे (हेतु) जो शक्ति अपने शक्तिमान् भावसे उस प्रकार अभिन्न नहीं है, वह तो उसकी शक्ति ही नहीं, जैसे कि अन्य दूसरी व्यक्ति। भावार्थः—सर्वथा भिन्न हो जानेके कारण घटकी शक्ति पट नहीं हो सकती है, अथवा सर्वथा अभेदपक्षवादीके मतानुसार घटकी शक्ति स्वयं घट व्यक्ति नहीं हो सकती है। तभी तो कथञ्चित् द्रव्यदृष्टिसे अभिन्न और पर्यायदृष्टिसे भिन्नको जैनोंने शक्ति पदार्थ माना है। और आत्मा, अग्नि, जल आदिकी यह करणशक्ति भी वैसी ही शक्ति है (उपनय) उस कारण शक्तिमान् आत्मा आदिकोंसे कथञ्चित् अभिन्न ही है (निगमन) इस निर्दोष अनुमानसे नैयायिकोंके पूर्वोक्त अनुमानका हेतु सत्प्रतिपक्ष है।

नन्वेवमात्मनो ज्ञानशक्तौ ज्ञानध्वनिर्यदि।
तदार्थग्रहणं नैव करणत्वं प्रपद्यते ॥ ९ ॥

यहां कोई शंका करता है कि जैनोंने शक्तियोंको अतीन्द्रिय माना है और स्वार्थाकार-ग्रहणको ज्ञान स्वीकार किया है, इस प्रकार आत्माकी ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जन्य हुयी लब्धिरूप ज्ञानशक्तिमें यदि ज्ञान शब्दकी वृत्ति है, तब तो अर्थग्रहणरूप उपयोगात्मक ज्ञान कथमपि करणपनेको प्राप्त नहीं हो सकता है। भावार्थ—लब्धिरूप करणशक्ति ही करण बनेगी मोक्षमार्गरूपसे माना गया ज्ञान तो अब करण न हो सकेगा। क्योंकि आप इस समय करणकी सिद्धि करते हुए करणशक्ति पर पहुंच गये हैं।

न ह्यर्थग्रहणशक्तिर्ज्ञानमन्यत्रोपचारात्, परमार्थतोऽर्थग्रहणस्य ज्ञानत्वव्यवस्थितेः, तदुक्तमर्थग्रहणं बुद्धिरिति, ततो न ज्ञानशक्तौ ज्ञानशब्दः प्रवर्तते येन तस्य करणसाधनता स्याद्वादिनां सिध्येत्। पुरुषाद्भिन्नस्य तु ज्ञानस्य गुणस्यार्थप्रमितौ साधकतमत्वात् करणत्वं युक्तम्, तथा प्रतीतेर्बाधकाभावात्। भवतु ज्ञानशक्तिः करणं तथापि न सा कर्तुः कथञ्चिदभिन्ना युज्यते।

आत्माकी अर्थोंके ग्रहण करनेकी शक्तिको ज्ञान नहीं कहसकते हैं। सिवाय उपचारके, अर्थात् अवस्तुभूत व्यवहारसे भले ही शक्तिको ज्ञान कहदें। वास्तविकरूपसे अर्थके विशेषाकारोंको ग्रहण करनेवालेको ज्ञानपनेकी व्यवस्था हो रही है। वही हमारे न्यायवार्तिक आदि शास्त्रोंमें ऐसा लिखा हुआ है कि अर्थको ग्रहण करनेवाला गुण बुद्धि है। इस कारणसे ज्ञानशक्तिमें ज्ञान शब्दकी प्रवृत्ति नहीं है, जिससे कि स्याद्वादियोंके मतमें उस ज्ञान शब्दको करणसाधन युट् प्रत्यय करने-

पर सिद्धि होजाती, अर्थात् करणमें प्रत्यय करनेसे मोक्षमार्गमें पडे हुए ज्ञानका ठीक अर्थ नहीं निकलता है। और हम नैयायिकोंके मतमें तो आत्मासे ज्ञानगुण सर्वथा भिन्न है। इस कारण अर्थकी प्रमिति करनेमें प्रकृष्ट उपकारक साधक हो जानेसे इस भिन्न ज्ञानको कारणपना युक्त है। इसी प्रकार प्रतीति होनेका कोई बाधक प्रमाण भी नहीं है। अस्तु—जैनोंके मतानुसार ज्ञानशक्ति करण भले ही होजाओ, तो भी वह ज्ञानशक्ति कर्तासे कथञ्चित् अभिन्न है। यह तो जैनोंका कहना युक्त नहीं है, क्योंकि—

शक्तिःकार्ये हि भावानां सान्निध्यं सहकारिणः।
सा भिन्ना तद्वतोत्यन्तं कार्यतश्चेति कश्चन ॥ १० ॥

नैयायिक ही कहते जा रहे हैं कि कार्यकी उत्पत्ति करनेमें सहकारी कारणोंकी निकटताको ही हम पदार्थोंकी शक्ति मानते हैं। वह शक्ति उन शक्तियुक्त पदार्थोंसे और कार्यसे सर्वथा भिन्न है, अर्थात् अग्निमें कोई स्वतंत्र दाहकत्व शक्ति नहीं है, किंतु प्रतिबंधकमण्यभाव विशिष्ट अग्निको दाहके प्रति कारणता नियत होजानेसे चंद्रकांतमणिकी सत्तामें अग्नि दाह नहीं कर सकती है, और सूर्यकांत तथा चंद्रकांत मणिके होनेपर या केवल अग्निके होनेपर अग्निदाह कर देती है। कारण कि उत्तेजकाभाव विशिष्ट जो मणि उसका अभाव दाह करनेमें सहकारी कारण माना है, इसी प्रकार मृत्तिकामें घट बननेकी शक्ति भी कुलाल, चक्र, दण्ड आदि सामग्रीका मिल जाना है। इसके अतिरिक्त जैनियोंसे मानी हुयी अतीन्द्रियशक्ति कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार कोई नैयायिक कह रहा है।

ज्ञानादिकरणस्यात्मादेः सहकारिणः सान्निध्यं हि शक्तिः स्वकार्योत्पत्तौ न पुनस्तद्वत् स्वभावकृता शक्तिमतः कार्याच्चात्यन्तं भिन्नत्वात्तस्या इति कश्चित्।

ज्ञान, दर्शन, आदि हैं कारण जिसके ऐसे आत्मा, अग्नि, आदि पदार्थोंकी अपने कार्योंको उत्पन्न करनेमें सहकारी कारणोंका सान्निध्य ही शक्ति है, किंतु फिर जैनोंकी मानी हुयी उस शक्तिवाले पदार्थोंके स्वभावरूप की गई कोई अतीन्द्रिय शक्ति नहीं है। क्योंकि वह सहकारिओंका मिल जाना रूप शक्ति अपने शक्तिमान् कारणसे और कार्यसे सर्वथा भिन्न है, जैसे मृत्तिकामें घट बननेकी शक्ति दण्ड, चक्र, कुलालरूप ही है। वह शक्ति मृत्तिकासे और घटसे सर्वथा न्यारी है, इस प्रकार यहां तक कोई नैयायिक कह रहा था।

तस्यार्थग्रहणे शक्तिरात्मनः कथ्यते कथम्।
भेदादर्थान्तरस्येव संबन्धात् सोऽपि कस्तयोः ॥ ११ ॥

अब आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि जब शक्तिको शक्तिमान्से सर्वथा भिन्न आप नैयायिकोंने मानी है तो उस आत्माकी अर्थग्रहण करनेमें जो शक्ति है, वह आत्माकी शक्ति कैसे कही

जाती है ? बताओ। क्योंकि दूसरे भिन्न पदार्थोंके समान वह शक्ति भी आत्मासे सर्वथा भिन्न है। जैसे कि सह्य पर्वतकी शक्ति विन्ध्याचल पर्वत नहीं हो सकती है, वैसे ही आत्मासे भिन्न पडी हुई अर्थोंके ग्रहण करनेकी शक्ति भी आत्माकी नहीं मानी जावेगी। यदि भिन्न होते हुए भी विशेष संबंधके वश होकर वह शक्ति आत्माकी हो सकेगी तो बतलाओ कि उन शक्ति और आत्माओंका जोडनेवाला वह विशेषसंबंध भी कौन है ?। भावार्थः-जैसे धन, पुत्र, गृह, आदि भिन्न होते हुए भी देवदत्तके कहे जाते हैं, तद्वत् सहकारी कारणस्वरूप भिन्न शक्तियां भी शक्तिमानोंकी व्यवहृत हो जावेंगी, इस नैयायिकके कथनपर आचार्य पूछते हैं कि वह संबंध कौन है ? स्वस्वामिभाव या जन्यजनकभाव अथवा अन्य कोई है ? सो बताओ !

न ह्यात्मनोत्यन्तं भिन्नार्थग्रहणशक्तिस्तस्येति व्यपदेष्टुं शक्या, सम्बन्धतः शक्येति चेत्, कस्तस्यास्तेन सम्बन्धः ?

आत्मासे अत्यंत भिन्न पडी हुयी अर्थको ग्रहण करनेवाली ज्ञानशक्ति उस आत्माकी है ऐसा आत्मा आत्मीय व्यवहार नहीं किया जासकता है। क्योंकि बन्ध्या और पुत्रके समान बीचमें सर्वथा भेद पडा हुआ है। यदि किसी सम्बन्धसे स्वस्वामिव्यवहार कर सकोगे तो बतलाओ ! अर्थग्रहण शक्तिका आत्माके साथ वह कौनसा सम्बन्ध है ?

संयोगो द्रव्यरूपायाः शक्तेरात्मनि मन्यते।
गुणकर्मस्वभावायाः समवायश्च यद्यसौ ॥ १२ ॥

इस प्रकरणमें वैशेषिकोंकी गृहव्यवस्था यों है कि कार्योंके सहकारी कारण द्रव्य, गुण और कर्म होते हैं। भावकार्योंके उपादान कारण द्रव्य होते हैं और असमवायिकारण गुण और कर्म होते हैं। अतः वैशेषिकोंके मतसे द्रव्यरूप सहकारी कारणोंकी निकटता स्वरूप शक्तिका कार्यके उपादानकारण कहे गये आत्मामें संयोगसम्बंध माना है। क्योंकि आपने द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे संयोगसम्बंध होना इष्ट किया है। तथा चौवीस गुण और पांच कर्मरूप सहकारी कारणोंके सान्निध्य रूप शक्तिका उपादानकारणके साथ वह सम्बंध समवाय माना गया है। आचार्य कह रहे हैं कि यदि आप वैशेषिक ऐसा कहेंगेः-

चक्षुरादिद्रव्यरूपायाः शक्तेरात्मद्रव्ये संयोगः संबन्धोऽन्तःकरणसंयोगादिगुणरूपायाः समवायश्च शब्दाद्विषयीक्रियमाणरूपायाः संयुक्तसमवायः सामान्यादेश्च विषयीक्रियमाणस्य संयुक्तसमवेतसमवायादिर्यदि मतः।

उक्त वार्त्तिकका व्याख्यान यों है कि चक्षुः इंद्रिय द्वारा घटका प्रत्यक्ष करनेमें संयोग सन्निकर्ष कारणरूप सहकारी कारण है और आत्माका तथा मनका संयोग तो असमवायी कारण होकर

सहकारी कारण है। आत्मा समवायी कारण है; यहां तेजो द्रव्यरूप चक्षुरिन्द्रिय स्वरूप शक्तिका आत्मा द्रव्यमें संयोगसम्बंध हो रहा। इस सम्बंधसे वह चक्षुःशक्ति आत्माकी बोली गयी है। इसी प्रकार जिव्हा, घ्राण आदिके सन्निकर्षोंमें भी लगा लेना, और आत्मा तथा मनका संयोग गुण पदार्थ है, इस शक्तिके साथ आत्माका समवाय सम्बंध है। गुणीमें गुण समवाय सम्बंधसे रहता है, अतः समवायके वश आत्माकी शक्ति आत्ममनःसंयोग कही जाती है। कारिकामें च शब्द पडा हुआ है। अतः उक्त दो सम्बन्धोंके अतिरिक्त संयुक्तसमवाय और संयुक्तसमवेतसमवाय आदि सम्बन्धोंका भी समुच्चय होजाता है। जिस समय आत्मा रूपको जानता है, तब अवलम्ब कारण होकर रूपके ज्ञानमें रूप भी सहकारी कारण है। इसी प्रकार रूपत्व, रसत्व आदि भी अपने ज्ञानोंमें आत्माके सहकारीकारण स्वरूप शक्ति बन जाते हैं। आत्मासे संयुक्त घट है और घटमें समवाय सम्बन्ध से रूप रहता है। अतः आत्माका रूपके साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध है और रूपमें रूपत्व समवाय सम्बन्धसे रहता है। अतः आत्माका रूपत्वके साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध है। नैयायिकोंने द्रव्यरूप इन्द्रियोंका भी रूप रस, घटत्व तथा रूपत्व, रसत्वके साथ संयुक्तसमवाय और संयुक्त समवेतसमवाय सम्बन्ध होना माना है। ऐसे ही समवाय, समवेतसमवाय और विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध भी शक्ति और शक्तिमान्के योजक हैं, यदि नैयायिक ऐसा मानेंगे—

तदाप्यर्थान्तरत्वेस्य सम्बन्धस्य कथं निजात्।
सम्बन्धिनोऽवधार्येत तत्सम्बन्धस्वभावता ॥ १३ ॥
सम्बन्धान्तरतः सा चेदनवस्था महीयसी।
गत्वा सुदूरमप्यैक्यं वाच्यं सम्बन्धतद्वतोः ॥ १४ ॥
तथा सति न सा शक्तिस्तद्वतोत्यन्तभेदिनी।
सम्बन्धाभिन्नसम्बन्धिरूपत्वात्तत्स्वरूपवत् ॥ १५ ॥

तो भी अपने संबंधीसे इस संबंधको भिन्नपदार्थ माननेपर उसको संबंधस्वरूपपना कैसे निश्चित किया जा सकेगा? बताओ। भिन्न पडे हुए संबंधसे दो संबंधी सम्बद्ध भी न हो सकेंगे। भावार्थ—आत्मा और चक्षुःका संयोगसंबंध आपने इष्ट किया है। वह संयोग आत्माद्रव्यरूप या चक्षुःद्रव्य रूप तो है नहीं। किंतु नैयायिकोंने उसको स्वतंत्र गुण माना है। ऐसी दशामें सर्वथा भिन्न पदार्थ हो जानेसे "वह संयोग आत्माका है तथा चक्षुःका है" यह निर्णय कैसे किया जावे? यदि दूसरे संबंधोंसे प्रकृत संबंधके स्वस्वामि–व्यवहारका निर्णय करोगे तो बडी लम्बी चौडी अनवस्था होगी। अर्थात् आत्माकी शक्ति चक्षुः है, इसको संयोग संबंधने जताया और वह संयोग चक्षुःका है, इस बातको समवायने बतलाया, क्योंकि संयोगगुण चक्षुः द्रव्यमें समवाय संबंधसे रहता

है और वह संयोगका समवाय है। इस संबंध संबंधीपनेको स्वरूपसंबंधने बतलाया। क्योंकि संयोग गुणमें समवाय स्वरूपसंबंधसे रहता है। किंतु यह स्वरूपसंबंध भी संयोग और समवायके समान अपने संबंधियोंसे सर्वथा भिन्न पडा हुआ है, इसकी संयोजनाके लिये भी अन्य संबंधोंकी वही आकांक्षा होती जावेगी। अतः अनवस्था दोष है। संबंध भी तो उन संबंधिओंका तभी कहा जायगा जब कि संबंध दोनों, तीनों, में संबंधित हो जायगा। इस दोषके परिहारके लिये बहुत दूर भी जाकर आप नैयायिकोंको संबंध और उन संबंधियोंका एकसरा तादात्म्य कहना पडेगा। इसके अतिरिक्त आपकी कोई गति नहीं है। उस कारणसे ऐसा होनेपर हमारी मानी हुयी शक्ति भी अपने शक्तिमान्से अत्यंत भिन्न नहीं है। क्योंकि संबंधसे अभिन्न जो संबंधी हैं उन्हीं स्वरूप वह शक्ति है, जैसे कि शक्तिसे शक्तिका स्वरूप भिन्न नहीं है। हम स्याद्वादी शक्ति और शक्तिमान्का कथञ्चित् तादात्म्यसंबंध मानते हैं। जैन सिद्धांतमें दो प्रकारकी शक्तियां मानी गयी हैं। द्रव्यशक्तियां और पर्यायशक्तियां। उनमें द्रव्यशक्तियां तो जीवमें चेतना, सुख, सम्यक्त्व तथा पुद्गलमें रूप, रस आदि हैं। ये शक्तियां अनाद्यनंत हैं और पर्यायशक्तियां सादि सांत हैं। जैसे कि जीवकी योगशक्ति संसार अवस्थामें पायी जाती है, मोक्षमें नहीं। पुद्गलकी चुम्बक अवस्थामें आकर्षणशक्ति है, लोह पर्यायमें नहीं हैं एवं अग्नि अवस्थामें दाहकत्व, पाचकत्व, शोषकत्व आदि शक्तियां हैं, वही अग्नि, जलरूप या पाषाणरूप हो जावे तो वे शक्तियां नष्ट हो जाती हैं। उन उन पर्यायोंमें दूसरी शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। पर्याय उत्पन्न हो जाने पर भी अनेक शक्तियां निमित्तोंके द्वारा आती जाती रहती हैं, जैसे कि एक औषधि अनुपानके भेदसे अनेक रोगोंका निवारण कर देती है, ये सब पर्यायशक्तियां हैं। परंतु ज्ञानशक्ति और ज्ञानका भी तादात्म्य संबंध है। इस कारण नैयायिकोंका पूर्वोक्त दोष हमारे ऊपर लागू नहीं होता है।

ननु गत्वा सुदूरमपि सम्बन्धतद्वतोर्नैक्यमुच्यते येनात्मनो द्रव्यादिरूपा शक्तिस्तत्सम्बन्धाभिन्नसम्बन्धिस्वभावत्वादभिन्ना साध्यते, परापरसम्बन्धादेव संबंधस्य सम्बन्धिताव्यपदेशोपगमात्। न चैवमनवस्था, प्रतिपत्तुराकांक्षानिवृत्तेः क्वचित्कदाचिदवस्थानसिद्धेः प्रतीतिनिबन्धनत्वात्तत्त्वव्यवस्थाया इति परे।

अनवस्था दोषको हटानेके लिये नैयायिक तादात्म्यके अतिरिक्त दूसरा उपाय रचते हैं। वे अपने पक्षका अवधारण कर कहते हैं कि बहुत दूर भी जाकर हम संबंध और उससे सहित हो रहे संबंधियोंका तादात्म्यरूप अभेद नहीं मानते हैं जिससे कि आत्माकी सहकारी कारणरूप द्रव्य, गुण, कर्म, शक्तियां आत्मासे अभिन्न सिद्ध कर दी जावें और उसमें जैन लोग यह हेतु दे सकें कि उनके सम्बन्धसे अभिन्न संबंधियोंके स्वभावरूप वे शक्तियां हैं। भावार्थ— हम शक्ति और शक्तिमान्का अभेद नहीं मानते हैं। किंतु संयोग, समवाय, विशेषता स्वरूप आदि उत्तरोत्तर होनेवाले अनेक संबंधोंसे ही सम्बंधके सम्बंधीपनेका स्वस्वामिव्यवहार माना जाता है तथा इस

प्रकार अनवस्था दोष हमारे ऊपर लागू हो जावे सो भी नहीं समझना। क्योंकि समझनेवाले ज्ञाताकी किसी स्थलपर कभी न कभी अवस्थिति हो ही जावेगी। अतः उसकी उत्तरोत्तर सम्बंध कल्पना करनेकी आकांक्षाएं रुक जावेंगी। फिर भी यदि कोई आग्रही अधिक आकांक्षाएं करेगा तो भी सौवीं या पांचसौवीं कोटीपर अवश्य निराकांक्ष हो जावेगा अथवा दयालु ईश्वर उसकी जिज्ञासाओंको आगे नहीं बढने देवेंगे, ऐसे समयपर ईश्वर कृपालुता न दिखलावे तो अनेक जीव भोकनेवाले उन्मत्त कुत्तेके समान अकालमें मर मिटे होते। देखो, प्रतीतिको कारण मानकर तत्त्वोंकी व्यवस्था मानी जाती है। एक मनुष्य किसीके मा बाप की परम्पराको पूंछते हुए कहीं न कहीं रुद्ध हो ही जाता है। अनवस्थाके डरसे प्रतीतिसिद्ध भिन्न भिन्न तत्त्व तादात्म्यके बहानेसे नहीं टाल दिये जाते हैं। अतः जैनोंको शक्तिसे शक्तिमान्का भेद मानना चाहिये, इस प्रकार दूसरे नैयायिक कह रहे हैं।

तेषां संयोगसमवायव्यवस्थैव तावन्न घटते, प्रतीत्यनुसरणे यथोपगमप्रतीत्यभावात्, तथाहि—

उन नैयायिकोंके यहां पहिले तो संयोग और समवायकी व्यवस्था ही नहीं घटती है, प्रतीतिके अनुसार तत्त्वोंकी व्यवस्था मानें यही तो हमको इष्ट है। आपने संयोग और समवायका जैसा स्वरूप माना है। उसके अनुसार उनकी प्रतीति नहीं हो रही है। इसी बातको विशद रूपसे कहते हैं— सो सुनो!

संयोगो युतसिद्धानां पदार्थानां यदीष्यते।
समवायस्तदा प्राप्तः संयोगस्तावके मते ॥ १६ ॥

पृथक् पृथक् आश्रयोंमें रहनेवाले युतसिद्ध पदार्थोंका संयोग सम्बंध होना यदि आप नैयायिक इष्ट करते हैं तो तुम्हारे मतमें समवाय सम्बंधको संयोगपना प्राप्त हो जावेगा।

कस्मात् समवायोऽपि संयोगः प्रसज्यते मामके मते ?

वैशेषिक या नैयायिक पूंछता है कि मेरे मतमें समवाय सम्बंधको भी संयोगपनेका प्रसंग कैसे होगा ? आप जैन आचार्य बतलाओ! इस पर आचार्य कहते हैं—

युतसिद्धिर्हि भावानां विभिन्नाश्रयवृत्तिता।
दधिकुण्डादिवत्सा च समाना समवायिषु ॥ १७॥

नैयायिकके मतमें पदार्थोंका भिन्न भिन्न आश्रयोंमें वृत्ति रहना ही युतसिद्धि मानी गयी है, जैसे कि दही और कुण्डीका तथा घट और जलका युतसिद्धि होनेके कारण संयोग सम्बंध है। वही युतसिद्धि तो रूप और रूपवान् तथा अवयव और अवयवी इन माने गये समवायियोंमें भी

समान रूपसे विद्यमान है। भावार्थ—जैसे कुण्ड अपने आधार स्व अवयवोंमें रहता है और दधि भी अपने अवयवोंमें रहता है अथवा घट कपालमें रहता है और जल अपने अवयवोंमें रहता है। यहां जैसे दो आधार हैं और दो आधेय हैं, वैसे ही रूप पटमें रहता है और पट अपने अवयव तंतुओंमें रहता है या कपालोंमें घट रहता है और कपालिकाओंमें कपाल रहते हैं। इन समवाय संबंधवाले सम्बंधियोंमें भी भिन्न भिन्न आश्रयोंमें रहनारूप युतसिद्धि देखी जाती है। अतः गुण, गुणी, क्रिया, क्रियावान्, जाति, जातिमान् इनका भी आधेय और आधारका भिन्न भिन्न अधिकरणोंमें रहनेके कारण संयोग सम्बंध होजाओ।

नन्वयुतसिद्धानां समवायित्वात् समवायिनां युतसिद्धिरसिद्धेति चेत्।

नैयायिक कहते हैं कि अयुतसिद्ध पदार्थोंको ही समवायीपना है। जिन दो आधार आधेय पदार्थोंमेंसे एक पदार्थ भिन्न दूसरेको नहीं आश्रय मानकर ठहर जाता है, उन दो को अयुतसिद्ध कहते हैं। भावार्थ—समवाय सम्बंधवालोंमें आधार आधेय मिलाकर तीन पदार्थ होते हैं और संयोग सम्बंधवालोंमें आधार और आधेय मिलनेसे चार पदार्थ हो जाते हैं। अतः समवायी पदार्थोंकी भिन्न भिन्न आश्रयमें रहना रूप युतसिद्धि सिद्ध नहीं है। अयुतसिद्धि है। आचार्य कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तो—

तद्वद्वृत्तिर्गुणादीनां स्वाश्रयेषु च तद्वताम्।
युतसिद्धिर्यदा न स्यात्तदान्यत्रापि सा कथम् ॥ १८ ॥

उन दही, कुंडी, आदि संयोगी पदार्थोंके समान ही गुण, क्रिया, अवयवी, विशेष और सामान्यरूप प्रतियोगियोंकी अपने आधार माने गये गुणी, क्रियावान्, अवयव, नित्य द्रव्य और द्रव्य गुण कर्मरूप अनुयोगियोंमें वृत्ति है और गुणवान् गुणियोंकी अपने आश्रयोंमें वृत्ति हो रही है, ऐसी दशामें भी जब समवायियोंकी आप युतसिद्धि नहीं मानते हैं तो अन्य संयोगियोंमें भी वह युतसिद्धि कैसे मानी जावेगी ? अर्थात् नहीं। विश्वासका कारण युतसिद्धिका लक्षण यहां दोनों स्थानपर घट जाता ही है। केवल तीन, चार, पदार्थ कह देनेसे न्यायप्राप्तका उल्लंघन आप नहीं कर सकेंगे। समवायी पदार्थोंमें भी गहरी गवेषणा करनेपर चार पदार्थ मानने पडेंगे। यद्यपि एक घट अपने रूपकी अपेक्षा आधार है और अपने अवयवोंकी अपेक्षा आधेय है। फिर भी वह आधेयता और आधारता धर्म घटमें न्यारे हैं। अतः शास्त्रमें कहा हुआ युतसिद्धिका लक्षण बराबर समवायियोंमें घट जाता है। प्रभुताशाली राजाकी न्याय आज्ञाका किसीके स्वीकार न करने मात्रसे भंग नहीं हो सकता है।

गुण्यादिषु गुणादीनां वृत्तिर्गुण्यादीनां तु स्वाश्रये वृत्तिरिति कथं न गुणगुण्यादीनां समवायिनां युतसिद्धिः ? पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिरिति वचनात्, तथापि तेषां युतसिद्धेरभावे दधिकुण्डादीनामपि सा न स्याद्विशेषलक्षणाभावात्।

गुणी, अवयव, आदिकोंमें गुण, अवयवी आदिकोंकी वृत्ति है और गुणी, क्रियावान् आदिकोंकी तो अपने अधिकरणोंमें वृत्ति है, इस प्रकार समवायसंबंधवाले गुण, गुणी, अवयव, अवयवी आदिकोंकी युतसिद्धि क्यों नहीं मानी जाती है ? आपके शास्त्रमें पृथक् पृथक् आश्रयोंमें आधेय होकर रहनेको युतसिद्धि कहा गया है। उसपर भी उन गुण गुणी आदिकोंकी युतसिद्धिको आप न मानेंगे तो दही और कुण्ड तथा दण्ड और पुरुष आदिकोंको भी वह युतसिद्धि न हो सकेगी क्योंकि उक्त लक्षणके अतिरिक्त युतसिद्धिका दूसरा कोई विशेष लक्षण आपके पास नहीं है और वह लक्षण संयोगी तथा समवायी पदार्थोंमें समानरूपसे घट जाता है।

लौकिको देशभेदश्चेद्युतसिद्धिः परस्परम्।
प्राप्ता रूपरसादीनामेकत्रायुतसिद्धता ॥ १९ ॥
विभूनां च समस्तानां समवायस्तथा न किम्।
कथञ्चिदर्थतादात्म्यान्नाविष्वग्भवनं परम् ॥ २० ॥

शास्त्रमें लिखे हुए लक्षणके अनुसार युतसिद्धिको न मानकर यदि साधारण लोकमें प्रसिद्ध होरहे देशभेदको युतसिद्धि मानोगे अर्थात् लोकमें जिन पदार्थोंका भिन्न भिन्न देशमें रहना प्रसिद्ध हो रहा है, उनका परस्परमें संयोग माना जावेगा और जिन पदार्थोंका साधारण जनताको भिन्न भिन्न देशोंमें रहना ज्ञात नहीं होता है, उनका समवाय मानोगे, ऐसा माननेपर तो रूप, रस या ज्ञान, सुख आदि गुणोंकी भी परस्परमें ऐसी युतसिद्धि न होकर अयुतसिद्धि हो जाना चाहिए। क्योंकि उक्त गुण भी एक द्रव्यमें रहते हैं। घटमें जहां रूप है उसी स्थल पर रस है और आत्मामें जहां ज्ञान है, वहीं पर सुख भी है। अतः भिन्न देश न होनेके कारण इनकी युतसिद्धि न हुई। तब तो रूप और रसका तथा ज्ञान और सुखका समवाय संबंध हो जाना चाहिये। नैयायिकोंने इनका समवाय संबंध माना नहीं है। किंतु एक अर्थमें दोनोंका समवाय होनेके कारण एकार्थसमवाय रूप परम्परासंबंध माना है। तथा उस प्रकार लक्षण करने पर आत्मा, आकाश, काल और दिशा इन सम्पूर्ण व्यापक द्रव्योंका परस्परमें समवायसंबंध क्यों न हो जावे? क्योंकि जहांपर आत्मा है, वहींपर कालद्रव्य है और वहींपर आपने दिशा द्रव्य भी माना है। नैयायिकोंने सबका आधार काल माना है और आकाशमें भी सर्व पदार्थ वृत्त्यनियामक संबंधसे रहते हुए माने हैं। अतः जनताके द्वारा भिन्न भिन्न आश्रयका न प्रतीत होनारूप अयुतसिद्धिका लक्षण यहां घट जाता है। किंतु आपने विभु द्रव्योंका अज (नित्य) संयोग संबंध माना है। किसी किसीने तो नित्य संयोगको इष्ट नहीं किया है। कारण कि जो पदार्थ पहिले प्राप्त न थे, उनका कारणवश मिल जानेका नाम संयोग है। यह अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति रूप संयोगका लक्षण व्यापक द्रव्योंके संयोगमें नहीं घटता है। वे तो सर्वदासे ही

परस्परमें प्राप्त हैं। यदि नैयायिक समवायका लक्षण पृथक् पृथक् न रहना रूप अविष्वग्भाव करेंगे वह भी अर्थके साथ कथञ्चित् तदात्मकपनेके अतिरिक्त कोई अन्य संबंध नहीं है। जैनोंके तादात्म्य-संबंधका ही दूसरा नाम अविष्वग्भाव रख लिया गया है।

लौकिको देशभेदो युतसिद्धिर्न शास्त्रीयो यतः समवायिनां युतसिद्धिः स्यादित्येतस्मिन्नपि पक्षे रूपादीनामेकत्र द्रव्ये विभूनां च समस्तानां लौकिकदेशभेदाभावाद्युतसिद्धेरभावप्रसंगात् समवायप्रसक्तिः।

शास्त्रमें लिखे हुए लक्षणके अनुसार भिन्न भिन्न देशमें रहनेको युतसिद्धि हम नहीं मानते हैं। शास्त्र की युतसिद्धि तो समवायियों में भी घट जाती है। किंतु साधारण बाल गोपाल भी कुण्डी, बेर या आम, पिटारी आदि में आधार और आधेयोंका देशभेद समझ लेते हैं। ऐसे लोकप्रसिद्ध देशभेद वाले पदार्थोंकी हम युतसिद्धि मानते हैं। शास्त्रके अनुसार भिन्न देशपना मानते होते तब तो समवाय वाले रूप, रूपवान् आदिकोंकी भी युतसिद्धि बन बैठती, इस प्रकार इस नैयायिकके पक्षमें भी रूप, रस, आदिकोंकी एक द्रव्यमें तथा सम्पूर्ण व्यापक द्रव्योंकी साधारण लोक द्वारा माने गये देशभेदके न होनेसे युतसिद्धिके तो अभावका प्रसंग हो जावेगा। किंतु अयुतसिद्धि हो जानेसे रूप, रस आदिकोंका या विभु द्रव्योंका परस्परमें समवाय सम्बंध होजाना चाहिये, जो कि प्रसङ्ग नैयायिकोंको इष्ट नहीं है।

अविष्वग्भवनमेवायुतसिद्धिर्विष्वग्भवनं युतसिद्धिरिति चेत्, तत्समवायिनां कथञ्चित्तादात्म्यमेव सिद्धं ततः परस्याविष्वग्भवनस्याप्रतीतेः।

दो सम्बंधियोंके पृथक् पृथक् न होनेको ही अयुतसिद्धि कहते हैं और भिन्न भिन्न हो जानेको युतसिद्धि कहते हैं। जैसे कि अग्निसे उष्णता या घटसे रूप न्यारे नहीं किये जासकते हैं, इस कारण इनका समवाय है और पुरुषसे दण्ड या कुण्डसे बेर अलग किये जासकते हैं। अतः इनमें संयोगका कारण युतसिद्धि है। यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो उन समवायी पदार्थोंका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बंध ही सिद्ध हुआ, उस तादात्म्य सम्बंधसे अतिरिक्त अविष्वग्भाव पदार्थ कोई न्यारा प्रतीत नहीं हो रहा है। अन्धसर्पबिलप्रवेश न्यायसे आपको स्याद्वादसिद्धांतकी ही शरण लेनी पडेगी।

तदेवाबाधितज्ञानमारूढं शक्तितद्वतोः।
सर्वथा भेदमाहान्ति प्रतिद्रव्यमनेकधा ॥ २१ ॥

गुण, गुणी, आदिकोंका वह कथञ्चित् तादात्म्य सम्बंध होना ही बाधाओंसे रहित होरहे ज्ञानमें आरूढ हो रहा है। वह शक्ति और शक्तिमान्के नैयायिकोंसे माने गये सर्वथा भेदवादको

चारों ओरसे नष्ट करदेता है और प्रत्येक द्रव्यमें वह सम्बंध न्यारा न्यारा होकर अनेक प्रकारका है। भावार्थ—अनेक शक्ति और अनेक शक्तिमानोंके तादात्म्य सम्बंध भी अनेक हैं। आपके कल्पित समवायके समान तादात्म्य सम्बंध एक नहीं है।

कथञ्चित्तादात्म्यमेव समवायिनामेकममूर्तं सर्वगतमिहेदमिति प्रत्ययनिमित्तं समवायोऽर्थभेदाभावादिति मामंस्त, तस्य प्रतिद्रव्यमनेकप्रकारत्वात्, तथैवाबाधितज्ञानारूढत्वात्, मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायतादात्म्यं हि मूर्तिमज्जायते नामूर्तं, अमूर्तद्रव्यपर्यायतादात्म्यं पुनरमूर्तमेव, तथा सर्वगतद्रव्यपर्यायतादात्म्यं सर्वगतम्, असर्वगतद्रव्यपर्यायतादात्म्यं पुनरसर्वगतमेव, तथा चेतनेतरद्रव्यपर्यायतादात्म्यं चेतनेतररूपमित्यनेकधा तत्सिद्धं शक्तिमद्वतोः सर्वथा भेदमाहन्त्येव।

यदि नैयायिक यों मान बैठें कि जिसको जैन विद्वान् कथञ्चित् तादात्म्यसंबंध कहते हैं, वही हमारा समवायी पदार्थोंका समवाय एक है, अमूर्त है, सब स्थानोंपर रहता हुआ व्यापक है और "यहां यह है" अर्थात् घटमें रूप है, आत्मामें ज्ञान है। इस प्रकार सप्तम्यन्त और प्रथमांत समभिव्याहारकी प्रतीतियोंका निमित्त है। आप जैन भी अपने कथञ्चित् तादात्म्य संबंधको ऐसा ही मानते होंगे। अतः हमारे समवाय और आपके तादात्म्यमें कोई अर्थका भेद नहीं है, केवल शब्दभेद है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंको नहीं मान बैठना चाहिये। क्योंकि हम तादात्म्यसंबंधको एक नहीं मानते हैं। अनेक संबंधी हो रहे द्रव्योंमें रहनेवाले तादात्म्यसंबंध प्रत्येक द्रव्यमें एक एक होकर रहते हुए अनेक प्रकारके हैं। उस ही प्रकार संबंधोंकी अनेकता बाधारहित ज्ञानोंके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतीतिकी शिखरपर चढी हुयी है। जब मूर्तिवाले द्रव्योंकी पर्याय होकर तादात्म्य संबंध जाना जा रहा है, उस समय वह संबंध मूर्तिमान् ही उत्पन्न हो जाता है, अमूर्त नहीं हैं। जैसे कि घटका और रूपका एवं अग्नि और उष्णताका तादात्म्यसंबंध भी अपने रूप, रस, गंध, स्पर्शवाले संबंधियोंसे अभिन्न होनेके कारण मूर्त हैं, यदि संसारी जीवोंको पुद्गल द्रव्यके बंधकी अपेक्षा मूर्त माना जावेगा तो मूर्त जीवके साथ उसके मतिज्ञान, क्रोध आदिकोंका तादात्म्यसंबंध भी मूर्त है। और जब अमूर्त द्रव्योंकी पर्याय होकर वह तादात्म्यसंबंध उत्पन्न होता है, तब तो फिर वह अमूर्त ही बन जाता है, जैसे कि रूप आदिसे रहित हो रहे आत्मामें ज्ञानका, एवं काल द्रव्यमें अस्तित्व, वस्तुत्वका तादात्म्यसंबंध अमूर्त है। तथा जब सर्वत्र लोकालोकमें या लोकमें व्यापक द्रव्यकी पर्याय होकर तादात्म्य होता है, तब वह तादात्म्य भी सर्व व्यापक है, जैसे कि आकाशका महापरिमाणके साथ या केवलिसमुद्घात करते समय श्री जिनेंद्रदेवका स्वकीय केवलज्ञान और अनंतसुखके साथ होनेवाला तादात्म्यसंबंध व्यापक है। और सब स्थानोंपर नहीं रहनेवाले व्याप्यद्रव्योंकी पर्याय बनकर उत्पन्न होनेवाला तादात्म्य भी फिर असर्वगत ही होता है। जैसे कि वृक्षकी शाखामें बंदरका तो संयोगसंबंध है किंतु बंदरके साथ संयोगका तादात्म्य है। क्योंकि संयोग दोमें या तीन

चार आदिमें रहनेवाला परिणाम है, या धूपघटके ऊपर देशमें उष्णस्पर्शका तादात्म्य अव्यापक है। उसी प्रकार चेतन और जड द्रव्योंका परिणामविशेष हो रहा तादात्म्यसंबंध भी चेतनरूप और जड-स्वरूप है, बद्ध संसारी आत्माके साथ कर्म नोकर्मके संबंधसे हुयी मतिज्ञान, क्रोध, मनुष्यगति, अज्ञान, लेश्या आदि पर्यायोंका तादात्म्यसंबंध चेतन अचेतनस्वरूप है। इस प्रकार वह तादात्म्य-संबंध अनेक प्रकारसे सिद्ध है। नैयायिकोंके मतके अनुसार एक नहीं है और न एकांतसे अमूर्त या सर्वगत है किंतु मूर्त और असर्वगत भी है, द्रव्योंमें अनेक पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। अतः जिस प्रकारके वे द्रव्य हैं, उसी ढंगके उनके तादात्म्यसंबंध भी हैं, जैसे नैयायिकोंका माना हुआ नित्य, एक हो रहा और अनेकोंमें रहनेवाला सामान्य पदार्थ कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, किंतु पुद्गलका सदृशपरिणामरूप सामान्य पुद्गल तत्त्व है और जीवका समान परिणामरूप जीवत्व जाति जीव तत्त्व है, उसी प्रकार तादात्म्यसंबंध भी कोई स्वतंत्र छठा पदार्थ नहीं है। द्रव्य, गुण और पर्यायोंसे अतिरिक्त चौथा पदार्थ संसारमें कोई नहीं है। जिन द्रव्योंका या भावोंका जो संबंध है, वह उन द्रव्य और उन भावस्वरूप ही है। इस प्रकारका कथञ्चित् तादात्म्यसंबंध नैयायिक द्वारा माने गये शक्ति और शक्तिमान्के सर्वथा भेदको सर्व प्रकारसे नष्ट कर देता ही है। फिर हम अधिक चिंता क्यों करें।

ततोऽर्थग्रहणाकारा शक्तिर्ज्ञानमिहात्मनः।
करणत्वेन निर्दिष्टा न विरुद्धा कथञ्चन ॥ २२ ॥

उस कारणसे आत्माकी विकल्प स्वरूप अर्थग्रहणके संचेतनको धारण करनेवाली शक्ति ही यहां ज्ञान मानी गयी है और वही शक्ति ज्ञप्ति क्रियाका करण होकर कही गयी है किसी भी प्रकारसे वह विरुद्ध नहीं है। अर्थात् ज्ञानका और शक्तिका अभेद है तो प्रमाणज्ञानके समान लब्धि रूप शक्ति भी प्रमितिका करण हो जाती है।

न ह्यन्तरङ्गबहिरंगार्थग्रहणरूपाऽऽत्मनो ज्ञानशक्तिः करणत्वेन कथञ्चिन्निर्दिश्यमाना विरुध्यते, सर्वथा शक्तितद्वतोर्भेदस्य प्रतिहननात्।

ज्ञान, सुख, आत्मा, इच्छा, पीडा आदि अंतरंग पदार्थ और घट, पट, भित्ति आदि बहि-रङ्ग पदार्थोंको ग्रहण करना रूप आत्माकी ज्ञानशक्ति किसी अपेक्षासे करणपने करके कथन कर दी गयी विरोधको प्राप्त नहीं होती है। क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्के सर्वथा भेद माननेके पक्षका हमने खण्डन कर दिया है।

ननु च ज्ञानशक्तिर्यदि प्रत्यक्षा तदा सकलपदार्थशक्तेः प्रत्यक्षत्वप्रसंगादनुमेयत्व-विरोधः। प्रमाणबाधितं च शक्तेः प्रत्यक्षत्वम्, तथाहि—ज्ञानशक्तिर्न प्रत्यक्षास्मदादेः शक्ति-

त्वात् पावकादेर्दहनादिशक्तिवत्, न साध्यविकलमुदाहरणं पावकादिदहनादिशक्तेः प्रत्यक्षत्वे कस्यचित्तत्र संशयानुपपत्तेः।

यहां मीमांसकोंका स्वपक्ष अवधारण पूर्वक आक्षेप है कि जैन लोग ज्ञानशक्तिका प्रत्यक्ष होना यदि इष्ट करते हैं, तब तो पदार्थोंकी सम्पूर्ण शक्तियोंके प्रत्यक्ष होजानेका प्रसंग आता है। अतः ये शक्तियां अस्मदादि छद्मस्थोंको अनुमानसे जानने योग्य हैं इस प्रसिद्ध सिद्धांतका विरोध हो जावेगा, तथा अतीन्द्रिय शक्तियोंका प्रत्यक्ष करलेना इस अनुमान प्रमाणसे बाधित भी है। उसी अनुमानको स्पष्टरीत्या कहते हैं कि आत्माकी जाननेकी शक्ति (पक्ष) हम सरीखे चर्मचक्षु-वाले पुरुषोंके प्रत्यक्षगोचर नहीं है (साध्य) क्योंकि वह शक्ति है। (हेतु) जैसे कि अग्नि, अन्न, जल आदि की दाहकत्व, पाचकत्व, भूखको दूर करने, प्यासको दूर करनेकी शक्तियां देखी नहीं जासकती हैं, (अन्वय दृष्टांत) किंतु दाह होना, पाक होना, भूख मिटजाना, प्यास दूर होना आदि उत्तरकालवर्ती फलरूप कार्योंसे शक्तियोंका अनुमान करलिया जाता है। अग्निकी दाहकत्व-शक्तिरूप उदाहरण यहां प्रत्यक्ष न होना रूप साध्यसे रहित नहीं है, यदि अग्नि, अन्न, जल आदिककी दाहकत्व, क्षुधा निवारकत्व आदि शक्तियोंका प्रत्यक्ष होगया होता तो किसी भी पुरुषको उनमें संशय उत्पन्न होना नहीं बन सकता था। किंतु अनेक कारणोंमें कार्यके उत्पन्न हो सकनेका संशय बना रहता है। अतः प्रतीत होता है कि कारणोंकी शक्तियां प्रत्यक्षप्रमाणका विषय नहीं हैं। अन्यथा सर्व ही औषधि सेवन करने वालोंको नीरोगता प्राप्त हो जाती। सभी कारण अव्यर्थ होजाते।

यदि पुनरप्रत्यक्षा ज्ञानशक्तिस्तदा तस्याः करणज्ञानत्वे प्रभाकरमतसिद्धिः, तत्र करणज्ञानस्य परोक्षत्वव्यवस्थितेः फलज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वोपगमात्, ततः प्रत्यक्षं करणज्ञानमिच्छतां न तच्छक्तिरूपमेषितव्यं स्याद्वादिभिरिति चेत्, तदनुपपन्नम्, एकान्ततोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वस्य करणज्ञानेऽन्यत्र वा वस्तुनि प्रतीतिविरुद्धत्वेनानभ्युपगमात्, द्रव्यार्थतो हि ज्ञानमस्मदादेः प्रत्यक्षं, प्रतिक्षणपरिणामशक्त्यादिपर्यायार्थतस्तु न प्रत्यक्षम्, तत्र स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं स्वसंविदितं फलंप्रमाणाभिन्नं वदतां करणज्ञानं प्रमाणं कथमप्रत्यक्षं नाम?

यदि फिर जैन लोग ज्ञानशक्तिका प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसा मानेंगे और उस अप्रत्यक्ष ज्ञानशक्तिको करणरूप ज्ञान मानेंगे तबतो हम प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकोंके मतकी सिद्धि हो गयी, क्योंकि वहां मीमांसकोंके मतमें ज्ञप्तिके करणरूप प्रमाणज्ञानको परोक्षपना व्यवस्थित किया है। प्रभाकरोंने ज्ञप्तिरूप फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है उस कारणसे प्रमितिके करण होरहे प्रमाणज्ञानका प्रत्यक्ष होना चाहने वाले स्याद्वादी जैनोंको वह करणज्ञान शक्तिरूप इष्ट नहीं करना चाहिये। इस प्रकार स्याद्वादियोंको ज्ञानशक्ति और ज्ञानका भेद मानना ही अनुकूल

पडेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार मीमांसक कहेंगे तो उनका वह कहना सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि अस्मदादिकोंको एकांत रूपसे सर्वथा प्रत्यक्ष हो जाना करणज्ञानमें अथवा अन्य घट, पट आदिक वस्तुओंमें भी स्वीकार नहीं किया गया है। पदार्थोंका हम लोगोंको पूर्ण रीतिसे प्रत्यक्ष हो जाना प्रतीतियोंसे विरुद्ध हैं। प्रसिद्ध माने गये घट, पट आदिकोंका भी हम सर्वांगीण प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। भीतरका अंश, परलाभाग, सूक्ष्म अर्थपर्यायें और अविभागप्रतिच्छेदोंको हमारी इंद्रियां विषय नहीं कर पाती हैं। मोटे द्रव्य पदार्थकी दृष्टिसे हां ज्ञानका हम लोगोंको प्रत्यक्ष होता है। किंतु सूक्ष्मपर्याय पदार्थोंकी दृष्टिसे प्रत्येक क्षणमें परिणमन करती हुयीं शक्तियां, अविभागप्रतिच्छेद, अगुरुलघु आदिका तो हम लोगोंको प्रत्यक्ष नहीं होता है वे केवल ज्ञानके विषय हैं। उस प्रकरणमें अपना और अर्थका निश्चय करना स्वरूप ज्ञान है फल जिसका, ऐसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय होरहे ज्ञानरूप फलको प्रमाणसे अभिन्न कहने वाले स्याद्वादियोंके मतमें करणरूप प्रमाणात्मक ज्ञान भला अप्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? भावार्थ—फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना मानने पर उससे अभिन्न करणज्ञानका प्रत्यक्ष होना न्यायप्राप्त हो जाता है। प्रभाकर फलज्ञानका प्रत्यक्ष होना माने और उससे अभिन्न होरहे करण ज्ञानका प्रत्यक्ष न मानें यह कैसे हो सकता है?। यानी अयुक्त है।

न च येनैव रूपेण तत्प्रमाणं तेनैव फलम्, येन विरोधः। किं तर्हि? साधकतमत्वेन प्रमाणं साध्यत्वेन फलम्, साधकतमत्वं तु परिच्छेदनशक्तिरिति प्रत्यक्षफलज्ञानात्मकत्वात् प्रत्यक्षं शक्तिरूपेण परोक्षम्, ततः स्यात् प्रत्यक्षं स्यादप्रत्यक्षमित्यनेकान्तसिद्धिः।

यदि यहां कोई कटाक्ष करे कि जिस ही स्वभावसे ज्ञानमें प्रमाणता है और उस ही स्वभावसे ज्ञानमें फलपना भी मानोगे, तब तो उन दोनों विरुद्ध स्वभावोंका ज्ञानमें रहनेका विरोध होगा, सो यह कटाक्ष ठीक नहीं है। जैन लोग जिस ही स्वभावसे प्रमाणपना मानते हैं, उस ही स्वभावसे फलपना नहीं मानते हैं, जिससे कि विरोध होवे, तब तो क्या मानते हैं? इसका उत्तर सुनिये, प्रमितिक्रियाके प्रति प्रकृष्ट उपकारकपनेसे ज्ञानमें प्रमाणपना है और साधने योग्य प्रयोजनकी अपेक्षासे फलपना है, एक मल्ल अपने शरीरके व्यायामसे उस ही शरीरको पुष्ट करलेता है। शरीरमें पुष्ट करानेकी अंग उपांगोंकी शक्ति भिन्न है और फल रूप पोषण शक्ति निराली है। ज्ञानमें विद्यमान हो रही स्व को और अर्थको परिच्छेदन करनेकी शक्ति को ही करणपना है। वह ज्ञान, करणरूप प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप है और ज्ञप्ति रूप फलज्ञान स्वरूप भी है। तहां फलज्ञानकी अपेक्षासे वह ज्ञान प्रत्यक्ष है और करणत्व शक्तिके स्वरूपसे वह ज्ञान परोक्ष है। इस कारणसे वह प्रमाणज्ञान किसी अपेक्षासे प्रत्यक्ष है और अन्य अपेक्षासे अप्रत्यक्ष यानी परोक्षरूप भी है। इस प्रकार अनेकांतकी सिद्धि होजाती है। अनेकांतसे तत्त्वकी सिद्धि होरही है। अनेकांतका सर्वत्र साम्राज्य है।

यदा तु प्रमाणाद्भिन्नं फलं हानोपादानोपेक्षाज्ञानलक्षणं तदा स्वार्थव्यवसायात्मकं करणसाधनं ज्ञानं प्रत्यक्षं सिद्धमेवेति न परमतप्रवेशस्तच्छक्तेरपि सूक्ष्मायाः परोक्षत्वात् ।

यहांपर किसीका यह प्रश्न होसकता है, कि अज्ञाननिवृत्तिरूप अभिन्न फलकी अपेक्षासे करणज्ञानमें आपने प्रत्यक्षपना नियत किया, किंतु प्रमाणका त्याज्य पदार्थमें त्याग और ग्रहण करने योग्यमें उपादान तथा उपेक्षणीय पदार्थमें उपेक्षा बुद्धिरूप फल जब अभीष्ट होगा उस समय तो फलका भले ही प्रत्यक्ष होजाय। किंतु फलसे सर्वथा भिन्न माने गये करण ज्ञानका कैसे भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इसका समाधान इस प्रकार है कि—जब प्रमाणसे हान उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप भिन्न फल इष्ट किया गया है, तब अपने और अर्थको निश्चय करना स्वरूप और करणमें युट् प्रत्यय करके साधा गया वह ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रत्यक्षरूप सिद्ध ही है। पहिले ज्ञानशक्तिको ही परोक्ष कहा गया था ज्ञानको नहीं। यों भी सर्वथा प्रत्यक्ष मानने पर एकांतपक्ष हो जानेसे स्याद्वादियोंके मतमें अन्य एकान्तवादियोंके मतका प्रवेश नहीं हो सकता है। क्योंकि उस ज्ञानकी सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्तियोंका सर्वज्ञके अतिरिक्त किसीको भी प्रत्यक्ष नहीं होसकता है। अतः वह शक्तिरूप ज्ञान परोक्ष भी है।

तदेतेन सर्वं कर्त्रादिकारकत्वेन परिणतं वस्तु कस्यचित्प्रत्यक्षं परोक्षं च कर्त्रादिशक्तिरूपतयोक्तं प्रत्येयं, ततो ज्ञानशक्तिरपि च करणत्वेन निर्दिष्टा न स्वागमेन युक्त्या च विरुद्धेति सूक्तं ।

उस कारण इस पूर्वोक्त कथनसे यह बात भी निर्णीत हुयी समझनी चाहिए कि कर्ताकारक, कर्मकारक आदिपनेसे परिणमन करती हुयीं सम्पूर्ण वस्तुएं मोटे द्रव्यकी अपेक्षासे ही किसीके भी प्रत्यक्षके विषय हैं। किंतु स्वतंत्ररूप कर्तृत्वशक्ति और बन जानारूप कर्मत्व शक्ति आदि स्वभावोंसे सर्व पदार्थ हम लोगोंको परोक्ष हैं, इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये। सन्मुख खडी हुयी भींतका या चौकीका भी हमको पूर्ण रीतिसे प्रत्यक्ष नहीं है। भावार्थ—घट, पट, भित्ति आदि स्पष्ट प्रत्यक्षके विषय माने गये पदार्थ भी बहुभागोंमें हम लोगोंके प्रत्यक्ष नहीं हैं। इनकी शक्तियों और अविभागप्रतिच्छेदोंका हमको अनुमान और आगमसे ही ज्ञान हो सकता है। उस कारणसे करणपने करके कही गयी आत्माकी ज्ञानशक्ति भी श्रेष्ठ सर्वज्ञोक्त आगम प्रमाणसे और अनुकूल तर्कवाली युक्तिसे सिद्ध है, विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार हमने बहुत अच्छा कहा था कि अपने और अर्थको ग्रहण करनेवाली आत्माकी शक्ति ही ज्ञान है और वह मोक्षका मार्ग है।

आत्मा चार्थग्रहाकारपरिणामः स्वयं प्रभुः ।
ज्ञानमित्यभिसन्धानकर्तृसाधनता मता ॥ २३ ॥

तस्योदासीनरूपत्वविवक्षायां निरुच्यते ।
भावसाधनता ज्ञानशब्दादीनामबाधिता ॥ २४ ॥

जब आत्मा स्वयं अर्थके सविशेष ग्रहण करनेरूप पर्यायको धारण करनेमें स्वतंत्ररूपसे समर्थ होता है, तब वह ज्ञप्ति क्रियाको बनानेमें एकाग्र लगा हुआ आत्मा ही ज्ञान है। इस प्रकार विवक्षा होनेपर ज्ञान शब्दकी कर्तामें युट् प्रत्यय करके सिद्धि मानी गयी है। और जब उस आत्माके कर्त्ता, कर्म, करणपनेकी नहीं अपेक्षा कर वह ज्ञप्ति क्रियामें उदासीनरूपसे विवक्षित होता है, उस समय ज्ञान और दर्शन आदि शब्दोंकी भावमें युट् प्रत्यय करके बाधारहित निरुक्ति कर दी जाती है। जाननारूप अपरिस्पंद क्रिया ही ज्ञान है और श्रद्धान करनारूप क्रिया ही दर्शन है। यह भावमें निरुक्ति करनेसे अर्थ निकलता है ।

नन्वात्मा जानातीति ज्ञानमात्मेति विवक्षायां करणमन्यद्वाच्यं, निःकरणस्य कर्तृत्वायोगादिति चेन्न, अविभक्तकर्तृकस्य स्वशक्तिरूपस्य करणस्याभिधानात् ।

यहां शंका है कि कर्तामें युट् प्रत्यय करने पर जो अर्थोंको जान रहा है, वह आत्मा ज्ञान है, ऐसी विवक्षा करनेपर आपको कर्तासे भिन्न दूसरा करण कहना पडेगा। बिना करणके कर्ता किसी भी क्रियाको नहीं बनाता है। बसूलाके बिना तक्षक (बढई) काष्ठको छील, खुरच नहीं सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि यहां कर्तासे सर्वथा भिन्न नहीं ऐसे अपनी शक्तिरूप करणका कथन किया है। लोहकी लाठ अपने बोझसे स्वयं लचक रही है। वृक्ष अपने बोझसे स्वयं झुक गया है, इन स्थलोंपर कर्तासे अभिन्न भी करण हो जाते हैं।

भावसाधनतायां ज्ञानस्य फलत्वव्यवस्थितेः प्रमाणत्वाभाव इति चेन्न, तच्छक्तेरेव प्रमाणत्वोपपत्तेः ।

शुद्ध धात्वर्थ रूप अर्थको प्रगट करने वाले भावमें युट् प्रत्यय करके ज्ञान शब्दकी सिद्धि होने पर तो ज्ञानको फलपना व्यवस्थित हो जावेगा। ऐसा होने पर ज्ञानको करणरूप प्रमाणपनेका अभाव है, यह कटाक्ष तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस साधकतमपनेकी शक्तिको ही ज्ञानमें प्रमाणपना सिद्ध किया जा चुका है। ज्ञप्तिक्रियाके प्रतिपादन करते समय भी ज्ञानमें करणपनेकी शक्ति विद्यमान है। तीक्ष्ण तलवार काष्ठको प्रधान रूपसे काट रही है। उस समय पैनापन और काठिन्य शक्ति अप्रगट होकर करणरूपसे काम कर रही है।

तथा चारित्रशब्दोऽपि ज्ञेयः कर्मानुसाधनः ।
कारकाणां विवक्षातः प्रवृत्तेरेकवस्तुनि ॥ २५ ॥

वैसे ही चारित्र शब्दको कर्ममें "णित्र" प्रत्यय करने पर साधा गया समझ लेना चाहिये। "विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः" इस नियमके अनुसार पदार्थमें वक्ताकी इच्छासे अनेक कारकोंकी प्रवृत्ति हो जाती है। भावार्थ—घटको जानता है, घटका ज्ञान करता है और घटमें ज्ञान करता है। यहां ज्ञानक्रियाकी अपेक्षासे घटमें अनेक कारकोंकी प्रवृत्ति हो गयी है, गौसे दूध दुहता है, गौका दूध दुहता है, गौको दुहता है, इसी प्रकार आत्माका पर्याय रूप चारित्र गुण भी कर्ता, कर्म, करणपनेसे साध दिया जाता है। विवक्षा भी कोई झूंठ मूंठ नहीं गढली गयी है। किंतु परमार्थ वस्तुस्वभावोंकी भित्ति पर विवक्षा खडी की गयी है।

चारित्रमोहस्योपशमे क्षये क्षयोपशमे वात्मना चर्यते तदिति चारित्रम्, चर्यतेनेन चरणमात्रं वा चरतीति वा चारित्रमिति कर्मादिसाधनश्चारित्रशब्दः प्रत्येयः।

चारित्रमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके होनेपर आत्माके द्वारा जो चरण (शुभपर्वतन अशुभनिवर्तन) किया जाय वह चारित्र है। यह कर्ममें णित्र प्रत्यय करके चारित्र शब्द बनाया गया है अथवा आत्मा जिस करके चरण करे वह भी चारित्र है। यह करण साधन व्युत्पत्ति है। तीसरी निरुक्ति भावसाधनमें इस प्रकार है कि कर्म, कर्ता आदिसे कुछ भी सम्बन्ध न रखते हुए केवल चर्या करना ही चारित्र है। अथवा चौथी निरुक्ति चर गतिभक्षणयोः गति और भक्षण अर्थको कहनेवाली भ्वादि गणकी चर् धातुसे कर्तामें णित्र प्रत्यय करके की गयी है अर्थात् जो स्वतन्त्ररूपसे आचरण करता है, वह आत्मा चारित्ररूप है। इस प्रकार कर्म, करण, भाव, और कर्तामें शब्दशास्त्रसे चारित्र शब्दका साधनकर दिया गया समझलेना चाहिये। भावार्थ—जैन धर्मके अनुसार प्रत्येक वस्तुमें अनेक स्वभाव और परिणाम माने गये हैं। अतः चार क्या, इससे भी अधिक धर्मोंकी योजना एक पदार्थमें बन जाती है। लेज (रस्सी) बैलको बांधती है। लेजसे बैल बांधा जाता है। लेज स्वयं लेजको बांध रही है। लेज स्वयं बंध रही है। एवं देवदत्त घोडेको भगाता है और घोडा देवदत्तको भगाता है; घोडा स्वयं भाग रहा है। और उसपर लदा हुआ देवदत्त भी दौडा जा रहा है तथा देवदत्त स्वयं दौडता है और उसकी टांगोंमें फंसे हुए घोडेको देवदत्तके प्रयत्नसे दौडना पडता है। वास्तवमें विचारा जावे तो घोडेकी आत्मामें देशसे देशान्तर होनेकी क्रिया ही भाग रही है, किन्तु उस क्रियाके परिणामी घोडेके शरीर और जीवको भी मालगाडीमें लदे हुए मालके समान भागना पडता है। इस प्रकार स्वतंत्रता और परतंत्रतासे किये गये परिणामोंके अनेक दृष्टांत हैं।

ननु च "भूवादिदृग्भ्यो णित्र" इत्यधिकृत्य "चरेर्वृत्ते" इति कर्मणि णित्रस्य विधानात्, कर्त्रादिसाधनत्वे लक्षणाभाव इति चेत् न, बहुलापेक्षया तद्भावात्।

यहां पुनः शंका है कि व्याकरण शास्त्रके "भूवादिदृग्भ्यो णित्र" इस सूत्रका अधिकार लेकर अगले "चरेर्वृत्ते" इस सूत्र करके चर् धातुसे चारित्र अर्थमें कर्मकारकमें णित्र प्रत्ययका

विधान किया है और आपने अभी कर्ता, भाव और करणमें चारित्र शब्दको साधते हुए भी चारित्र शब्दकी निरुक्ति की है। अतः कर्ता आदिमें णित्र प्रत्यय करनेवाले लक्षणसूत्रका जब अभाव है तो आपका चारित्र शब्द कर्ता आदिको कहनेवाला साधु शब्द कैसे हो सकता है ? बताओ। आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि बहुलता करके कर्मसे अन्य उन कर्ता आदिमें भी णित्र प्रत्ययका विधान है। कहीं होना, और कहीं न होना, कहींपर विकल्प रूपसे होजाना, कांचित् रूपांतर बनजाना, इस प्रकार बहुलता अनेक प्रकारकी है। अतः कर्ता आदिमें भी णित्र प्रत्यय होजाना व्याकरणशास्त्रसे उपपन्न है।

एतेन दर्शनज्ञानशब्दयोः कर्तृसाधनत्वे लक्षणाभावो व्युदस्तः, " युड्व्या बहुलं " इति वचनात्, तथा दर्शनाच्च, दृश्यते हि करणाधिकरणभावेभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगो यथा निरदन्ति तदिति निरदनम्, स्यंदतेऽस्मादिति स्यंदनमिति।

इस उक्त कथनसे दर्शन और ज्ञान शब्दमें कर्तामें युट् प्रत्यय सिद्ध करनेवाला कोई सूत्र नहीं है, यह कहना भी खण्डित करदिया जाता है। क्योंकि करणके अतिरिक्त प्रायः अन्य कारकोंमें भी युट् प्रत्यय करनेका व्याकरण शास्त्रमें सूत्र कहा है। और वैसा अनेक प्रयोगोंमें देखा भी जारहा है। करण अधिकरण और भावोंसे अतिरिक्त कारकोंमें भी युट् प्रत्ययका प्रयोग देखा गया है। जैसे कि जो नहीं खाया जाता है उसको निरदन कहते हैं। यहां युट् प्रत्यय कर्ममें किया गया है और जिससे चलना होवे, उसको स्यंदन (रथ) कहते हैं। यहां अपादान कारकमें युट् प्रत्यय किया है अथवा जिस द्रवपनेसे (पतलेपन) पानी, तैल आदि पदार्थ बहें, वह स्यंदन गुण है।

कथमेकज्ञानादि वस्तु कर्त्राद्यनेककारकात्मकं विरोधादिति चेन्न, विवक्षातः कारकाणां प्रवृत्तेरेकत्राप्यविरोधात्।

एक ही ज्ञान दर्शन अथवा चारित्ररूप आदि वस्तु कर्ता, कर्म, करण और भावरूप अनेक कारकस्वरूप कैसे बन सकते हैं ? क्योंकि विरोध है। जो ही कर्ता है वह करण कैसे होगा ? या कर्म कैसे हो जावेगा ? यह कटाक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक पदार्थमें भी वक्ताकी इच्छासे अनेक कारकोंकी प्रवृत्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है। बांस नटको धारण करता है और नट बांसको धारण करता है। बांस करके नट लेज पर धरा हुआ है और नट करके बांस धारण किया गया है। नटके लिये बांस है और बांसके लिये नट है। नटसे बांस स्थित है और बांससे नट स्थित है। नटपर बांस है और बांसपर नट है। ये सब केवल शब्दाडम्बर नहीं है। किंतु पदार्थोंकी परिणतिके अनुसार भिन्न भिन्न कारकोंमें वक्ताकी इच्छा होना सम्बन्धित है। दालसे रोटीको खाना और रोटीसे दाल खाना भी भिन्न भिन्न परिणामोंपर निर्भर है। बुभुक्षित देवदत्त स्वतंत्र रूपसे दाल और रोटीको खा जाता है। किंतु कभी कभी वही देवदत्त सुंदर सचिक्कण सरस दालसे अधिक रोटियोंको

खाता है और कभी वही देवदत्त सुंदर रोटीसे थोडे स्वादवाली अधिक दालको निबटा लेता है। यथार्थमें विचारा जावे तो भक्षण ही भक्षणको करता है। पूर्व दिनका खाया हुआ अन्न पित्ताग्नि और लार रूप परिणत हो चुका है। उसी [illegible] खाया जा रहा है। इस मनुष्यसे प्रयत्न करने पर भी खाया नहीं जाता है। विशेष प्यास लगने पर एक विपलमें लोटाभर पानी खाली कर दिया जाता है। किंतु प्यास न लगने पर एक कटोरा पानी पेटमें पहुंचाना बहुत दृढ गढमें बाहिरसे सेना पहुंचानेके समान दुस्साध्य हो जाता है। विद्यार्थी पढता है और विद्यार्थीको पढना पडता है, इत्यादि अनेक दृष्टांतोंसे कारककी प्रवृत्ति होना विवक्षाके अधीन सिद्ध होती है और चतुर वक्ताकी इच्छा भी पदार्थोंकी विशेष परिणतियोंके आश्रय पर हुयी है। यों ही अंटसंट नहीं उपज गयी है। पदार्थोंकी मूलभूत सामर्थ्यके विना नैमित्तिक परिणति नहीं हो पाती है।

कुतः पुनः कस्येति कारकमावसति विवक्षा कस्यचिदविवक्षेति चेत्—

फिर आप जैन लोग यह और बतलादीजिये कि किसकी विवक्षा किस कारणसे किस कारकपर आरूढ हो जाती है और किस धर्मकी अविवक्षा किससे कब कहां हो जाती है? ऐसा प्रश्न हो जानेपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं—

विवक्षा च प्रधानत्वाद्वस्तुरूपस्य कस्यचित्।
तदा तदन्यरूपस्याविवक्षा गुणभावतः॥ २६॥

वस्तुमें अनेक स्वभाव विद्यमान हैं, जिस समय वस्तुके प्रधान होनेके कारण किसी भी एक स्वरूपकी विवक्षा होती है, उस समय वस्तुके अन्य धर्मोंकी गौणरूप होजानेके कारण अविवक्षा होजाती है। भावार्थ—जैसे पुष्प आदि सुगंधित द्रव्यमें गंध गुणकी प्रधानता है। शेष रूप, रस आदिककी अप्रधानता है। इसी प्रकार अस्तित्व धर्मकी विवक्षा होनेपर नास्तित्व आदि धर्म अविवक्षित होजाते हैं और नास्तित्वकी विवक्षा होनेपर अस्तित्व गौण होजाता है। कारकपक्ष और व्यवहारके ज्ञापकपक्ष दोनोंमें वस्तुके स्वभावभूत धर्म कारण होते हैं। वस्तुके सामर्थ्यरूप स्वभावोंसे ही अर्थक्रियायें होती हैं। यह कार्यकारणभाव है और उन स्वभावोंका अवलम्ब लेकर ही व्यवहार किया जाता है, यह ज्ञाप्यज्ञापकभाव है।

नन्वसदेव रूपमनाद्यविद्यावासनोपकल्पितं विवक्षेतरयोर्विषयो न तु वास्तवं रूपं यतः परमार्थसती षट्कारकी स्यादिति चेत्।

यहां बौद्धोंकी शंका है कि वस्तुमें अनेक धर्म नहीं हैं। स्वभावोंसे रहित होकर वस्तु स्वयं निर्विकल्पक है। आप जैनोंने जो धर्म विवक्षा और उससे न्यारी अविवक्षाके विषय माने हैं वे वस्तुके स्वरूप नहीं है। केवल अनादि कालसे लगी हुयी मिथ्या सङ्कल्परूप वासनाओंसे कल्पित किये गये

वे धर्म असत् रूप ही हैं अर्थात् कुछ नहीं हैं। भला ऐसी दशामें जैनियोंका माना गया छह कारकोंका समुदाय परमार्थ रूपसे सद्भूत पदार्थ कैसे हो सकेगा? बताओ। जिससे कि ज्ञानको कर्तापना कर्मपना आदि बन सकें आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो उत्तर सुनिये।

भावस्य वासतो नास्ति विवक्षा चेतरापि वा।
प्रधानेतरतापायाद्गगनाम्भोरुहादिवत् ॥ २७ ॥

असत् रूप पदार्थ की विवक्षा नहीं होती है और दूसरी अविवक्षा भी नहीं है। क्योंकि प्रधानपना और गौणपना विद्यमान पदार्थोंमें होता है। असत्के नहीं, जैसे कि आकाशके कमल या वन्ध्यापुत्र आदिमें प्रधानपन या गौणपन अथवा अर्पितपना और अनर्पितपना नहीं बनता है। "गौर्वाहीक" यहां बोझ लादनेवाले मनुष्यमें बैलपनेका उपचार किया जाता है। शशके सींगमें नहीं।

प्रधानेतरताभ्यां विवक्षेतरयोर्व्याप्तत्वात् पररूपादिभिरिव स्वरूपादिभिरप्यसतस्तदभावात्तदभावसिद्धिः।

विवक्षा और अविवक्षाकी प्रधानपने और अप्रधानपनेके साथ व्याप्ति है। परद्रव्य क्षेत्र, काल, भाव करके सर्व पदार्थ असत्रूप हैं अर्थात् नास्तित्वधर्मसे युक्त हैं। पररूप आदिकों करके असत् के समान यदि वे अपने स्वरूप आदि स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे भी असत् होवेंगे तो ऐसे अश्वविषाण आदि पदार्थोंकी प्रधानता और अप्रधानता न होनेके कारण विवक्षा और अविवक्षाकी सिद्धि भी नहीं होती है। उस व्यापकके न होनेपर वह व्याप्य भी नहीं रहता है। विवक्षा, अविवक्षा व्याप्य हैं। प्रधानता और अप्रधानता धर्म व्यापक हैं।

सर्वथैव सतोनेन तदभावो निवेदितः।
एकरूपस्य भावस्य रूपद्वयविरोधतः ॥ २८ ॥

धर्मोंको असत् रूप माननेवाले बौद्ध हैं और सद्रूप मानने वाले ब्रह्माद्वैतवादी हैं। यदि धर्मोंको सर्वथा ही सद्रूप मान लिया जावे तो भी उस प्रधानता और अप्रधानताका अभाव समझ लेना चाहिये। यह बात उक्त कथनसे निवेदन कर दी गयी है। क्योंकि सर्वथा कूटस्थ एकधर्मस्वरूप पदार्थके प्रधानता और अप्रधानता रूप दोनों धर्मोंका रहना विरुद्ध है। एकमें दो चार धर्म रहें तब तो एक प्रधान, अन्य अप्रधान हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

न हि सदेकांते प्रधानेतररूपे स्तः। कल्पिते स्त एवेति चेन्न, कल्पितेतररूपद्वयस्य सत्ताद्वैतविरोधिनः प्रसंगात्। कल्पितस्य रूपस्यासत्त्वादकल्पितस्यैव सत्त्वान्न रूपद्वयमिति

चेत्तर्ह्यसतां प्रधानेतररूपे विवक्षेतरयोर्विषयतामास्कन्दत इत्यायातम्, तच्च प्रतिक्षिप्तम्। स्याद्वादिनां तु नायं दोषः। चित्रैकरूपे वस्तुनि प्रधानेतररूपद्वयस्य स्वरूपेण सतः पररूपेणासतो विवक्षेतरयोर्विषयत्वाविरोधात्।

यदि अद्वैतवादी करके प्रतिभासस्वरूप सम्पूर्ण पदार्थोंका सत्तारूप एकांत माना जावेगा ऐसी दशामें भी प्रधान और दूसरे गौणरूप धर्म वस्तुमें कभी नहीं रह सकते हैं। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि वस्तुभूत एक ब्रह्ममें कल्पना किये गये दो धर्म रह ही जाते हैं। सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि दो धर्मोंका कल्पितपना और उससे न्यारा परब्रह्मका अकल्पितपना ऐसे दोनों स्वभाव तो सत्तारूप अद्वैतवादके विरोधी हैं। अतः आपको द्वैतपनेका प्रसंग आवेगा।

यदि आप विधिवादी यों कहें कि कल्पितस्वभाव तो असत् पदार्थ हैं। किंतु नहीं कल्पना किया गया परब्रह्म ही सत्पदार्थ है। इस कारण हमको वस्तुभूत दो स्वभाव नहीं मानने पड़ेंगे जिससे कि हमारे अद्वैतका विरोध हो जावे। ऐसा कहनेपर तो यह अभिप्राय आया कि असत्पदार्थोंके प्रधानता और अप्रधानता धर्म इन विवक्षा और अविवक्षाके विषयपनेको प्राप्त होते हैं। सद्वस्तुके नहीं। किंतु इसका खण्डन अभी हम कर चुके हैं अर्थात् बौद्धोंके सन्मुख हमने सिद्ध कर दिया है कि सत्पदार्थोंके ही प्रधानता और अप्रधानता धर्म होते हैं। और स्याद्वादसिद्धांतको माननेवाले हम लोगोंके मतमें तो यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि अनेक चित्र स्वभाववाले एक वस्तुमें प्रधानता और अप्रधानता दो धर्म स्वके स्वरूप करके विद्यमान हैं। और दूसरोंके स्वरूपके करके वे धर्म विद्यमान नहीं हैं। ऐसे वे धर्म विवक्षा और अविवक्षाके विषय हो जाते हैं। कोई विरोध नहीं है, एक ही मनुष्य दूसरे संबंधियोंकी अपेक्षासे पिता, पुत्र और भानजा, मामा आदि बन जाता है। उपयोक्ताओंकी अपेक्षासे दुग्धपदार्थ पोषक, रेचक, और श्लेष्मकर है।

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि।
सतो विशेषणस्यात्र नासतः सर्वथोदिता ॥ २९ ॥

अनंत धर्मवाले एकधर्मीरूप विशेष्य पदार्थमें विद्यमान ही विशेषणोंमेंसे अभिलाषीको किसी विशेषणकी विवक्षा हो जाती है और उदासीन व्यक्तिको विद्यमान होरहे अन्य विशेष धर्मकी अविवक्षा हो जाती है, सर्वथा असत् धर्मोंकी विवक्षा और अविवक्षा नहीं होती हैं। इस प्रकरणमें श्री समंतभद्र स्वामीने देवागमस्तोत्रमें ऐसा ही कहा है "विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येनन्तधर्मिणि, सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः" यह आप्तमीमांसाकी पैंतीसवीं कारिका है।

न सर्वथापि सतो धर्मस्य नाप्यसतोऽनन्तधर्मिणि वस्तुनि विवक्षा चाविवक्षा च भगवद्भिः समन्तभद्रस्वामिभिरभिहितास्मिन् विचारे, किं तर्हि ? कथञ्चित्सदसदात्मनः एव प्रधानतायाः गुणतायाश्च सद्भावात्।

अनन्त धर्मविशिष्ट वस्तुमें न तो सभी प्रकारोंसे सत् होरहे धर्मकी और न सर्व प्रकारसे असत् धर्मकी भी विवक्षा या अविवक्षा होती है। इस विवक्षाके प्रकरणमें विचार होनेपर भगवान् समंतभद्र स्वामीने यही बात कही है। तब तो कैसे धर्म की विवक्षा होती है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि कथञ्चित् सत्रूप और कथञ्चित् असत्रूप तदात्मक धर्म की ही प्रधानता और गौणपन होजानेका सद्भाव है। जगत्में संपूर्ण पदार्थ किसी अपेक्षासे सद्रूप और अन्य अपेक्षासे असत्रूप हैं। अतः उनके धर्म भी वैसे ही हैं। बौद्धोंका माना गया धर्मोंका शून्यवाद और अद्वैतवादियोंका सद्भाववाद प्रमाणपद्धतिसे खण्डित होजाता है। " सर्वं सर्वत्र विद्यते " सभी वस्तुयें सब स्थानोंपर विद्यमान हैं। अंगुलीके अग्रभागपर सौ हाथियोंके झुंड स्थित है, यह सांख्योंका मत भी प्रत्युक्त होजाता है।

कुतः कस्यचिद्रूपस्य प्रधानेतरता च स्याद्येनासौ वास्तवीति चेत्—

क्या कारण है कि वस्तुमें विद्यमान होरहे किसी ही रूपकी तो प्रधानता होती है और विद्यमान अन्य रूपका ही उससे भिन्न गौणपना होजाता है ! बताओ। जिससे कि यह प्रधान गौण व्यवस्था वास्तविक मानी जावे। यदि ऐसा कहोगे तो—आचार्य उत्तर कहते हैं कि—

स्वाभिप्रेतार्थसम्प्राप्तिहेतोरत्र प्रधानता।
भावस्य विपरीतस्य निश्चीयेताप्रधानता ॥ ३० ॥
नैवातः कल्पनामात्रवशतोऽसौ प्रवर्तिता।
वस्तुसामर्थ्यसम्भूततनुत्वादर्थदृष्टिवत् ॥ ३१ ॥

इस वस्तुमें इच्छुक जीवके अपने अभीष्ट पदार्थकी समीचीन प्राप्तिके कारण माने गये धर्मकी प्रधानता हो जाती है और उसके प्रतिकूल अपने अनिष्ट पदार्थकी प्राप्तिके कारण होरहे स्वभावकी अप्रधानता हो जाती है, ऐसा निर्णय किया जाय। इस कारण प्रधानता और अप्रधानताकी उस प्रवृत्तिको केवल कल्पनाके अधीन ही नहीं मानना चाहिये। किंतु वस्तुके स्वभावभूत सामर्थ्यसे प्रधानता और अप्रधानताका शरीर ठीक उत्पन्न हुआ है। जैसे कि अर्थका दर्शन वस्तुकी भित्तिपर डटा हुआ है। अर्थात्—बौद्धोंके मतमें वस्तुभूत स्वलक्षण स्वयं कल्पनाओंसे रहित है, तभी तो उसको जाननेवाला प्रत्यक्षप्रमाण भी निर्विकल्पक है। निर्विकल्पक माने गये स्वलक्षणसे जन्य अर्थका दर्शन जैसे निर्विकल्पक है, वैसे ही अनेक प्रधान अप्रधानरूप विद्यमान विशेषोंकी भित्तिपर ही वक्ताके प्रधानधर्मकी विवक्षा और अप्रधान धर्मकी अविवक्षा हो जाती है। दुग्धमें पोषकत्व, रेचकत्व शक्तियां हैं। तभी तो वह भिन्न भिन्न उदरोंको प्राप्त होकर अपनी शक्तिके वश पोषण, रेचन कर देता है। जैनसिद्धांतमें वस्तुके स्वभावोंको माने विना कोई कार्य नहीं होता हुआ माना है। विद्यार्थीमें अध्ययन करनेकी शक्ति है, उसको निमित्त मानकर अध्यापक पढा सकता है। अन्यथा

चौकी या भींतको भी पढा देवे, इस प्रकार पाठककी अध्यापन शक्तिके वश विद्यार्थी पढ लेता है। अन्यथा वृक्षसे क्यों न पढ लेवे ? हां ! अनेक बातें वृक्ष, थम्भ, घूरा, पृथ्वी, बादल आदि पदार्थोंसे भी मनुष्य सीख लेता है, जैसे कि पृथिवीसे क्षमा धारण की, वृक्षसे परोपकारकी, कुत्तेसे अल्प निद्रा लेनेकी शिक्षा ले लेता है। यह भी कार्य पृथिवी आदिकमें निमित्तशक्ति होनेपर ही माना गया है। यदि तीर्थराज सम्मेदशिखरमें भक्त मनुष्यको विशिष्ट पुण्य उत्पन्न करानेकी शक्ति है तो साथमें दुष्टपापी वहां वज्रलेप दुष्कर्मोंको भी बांध लेता है। तलवारसे स्वरक्षा और स्वघात दोनों हो जाते हैं। मेघोंमें श्रृंगारभाव पैदा करानेकी शक्ति है तो किसीको बादल देखकर वैराग्य पैदा करादेनेकी निमित्तशक्ति भी विद्यमान है। अतः ज्ञान, सुख, इच्छा आदि अनेक परिणाम वस्तुके स्वभावोंको अवलम्ब लेकर ही उत्पन्न होते हैं। निमित्तके बिना नैमित्तिक भाव नहीं हो सकता है।

कर्तृपरिणामो हि पुंसो यदा स्वाभिप्रेतार्थसम्प्राप्तेर्हेतुस्तदा प्रधानमन्यदात्वप्रधानं स्यात् तथा करणादिपरिणामोऽपि ततो न प्रधानेतरता कल्पनामात्रात्प्रवर्तितास्या वस्तुसामर्थ्यायत्तत्वादर्थदर्शनवत्।

जिस समय आत्माका कार्य करनेमें स्वतंत्रतारूप कर्तृत्व परिणमन ही अपने अभीष्ट होरहे पदार्थकी प्राप्तिका कारण हो रहा है, उस समय आत्मामें कर्तापन धर्म प्रधान है, उसकी विवक्षा है और दूसरे कर्मत्व, करणत्व, धर्म तो अप्रधान हैं, उनकी विवक्षा नहीं है। उसी प्रकार जब आत्माके क्रिया करनेमें प्रकृष्ट उपकारकरूप करण परिणाम इष्टसिद्धिके कारण हैं। तब करणपना धर्म भी प्रधान होकर विवक्षित है। ऐसे ही कर्मपन और भावको भी समझ लेना। उस कारण प्रधानता और इससे अन्य अप्रधानता केवल कोरी कल्पनासे नहीं प्रवर्त्त रही है। किंतु वस्तुके स्वभावभूत सामर्थ्योंके अधीन होकर प्रवर्त रही है। जैसे कि बौद्धोंके द्वारा माना गया स्वलक्षणका प्रत्यक्षप्रमाण निर्विकल्प पदार्थके अधीन ही उत्पन्न हुआ है, तभी तो वह जाति, नाम, संसर्ग आदिकी कल्पनाओंसे रहित है। चूहोंकी उत्पत्ति चूहोंके वस्तुभूत मा, बापों से है।

नन्वभिप्रेतोर्थो न परमार्थः सन्मनोराज्यादिवत्ततस्तत्सम्प्राप्त्यप्राप्ती न वस्तुरूपे यतस्तद्धेतुकयोः प्रधानेतरभावयोर्वस्तुसामर्थ्यसम्भूततनुत्वं सिद्धयत् तयोर्वास्तवतां साधयेत् इति चेत्, स्यादेवम्, यदि सर्वोऽभिप्रेतोर्थोऽपरमार्थःसन् सिद्धयेत् कस्यचिन्मनोराज्यादेरपरमार्थत्वसुखप्रतिपत्तेरबाधिताभिप्रायविषयीकृतस्याप्यपरमार्थसत्वसाधने चंद्रद्वयदर्शनविषयस्यावस्तुत्वसम्प्रत्ययादबाधिताखिलदर्शनविषयस्यावस्तुत्वं साध्यतामभिप्रेतत्वदृष्टत्वहेत्वोरविशेषात्।

यहां पुनः बौद्धकी शंका है कि अभीलाषी पुरुषको कोई विवक्षित पदार्थ अभीष्ट है यह जैनोंने कहा, किंतु वस्तुतः विचारा जावे तो वह इष्टपदार्थ परमार्थभूत नहीं है। जैसे कि अपने

मनमें राजापनकी कल्पना करनेसे कोई यथार्थ राजा नहीं बन जाता है अथवा बच्चोंके खेल अनुसार, या सतरंजकी गोटों सदृश कोई मंत्री, घोडा आदि नहीं निर्णीत किया जाता है। स्वप्न, नशा आदिमें भी व्यर्थ कल्पनायें उपजती हैं। उस कारण इष्ट अर्थकी अच्छी प्राप्ति करना और अनिष्टकी अप्राप्ति करना भी वास्तविक नहीं है, जिससे कि उन प्राप्ति तथा अप्राप्तिको प्रधानपना और अप्रधानपनेका हेतु मानकर वस्तुओंकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ प्रधानता और अप्रधानताका ढील सिद्ध होता संता उनको वस्तुभूतपना सिद्ध करा देवे। यदि ऐसा कहोगे तो आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंकी इस प्रकार शंका तब हो सकती थी, जब कि सम्पूर्ण ही अभीष्ट अर्थ अवस्तुभूत होते हुए सिद्ध हो जाते। किंतु अभीष्ट पदार्थोंमें बहुभाग वस्तुभूत सिद्ध हो रहा है। दूधमें स्वादु रस, अग्निमें दाहकस्वभाव, विषमें मारनेकी शक्ति, अध्यापकमें पढानेकी सामर्थ्य इत्यादि धर्म कल्पित नहीं हैं। किसी एकके मनमें राजा बन जाना या स्वप्नमें राज्य प्राप्ति होना सीपमें रजतका ज्ञान हो जाना आदि कल्पनाओंको अपरमार्थभूत असत् अर्थकी भित्ति पर अवलम्बित समझ कर उसी प्रतिपत्तिके अनुसार यदि बाधारहित इच्छाओंके विषय किये गये परमार्थभूत पदार्थोंको भी असद्भूत असत्रूपपनेकी सिद्धि करोगे, तब तो आंखमें अंगुली लगाके देखनेपर एक चंद्रमामें दो चंद्रमाको विषय करनेवाले प्रत्यक्षको अवस्तुके विषय करनेवाला ऐसा समीचीन निर्णय हो जाने अनुसार ही सम्पूर्ण निर्बाध प्रत्यक्षोंके विषयभूत पदार्थोंको भी अवस्तुपना सिद्ध कर डालो। क्योंकि मनमें राजाकी कल्पनाको दृष्टांत मानकर अभिप्रेतपना हेतु जैसे सम्पूर्ण वस्तुभूत कल्पनाओंमें रह जाता है, वैसे ही चंद्रद्वय दर्शनको उदाहरण मानकर सम्पूर्ण निर्बाध प्रत्यक्षोंके विषयोंमें दृष्टपन हेतु भी अंतररहित विद्यमान है। दूधसे भुरस कर पुनः छाछको भी फूंककर पीना बुद्धिमानी नहीं है। सब ही ज्ञान और कल्पनाएं एकसी नहीं हैं। अनेक वस्तुभूत कल्पनायें हैं, और कुछ अपरमार्थभूत कल्पनायें भी हैं। असत् कल्पनाओंको गढने वाली अवस्तुमें हम विवक्षा और अविवक्षा होनेकी योजना नहीं मानते हैं। सप्तभङ्गी, स्याद्वाद सिद्धांत और व्यवहार नयकी विषय हो रहीं कल्पनायें वस्तुस्वभावोंके अनुसार की गयी हैं।

स्वसम्वेदनविषयस्य च स्वरूपस्य कुतः परमार्थसत्त्वसिद्धिर्यतः संवेदनाद्वैतं चित्राद्वैतं वा स्वरूपस्य स्वतो गतिं साधयेत्, यदि पुनः स्वरूपस्य स्वतोऽपि गतिं नेच्छेत्तदा न स्वतः संवेद्यते नापि परतोस्ति च तदिति किमघशीलवचनम्।

आप बौद्धोंने विज्ञानाद्वैतरूप स्वरूपकी अपने आप ही से ज्ञप्ति होना मानी है। यदि स्वरूपका ज्ञान भी मिथ्यावासनाओंसे उत्पन्न होकर अवस्तुको विषय करता हुआ कल्पित बन जावेगा तो स्वसंवेदनप्रत्यक्षके विषय होरहे शुद्ध ज्ञानके स्वरूपकी वस्तुभूत करके विद्यमानपनकी सिद्धि कैसे होगी ? जिससे कि आप बौद्धोंके माने हुए संवेदनाद्वैत या चित्राद्वैत स्वरूपकी अपने आप ज्ञप्ति होनेको सिद्ध करादेवे। यदि फिर आप ज्ञानके स्वरूपकी भी अपने आप से ज्ञप्ति होना नहीं

चाहोगे, तब तो आपका यह कहना पाप करनेकी लत पडजानेवाले आग्रही पुरुषके कहनेके समान है कि वह ज्ञानका स्वरूप न तो स्वयं अपनेसे जाना जाता है और न दूसरे ज्ञापकोंसे भी जाना जाता है। किंतु वह है अवश्य। भला, जिसके जाननेका कोई उपाय नहीं है, उसकी सत्ता कैसे मानी जासकती है? यानी नहीं।

न स्वतः संवेद्यते सम्वेदनं नापि परतः किं तु संवेद्यत एवेति तस्य सत्त्ववचने, न क्रमान्नित्योऽर्थः कार्याणि करोति नाप्यक्रमात्। किं तर्हि? करोत्येवेति ब्रुवाणः कथं प्रतिक्षिप्यते? नैकदेशेन स्वावयवेष्ववयवी वर्तते नापि सर्वात्मना किं तु वर्तते एवेति च, नैकदेशेन परमाणुः परमाण्वन्तरैः संयुज्यते नापि सर्वात्मना किं तु संयुज्यत एवेत्यपि ब्रुवन्न प्रतिक्षेपार्होऽनेनापादितः।

शुद्धज्ञानरूप संवेदनका स्वयं अपनेसे संवेदन नहीं होता है और न दूसरोंसे भी संवेदन होता है, किंतु उसका सम्वेदन हो ही जाता है। इस प्रकार यदि धोंसके साथ उस सम्वेदनकी सत्ताका कथन करोगे तो अनित्यवादी आप बौद्धोंके प्रति नित्यवादी सांख्य भी यह कह सकता है कि कापिलोंके यहां माना गया सर्वथा नित्य अर्थ भी न तो क्रमसे कार्योंको करता है और न अक्रमसे, युगपत् अनेक कार्योंको करता है तब तो क्या है? इसका उत्तर यों है कि वह नित्यपदार्थ कार्योंको करता ही है। भला, इस प्रकार कहता हुआ सांख्यमतानुयायी आपके द्वारा क्यों खण्डित किया जाता है? भावार्थ—आप बौद्धोंने नित्यवादका खण्डन करते हुए यह कहा है कि सत्त्वकी व्याप्ति अर्थक्रियाके साथ है और अर्थक्रिया क्रम और यौगपद्यके साथ व्याप्ति रखती है। सांख्योंके स्वीकृत सर्वथा नित्य पदार्थमें क्रम और यौगपद्य नहीं है। इस कारण उन क्रम यौगपद्यसे व्याप्य हो रहे अर्थक्रिया और सत्त्व भी उसमें नहीं है। किंतु अब आप बिना हेतुके ही संवेदन होना मानते हैं तो क्रमयौगपद्यके बिना नित्य अर्थ भी अनेक कार्योंको करलेगा। तथा च नित्य अर्थकी सत्ता भी सिद्ध हो जावेगी। इसी प्रकार बौद्ध लोग अवयवी द्रव्य भी नहीं मानते हैं। बौद्धोंके यहां क्षणिक परमाणुरूप पदार्थ माने हैं। अवयवीके खण्डनके लिये उन्होंने यह युक्ति दी है कि अपने अवयवोंमें अवयवी यदि एक देश करके वर्तेगा, तब तो पहिले ही से अवयवीमें दूसरे अन्य अवयव (देश) मानने पडेंगे, तभी एक देश कहा जा सकेगा और उन पहिलेके अवयवोंमें भी एकदेश करके रहेगा तो फिर तीसरे अन्य अवयव मानने पडेंगे, ऐसे अनवस्था हो जावेगी। और यदि सर्वांगरूपसे अवयवी एक एक अवयवमें रहेगा तो जितने अवयव हैं, उतने अवयवी पदार्थ हो जावेंगे। अर्थात् जितने सूत (तन्तु) हैं, उतनी संख्यावाले थान बन जावेंगे। तथा परमाणु एकदेश करके दूसरे परमाणुओंसे सम्बद्ध होगी, तब तो परमाणु भी पहिलेसे अनेक देशवाली सांश हो जावेगी, और यदि विवक्षित परमाणु पूर्ण रूपसे दूसरे परमाणुसे मिल जावेगी तो लम्बा चौडा पिण्ड परमाणुके बराबर

हो जावेगा, ऐसी दशामें सुमेरु पर्वत और सरसों भी समान परिमाणवाले हो जावेंगे। किंतु जैसे पैठके साथ आप बौद्ध अपने संवेदनको सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार नैयायिक भी अपने अवयवी पदार्थको सिद्ध करदेवेंगे। वह कहता है कि अवयवोंमें अवयवी एकदेश करके भी नहीं वर्तता है, और न सम्पूर्ण अपने देशों करके रहता है, किंतु रहता ही है तथा परमाणु एकदेश करके दूसरे परमाणुओंके साथ संयुक्त नहीं होता है और न अपने सब अंशों करके संयुक्त होता है, किंतु संयुक्त हो ही जाता है, ऐसे बोलनेवाले नैयायिक भी आपके खण्डन करनेके योग्य नहीं हो सकते हैं, इस उक्त कथन करके बौद्धोंके धूलमें लठिया लगनेके समान सांख्योंकी ओरसे आपादन करनेसे नैयायिकोंका उक्त आपादन भी समझ लेना चाहिये। यानी नैयायिक भी बौद्धके प्रति धोंससे अवयवी या स्कंधको सिद्ध कर देवेगा।

यदि पुनः क्रमाक्रमव्यतिरिक्तप्रकारासम्भवात्ततः कार्यकरणादेरयोगादेवं ब्रुवाणस्य प्रतिक्षेपः क्रियते तदा स्वपरव्यतिरिक्तप्रकाराभावान्न ततः संवेदनं संवेद्यत एवेत्यप्रतिक्षेपार्हः सिद्धयेत्।

यदि फिर बौद्ध समझकर यों कहें कि सांख्योंकी लपड धों धों नहीं चल सकती है। क्योंकि क्रम और अक्रमसे अतिरिक्त कार्योंके कर देनेका या पर्यायोंके प्रगट होने आदिका दूसरा कोई उपाय नहीं सम्भवता है और नित्य पक्षमें कार्यका बनना या प्रगट होना सिद्ध होता नहीं है, इस कारण वस्तुको सर्वथा नित्य कहनेवाले सांख्यका हम खण्डन करते हैं। तब तो हम भी बौद्धोंके प्रति कह सकते हैं कि संवेदनके जाननेका स्वयं और दूसरे ज्ञापकोंके अतिरिक्त तीसरा कोई उपाय नहीं है। ऐसी दशामें आपका संवेदन भी खण्डन करने योग्य नहीं है, यह सिद्ध नहीं हो सकता है। जब कि आप बौद्ध यों कह रहे हैं कि ज्ञान न तो स्वयं जाना जाता है और न दूसरोंसे जाना जाता है। किंतु है ही। इस प्रकार आपकी पोल नहीं चल सकती है। संवेदनकी स्वयंसे ज्ञप्ति मानिये या दूसरोंसे ज्ञप्ति होना मानिये। अन्यथा आपके संवेदनकी सत्ता उठ जावेगी।

सम्वेदनस्य प्रतिक्षेपे सकलशून्यता सर्वस्यानिष्टा स्यादिति चेत्, समानमन्यत्रापि।

सौगत बोले कि संवेदनकी सत्ताका खण्डन करदेनेपर तो सम्पूर्ण पदार्थोंका शून्यपना हो जावेगा, जो कि सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियोंको इष्ट नहीं है। क्योंकि घट, पट आदिकी तो स्वयं अपनी सत्ता ही ज्ञानकी भित्तिपर डटी हुयी है। जब ज्ञान ही नहीं है तो संसारमें कोई पदार्थ ही नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो यह उक्त कथन दूसरे पक्षमें भी समान है। भावार्थ—वस्तुमें कर्तापन, करणपनकी प्रधानता और अप्रधानताकी विवक्षा करना भी वस्तुभूत स्वभावोंके अधीन मानना चाहिए। जैसे ज्ञानके माने विना संसारकी व्यवस्था नहीं हो सकती है, वैसे ही वस्तुओंकी अनेक सामर्थ्य माने विना भी विवक्षा और अविवक्षा होना नहीं

बनता है, जिसका कि होना अत्यावश्यक है। तथा अवयवीके वर्तने और परमाणुओंसे स्कन्ध बन जानेमें भी यही श्रेष्ठ उपाय लग बैठेगा। यों अवयवी और स्कन्धका खण्डन कर देनेपर भी जग प्रसिद्ध शरीर, खाद्य, फल, गृह, पृथ्वी, सूर्य, नदी, किला, पर्वत आदि पदार्थोंका शून्यपन छा जायगा, जो कि सबको अभीष्ट नहीं पडेगा।

ततः स्वयं संवेद्यस्य दृश्यस्य वा रूपादेः परमार्थसत्त्वमुपयता[illegible]रिणस्तन्न प्रतिक्षेप्तव्यम्, सर्वथा विशेषाभावात्, परमार्थसत्त्वे च स्वाभिप्रेतार्थस्य सुनयविषयस्य तत्संप्राप्त्यसंप्राप्ती वस्तुरूपे सिद्धे तद्धेतुकयोश्च प्रधानेतरभावयोर्वस्तुसामर्थ्यसम्भूततनुत्वं नासिद्धं यतस्तयोर्वास्तवत्वं न साधयेदिति।

उस कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाने गये सम्वेदनके विषयभूत स्वलक्षण अथवा निर्विकल्पक दर्शनके विषय रूप, रस, आदिककी परमार्थरूपसे सत्ताको स्वीकार करोगे, तब तो आपके द्वारा समीचीन और व्यभिचार रहित माने गये अपने उस अभीष्ट पदार्थकी भी वस्तुतः सत्ताका खण्डन नहीं करना चाहिये। सभी प्रकारसे आपके और हमारे कथनमें कोई अंतर नहीं है। भावार्थ— आपने निर्विकल्पक संवेदन और उसके विषयभूत स्वलक्षण रूप, रस, आदिकको जैसे इष्ट किया है, वैसे ही इष्टता और अनिष्टताके प्रयोजक वस्तुकी मूलभूत सामर्थ्योंको हम भी मानते हैं। आपको भी भिन्न अनेक कार्योंके अनुरोधसे वे स्वभाव मानने पडेंगे। जब कि समीचीन नयके द्वारा जाने हुए अपने अभीष्ट अर्थकी परमार्थ रूपसे सत्ता सिद्ध हो गयी, तब ऐसा होनेपर उस अपने अभीष्टकी समीचीन प्राप्ति और अप्राप्ति भी वस्तुस्वरूप बन गयी और जब यह प्राप्ति और अप्राप्ति वस्तुस्वरूप सिद्ध हो गयी, तब उनके कारण माने गये प्रधानपन और अप्रधानपनके शरीरको भी वस्तुके स्वभावोंसे उत्पन्न होनापन असिद्ध नहीं हुआ, जिस कारणसे कि उन प्रधानता और अप्रधानताको वास्तविकपना सिद्ध न करा सके। अर्थात् वस्तुके आत्मभूत स्वभावोंसे किसी धर्मका प्रधानपन और अन्य धर्मका अप्रधानपन उत्पन्न हुआ है। अतः वे प्रधानता और अप्रधानता कल्पित नहीं हैं। किंतु वास्तविक हैं। यहांतक यह तत्त्व पुष्ट कर दिया है।

तत्र विवक्षा चाविवक्षा च न निर्विषया येन तद्वशादेकत्र वस्तुन्यनेककारकात्मकत्वं न व्यवतिष्ठेत।

उस वस्तुमें कर्तापन या करणपनकी विवक्षा होना अथवा अविवक्षा होना वस्तुभूतसामर्थ्यको अवलम्ब लेकर है। अपने विषयको नहीं स्पर्श करती हुयीं यों ही विना कारण विवक्षा या अविवक्षा नहीं हो गयी हैं, जिससे कि उस वस्तुभूत सामर्थ्यके वशसे अनेक कारकस्वरूपपना एक वस्तुमें व्यवस्थित न होता। अर्थात् वस्तुकी भिन्न भिन्न अनेक शक्तियोंके बलसे एकमें अनेक कारकपन बन जाता है।

वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमिते वृक्षं लताः संश्रिताः ।
वृक्षेणाभिहतो गजो निपतति वृक्षाय देहच्यञ्जलिं ॥
वृक्षादानय मञ्जरीं कुसुमितां वृक्षस्य शाखोन्नता ।
वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष किं कम्पसे ॥ १ ॥

वनमें एक वृक्ष है (कर्त्ता), वृक्षको लता आश्रय कर रही हैं (कर्म), वृक्ष करके टकराया हुआ हाथी गिर पडा (करण), वृक्षके लिये पानी देदो (संप्रदान), वृक्षसे फूलोंको तोड लाओ (अपादान), वृक्षकी शाखायें ऊंची हैं (सम्बन्ध), वृक्षमें पक्षियोंने घोंसला बनाया है (अधिकरण), हे वृक्ष ! तुम क्यों कांप रहे हो (सम्बोधन)। इस उदाहरणमें वृक्षके अनेक स्वभावोंके वश छह कारक बन गये हैं। कहीं कहीं क्रियाका परम्परासंबंध होनेके कारण संबंध और सम्बोधनको भी उपचारसे कारकपना मान लिया गया है। मुख्य रूपसे छह कारक माने गये हैं ।

निरंशस्य च तत्त्वस्य सर्वथाऽयुक्तितः ।
नैकस्य बाध्यतेऽनेककारकत्वं कथञ्चन ॥ ३२ ॥

एक बात यह भी है कि बौद्धोंसे माने हुए सर्वथा निरंश तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है । अर्थात् सम्पूर्ण स्वभावोंसे रहित कोई पदार्थ ही संसारमें नहीं है । अनेक धर्मात्मक ही अंतरंग और बहिरंग पदार्थ जगत्में देखे जाते हैं । इस कारण एक द्रव्यको किसी किसी अपेक्षासे अनेक कारकपना बन जाता है । कोई बाधा नहीं है । चेतनश्चेतनं, चेतनेन, चेतनाय, चेतनात्, चेतने चेतयते । यह चेतन आत्मा, चेतनको, चेतन करके, चेतनके लिये, चेतनसे चेतनमें चेतता रहता है ।

नात्मादितत्त्वे नानाकारकात्मता वास्तवी तस्य निरंशत्वात्, कल्पनामात्रादेव तदुपपत्तेरिति न शंकनीयम्, बहिरन्तर्वा निरंशस्य सर्वथार्थक्रियाकारित्वायोगात् ।

बौद्ध कहते हैं कि आत्मा, वृक्ष, आदि तत्त्वोंमें अनेक कारक स्वरूपपना वस्तुभूत नहीं है । क्योंकि वे आत्मा आदि पदार्थ सम्पूर्ण शक्ति, स्वभाव और धर्मोंसे रहित होते हुए निरंश हैं । केवल कल्पनासे भले ही वह अनेककारकपना सिद्ध करलो, जैसे कि एक रुपया देवदत्तका है किंतु वह बजाज, सर्राफ, और भृत्यका होजाता है । अतः रुपयेमें मेरा तेरापन सर्वथा कल्पनारूप है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंको शङ्का नहीं करनी चाहिये । क्योंकि घट, रुपया, वृक्ष, आदि बहिरंग पदार्थ और ज्ञान, आत्मा, इच्छा आदि अन्तरंग पदार्थोंको यदि स्वभावोंसे रहित माना जावेगा तो सर्व ही प्रकारसे उनमें अर्थक्रियाको करनापन नहीं बन सकेगा। रुपयेमें भी हमारा तुम्हारापन स्वभाव विद्यमान है । तभी तो अपने रुपयेका स्वामित्व तो गुण है, और दूसरे की चोरी करना दोष है। हमारा रुपया हमारे लिये इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाला है, अन्यथा दूसरे सेठके

रुपयोंसे हम लक्षाधिपति क्यों नहीं बन जाते हैं ? सर्व ही पदार्थ कुछ न कुछ कार्य कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ सर्वज्ञ द्वारा कमसे कम अपनी ज्ञप्ति तो करा ही रहा है। यावत्पदार्थोंका यह कार्य तो केवलान्वयी है। अर्थपर्यायों और व्यञ्जन पर्यायोंमें तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, परिणाम होते रहते हैं।

परमाणुः कथमर्थक्रियाकारीति चेन्न, तस्यापि सांशत्वात्। न हि परमाणोरंश एव नास्ति द्वितीयाद्यंशाभावान्निरन्वयत्ववचनात्। न च यथा परमाणुरेकप्रदेशमात्रस्तथात्मादिरपि शक्यो वक्तुं सकृन्नानादेशव्यापित्वविरोधात्।

पुनः सौगत बोले कि देखो, परमाणु अंशोंसे रहित है। फिर भी वह द्यणुक बनाना आदि अर्थक्रियाओंको करता है। यदि आप जैन निरंश पदार्थको अर्थक्रियाका करनेवाला नहीं मानेंगे तो वह परमाणु अर्थक्रियाको कैसे कर सकेगा ? बताओ। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उस परमाणुको भी हम अंशोंसे सहित मानते हैं। एक परमाणुमें रूप रस आदि अनेक गुण हैं और काले, पीले, खट्टे, मीठे आदि अनेक पर्यायें हैं। लम्बाई, चौडाई, मोटाई भी है। द्यणुक, वर्गणा, स्कंध, आदि बननेके वस्तुभूत स्वभाव भी हैं। एक कालाणुमें अनन्त पदार्थोंको वर्तना करानेकी नैमित्तिक शक्ति है। जैसे कि आतप (धूप) में रखा हुआ कोई पदार्थ सूख रहा है, अन्य पदार्थ पक रहा है, तीसरा पदार्थ गीला होजाता है। चौथा पदार्थ कठोर होजाता है। आदि अनेक कार्योंके करनेकी शक्ति आतपमें विद्यमान है। अतः परमाणुके अंश ही नहीं हैं, यह नहीं मानना चाहिये। हां ! जैसे द्यणुक दो परमाणुओंसे बना है। त्र्यणुक तीन परमाणुओंसे या एक द्यणुक और एक परमाणुसे बना है। उस प्रकार परमाणु अपनेसे छोटे अवयवोंके द्वारा निष्पन्न नहीं होता है। तीन लोकमें परमाणुसे छोटा टुकडा न हुआ, न है और न होगा। अतः पुद्गल परमाणुको चरम अवयव द्रव्य माना है। एक परमाणुको बनाने वाले उससे छोटे अन्य दूसरे तीसरे आदि अंश नहीं हैं। इस कारण जैन सिद्धांतमें परमाणुओंको अवयवोंसे रहित कह दिया है। किंतु परमाणुमें स्वभाव गुण और पर्यायोंकी अपेक्षासे तो अनेक अंश विद्यमान है। अखण्ड व्यापक आकाशके उस परमाणुके बराबर अंशको प्रदेश कहते हैं अर्थात् परमाणु आकाशके एक प्रदेशको घेरता है। आकाशके एक प्रदेशमें अवगाहनशक्तिके योगसे अनेक परमाणु समा जाते हैं। किंतु एक परमाणु आधे प्रदेशपर नहीं बैठ सकता है। अतः आकाशके केवल एक प्रदेशके बराबर जैसे परमाणु हैं, वैसे ही आत्मा, धर्मद्रव्य, वृक्ष, आदि पदार्थोंको भी केवल एक प्रदेशमें ही रहने वाले नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उनको एक समयमें अनेक देशोंमें व्यापकरूपसे रहनेका विरोध हो जावेगा, आत्मा, आकाश आदि अखण्डित अनेकदेशी पदार्थ अनेक प्रदेशोंमें व्यापक होकर रहते हुए देखे जाते हैं। विशेष यहां यह है कि परमाणुका आकार शक्तिकी अपेक्षासे छह खण्ड रखते हुए छह पैल बरफीके समान है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर

अधोदिशा और ऊर्ध्वदिशासे अन्य छह परमाणुका संयोग या बन्ध हो जाता है। बरफी या ईंटके आठ कोने नहीं पकडता। किंतु इनकी चौरस सपाट ६ भीतोंको यहां परमाणुके पैलोंका दृष्टान्त कहा है। श्रीवीरनंदी सिद्धांतचक्रवर्तीने आचारसारमें परमाणु और अलोकाकाशको छहः पैलवाला चौरस सिद्ध किया है। ऐसे छह पहल परमाणुओं या ऐसे असंख्यात प्रदेशोंसे ठसाठस लोकाकाश भरा है।

तस्य विभुत्वान्न तद्विरोध इति चेत्, व्याहतमेतत्। विभुश्चैकप्रदेशमात्रश्चेति न किञ्चित्सकलेभ्योऽशेभ्यो निर्गतं तत्त्वं नाम सर्वप्रमाणगोचरत्वात् खरशृङ्गवत्।

यदि यहां नैयायिक यों कहें कि वे आकाश, आत्मा आदि द्रव्य तो सम्पूर्ण मूर्त द्रव्योंके साथ संयोग रखते हुए व्यापक हैं, इस कारण उनको अनेक देशोंमें व्यापकपनेका विरोध नहीं है, ऐसा कहनेपर तो ग्रंथकार कहते हैं कि यह व्याघात दोष हुआ, जैसे कोई अपनेको वन्ध्याका पुत्र कहे, या बहुत चिल्लाकर अपनेको मौनव्रती कहे, अथवा सभामें कहे " एक लाख रुपया दिया जायेगा " ऐसी घोषणा होनेपर कोई शीघ्र आकर और चिल्लाकर अपनेको मरा हुआ कहकर लाख रुपये मांगे, यहां जैसे आगे पीछेके उद्देश्य विधेयदलोंमें बदतो व्याघात दोष है, वैसा ही आत्मा और आकाशको व्यापक मानकर केवल एक प्रदेशमें रहना मानना या अंशोंसे रहित कहना भी विरुद्ध है। इन हेतुओंसे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि जगत्में कोई भी पदार्थ या तत्त्व संपूर्ण अंशोंसे रहित नहीं है। जिस पदार्थमें कमसे कम ज्ञेयत्व अथवा प्रमेयत्व धर्म न होगा, वह पदार्थ तो सर्व प्रमाणोंमेंसे किसी एक प्रमाणका भी विषय न हो सकेगा, तथा च गधेके सींगोंके समान वह अंशोंसे रहित माना गया पदार्थ अवस्तु है, असत् है।

यदा त्वंशा धर्मास्तदा तेभ्यो निर्गतं तत्त्वं न किञ्चित्प्रतीतिगोचरतामञ्चतीति सांशमेव सर्वतत्त्वमन्यथार्थक्रियाविरोधात्।

और जब अंश कहनेसे धर्म पकडे जाते हैं, फिर यदि वस्तुओंको निरंश कहोगे, तब तो उन धर्मोंसे रहित होकर कोई भी तत्त्व जगत्में प्रतीतिके विषयपनेको प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि संपूर्ण तत्त्व अंशोंसे सहित ही है। इसके माने विना अन्य प्रकारोंसे मान लेनेपर अर्थक्रियाका विरोध है अर्थात् स्वभावोंसे रहित होकर कोई भी तत्त्व छोटीसे छोटी भी अर्थक्रियाको नहीं कर सकता है।

तत्र चानेककारकत्वमबाधितमवबुध्यामहे भेदनयाश्रयणात्, तथा च दर्शनादिशब्दानां सूक्तं कर्त्रादिसाधनत्वम्।

उपर्युक्त युक्तिओंसे हम पूर्णरीतिसे निर्णय कर लेते हैं कि उन आत्मा, वृक्ष, ज्ञान आदि तत्त्वोंमें अनेक कारकपना बाधाओंसे रहित होकर सिद्ध है। भेदको ग्रहण करनेवाले पर्यायार्थिक

नयका अवलम्ब लेकर ज्ञान, दर्शन आदि तत्त्वोंको अनेक कारकपना युक्त है और वैसा होनेपर दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन शब्दोंका कर्ता आदि यानी कर्ता, कर्म, करण और भावमें युट् या णित्र प्रत्यय करके कृदन्तमें साधन करना हमने बहुत अच्छा कहा था। इस प्रकार शब्दशास्त्रके अनुसार आदि सूत्रमें कहे हुए शब्दोंकी निरुक्ति करके अभीष्ट अर्थको निकालनेका प्रकरण समाप्त हुआ।

पूर्वं दर्शनशब्दस्य प्रयोगोऽभ्यर्हितत्वतः।
अल्पाक्षरादपि ज्ञानशब्दाद्द्वन्द्वोऽत्र सम्मतः॥ ३३॥

व्याकरणशास्त्रके अनुसार " च " के अर्थमें किये गये द्वन्द्वसमासमें थोडे अक्षरवाले शब्दका पहिले प्रयोग होता है अर्थात् जैसे कि एक घडेमें ज्वारके फूला, चना और कङ्कड डालकर हिला-देनेसे अपने स्वभावोंके अनुसार नीचे भागमें कङ्कड, बीचमें चने और ऊपर फूला हो जाते हैं। उसी प्रकार शब्दकी स्वाभाविक शक्तिसे पर्वत और नदीका द्वन्द्वसमास करनेपर पर्वतके पहिले नदी शब्दका प्रयोग हो जावेगा, किंतु अल्पस्वरवाले पदके प्रथम प्रयोगके इस नियमका बाधक दूसरा नियम है कि पूज्यपदार्थका सबसे प्रथम उच्चारण होना चाहिये। ऋषभदेव और गणधरका या महावीर और गौतमका द्वन्द्व समास होनेपर अनेक स्वरवाले पूज्य नामवालेका ही पहिले उच्चारण होगा। इस कारण अल्प अक्षरवाले भी ज्ञान शब्दसे प्रथम पूज्य होनेके कारण दर्शन शब्दका प्रयोग करना ठीक है। इस सूत्रमें उमास्वामी महाराजने जिसमें पूज्य पहिले बोला जाता है ऐसा द्वन्द्वसमास यहां अभीष्ट किया है।

दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्राणीति इतरेतरयोगे द्वन्द्वे सति ज्ञान-शब्दस्य पूर्वनिपातप्रसक्तिरल्पाक्षरत्वादिति न चोद्यम्, दर्शनस्याभ्यर्हितत्वेन ज्ञानात्पूर्व-प्रयोगस्य सम्मतत्वात्।

च अव्ययके चार अर्थ हैं। समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार। परस्परमें नहीं अपेक्षा रखनेवाले अनेकोंका एकमें अन्वय होजाना समुच्चय है। घटको लाओ, पटको भी लाओ (घटं पटञ्चानय) यहां च का अर्थ समुच्चय है। गाय, युवा, बालक, राजा, पण्डित और देवोंको भी दिन रात लेजाता हुआ यमराज (आयुष्य कर्मका अन्तिम निषेक) तृप्त नहीं होता है (गां युवानं बालं नृपतिञ्चाहरहर्नयमानो यमस्तृप्तिं न याति) यहां चका अर्थ अन्वाचय है, कतिपयोंमेंसे कोई कोई यों ही प्रसङ्ग प्राप्त होजाय ऐसी दशामें अन्वाचय है। परस्परमें अपेक्षा रखते हुये मिलजाना इतरेतर योग है। तथा (हस्तौ च पादौ च हस्तपादं) हाथ पैर यहां समुदाय-रूप समाहार द्वन्द्व है। प्रकरणमें पहिले सूत्रका दर्शन और ज्ञान तथा चारित्र इस प्रकार परस्परमें

मिलानेवाले इतरेतर योग द्वन्द्व समासके होनेपर " दर्शनज्ञानचारित्राणि " ऐसा पद बनता है। यहां अल्प अक्षर होनेके कारण ज्ञान शब्दका पूर्व में निपात हो जानेका प्रसंग आता है यह कटाक्ष रूप बोध करना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञानकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनको पूज्यपना है। इस कारण दर्शनका पूर्व में प्रयोग करना अभीष्ट किया है। यह नियम शब्द शास्त्रमें भी भले प्रकार माना गया है। वैयाकरण, नैयायिक, दार्शनिक, साहित्यवित्, सभी विद्वानोंकी इसमें सम्मति है।

कुतोभ्यर्हो दर्शनस्य न पुनर्ज्ञानस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिनिबन्धनस्येति चेत्—

किसीका आक्षेप है कि किस कारणसे ज्ञानकी अपेक्षा दर्शन पूज्य है ? सम्पूर्ण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थोंकी सिद्धिके कारण ज्ञानको ही फिर पूज्यपना क्यों नहीं है ? बताओ। ऐसी [illegible] होनेपर [illegible] कहते हैं।

ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वादभ्यर्हो दर्शनस्य हि।
तदभावे तदुद्भूतेरभावाद्दूरभव्यवत् ॥ ३४ ॥

ज्ञानके समीचीनपनेका हेतु हो जानेसे दर्शनको ज्ञानकी अपेक्षासे अधिक पूज्यपना है। क्योंकि उस सम्यग्दर्शनके न होनेपर उस सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होने पाती है। जैसे कि अनंत काल तक भी मोक्ष न जानेवाले दूर भव्यके मिथ्याज्ञान होते हुए भी सम्यग्दर्शनके न होनेसे उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञानपना नहीं आता है और निकट भव्यके अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरिवर्तन काल मोक्ष प्राप्तिमें अवशेष रहनेपर सम्यग्दर्शन गुणके प्रगट होते ही उस समयके विद्यमान ज्ञानको समीचीनपनेका व्यवहार हो जाता है। ज्ञानमें यह समीचीनपना कोरी कल्पना नहीं है, किंतु इस सम्यग्ज्ञानके संस्कार वश थोडे ही भवोंमें वह ज्ञानी जीव और पुद्गलके भेदको निरखता हुआ देशसंयम और सकलसंयमको प्राप्त होकर निःश्रेयसको प्राप्त कर लेता है। यदि एक बार भी दर्शन मोहनीयके उपशम या क्षयोपशमके हो जानेपर स्वानुभूतिरूप प्रत्यक्ष हो जावे, अनन्तर भले ही वह जीव मिथ्यादृष्टी बन जावे किंतु उस ज्ञानका संस्कार उत्तरोत्तर ज्ञानकी पर्यायोंमें प्रविष्ट होता हुआ वह संस्कृत मिथ्याज्ञानका कालान्तरमें औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका कारण होकर क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर ही देवेगा। इस हेतुसे नाम कर्मकी प्रकृतियोंमें तीर्थङ्कर प्रकृतिके समान आत्माके अनेक गुणोंमें सम्यग्दर्शन गुण पूज्य माना गया है।

इदमिह सम्प्रधार्यं ज्ञानमात्रनिबन्धना सर्वपुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिबन्धना वा ? न तावदाद्यः पक्षः, संशयादिज्ञाननिबन्धत्वानुषङ्गात्, सम्यग्ज्ञाननिबन्धना चेत्, तर्हि ज्ञानसम्यक्त्वस्य दर्शनहेतुकत्वात् तत्त्वार्थश्रद्धानमेवाभ्यर्हितम्, तदभावे ज्ञानसम्यक्त्वस्यानुद्भूतेर्दूरभव्यस्येव, न चेदमुदाहरणं साध्यसाधनविकलमुभयोः संप्रतिपत्तेः।

इस प्रकरणमें यह बात विचार करने योग्य है कि आक्षेपकारने जो यह कहा था कि संपूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धिका कारण ज्ञान है, अतः ज्ञान ही पूज्य होना चाहिये। वहां हम पूंछते है कि चाहे किसी भी ज्ञानसामान्यको कारण मान करके पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो जाती मानी गयी है ! अथवा संपूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धिका कारण समीचीन ज्ञान है ! बताओ। इनमें पहिला पक्ष लेना तो अच्छा नहीं है, क्योंकि चाहे जिस ज्ञानसे पुरुषार्थोंकी यदि सिद्धि हो जावेगी, तब तो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप कुज्ञानोंसे भी धर्म आदिककी प्राप्ति हो जानी चाहिये। किंतु संशय आदिकसे धर्म मोक्ष तो क्या अर्थ और कामकी भी थोडीसी प्राप्ति नहीं हो पाती है। यदि दूसरे पक्षके अनुसार धर्म आदिककी सिद्धिमें समीचीन ज्ञानको कारण मानोगे, तब तो ज्ञानकी समीचीनताका हेतु हो रहा तत्त्वार्थोंका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन ही पूज्य हुआ। यदि वह सम्यग्दर्शन गुण प्रगट नहीं हुआ होता तो दूरभव्यके ज्ञानके समान निकट भव्यजीवके ज्ञानको भी समीचीनपना प्रकट नहीं हो सकता था। साध्य साधनकी समव्याप्तिवाले इस अनुमानमें दिया गया दूर भव्यरूप दृष्टांत विचारा साध्य और साधनसे रहित नहीं हैं। क्योंकि दूर भव्यमें सम्यग्दर्शनका अभाव है और उसके ज्ञानमें समीचीनपना भी नहीं है। इस कारण सम्यग्दर्शनका न होनारूप साधन तथा ज्ञानके समीचीनपनेके अभावरूप साध्य इन दोनोंकी उस दृष्टांतमें विद्यमानपूर्वक प्रतीति हो रही है। अथवा दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां साध्य और साधनको धारते हुये निदर्शन की बढिया सिद्धि हो रही है।

नन्विदमयुक्तं तत्त्वार्थश्रद्धानस्य ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वं दर्शनसम्यग्ज्ञानयो सहचरत्वात्, सव्येतरगोविषाणवद्धेतुहेतुमद्भावाघटनात्। तत्त्वार्थश्रद्धानस्याविर्भावकाले सम्यग्ज्ञानस्याविर्भावात्तद्धेतुरिति चासंगतं, सम्यग्ज्ञानस्य तत्त्वार्थश्रद्धानहेतुत्वप्रसंगात्। मत्यादिसम्यग्ज्ञानस्याविर्भावकाल एव तत्त्वार्थश्रद्धानस्याविर्भावात्। ततो न दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हितत्वं ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वाव्यवस्थितेरिति कश्चित्, तदसत्, अभिहितानवबोधात्। न हि सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वादर्शनस्याभ्यर्होऽभिधीयते, किं तर्हि ? ज्ञानसम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्, पूर्वं हि दर्शनोत्पत्तेः साकारग्रहणस्य मिथ्याज्ञानव्यपदेशो मिथ्यात्वसहचरितत्वेन यथा, तथा दर्शनमोहोपशमादेर्दर्शनोत्पत्तौ सम्यग्ज्ञानव्यपदेश इति।

किसीकी निग्रहार्थ यहां शंका है कि तत्त्वार्थोंके श्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शनको ज्ञानकी समीचीनताका हेतुपना कहना, यह अयुक्त है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों गुण एक साथ प्रगट होते हैं। एक साथ ही सदा रहते हैं। जैसे गौके एक समयमें उत्पन्न होनेवाले वाम और दक्षिण सींगोंमें कार्यकारणभाव नहीं घटता है, वैसे ही साथ उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका कार्यकारणभाव नहीं बनता है। पूर्वक्षणवर्ती कारण होता है और उसके अव्यवहित

उत्तर क्षणमें रहनेवाला कार्य होता है। इस नियमको प्रायः सर्व ही दार्शनिक मानते हैं। यदि आप जैन यों कहें कि सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेके समय ही सम्यग्ज्ञान प्रगट होजाता है। इस कारण वह सम्यग्दर्शन उस ज्ञानका कारण है, यह कहना भी असंगत है। क्योंकि समान कालवालोंका ही कार्यकारणभाव होने लगा तब तो सम्यग्ज्ञान भी सम्यग्दर्शनका कारण बन सकेगा। इस प्रसंगको आप दूर नहीं कर सकते हैं। क्योंकि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिके प्रगट होते समय ही तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना स्वरूप, सम्यग्दर्शन प्रगट होगया है। इस कारणसे दर्शनको ज्ञानसे पूज्यपना सिद्ध नहीं हुआ। दर्शनकी पूज्यतामें दिया गया ज्ञानकी समीचीनताका कारणपन हेतु अच्छे प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सका है। उसके स्पष्टीय अर्थकी व्यवस्था नहीं होसकी है। इस प्रकार कोई एक आक्षेपकर्ता कह रहा है। आचार्य कहते हैं कि उसका वह कहना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि आक्षेपकने हमारे कहे हुए अभिप्रायको समझा नहीं है। हम सम्यग्दर्शनको सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण हो जानेसे पूज्यपना नहीं कहते हैं। तब तो हम क्या कहते हैं? उसे पुनः सुनिये। हम यह मानते हैं कि पूर्वसे विद्यमान होरहे ज्ञानको समीचीनपनके व्यवहार करानेमें सम्यग्दर्शन कारण है। आत्मामें चेतनागुण स्वतंत्र है और दूसरा सम्यग्दर्शन गुण भिन्न है। अनादिकालसे बद्ध पुद्गल द्रव्यको निमित्त पाकर गुणोंके अनेक प्रकारसे विपरिणाम होरहे हैं। चेतनागुणका कुमति आदि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मिथ्याज्ञानरूप परिणमन चला आरहा है। और सम्यक्त्वगुणकी दर्शनमोहनीयके उदयसे मिथ्यादर्शनरूप परिणति होती आरही है। जिस समय करणलब्धि होनेपर दर्शन मोहनीयका उपशम होजानेसे आत्मामें सम्यग्दर्शनका स्वाभाविक परिणाम उत्पन्न होता है, उसी समयका ज्ञानपरिणाम भी समीचीन व्यवहृत हो जाता है। जैसे शुद्ध मजे हुए लोटेमें भरा हुआ कूप-जल शुद्ध है और अशुद्ध वर्तनमें रखा हुआ कूप-जल अशुद्ध है। एवं मिथ्यादृष्टि जीवके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रथम होनेवाले अर्थोंके विशेष ग्रहणरूप ज्ञानको मिथ्यादर्शनके साथ रहनेके कारण जैसे मिथ्याज्ञानपनेका व्यवहार किया जाता है, वैसे ही दर्शन मोहनीयके उपशम या क्षयोपशम आदिसे सम्यग्दर्शनके प्रगट हो जानेपर सम्यग्ज्ञानपनेका व्यवहार हो जाता है। भावार्थ—वास्तवमें देखा जाये तो मिथ्यात्वके उदय होनेपर सम्यग्दर्शन गुणमें मिथ्या स्वादुरूप जैसे मिथ्यापन है, वैसा ज्ञानमें विपरीत स्वादुरूप मिथ्यापन नहीं है। केवल दूसरे विभावभावके संसर्गसे मिथ्यापन कह दिया जाता है। वैसे तो इंद्रियोंके काच कामल आदि दोषोंसे ज्ञानमें मिथ्यापन व्यक्त रूपसे सातवें गुणस्थान तक और अव्यक्त रूपसे बारहवें गुणस्थान तक रहता है। पूज्य मुनिमहाराज भी पित्तदोषवश शुक्लको पीला देखते हैं। किंतु वह ज्ञान उनका सम्यग्ज्ञान ही है, और ग्यारह अंगोंका पाठी मिथ्यादृष्टि घटमें घटज्ञान कर रहा है। तब भी वह मिथ्याज्ञान ही है। स्नेहवत्सला माताके पुत्रपर थप्पड़ मारनेकी अपेक्षा ईर्ष्यालु सपत्नीका खिलाना कहीं बुरा है। ज्ञान वह प्रकाशमान पदार्थ है। जिसमें केवल दूसरी उपाधियोंके वश कुत्सितपना कर दिया जाता है और

चारित्र तथा सम्यक्त्व गुणमें विपरीत रस करा देनेवाली कडवी तुम्बीमें धरे हुये दूधके स्वाद बदल जानेके समान मुख्यरूपसे मिथ्या मोहनपना है ।

नन्वेवं सम्यग्ज्ञानस्य दर्शनसम्यक्त्वहेतुत्वादभ्यर्हास्तु मिथ्याज्ञानसहचरितस्यार्थश्रद्धानस्य मिथ्यादर्शनव्यपदेशात् मत्यादिज्ञानावरणक्षयोपशमान्मत्यादिज्ञानोत्पत्तौ तस्य सम्यग्दर्शनव्यपदेशात् । न हि दर्शनं ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशनिमित्तं न पुनर्ज्ञानं दर्शनस्य सहचारित्वाविशेषादिति चेत् न । ज्ञानविशेषापेक्षया दर्शनस्य ज्ञानसम्यक्त्वव्यपदेशहेतुत्वसिद्धेः । सकलश्रुतज्ञानं हि केवलमनःपर्ययज्ञानवत् प्रागुद्भूतसम्यग्दर्शनस्यैवाविर्भवति न मत्यादिज्ञानसामान्यवद्दर्शनसहचारीति सिद्धं ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वं दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हसाधनम् । ततो दर्शनस्य पूर्वं प्रयोगः ।

आक्षेपककी यहां पुनः शंका है कि इस प्रकार समानकालवर्ती पदार्थोंमें भी व्यवहार करानेवालोंका यदि कार्यकारणभाव मान लिया जावे तो दर्शनके समीचीनपनेका कारण हो जानेसे सम्यग्ज्ञानको भी अच्छा पूज्यपना हो जाओ। क्योंकि पहिले मिथ्याज्ञानके साथ रहनेवाले अर्थश्रद्धानको मिथ्यादर्शनपनेका व्यवहार था और जब मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमसे आत्मामें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं, तब उस अर्थको श्रद्धान सम्यग्दर्शनपनेका व्यवहार हो जाता है। यहां जैनोंका यह पक्षपात नहीं चल सकेगा कि ज्ञानकी समीचीनताके व्यवहारका कारण सम्यग्दर्शनको तो मान लिया जावे, किंतु फिर सम्यग्दर्शनकी समीचीनताका कारण सम्यग्ज्ञान न माना जावे । जबकि दोनोंमें ही सहचारीपन अंतररहित है । भावार्थ—दर्शनकी समीचीनताका कारण दीख रहा ज्ञान भी पूज्य हो सकता है। यदि टेसूके फूलके सन्निधानसे कांच लाल हो जाता है तो साथमें कांचकी निकटतासे टेसूका फूल भी लावण्ययुक्त हो जाता है । अतः दोनोंमें औपाधिक भाव हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है । क्योंकि विशेषज्ञानोंकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनको ज्ञानकी समीचीनताके व्यवहारका कारणपना सिद्ध है, जैसे कि सम्यग्दर्शनके साथ सामान्य मति ज्ञान या सामान्य श्रुतज्ञान अवश्य रहता है । किंतु किसी विशेषसम्यग्दर्शनके पूर्वमें सम्यग्ज्ञान अवश्य होना ही चाहिये, यह व्याप्ति भी नहीं है। प्रत्युत यह देखा जाता है कि परिपूर्ण द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान उसी जीवके उत्पन्न होगा जिसको कि पूर्वमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो चुका है। जैसे कि केवलज्ञान और मनःपर्ययज्ञान पूर्वके सम्यग्दृष्टि जीवके ही उत्पन्न होते हैं। अतः पूर्ण श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, परमावधि, सर्वावधि और केवलज्ञान इन विशेष ज्ञानोंकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शन ही ज्ञानका कारण सिद्ध होता है । सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आदिके साथ भले ही सम्यग्दर्शनका सहचारीपन हो, किंतु पूर्ण श्रुतज्ञान आदिके पूर्व कालमें सम्यग्दर्शन ही रहता है। इस कारण सिद्ध हुआ कि ज्ञानोंकी समीचीनताका कारण सम्यग्दर्शन ही है ।

अबतक सम्यग्दर्शनको ज्ञानसे पूज्यपना सिद्ध हो चुका, उस कारण दर्शनका ज्ञान शब्दसे प्रथम आदि सूत्रमें प्रयोग किया गया है ।

कश्चिदाह—ज्ञानमभ्यर्हितं तस्य प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तौ भवान्तराभावात्, न तु दर्शनं । तस्य क्षायिकस्यापि नियमेन भवान्तराभावहेतुत्वाभावादिति । सोऽपि चारित्रस्याभ्यर्हितत्वं ब्रवीतु तत्प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तौ भवान्तराभावसिद्धेः ।

कोई फिर यहां कटाक्ष करता है कि दर्शनसे ज्ञान ही पूज्य है । क्योंकि ज्ञानके अत्यधिक प्रकर्षता पर्यन्त प्राप्त हो जानेपर अर्थात् केवलज्ञान हो जानेपर इस जीवकी उसी भवसे मोक्ष हो जाती है । दूसरा भव धारण नहीं करना पडता है । किन्तु सम्यग्दर्शनकी प्रकर्ष सीमातक पहुंचने पर भी यानी क्षायिक सम्यग्दर्शनके उत्पन्न हो जानेपर भी नियमसे दूसरे जन्मोंको धारण न करनेकी हेतुताका अभाव है । कोई क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव भले ही उस जन्मसे मोक्ष प्राप्त करलेवे, किन्तु अन्य क्षायिकसम्यग्दृष्टि श्रेणिक राजाके समान तीसरे भवमें मुक्तिको प्राप्त करेंगे । अथवा मनुष्यायु या तिर्यगायु को बांधकर जिन मनुष्योंने केवली या श्रुतकेवलीके निकट क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है, वे भोगभूमिके सुख भोगकर देव होनेके बाद कर्मभूमिमें मनुष्य होकर मुक्ति लाभ करेंगे । हां, चौथे भवमें मुक्तिको अवश्य प्राप्त कर लेवेंगे । किन्तु पूर्ण प्रत्यक्षज्ञानी तो उसी जन्मसे सिद्ध परमेष्ठी बन जाते हैं । अतः दर्शनसे ज्ञान पूज्य रहा । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कटाक्ष करनेवाला वह शंकाकार भी चारित्रको पूज्यपना कहे तो और भी अच्छा है । क्योंकि उस चारित्रकी पूर्णता होनेपर तत्क्षणमें ही मोक्ष हो जाती है । दूसरे भवोंका धारण करना तो क्या, वर्तमान भवका धारण करना भी शीघ्र नष्ट हो जाता है, यह बात सिद्ध है । अतः किसीकी प्रकर्ष सीमासे पूज्यपनेकी व्यवस्था करनेवाला हेतु व्यभिचारी हो गया । अतः आदिके ज्ञानको समीचीनता देनेवाला दर्शन ही पूज्य है । कर्मभूमिके आदिमें लौकिक और धार्मिक व्यवस्थाको अक्षुण्ण बतानेवाले भगवान् ऋषभदेवका पूज्यपना जगत्प्रसिद्ध है । उपज्ञ ज्ञानका कारण अभ्यर्हित होना ही चाहिये।

केवलज्ञानस्यानंतत्वाच्चारित्रादभ्यर्हो न तु चारित्रस्य मुक्तौ तथा व्यपदिश्यमानस्याभावादिति चेत्, तत एव क्षायिकदर्शनस्याभ्यर्होस्तु मुक्तावपि सद्भावात् अनंतत्वसिद्धेः ।

चारित्रकी अपेक्षासे केवलज्ञानको ही पूज्यपना है । क्योंकि केवलज्ञान अनंतकाल तक स्थित रहता है । किंतु चारित्र पूज्य नहीं है, कारण कि मुक्तिमें चारित्रगुणकी विद्यमानताका कथन नहीं किया है । केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, केवलदर्शन, जीवत्व और सिद्धत्व इन भावोंका ही निरूपण मोक्ष अवस्थामें किया है । सिद्धोंके आठ गुणोंमें भी चारित्रका नाम नहीं है । सिद्धगति १ केवलज्ञान २ केवलदर्शन ३ क्षायिकसम्यक्त्व ४ अनाहार ५ ये पांच मार्गणायें सिद्धोंमें मानी गई हैं । यहां भी चारित्रका कथन नहीं आया है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं

कि उस ही कारणसे क्षायिकसम्यक्त्वको पूज्यपना हो जाओ। क्योंकि मुक्तिमें भी वह विद्यमान है। क्षायिक सम्यग्दर्शनका मोक्ष अवस्थामें अनन्तकालतक ठहरे रहना सिद्ध है।

साक्षाद्भवान्तराभावहेतुत्वाभावाद्दर्शनस्य केवलज्ञानादनभ्यर्हं केवलस्याप्यभ्यर्हो माभूत् तत एव। नहि तत्कालादिविशेषानिरपेक्षं भवान्तराभावकारणमयोगकेवलिचरमसमयप्राप्तस्य दर्शनादित्रयस्य साक्षान्मोक्षकारणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। ततः साक्षात्परम्परया वा मोक्षकारणत्वापेक्षया दर्शनादित्रयस्याभ्यर्हितत्व समानमिति न तथा कस्यचिदेवाभ्यर्हव्यवस्थायेन ज्ञानमेवाभ्यर्हितं स्यात् दर्शनात्।

क्षायिक सम्यग्दर्शनको अव्यवहित उस ही भवसे जन्मांतर न लेनेकी यानी मोक्ष होनेकी कारणताका अभाव है। इस कारण केवलज्ञानसे सम्यग्दर्शन पूज्य नहीं हो सकता है, ऐसा कहनेपर तो उस ही कारणसे केवलज्ञानको भी पूज्यपना न होगा। भावार्थ—केवलज्ञान भी अव्यवहित उत्तर कालमें मोक्षका सम्पादक नहीं है। काल, पूर्णचारित्र, अघातियोंका नाश आदि उन विशेष कारणोंकी नहीं अपेक्षा करता हुआ वह विचारा केवलज्ञान अन्य जन्म न लेना रूप मोक्षका कारण नहीं होपाता है। किंतु चौदहवें अयोग केवली नामक गुणस्थानके अंतिमसमयमें प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही अव्यवहित उत्तरकालमें होनेवाली सिद्ध अवस्थारूप परम मुक्तिके साक्षात् कारण हैं। इस स्वरूप करके उक्त बातको हम अग्रिम ग्रंथमें स्पष्ट रूपसे कहनेवाले हैं। उस कारण मोक्षके साक्षात् अर्थात् अव्यवहित कारण होजाने अथवा तीसरा, चौथा शुक्लध्यान या अघाती कर्मोंका क्षय होनेको बीचमें डालकर परम्परासे कारणपनेकी अपेक्षासे दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंको पूज्यपना समान है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें उपजकर पूर्ण हो जाता है। ज्ञान तेरहवें गुणस्थानके आदि समयमें पूर्ण हो जाता है। और चारित्रगुण बारहवेंकी आदिमें पूर्ण हो जाता है, किंतु मोक्ष होनेमें कमसे कम कई अंतर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक कुछ अंतर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व वर्ष अवशिष्ट रह जाते हैं। चौरासी लाख वर्षोंका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व है। ऐसे एक कोटि पूर्व वर्षोंकी आयु कर्मभूमिमें उत्कृष्ट मानी गयी है। आठ वर्षका मनुष्य मुनि व्रत लेकर कतिपय अंतर्मुहूर्तोंके पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः तीनों ही रत्नोंको अन्य विशेष कारणोंकी अपेक्षा रखते हुए ही मोक्षका कारणपन है। ऐसी दशामें उस प्रकार मोक्षके कारणपनकी अपेक्षासे तीनोंमेंसे किसी एकको ही पूज्यपनेकी व्यवस्था नहीं हो सकती है, जिससे कि ज्ञान ही दर्शनकी अपेक्षासे पूज्य माना जावे।

नन्वेवं विशिष्टसम्यग्ज्ञानहेतुत्वेनापि दर्शनस्य ज्ञानादभ्यर्हं सम्यग्दर्शनहेतुत्वेन ज्ञानस्य दर्शनादभ्यर्होस्तु श्रुतज्ञानपूर्वकत्वादधिगमजसद्दर्शनस्य, मत्यवधिज्ञानपूर्वकत्वान्निसर्गजस्येति

चेन्न, दर्शनोत्पत्तेः पूर्वं श्रुतज्ञानस्य मत्यवधिज्ञानयोर्वा अनाविर्भावात् मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानपूर्वकत्वात् प्रथमसम्यग्दर्शनस्य, न च तथा तस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गः सम्यग्ज्ञान-स्यापि मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य मिथ्यात्वप्रसक्तेः।

यहां आक्षेपककी शंका है कि इस प्रकार पूर्ण श्रुतज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानके कारण बन जानेसे भी दर्शनको ज्ञानकी अपेक्षासे पूज्यपना [मानोगे, तब तो विशिष्ट सम्यग्द-र्शनका कारण बन जानेसे भी ज्ञानको दर्शनकी अपेक्षा पूज्यपना मानो। क्योंकि परोपदेशसे उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञानरूप कारणसे उत्पन्न हुआ है और स्वभावसे (परोपदेशातिरिक्त कारणोंसे) होनेवाला सम्यग्दर्शन भी अपनी आत्मामें विद्यमान होरहे मतिज्ञान और अवधिज्ञान रूप कारणसे उत्पन्न हुआ है। अतः फिर भी ज्ञानको पूज्यता आती है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहो सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पहिले श्रुतज्ञान अथवा मतिज्ञान या अवधिज्ञान ये प्रगट ही नहीं होते हैं। मति, श्रुत और अवधि ये तीनों सम्यग्ज्ञानके भेद हैं। पहिले ही पहिले भव्यजीवको जो सम्यग्दर्शन होता है वह कुमति, कुश्रुत अथवा विभङ्गज्ञान पूर्वक ही होता है। सम्यग्दर्शनके प्रथम होनेवाली ज्ञानकी पर्यायें मिथ्यादर्शनके सहचारी होनेके कारण मिथ्याज्ञान रूप हैं। एतावता कोई यों कहे कि तब तो उस प्रकार मिथ्याज्ञान पूर्वक उत्पन्न हुए उस निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनको भी मिथ्यापनका प्रसंग आता है, सो कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो मिथ्याज्ञानपूर्वक हुए सम्यग्ज्ञानको भी मिथ्यापनका प्रसंग हो जावेगा। जब कभी प्रथम ही प्रथम सम्यग्ज्ञान हुआ है, उसके पहिले मिथ्याज्ञान अवश्य था। असिद्ध अवस्थासे ही सिद्ध अवस्था होती है। चौदहवें गुणस्थानके अंतिमसमयवाले सकर्मा जीव ही एक क्षण बाद अकर्मा हो जाते हैं। मूर्ख ही विद्वान् बन जाते हैं। कीचसे कमल होता है और अशुद्ध खातसे शुद्ध अन्न फल आदि उत्पन्न हो जाते हैं। अतः मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान ही कारण मिलनेपर अग्रिम क्षणमें सम्य-ग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप परिणत हो जाते हैं, कोई बाधा नहीं है।

सत्यज्ञानजननसमर्थान्मिथ्याज्ञानात्सत्यज्ञानत्वेनोपचर्यमाणादुत्पन्नं सत्यज्ञानं न मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते मिथ्यात्वकारणादृष्टाभावादिति चेत्, सम्यग्दर्शनमपि तादृशान्मिथ्या-ज्ञानादुपजातं कथं मिथ्या प्रसज्यते, तत्कारणस्य दर्शनमोहोदयस्याभावात्।

देखिये, मिथ्याज्ञान दो प्रकारके हैं। एक उत्तरक्षणमें मिथ्यात्वको पैदा करनेवाले और दूसरे उत्तरक्षणमें सम्यग्ज्ञानको पैदा करनेवाले। जो सम्यग्ज्ञानको पैदा करनेवाले हैं उन मिथ्याज्ञानोंको उपचारसे सम्यग्ज्ञानपना माना जाता है। कार्यके धर्म कारणमें आरोपित कर दिये जाते हैं। चौदहवें गुणस्थानकी अन्तिम सकर्म अवस्था भी अकर्मरूप व्यवहृत होती है। पण्डित और वकीलका मूर्ख पिता भी व्यवहारमें पण्डित और कुशल कहा जाता है। अतः सम्य-

ज्ञानके उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखनेवाले और व्यवहारसे सत्यज्ञानरूप ऐसे मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुआ सत्यज्ञान कभी मिथ्यापनको प्राप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ज्ञानके मिथ्यात्वका कारण माने गये अदृष्टविशेष मिथ्याज्ञानावरण कर्मका उदय उस समय नहीं है। सम्यग्ज्ञानके पूर्व समयमें सम्यग्ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम है और उसके पहिले समयमें मिथ्याज्ञानावरणका क्षयोपशम है। क्षयोपशम ज्ञानका कारण है। अतः मध्यकी अवस्थामें वस्तुतः तो मिथ्याज्ञान है। किंतु वह सम्यग्ज्ञान सरीखा है। इस कारण सम्यग्ज्ञानको एकांत रूपसे मिथ्याज्ञानपूर्वक कहना जैनोंको उचित नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि उपचारसे सम्यग्ज्ञान रूप उस मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुये सम्यग्दर्शनको भी मिथ्यापनका प्रसङ्ग कैसे हो जावेगा? बताओ। अर्थात् सम्यग्दर्शनको भी मिथ्यादर्शनपनेका प्रसंग नहीं है, क्योंकि दर्शनमें उस मिथ्यापनेका कारण दर्शनमोहनीय कर्मका उदय है। सो सम्यग्दर्शनके उत्पन्न हो जानेपर रहता नहीं है।

सत्यज्ञानं मिथ्याज्ञानानन्तरं न भवति तस्य धर्मविशेषानन्तरभावित्वादिति चेत्, सम्यग्दर्शनमपि न मिथ्याज्ञानानन्तरभावि तस्याधर्मविशेषाभावानन्तरभावित्वोपगमात्।

सम्यग्ज्ञान तो मिथ्याज्ञानके अनंतर होता ही नहीं है, किंतु वह सम्यग्ज्ञान तो ज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशमरूप धर्मको कारण मानकर उत्पन्न होता हुआ स्वीकार किया गया है। यदि ऐसा कहोगे तो हम भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन गुण भी मिथ्याज्ञानके अनंतर कालमें नहीं होता है। किंतु वह सम्यग्दर्शन तो मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीरूप विशेष पापोंका उदय न होना रूप अभावको कारण मानकर उत्पन्न हुआ माना है। वस्तुतः विचारा जावे तो सम्यग्दर्शन पर्यायका उपादान कारणरूप पूर्वपर्याय मिथ्यादर्शन ही है और मिथ्याज्ञानका उपादानकारण रूप पूर्वपरिणाम मिथ्याज्ञान है। इसमें भय और लज्जाकी कौनसी बात है? शीत तैलसे उष्ण और चमकती हुयी दीपकलिका बन जाती है तथा दीपकलिकासे ठण्डा और काला काजल बन जाता है। उत्तरपर्यायका उपादान कारण गुण होता है। उस गुणके पूर्व समयवर्ती पर्यायोंमें मिथ्यापन लगा हुआ है। यह मिथ्यापन उत्तर पर्यायोंके उत्पन्न होनेमें प्रयोजक नहीं है। उष्ण कलिकासे ठण्डा काजल होजाता है। यहां उष्णता पर्याय शीतमें कारण नहीं है। कारण तो स्पर्श गुण है। हम क्या करें? उस समय स्पर्श गुणका उष्ण परिणाम था। मूर्खसे पण्डित हो जाता है। यहां पण्डिताईका कारण मूर्खता नहीं है। किंतु चेतनागुण है। उसका पूर्वमें कुज्ञान या अज्ञान परिणाम है। विशिष्ट क्षयोपशम होनेसे वही चेतना गुण पण्डिताई रूप परिणत हो जाता है। तैल भले ही सोनेके पात्रमें हो या मिट्टीके पात्रमें, कलिकाका केवल तैलके साथ उपादान उपादेय भाव है।

मिथ्याज्ञानानन्तरभावित्वाभावे च सत्यज्ञानस्य सत्यज्ञानानन्तरभावित्वं सत्यासत्यज्ञानपूर्वकत्वं वा स्यात्? प्रथमकल्पनायां सत्यज्ञानस्यानादित्वप्रसंगो मिथ्याज्ञानसन्ता-

नस्य चानन्तत्वप्रसक्तिरिति प्रतीतिविरुद्धं सत्येतरज्ञानपौर्वापर्यदर्शननिराकरणमायातम् । द्वितीयकल्पनायां तु सत्यज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं सकलज्ञानशून्यस्यात्मनोनात्मत्वानुषङ्गो दुर्निवारस्तस्योपयोगलक्षणत्वेन साधनात् । स चानुपपन्न एवात्मनः प्रसिद्धेरिति मिथ्याज्ञानपूर्वकमपि सत्यज्ञानं किंचिदभ्युपेयम् । तद्वत्सम्यग्दर्शनमपि इत्यनुपालम्भः ।

जो प्रतिवादी सत्यज्ञानको मिथ्याज्ञानके अव्यवहित उत्तर कालमें उत्पन्न होता हुआ नहीं मानेंगे, उनसे हम जैन पूंछते हैं कि सबसे पहिले उत्पन्न हुए सत्यज्ञानको सत्यज्ञानके पश्चात् होता हुआ मानेंगे या सत्यज्ञान और असत्य ज्ञानसे रहित केवल आत्मा ही सत्यज्ञानको उत्पन्न करदेगा, स्वीकार करेंगे ? बताओ । यदि पहिले पक्षकी कल्पना करोगे, तब तो सत्यज्ञानको अनादिपनका प्रसंग आता है । क्योंकि पहिला सत्यज्ञान उसके पहिलेके सत्यज्ञानसे उत्पन्न होगा और वह भी उससे भी पहिलेके सत्यज्ञानसे होगा, इस तरह मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी अनादि कालसे सम्यग्ज्ञानके होनेका प्रसंग आता है । तथा दूसरा दोष यह भी होगा कि मिथ्याज्ञानकी सन्तानरूप धाराको अनन्तपनेका प्रसंग हो जावेगा । क्योंकि जैसे सत्यज्ञान ही भविष्यमें सत्यज्ञानको पैदा करते हैं, वैसे ही मिथ्याज्ञान भी भविष्यमें मिथ्याज्ञानको ही पैदा कर सकेंगे । मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञानको उत्पन्न तो कर नहीं सकेगा । अतः कोई भी मिथ्यादृष्टिजीव अनन्त कालतक सम्यग्ज्ञानी नहीं बन सकेगा, इस प्रकार सत्यज्ञान और मिथ्याज्ञानके पूर्व उत्तर कालमें रहना रूप कार्यकारण भावको माननेवाले नैयायिक, जैन आदिके दर्शनोंका खण्डन होना प्राप्त होता है, जो कि प्रमाणसिद्ध प्रतीतियोंसे विरुद्ध है ।

यदि दूसरा पक्ष लोगे यानी सबसे पहिला सम्यग्ज्ञान आत्मामें सत्य और मिथ्या किसी भी ज्ञानसे उत्पन्न नहीं हुआ है, इस कल्पनामें तो सत्यज्ञानकी उत्पत्तिके पहिले संपूर्ण ज्ञानोंसे रहित माने गये आत्माको जडपनेका प्रसंग आता है । जिसको कि आप अत्यंत कष्टसे दूर कर सकेंगे, जब कि उस आत्माका ज्ञान और दर्शनोपयोग स्वरूपसे साधन हो चुका है । अतः ज्ञानोंसे रहित आत्माका वह मानना असिद्ध ही है । क्योंकि सर्वदा किसी न किसी ज्ञानसे युक्त होरहे आत्माकी प्रसिद्धि होरही है । इस कारण सभी प्रतिवादियोंको इसी उपायका अवलम्ब करना पडेगा कि मिथ्यादृष्टि जीवके सबसे पहिले उत्पन्न हुआ कोई कोई सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञानपूर्वक भी है । उसी सत्यज्ञानके समान पहिला सम्यग्दर्शन भी मिथ्याज्ञानपूर्वक होजाता है । इस प्रकार जैनोंके ऊपर कोई भी उलाहना नहीं है ।

क्षायोपशमिकस्य क्षायिकस्य च दर्शनस्य सत्यज्ञानपूर्वकत्वात्सत्यज्ञानं दर्शनादभ्यर्हितमिति च न चोद्यम्, प्रथमसम्यग्दर्शनस्यौपशमिकस्य सत्यज्ञानाभावेऽपि भावात् । नैवं किंचित्सम्यग्वेदनं सम्यग्दर्शनाभावे भवति । प्रथमं भवत्येवेति चेत् न तस्यापि सम्यग्दर्शनसहचारित्वात् ।

किसीका कटाक्ष है कि उपशम सम्यक्त्वके अनन्तर चार अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्वके उपशम होनेपर और सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय होनेपर उत्पन्न हुए क्षयोपशम सम्यक्त्वको और क्षयोपशमके ही अनन्तर होनेवाले क्षायिक सम्यक्त्वको सत्यज्ञानपूर्वकपना ही आप जैनोंने इष्ट किया है। अतः सम्यग्दर्शनसे सत्यज्ञान पूज्य है। क्योंकि सम्यक्त्वका कारण सम्यग्ज्ञान है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकारका कुचोद्य करना ठीक नहीं है। क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टी जीवके करणलब्धिके उत्पन्न होजाने पर उत्पन्न हुए अनन्तानुबन्धी चार और मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियोंका अप्रशस्त प्रशस्त उपशम होनेपर पहिला औपशमिक सम्यक्त्व तो सत्यज्ञानके विना भी उत्पन्न हो जाता है तथा सादि मिथ्यादृष्टिके प्रथमगुणस्थानसे भी सीधा क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाता है। अतः कोई कोई सम्यग्दर्शन तो सत्यज्ञानके पूर्वमें रहे विना भी हो गया। किन्तु इस प्रकार कोई भी सम्यग्ज्ञान ऐसा नहीं है जो कि सम्यग्दर्शनके पूर्ववर्ती रहे विना उत्पन्न हो जावे। यदि आप यों कहें कि पहिला सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्दर्शनके पूर्वमें रहे विना ही हो गया है, यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि पहिले सम्यग्ज्ञानके पूर्वमें सम्यग्दर्शन न सही, किन्तु उसके समान कालमें साथ रहनेवाला सम्यग्दर्शन है ही। यों वह ज्ञान भी सम्यग्दर्शनका सहचारी है।

तर्हि प्रथममपि सम्यग्दर्शनं न सम्यग्ज्ञानाभावेऽस्ति तस्य सत्यज्ञानसहचारित्वादिति न सत्यज्ञानपूर्वकत्वमव्यापि दर्शनस्य, सत्यज्ञानस्य दर्शनपूर्वकत्ववत्, ततः प्रकृतं चोद्यमेवेति चेन्न प्रकृष्टदर्शनज्ञानापेक्षया दर्शनस्याभ्यर्हितत्ववचनादुक्तोत्तरत्वात्। न हि क्षायिकं दर्शनं केवलज्ञानपूर्वकं येन तत्कृताभ्यर्हितं स्यात्। अनन्तभवप्रहाणहेतुत्वाद्वा सद्दर्शनस्याभ्यर्हः।

शंकाकारका कटाक्ष करना फिर जम गया कि तब तो पहिला सम्यग्दर्शन भी सम्यग्ज्ञानके विना नहीं होता है। वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व भी सत्यज्ञानका सहचारी है अर्थात् दोनों एक समयमें होते हुए साथ रहते हैं। इस प्रकार आप जैनोंने पूर्वमें यह क्यों कहा था कि कोई कोई सम्यग्दर्शन सत्यज्ञानके विना भी रह जाता है। किंतु कोई भी सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके विना नहीं होता है। हम शंकाकार कहते हैं कि साथ रहनेसे ही यदि उसके पूर्वकपना बन जावे, तब तो दर्शनको भी सम्यग्ज्ञानपूर्वकपना बन जावेगा। अतः सत्यज्ञानपूर्वकपना यदि सम्यग्दर्शनका लक्षण कर दिया जावे तो आप जैनोंके कथनानुसार कोई अव्याप्ति दोष नहीं है। जैसे सम्यग्ज्ञानको आप दर्शनपूर्वकपना मानते हैं और उसी कारण दर्शनको ज्ञानसे पूज्य मानते हैं वैसे ही सत्यज्ञान भी सहचारी होनेसे सम्यग्दर्शनके पूर्वमें रहता है। अतः ज्ञान भी पूज्य हो जाओ, हमको आपके उत्तरसे संतोष नहीं है। तिस कारण प्रकरणमें चलाया गया हमारा कटाक्ष तदवस्थ ही रहा। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार चोद्य करना ठीक नहीं। क्योंकि पूर्ण उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षासे कारणताका विचार कर दर्शनको पूज्यपना हमने कहा है और आपकी शंकाका सिद्धांत उत्तर हम पहिले भी संक्षेपमें यही कह चुके हैं। केवलज्ञानके प्रथम

क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हो चुका है, किंतु क्षायिकसम्यक्त्व केवलज्ञानपूर्वक नहीं है, जिससे कि उस पूर्णदर्शनकी अपेक्षासे किया गया पूर्णज्ञान पूज्य समझा जावे। और दूसरा समाधान यहां यह समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन ही इस जीवके भविष्य अनंत भवोंके मूलसहित नाशका कारण है। एक बार सम्यग्दर्शनके हो जानेपर अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परिवर्तन कालमें अवश्य ही मोक्ष हो जाती है। अनंतानंत भवोंमें परिभ्रमण करनेकी अपेक्षा थोडेसे अनंत असंख्यात संख्यात भवोंमें परावर्तन कर मोक्षमें विराजमान कर देनेका श्रेय सम्यग्दर्शन गुणके ही माथेपर लगा हुआ है। इस सम्यग्दर्शनके बलपर और अनेक गुण भी आत्मामें व्यक्त हो जाते हैं। इस कारण सम्यग्दर्शन ही पूज्य है।

विशिष्टज्ञानतः पूर्वभावाच्चास्यास्तु पूर्ववाक्।
तथैव ज्ञानशब्दस्य चारित्रात्प्राक् प्रवर्तनम् ॥ ३५ ॥

ज्ञानावरण कर्मके क्षय होजानेपर उत्पन्न हुए विलक्षण चमत्कारक क्षायिक ज्ञानसे पूर्वमें रहनेकी अपेक्षासे इस सम्यग्दर्शनका सूत्रमें पहिले बोलना उचित है। तैसे ही आनुषंगिक दोषोंसे भी रहित होरहे परिपूर्ण चारित्रसे ज्ञान शब्दका भी आदि सूत्रमें पहिले प्रयोग करनेमें प्रवर्तना समझलो!

यद्यत्कालतया व्यवस्थितं तत्तथैव प्रयोक्तव्यमार्षान्न्यायादिति क्षायिकज्ञानात्पूर्वकालतयावस्थितं दर्शनं पूर्वमुच्यते, चारित्राच्च समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानलक्षणात् सकलकर्मक्षयनिबन्धनात्ससामग्रीकात् प्राक्कालतयोद्भवत् सम्यग्ज्ञानं ततः पूर्वमिति निरवद्यो दर्शनादिप्रयोगक्रमः।

जो जिस कालमें होता हुआ प्रामाणिक व्यवस्थासे सिद्ध होरहा है, उसका उत्पत्तिके क्रमानुसार वैसे ही प्रयोग करना चाहिये। ऋषियोंके सम्प्रदायसे ऐसा करना ही न्यायमार्ग है। इस कारण क्षायिक केवलज्ञानसे पूर्वकालमें रहनेवाला सम्यग्दर्शन सिद्ध हो चुका है। अतः सूत्रमें दर्शन शब्द पहिले कहा जाता है और चारित्रसे पहिले ज्ञान शब्दका प्रयोग किया है। यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय होजानेसे बारहवें गुणस्थानके आदि में ही क्षायिकचारित्र होगया है। किंतु अघातिया कर्मोंके निमित्तसे चारित्रमें आनुषंगिक दोष आरहे हैं। केवलज्ञानमें अघातिया कर्मोंके सन्निधानसे कोई दोष नहीं आते हैं। वह तेरहवेंके आदि में ही अक्षुण्ण परिपूर्ण है। मन, वचन, कायके योगोंकी क्रियाके सर्वथा नष्ट हो जानेपर पीछे उत्पन्न हुआ आत्मनिष्ठारूप चौथे शुक्ल ध्यानस्वरूप और सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण तथा केवलिसमुद्घातके द्वारा तीन अघातिया कर्मोंकी आयुःके बराबर अन्तर्मुहूर्त स्थिति कर चुकना आदि सामग्रीसे युक्त होरहे ऐसे चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें होनेवाले परिपूर्ण चारित्रसे बहुत काल पहिले उत्पन्न हो चुका परिपूर्ण सम्यग्ज्ञान

उस चारित्रसे पहिले कहा जावेगा। इस प्रकार सूत्रमें परिपूर्णताकी अपेक्षासे उत्पन्न हुए दर्शन, ज्ञान और चारित्रके प्रयोग करनेका क्रम सर्वथा दोषोंसे रहित है।

प्रत्येकं सम्यगित्येतत्पदं परिसमाप्यते।
दर्शनादिषु निःशेषविपर्यासनिवृत्तये ॥ ३६ ॥

द्वंद्व समासके आदिमें या अन्तमें अन्य कर्मधारय या बहुव्रीहि तथा तत्पुरुष समासोंके द्वारा मिलाये गये पदोंका द्वन्द्वघटित सर्व ही पदोंके साथ अन्वय हो जाता है। इस सूत्रमें भी दर्शन, ज्ञान और चारित्रका द्वन्द्व समास कर पुनः सम्यक् शब्दके साथ य स (कर्मधारय समास) किया गया है। अतः सम्यग् इस पदको प्रत्येक दर्शन ज्ञान और चारित्र पदोंमें परिपूर्ण रूपसे जोडदेना चाहिये। जिस सम्यक्पद लगानेका यह प्रयोजन है कि उससे संपूर्ण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति हो जावे। अतः अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये सम्यक्पद अखण्ड रूपसे तीनोंमें अन्वित करदिया जाता है।

सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति प्रत्येकपरिसमाप्त्या सम्यगिति पदं सम्बंध्यते, प्रत्येकं दर्शनादिषु निःशेषविपर्यासनिवृत्त्यर्थत्वात्तस्य। तत्र दर्शने विपर्यासमौढ्यादयो मिथ्यात्वभेदाः शंकादयश्चातीचारा वक्ष्यमाणाः, संज्ञाने संशयादयः, सच्चारित्रे मायादयः, प्रतिचारित्रविशेषमतीचाराश्च यथासम्भविनः प्रत्येयाः, तेषु सत्सु दर्शनादीनां सम्यक्त्वानुपपत्तेः।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इस प्रकार प्रत्येक रत्नमें परिपूर्णरूपसे समाप्तिकर सम्यक् यह पद जोड दिया जाता है। उसका प्रयोजन यह है कि प्रत्येक दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें सम्पूर्ण विपरीतताओंकी निवृत्ति हो जावे अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों रत्न न बन जावें। उन तीनोंमें विपरीतपना इस प्रकार है। प्रथम दर्शनमें तो विपरीतपना यों है कि कुदेव आदिमें देव गुरुपनेकी मूढता करना। ज्ञान, कुल, पूजा आदिका गर्व करना, और एकांत, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान ये पांच प्रकार मिथ्याध्यवसाय करना तथा आगे सातमें अध्यायमें कहे जाने वाले शंका, काङ्क्षा आदि अतीचार ये सब दर्शनके दोष हैं और मिथ्या हैं। अतः सम्यग्दर्शनके सम्यक्पदसे इनका वारण हो जाता है। तथा सम्यग्ज्ञानमें समीचीन पदके लगानेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय या विभंग और कुमति, कुश्रुत रूप प्रमाणाभासकी व्यावृत्ति हो जाती है। एवं समीचीन चारित्रमें अनंतानुबंधीके उदयपर होनेवाले मायाचार, क्रोध, ईर्ष्या, आत्मस्वरूपमें चर्या न होना आदि विपर्यास हो सकते थे। तथा प्रत्येक देशचारित्र, सकलचारित्र, अहिंसा महाव्रत, सामायिक आदि विशेष चारित्रोंमें यथायोग्य होने

वाले अतीचार भी चारित्रके विपर्यास हैं एवं कुभेषियोंके पंचाग्नि तप, मुण्डन, जटा रखना, कान फाड लेना आदि भी मिथ्याचारित्र समझ लेने योग्य हैं। उन सबकी निवृत्ति सम्यक् पद देनेसे हो जाती है। तीन मूढता, संशय, माया आदि विपर्यासोंके होनेपर दर्शन, ज्ञान और चारित्रको समीचीनपना सिद्ध नहीं होता है।

तदेवं सकलसूत्रावयवव्याख्याने तत्समुदायव्याख्यानात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गो वेदितव्य इति व्यवतिष्ठते।

सिद्धांत इस प्रकार पहिले सूत्रके सम्पूर्ण अवयवोंकी व्याख्या कर देनेपर उन अवयवोंके समुदायरूप सूत्रका भी व्याख्यान हो चुका है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन गुणोंकी एकता हो जाना ही मोक्षका मार्ग समझ लेना चाहिये। यहांतक उक्त सिद्धांत व्यवस्थित हो जाता है।

तत्र किमयं सामान्यतो मोक्षस्य मार्गस्त्रयात्मकः सूत्रकारमतमारूढः किं वा विशेषत ? इति शंकायामिदमाह।

उक्त सिद्धांत तो हमने मान लिया। किंतु उस सूत्रके प्रकरणमें हमको यह पूंछना है कि यह मोक्षका रत्नत्रयस्वरूप मार्ग सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजके मतमें व्यवस्थित है सो क्या सामान्य रूपसे है अथवा क्या विशेषरूपसे रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है ? बताओ। इस प्रकार शंका होनेपर श्री विद्यानंद स्वामी यह वक्ष्यमाण उत्तर कहते हैं।

तत्सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्गो विशेषतः।
सूत्रकारमतारूढो न तु सामान्यतः स्थितः ॥ ३७ ॥
कालादेरपि तद्धेतुसामान्यस्याविरोधतः।
सर्वकार्यजनौ तस्य व्यापारादन्यथास्थितेः ॥ ३८ ॥

वे सम्यग्दर्शन आदि समुदित तीनों गुण तो विशेषरूपसे मोक्षमार्ग हैं। यही सिद्धांत सूत्रकारके मंतव्यमें आरूढ हो रहा है। किंतु सामान्यकारणोंकी दृष्टिसे रत्नत्रयको मोक्षका मार्ग नहीं कहा गया है, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यदि सामान्य कारणोंका निरूपण किया जाना इष्ट होता तब तो काल, आकाश आदिको भी उस मोक्षके सामान्यरूपसे मार्गपनेका विरोध नहीं है। जगत्के सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति होनेमें सामान्यकारण माने गये उन काल आदिका व्यापार होता है, यों निरूपण किये विना भी सामान्य कारणोंकी दूसरे प्रकारसे भी व्यवस्था हो सकती थी। अतः विशेष रूपकर कथन करनेसे प्रतीत होता है कि रत्नत्रय विशेषरूपसे ही मोक्षका मार्ग है। काल आका-

शके अतिरिक्त मनुष्यजन्म, वज्रवृषभनाराच संहनन, ढाई द्वीपक्षेत्र, दीक्षा लेना आदि कारण भी मोक्षके सामान्य कारणोंमें गर्भित हैं। भावार्थ—विशेष रूपसे रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग है यही सूत्रकारकी विवक्षा है।

साधारणकारणापेक्षया हि सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकं मोक्षमार्गमाचक्षाणो न सकलमोक्षकारणसंग्रहपरः स्यात्, कालादीनामवचनात्, न च कालादयो मोक्षस्योत्पत्तौ न व्याप्रियन्ते सर्वकार्यजनने तेषां व्यापारात्। तत्र व्यापारे विरोधाभावात्। यदि पुनः सम्यग्दर्शनादीन्येवेत्यवधारणाभावान्न कालादीनामसंग्रहस्तदा सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्ग इति वक्तव्यम्। सम्यग्दर्शनमेवेत्यवधारणाभावादेव ज्ञानादीनां कालादीनामिव संग्रहसिद्धेस्तत्तद्वचनाद्विशेषकारणापेक्षयायं त्रयात्मको मोक्षमार्गः सूत्रित इति बुद्ध्यामहे।

मोक्षके साधारण कारणोंकी अपेक्षा ही रत्नत्रय स्वरूपको मोक्षमार्ग कथन करनेवाला सूत्र सम्पूर्ण मोक्ष कारणोंके संग्रहमें तत्पर नहीं कहा जावेगा। क्योंकि काल, आकाश आदिक भी तो मोक्षके साधारण कारण हैं। उन कारणोंका सूत्रमें कथन नहीं किया गया है। यदि यहां कोई यह कह बैठे कि काल आदिक तो मोक्षकी उत्पत्तिमें कुछ भी व्यापार नहीं करते हैं। अतः मोक्षके सामान्य कारणको निरूपण करनेवाले सूत्रमें काल आदिकका कथन नहीं किया है। आचार्य कहते हैं कि किसीका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उन व्यवहार काल, आकाश, कालपरमाणु, आदिका सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार हो रहा है। अतः उस मोक्षरूप कार्यकी उत्पत्तिमें भी काल आदिकके व्यापार होनेमें कोई विरोध नहीं है। यदि शंकाकार पुनः यह कहे कि काल आदिकोंका भी असंग्रह न होगा। क्योंकि सूत्रकारने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्षके मार्ग हैं, ऐसा नियम तो किया नहीं है। अतः काल, आकाश आदिका भी संग्रह हो जाता है। इसपर हम जैन कहते हैं कि तब तो मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन है, इतना ही कह देना चाहिये। सम्यग्दर्शन ही मार्ग है, ऐसा नियम तो किया ही नहीं है। इस ही कारणसे काल आदिकोंके समान ज्ञान, चारित्रका भी संग्रह होना सिद्ध हो जावेगा। किन्तु सम्यग्दर्शन मोक्षका मार्ग है, ऐसा संक्षिप्त कथन नहीं किया है। तिस कारण हम यों समझते हैं कि उन विशेषकारणोंकी अपेक्षासे ही यह रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग है, ऐसा सूत्रकारने आदि सूत्रमें सूचित किया है। जो बात युक्तिसे सिद्ध हो जावे। वह शंकाकारको भी हृदयंगत करलेना चाहिये।

पूर्वावधारणं तेन कार्यं नान्यावधारणम्।
यथैव तानि मोक्षस्य मार्गस्तद्वद्धि संपदः॥ ३९॥

उद्देश्य और विधेयदलमें कहीं कहीं दोनों ओरसे अवधारण होजाता है। जैसे सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है और सम्यग्ज्ञान प्रमाण ही है। देव तथा नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है। देव नार-

कियोंके उपपाद ही जन्म होता है। और कहीं कहीं कहीं पहिला ही अवधारण हो सकता है। जैसे मनुष्य भवसे ही मोक्ष होती है। यहां मनुष्य भवसे मोक्ष हो ही जाती है, ऐसा विधेय दलमें अवधारण नहीं होता है और कहीं कहीं विधेयदलमें ही अवधारण होता है। जैसे रूपवान् पुद्गल ही है। यहां पुद्गल रूपवान् ही है। ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं। क्योंकि रस, गन्ध आदि गुण भी वहां विद्यमान हैं। कहीं दोनों भी दलोंमें अवधारण नहीं होता है। जैसा नीला कम्बल है। राजा धर्मात्मा है। यहां नीला ही कम्बल होता है या नीला कम्बल ही होता है, ऐसा नियम नहीं हो सकता है। क्योंकि कम्बल लाल शुक्ल भी होता है तथा कमल या नीलमणि, जामुन आदि पदार्थ भी नीले होते हैं। कोई कोई राजा पापी भी होते हैं तथा राजाओंसे अतिरिक्त पंडित सेठ लोग भी धर्मात्मा होते हैं। अतः यहां उद्देश्य और विधेयमें एवकार नहीं लगता है। एवकारके तीन भेद माने गये हैं। अन्ययोगव्यवच्छेद, अयोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद। प्रथम अन्ययोग व्यवच्छेद विशेष्यके साथ एवकार लगानेसे हो जाता है। जैसे अर्जुन ही धनुर्धारी है। यहां अर्जुनसे अतिरिक्त व्यक्तियोंमें धनुषधारीपनकी व्यावृत्ति हो जाती है। दूसरा एवकार अर्जुन धनुर्धारी ही है अर्थात् अर्जुन तलवार, चक्र आदि शस्त्रोंको धारण नहीं करता है। यह अयोगव्यवच्छेद विशेषणके साथ एवकार लगानेसे अन्य धर्मोंकी व्यावृत्ति कर देता है। जैसे क्रियाके साथ एवकार लग जानेसे नीला कमल होता ही है। अर्जुन धनुषधारी है ही, यहां अत्यन्तायोगव्यवच्छेद है। प्रकरणमें यह विचार है कि प्रथम सूत्रके उद्देश्य विधेयदलमें एवकार कहां लगाना चाहिये। यहां आचार्यमहाराजका सिद्धांत है कि तिस कारण पहिले उद्देश्यदलमें अवधारण करना चाहिये अर्थात् रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। अन्य अकेला दर्शन या मुनि-दीक्षा आदि विशेषरूपसे मोक्षमार्ग नहीं है, दूसरे विधेय दलमें अवधारण नहीं करना चाहिये। यदि विधेय दलमें अवधारण किया जावेगा तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये मोक्ष-मार्ग ही हैं। इस नियमसे लौकिक सम्पत्ति, स्वर्ग आदिकी समृद्धिके वे कारण न हो सकेंगे। किंतु जैसे ही वे मोक्षके मार्ग हैं, वैसे ही स्वर्ग, भोगभूमि, पञ्चविजयादिककी विभूतिके भी कारण हैं। अतः पहिला ही अवधारण करना ठीक है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्ग इत्यवधारणं हि कार्यमसाधारणकारणनिर्देशादेवान्यथा तदघटनात्, तानि मोक्षमार्ग एवेति तु नावधारणं कर्तव्यं। तेषां स्वर्गाद्यभ्युदयमार्गत्वविरोधात्, न च तान्यभ्युदयमार्गो नेति शक्यं वक्तुं, सद्दर्शनादेः स्वर्गादिप्राप्तिश्रवणात्। प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तानि तानि नाभ्युदयमार्ग इति चेत्, सिद्धं तर्ह्यपकृष्टानां तेषामभ्युदयमार्गत्वम्, इति नोत्तरावधारणं न्याय्यं व्यवहारात्। निश्चयनयात्तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनंतरसमयनिर्वाणजननसमर्थानामेव सद्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः परेषामनुकूलमार्गताव्यवस्थानात्।

मोक्षके असाधारण कारणका सूत्रमें निरूपण किया है। इस ही कारणसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है इस प्रकार पहिला ही एवकाररूप अवधारण करना चाहिये। अन्यथा यानी पहिला अवधारण किये विना रत्नत्रयमें वह विशेष कारणपना नहीं घटेगा। जैसे उपयोग जीवका असाधारण लक्षण है, यहां उपयोग ही जीवका लक्षण है, इस प्रकार पहिला अवधारण करनेसे तो लक्षणमें असाधारणपना प्रतीत होता है। दूसरे प्रकारसे नहीं। वे तीनों मोक्षमार्ग ही हैं। इस प्रकार दूसरा अवधारण तो नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर तो उनको स्वर्ग भोगभूमि, आदिके लौकिक सुखोंके मार्गपनेका विरोध हो जावेगा। भावार्थ—स्वर्ग, ग्रैवेयक आदि तो अपरिपूर्ण रत्नत्रयोंसे प्राप्त हो जाते हैं। यहां कोई प्रतिवादी इस प्रकार नहीं कह सकता है कि वे रत्नत्रय स्वर्ग—लक्ष्मी या सर्वार्थसिद्धि विमान प्राप्तिके मार्ग नहीं हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिसे स्वर्ग, नव अनुदिश आदिकी—प्राप्ति होना शास्त्रोंमें सुना गया है। जिन्होंने सम्यग्दर्शन होनेके प्रथम मनुष्यायु या तिर्यगायुको बांधलिया है, वे जीव भी सम्यग्दर्शनके प्रतापसे भोगभूमियोंमें मनुष्य और तिर्यञ्च होकर अनेक प्रकारके सुखोंको भोगते हैं। और जिन जीवोंके देवायुके अतिरिक्त शेष तीन आयुओंका बन्ध नहीं हुआ है या किसी भी आयुका बन्ध नहीं हुआ है, वे देशव्रत और महाव्रतोंको धारणकर कल्पवासी देव या ग्रैवेयक आदिकोंमें अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए प्रथमानुयोगमें सुने जाते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड और तत्त्वार्थशास्त्र भी इसी सिद्धान्तको प्रतिपादन करते हैं। यदि यहां फिर कोई यह कहे कि तीनों रत्न जिस समय अपनी परिपूर्ण उत्कर्ष अवस्थाको प्राप्त हो जावेंगे, तब तो वे स्वर्गके मार्ग नहीं हैं, किन्तु मोक्षके ही मार्ग हैं। अतः दूसरा विशेष दलके साथ अवधारण करना भी बन सकता है। तब ऐसा कहनेपर तो अर्थापत्तिसे सिद्ध हो गया कि जबतक वे परिपूर्ण अवस्थाको प्राप्त नहीं हैं, जघन्य या मध्यम विशुद्धिको लिये हुए निम्न श्रेणीके हैं, तब तो उनको स्वर्ग, अनुदिश आदिका मार्गपना प्रसिद्ध है। इस कारण उत्तरवर्ती दूसरा अवधारण करना न्यायसे उचित नहीं है। यह कथन व्यवहार नयकी अपेक्षासे है। हां, निश्चयनयकी अपेक्षासे तो दोनों ओरसे एवकार लगाना हमको अभीष्ट ही है। परिपूर्ण रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय मोक्षमार्ग ही है। स्वर्ग आदिकका कारण नहीं है। चौदहवें गुणस्थानके अन्त्य समयमें परमावगाढ सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और आनुषंगिक दोषोंसे रहित व्युपरतक्रियानिवृत्ति—ध्यानरूप चारित्र इन तीन अवयववाले सम्यग्दर्शन आदि त्रयको मोक्षमार्गपना सिद्ध है। चौदहवेंके अंतसमयवर्ती रत्नत्रयको अव्यवहित उत्तरवर्ती कालमें मोक्ष उत्पन्न करानेकी शक्ति है ही। अतः दोनों ओरसे एवकार लगजाता है। हां, दूसरे अपरिपूर्ण रत्नत्रय तो मोक्षको न उत्पन्न कर स्वर्ग आदिकके मार्ग हैं। वे अनुकूल कारण हैं। समर्थ कारण नहीं है। जैसे कि चाकको घुमानेवाले कुम्हारके हाथमें लगे हुए दण्डको घटकार्यके प्रति फलोपधानरूप समर्थ

कारणता है और वृक्षोंकी लकडी या कौनेमें धरे दण्डको केवल स्वरूपयोग्यतारूप अनुकूल कारणता है, वैसे ही अपूर्ण रत्नत्रय मोक्षमार्गके प्रतिकूल नहीं है। सहायक है।

एतेन मोक्षस्यैव मार्गो मोक्षस्य मार्ग एवेत्युभयावधारणमिष्टं प्रत्यायनीयम्।

इस पहिले कथनसे इस सिद्धान्तका भी निश्चय करलेना चाहिये कि विधेय दलमें पडे हुए मोक्षमार्गके पेटमें भी हम दोनों ओरसे अवधारण करना इष्ट करते हैं। रत्नत्रय मोक्षके ही मार्ग हैं अर्थात् कुमार्ग या मोक्षके कार्य नहीं हैं।

पूर्वावधारणेऽप्यत्र तपो मोक्षस्य कारणम्।
न स्यादिति न मन्तव्यं तस्य चारित्रात्मकत्वतः ॥ ४८ ॥

यहां किसी प्रतिवादीका यह विचार है कि व्यवहार नयकी अपेक्षासे यदि पूर्वके उद्देश्य दलमें एवकार लगाना भी इष्ट करोगे तो मोक्षका कारण तप न हो सकेगा। क्योंकि आप तीनको ही मोक्षका कारण मानते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह नहीं मानना चाहिये। क्योंकि वह तप चारित्रमें गर्भित हो जाता है। भावार्थ—तप चारित्रस्वरूप है। अतः तपके होते हुए भी तीन ही मोक्षके मार्ग हुए।

न ह्यसाधारणकारणाभिधित्सायामपि व्यवहारनयात्सम्यग्दर्शनादीन्येव मोक्षमार्ग इत्यवधारणं श्रेयस्तपसो मोक्षमार्गत्वाभावप्रसंगात्। न च तपो मोक्षस्यासाधारणकारणं न भवति, तस्यैवोत्कृष्टस्याभ्यंतरस्य समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानलक्षणस्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षकारणत्वव्यवस्थितेः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि मोक्षमार्ग इति सूत्रे क्रियमाणे तु युज्येत पूर्वावधारणम्। अनुत्पन्नतादृक्तपोविशेषस्य च सयोगकेवलिनः समुत्पन्नरत्नत्रयस्यापि धर्मदेशना न विरुध्यतेऽवस्थानस्य सिद्धेः। ततः सकलचोद्यावतारनिवृत्तये चतुष्टयं मोक्षमार्गो वक्तव्यः। तदुक्तम्। दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधना भणितेति केचित्, तदप्यचोद्यम्। तपसश्चारित्रात्मकत्वेन व्यवस्थानात् सद्दर्शनादित्रयस्यैव मोक्षकारणत्वसिद्धेः।

उक्त शंकाकी व्याख्या करते हैं कि व्यवहार नयकी अपेक्षासे मोक्षके असाधारण कारणोंके कथनकी अभिलाषा होनेपर भी सम्यग्दर्शन आदि तीन ही मोक्षके मार्ग हैं, इस प्रकार जैनोंका निश्चय करना कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि ऐसा करनेसे तपको मोक्षमार्गपनेके अभावका प्रसंग होजावेगा। जैनोंकी ओरसे संभव है कि कोई यों कह बैठे कि मोक्षका असाधारण कारण तप होता ही नहीं है। यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि आभ्यंतर तपोंमें उत्कृष्ट माने गये उस व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यानरूप तपको सम्पूर्ण कर्मोंके सर्वथा मोक्ष होजानेका कारणपना व्यव-

स्थित है। अर्थात् भविष्यमें कर्म न आसके और वर्तमानमें थोडे भी कर्मपरमाणु न विद्यमान रहें, ऐसा मोक्ष चौदहवे गुणस्थानके अंतसमयवर्ती तपसे होता है। संवर और निर्जराके कारणोंमें तप प्रधान है। अंतरङ्ग और बहिरङ्ग तपोंमें अंतरंग तपप्रधान है। छह प्रकारके अंतरंग तपोंमें ध्यान प्रधान है। चार ध्यानोंमें शुक्लध्यान प्रकृष्ट है और चार प्रकारके शुक्लध्यानोंमें समुच्छिन्नक्रिया प्रतिपाती नामक चौथा शुक्लध्यान सर्वोत्कृष्ट है। अतः मोक्षके असाधारण कारणोंमें तपको अवश्य स्थान देना चाहिये।

यदि जैन लोग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप ये चार मोक्षके मार्ग हैं, इस प्रकार सूत्र बनावें तब तो पहिले उद्देश्यदलमें नियम कर देना युक्त हो सकता है। अन्य प्रकार नहीं। सूत्रमें चौथे तपको लगा देनेसे दूसरा लाभ यह भी है कि जबतक सयोगकेवली भगवान्के उस प्रकारका चौथा शुक्ल ध्यानरूप विशेषतप उत्पन्न नहीं हुआ है और भले ही तीनों रत्न सम्पूर्ण रूपसे उत्पन्न भी हो चुके हैं, उन भगवान्के धर्मका उपदेश देना भी बन जाता है, कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आयुःकर्मके अधीन होकर उनका शरीरको धारण करते हुए संसारमें ठहरे रहना सिद्ध हो चुका है। तीनों रत्नोंके पूर्ण हो जानेसे तेरहवें गुणस्थानके आदिमें ही केवली भगवान्की सिद्ध अवस्था न हो सकेगी। हां! पूर्ण तपके उत्पन्न हो जानेपर वे उत्तरकालमें परम मुक्तिको प्राप्त कर लेवेंगे। तिस कारण सम्पूर्ण कुचोद्योंकी बोछार गिरनेकी निवृत्तिके लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारोंके समुदायको मोक्षमार्ग कह देना चाहिये। उसीको श्रीकुंदकुंद आचार्यने भी कहा है कि "दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिदा" दर्शन ज्ञान चारित्र और तपकी आराधना करना श्रीगौतम गणधरने निरूपण किया है, इस प्रकार कोई शंकाकार कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका वह कटाक्ष करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तपको चारित्रके स्वरूपमें अंतर्भूत करके व्यवस्थित कर दिया है। अतः सम्यग्दर्शन आदि तीनको ही मोक्षका कारणपन सिद्ध है। यों पूर्व अवधारण करना समुचित है।

ननु रत्नत्रयस्यैव मोक्षहेतुत्वसूचने।
किं वार्हतः क्षणादूर्ध्वं मुक्तिं सम्पादयेन्न तत् ॥ ४१ ॥

यहां पुनः शंकाकारका कहना है कि यदि रत्नत्रयको ही मोक्षके कारणपनका सूचन करने वाला पहिला सूत्र रचा जावेगा तो केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर अर्हंत देवके एक क्षणके ऊपर ही वह रत्नत्रय मोक्षको क्यों नहीं पैदा करा देता है? उत्तर दीजिये।

प्रागेवेदं चोदितं परिहृतं च न पुनः शंकनीयमिति चेत् न, परिहारांतरोपदर्शनार्थत्वात् पुनश्चोद्यकरणस्य। तथाहि—

शंकाकार अपनी शंकाको दृढ करनेके लिये उपाय रचता है कि सम्भव है कि कोई यों कहे कि यह कुचोद्यरूप शंका करना तो पहिले ही हो चुका है और तभी उस शंकाका परिहार भी कर दिया गया है। अब फिर शंका नहीं करना चाहिये, यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि पहिले समाधानसे अतिरिक्त दूसरा शंकाका परिहाररूप समाधान आचार्य द्वारा दिखलानेके लिये पुनः सकटाक्ष शंका की जारही है। इस शंकाके समाधानको आचार्य महाराज स्पष्ट कर दिखलाते हैं।

सहकारिविशेषस्यापेक्षणीयस्य भाविनः ।
तदैवासत्त्वतो नेति स्फुटं केचित्प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान कारण और निमित्तकारणके अतिरिक्त सहकारी कारणोंकी भी अपेक्षा होती है। जैसे रोटी बनानेमें चून, पानी, रसोइयाके अतिरिक्त चकला, बेलन भी आवश्यक हैं। मोक्षके कारण रत्नत्रय यद्यपि तेरहवे गुणस्थानके आदिमें हो चुके हैं। किन्तु भविष्य कालमें चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें होनेवाला विशेष सहकारी कारण अपेक्षित हो रहा है। वह चौथा शुक्लध्यान उस समय तेरहवेंके आदिमें नहीं है। अतः तब मुक्ति नहीं हो सकती है। ऐसा स्पष्टरूपसे कोई आचार्य बढिया समाधान कर रहे हैं। यह समाधान विद्यानन्द स्वामीको भी अभीष्ट है।

कः पुनरसौ सहकारी सम्पूर्णेनापि रत्नत्रयेणापेक्ष्यते? यदभावात्तन्मुक्तिमर्हतो न सम्पादयेत्, इति चेत्—

वह फिर कौनसा सहकारी कारण है जो कि समीचीन रूपसे पूर्ण हुए भी रत्नत्रय करके अपेक्षित हो रहा है, जिसके न होनेके कारण अर्हन्तदेव शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त नहीं कर पाते हैं अथवा वह रत्नत्रय अर्हन्तदेवको मुक्ति नहीं मिला रहा है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो इसका उत्तर सुनो!

स तु शक्तिविशेषः स्याज्जीवस्याघातिकर्मणाम् ।
नामादीनां त्रयाणां हि निर्जराकृद्धि निश्चितः ॥ ४३ ॥

नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंके निश्चयसे निर्जरा करनेवाली आत्माकी वह विशेष शक्ति ही सहकारी कारण निश्चितरूपसे मानी गयी है। ध्यान, समुद्घात, भावनिर्जरा, संवर और आयुःकर्मके निषेकोंका भुगाकर फल देना ये सब आत्माके विशेष परिणाम हैं।

दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षणपरप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः सोऽन्तरङ्गः सहकारी निश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे

नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेर्निःश्रेयसानुत्पत्तेः, आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा न पुनरुपक्रमात्तस्यानपवर्त्यत्वात्। तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्तिं न सम्पादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात्।

तेरहवें गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर आयुःकर्मके बराबर तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति करनेके लिये केवली भगवान्‌के स्वभावसे ही केवलिसमुद्घात होता है और किन्हीं केवली महाराजके नहीं भी होता है। पद्मासन या खड्गासनसे पूर्वको मुख कर या उत्तर को मुखकर विराजे हुए केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेवके शरीरके बराबर लम्बे चौडे और सात राजू ऊंचे आत्माके प्रदेशोंका फैल जाना दण्ड है और लोक पर्यन्त लम्बे शरीरमात्र चौडे और सात राजू, ऊंचे कपाटके समान फैल जाना कपाट समुद्घात है। वातवलयोंको छोडकर लोकमें आत्मप्रदेशोंका फैल जाना प्रतर है और सम्पूर्ण लोकमें आत्माका ठसाठस भर जाना लोकपूरण है। लोकपूरणकी विधिमें आत्माके मध्यके गोस्तनाकार आठ प्रदेश सुदर्शन मेरुकी जडके बीचपर आ जाते हैं। बरफीके समान चारों ओर चौकोन अनंत अलोकाकाशके ठीक बीचमें लोक है। उस लोकका बहुत ठीक मध्य भाग सुदर्शन मेरुकी जडमें विद्यमान आठ प्रदेश हैं। इस लोकाकाशके पूर्वसे पश्चिमतक और उत्तरसे दक्षिणतक तथा ऊर्ध्वदिशासे अधोदिशा तकके प्रदेश सर्वत्र सम संख्यामें हैं। दो, चार, छह, आठ, दस आदिको सम संख्या कहते हैं और एक, तीन, पांच, सात, आदिको विषम धाराकी संख्या कहते हैं। पूर्वसे पश्चिम तक विषम संख्यावाले तीन, निन्यानवे, और चाहे एक करोड एक आदि भी संख्या हों, उनका ठीक मध्य एक निकलेगा। किंतु समसंख्यावाले चार, सौ, एक कोटि आदिका मध्यभाग दो निकलेगा एवं पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण दोनों ओरसे जहां समसंख्यावाले पदार्थ हैं उनका ठीक बीच चार निकलेगा। सम संख्याका वर्गका मध्य चार होता है। किंतु जहां पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर नीचे तीनों ओरसे समसंख्यावाले पदार्थ हैं, वहां ठीक बीच आठ होगा। आठ आठ रुपयोंकी ऊपर नीचे रख गड्डी बांधकर पूर्वसे पश्चिम तक आठ पंक्ति रख दी जावें इसी तरह उत्तरसे दक्षिण तक आठ पंक्ति बनायी जावें इस प्रकार इन पांच सौ बारह रुपयों में ठीक बीचके रुपये आठ होते हैं। इससे छोटी संख्यावाला बीच नहीं निकल सकता है। क्योंकि समधाराके धनका बीच आठ होता है। आत्माके प्रदेशोंका फैलनेके समान पुनः संकोचन होता है। आठवें समयमें सयोग केवलीके आत्मप्रदेश पूर्वशरीरके आकारको धारण कर लेते हैं। इस केवलीकी समुद्घात–परिणामरूप क्रियासे आत्माके मोक्ष कारण विशेषोंका अनुमान कर लिया जाता है तथा कर्मोंकी अधिक स्थितियोंका न्यून करनारूप अपकर्षण और कर्म प्रकृतियोंको अन्य शुभप्रकृतिरूप कर देना स्वरूप संक्रमणके कारण परिणामविशेष भी आत्माके विद्यमान हैं। वे आत्माकी विशेषशक्तियां मोक्षकी उत्पत्तिमें रत्नत्रयके अंतरंग सहकारी कारण हो जाती हैं। यदि आत्माकी उन सामर्थ्योंको सहकारी कारण न माना जावेगा तो नाम, गोत्र और

वेदनीय इन तीन अघाती कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकती थी। तिस कारण मोक्ष भी नहीं उत्पन्न हो सकेगी। हां! अघातियोंमें आयुःकर्मकी तो अपने कालमें फल देना रूप अनुभवसे ही निर्जरा होती है। किंतु फिर तीर्थङ्कर अर्हन्त देवके आम या पनसके समान आयुःकर्मकी उपक्रम विधिसे यानी भविष्यमें आनेवाले निषेकोंको थोडे कालमें ही भोगने योग्य बनाकर आयुकी निर्जरा नहीं होती है। क्योंकि उनकी आयुःका समुद्रपात या शस्त्र आदिकसे अपवर्तन नहीं हो पाता है। सामान्य केवली, गुरुदत्त, पाण्डव आदिकी आयुःका अपवर्तन हो गया शास्त्रमें सुना है। अंतकृत्केवली अथवा समुद्र, मेरुगिरि शिखर, भोगभूमि, गंगा, आदिके ठीक ऊपर पैंतालीस लाख योजनके सिद्ध क्षेत्रमें वहां विराजमान सिद्ध भगवान्‌की पूर्वभवसंबंधी आयुःका प्रायः अपवर्तन हुआ समझना चाहिये। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें आयुःका अपकर्षण विधान तेरहवें गुणस्थानके अंत समयतक कहा है। उदीरणा छटे तक होती है। श्रुतसागर स्वामीका भी यही सिद्धांत है। उन कहे हुए आत्माके परिणामविशेषोंकी अपेक्षा रखनेवाला क्षायिक रत्नत्रय सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थानक पहिले समयमें मुक्तिको कथमपि प्राप्त नहीं करा पाता है। क्योंकि उस समय रत्नत्रयका सहकारी कारण वह आत्माकी शक्तिविशेष विद्यमान नहीं है। कारणकूट कार्यको करते हैं। सहकारियोंसे विकल होरहे कारण अव्यवहित उत्तरकालमें कार्यको उत्पन्न नहीं कर पाते हैं।

क्षायिकत्वान्न सापेक्षमर्हद्रत्नत्रयं यदि।
किन्न क्षीणकषायस्य दृक्चारित्रे तथा मते ॥ ४४ ॥
केवलापेक्षिणी ते हि यथा तद्वच्च तत्त्रयम्।
सहकारिव्यपेक्षं स्यात् क्षायिकत्वेनपेक्षिता ॥ ४५ ॥

कोई सकटाक्ष कह रहा है कि जो गुण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है, वह अपने कार्यके करनेमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है। अर्हन्त परमेष्ठीके तेरहवें गुणस्थानकी आदिमें उत्पन्न हुआ रत्नत्रय भी दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, और ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ है। अतः मोक्षकी उत्पत्ति करादेनेमें वह अन्यकी अपेक्षासे सहित नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो बारहवें क्षीण कषाय गुणस्थानके आदिमें उत्पन्न हुए क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र ये दोनों ही उसी प्रकार मोक्षके उत्पादक क्यों नहीं माने जावें। जिस प्रकार आप यहां यही कह सकते हैं कि वे दोनों दर्शन और चारित्र तीसरे केवलज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाले होकर तीनरूप हो जावेंगे, तभी मुक्ति (जीवन्मुक्ति) को प्राप्त करा सकेंगे, तब तो क्षायिक गुणोंको भी अन्यकी अपेक्षा हुई। उसीके समान वह रत्नत्रय भी चतुर्थ शुक्लध्यानरूप सहकारी कारणकी अपेक्षा रखता हुआ ही परममुक्तिका संपादन करा सकेगा। क्षायिकगुण किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि अपने स्वरूपको प्राप्त करानेमें वे गुण अन्य

गुणोंकी आवश्यकता नहीं रखते हैं। केवल कर्मोंके क्षयसे वे आत्मामें अनन्तकालके लिये उत्पन्न हो जाते हैं। तभी तो सिद्ध भगवान्में क्षायिकभाव सर्वदा बने रहते हैं। औदयिक और क्षायोपशमिक भाव नहीं रह पाते हैं। क्योंकि इनके बननेमें कतिपय बहिरंग सहकारी कारणोंकी अपेक्षा है और क्षायिक भावोंके उत्पन्न होनेमें बहिरंग पदार्थोंके ध्वंसरूप अभावोंकी अपेक्षा तो है। किन्तु प्रधानरूपसे किसी भावात्मक गुणकी अपेक्षा नहीं है। फिर भी अतिरिक्त कार्य करनेके लिये क्षायिकगुण अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखते हैं, यह बात आई।

न क्षायिकत्वेऽपि रत्नत्रयस्य सहकारिविशेषापेक्षणं, "क्षायिकभावानां न हानिर्नापि वृद्धिरिति प्रवचनेन बाध्यते, क्षायिकत्वे निरपेक्षत्ववचनात्, क्षायिको हि भावः सकलस्वप्रतिबंधक्षयादाविर्भूतो नात्मलाभे किञ्चिदपेक्षते" येन तदभावे तस्य हानिस्तत्प्रकर्षे च वृद्धिरिति। तत्प्रतिषेधपरं प्रवचनं कृत्स्नकर्मक्षयकरणे सहकारिविशेषापेक्षणं कथं बाधते ?।

रत्नत्रयको अपने प्रतिबंधक कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होते हुए भी मोक्षरूप कार्यको करनेमें विशेष सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रहना इस शास्त्रके वचनोंसे बाधित नहीं होता है कि क्षायिक भावोंकी हानि नहीं होती है और वृद्धि भी नहीं होती है अर्थात् क्षायिकभाव उतनेके उतने ही रहते हैं। कमती बढती नहीं होते हैं। कोई सहकारी कारण आवेगा तो क्षायिक गुणोंके अतिशयोंको कमती बढती ही करता हुआ चला आवेगा। जो अपने स्वभावोंको लेता देता नहीं है, वह सहकारिओंसे सहकृत ही नहीं हुआ है। इस आगमका जैन सिद्धान्तके अनुकूल ही अभिप्राय है। कर्मोंके क्षयसे होनेवाले भावोंमें स्वरूपलाभकी अपेक्षासे अन्य कारणोंसे रहितपना कहा गया है। क्षायिक भाव अपने सम्पूर्ण प्रतिबन्धक कर्मोंका क्षय हो जानेसे प्रगट हो जाता है। अपना स्वरूप लाभ करनेमें वह अन्य किसी सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं करता है। जिससे कि उस सहकारीके अभाव हो जानेपर उस गुणकी हानि हो जावे और उस अपेक्षणीयके उत्कर्ष हो जानेपर गुणकी वृद्धि हो जावे। भावार्थ—गुणका स्वरूप बिगाडनेवाला प्रतिपक्षी कर्म था। उस कर्मके सर्वात्मना क्षय होजानेपर उस क्षायिकभावका पूरा शरीर व्यक्त हो जाता है। अतः गुणके आत्मलाभ करनेमें कर्मोंके अतिरिक्त अन्य कोई सहकारी कारण अपेक्षणीय नहीं है। अन्यकी नहीं अपेक्षाकर वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य आत्मक क्षायिक गुण अनन्तकालतक उत्पन्न होता हुआ बना रहता है। अतः आत्मलाभके लिये सहकारी कारणोंकी अपेक्षाके निषेध करनेमें तत्पर वह शास्त्र वाक्य बिचारा अन्य विलक्षण माने गये पूर्ण कर्मोंका क्षय करना रूप मोक्षकार्यमें विशेष सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखनेको कैसे बाधा दे सकेगा ? अर्थात् नहीं।

न च क्षायिकत्वं तत्र तदनपेक्षत्वेन व्याप्तम्, क्षीणकषायदर्शनचारित्रयोः क्षायिकत्वेऽपि मुक्त्युत्पादने केवलापेक्षित्वस्य सुप्रसिद्धत्वात्। ताभ्यां तद्बाधकहेतोर्व्यभिचारात्। ततोऽस्ति सहकारी तद्रत्नत्रयस्यापेक्षणीयो युक्त्यागमाविरुद्धत्वात्।

क्षायिकपने हेतुकी उन सहकारी कारणोंकी नहीं अपेक्षा करना रूप साध्यके साथ उस प्रकरणमें व्याप्ति बन जाना सिद्ध नहीं है, इस व्याप्तिका व्यभिचार देखा जाता है। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानके आदिमें क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्रको कर्मोंके क्षयसे जन्यपना होते हुए भी मुक्तिरूप कार्यकी उत्पत्ति करनेमें तीसरे ज्ञेयज्ञानकी अपेक्षा रहितपना अच्छी तरह प्रसिद्ध हो रहा है। अतः बारहवें गुणस्थानके उन सम्यक्त्व और चारित्र करके उस सापेक्षपनेके बाधक निरपेक्षपन हेतुका व्यभिचार है। हां! स्वांशमें निरपेक्षपनको सिद्ध करते हो तो वह सद्धेतु है। उस कारणसे सिद्ध होता है कि उस तेरहवें गुणस्थानके आदिमें होनेवाले उस क्षायिक रत्नत्रयको चतुर्थ शुक्लध्यानरूप सहकारी कारणकी अपेक्षा है। इस सिद्धांतमें युक्ति और आगमसे कोई भी विरोध नहीं आता है। सामग्रीके पूर्ण हो जानेपर समर्थ कारणसे चौदहवें गुणस्थानके अंतमें परम मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

न च तेन विरुध्येत त्रैविध्यं मोक्षवर्त्मनः।
विशिष्टकालयुक्तस्य तत्त्रयस्यैव शक्तितः ॥ ४६ ॥

यहां कोई यों कहे कि यदि आप जैन रत्नत्रयको अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखता हुआ मोक्षका कारण मानेंगे, तब तो मोक्षमार्गको तीन प्रकारका मानना उस कथनसे विरोधको प्राप्त हो जावेगा। क्योंकि चौथे, पांचमें, कारण भी आपने मान लिये हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि विशिष्ट काल और उसमें परिपक्व रूपसे होनेवाले अन्य परिणामोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा रखता हुआ वह रत्नत्रय ही आत्मशक्तियोंकी अपेक्षासे मोक्षका मार्ग है। भावार्थ-मोक्षके अव्यवहित कारण माना गया उस आत्मशक्तिका विकास एक विशिष्ट कालमें ही होता है। जैसे कि बाल्य अवस्थामें विद्यमान भी युवत्व शक्तिका प्रगट होना काल और उसमें होनेवाले शारीरिक परिणामोंकी अपेक्षा रखता है।

क्षायिकरत्नत्रयपरिणामतो ज्ञात्मैव क्षायिकरत्नत्रयं तस्य विशिष्टकालापेक्षः शक्तिविशेषः ततो नार्थान्तरं येन तत्सहितस्य दर्शनादित्रयस्य मोक्षवर्त्मनस्त्रैविध्यं विरुध्यते।

कर्मोंके क्षयसे होनेवाले रत्नत्रयके परिणामोंसे परिणत होरहा उपादान कारण आत्मा ही क्षायिक रत्नत्रय है। कालविशेषकी अपेक्षासे उस आत्माके उत्पन्न होनेवाला और सम्पूर्ण कर्मोंको ध्वंस करनेवाला विशेष सामर्थ्य भी उस आत्मा और रत्नत्रयसे भिन्न नहीं है। जिससे कि यानी यदि भिन्न होता तब तो उस चौथेसे सहित होकर सम्यग्दर्शन आदि तीनको मोक्षका मार्ग माननेपर तीन प्रकारपनका विरोध हो जाता, किन्तु अभेद माननेपर वह सामर्थ्य चौथा नहीं बन पाता है। जिससे कि कथमपि विरोधकी सम्भावना नहीं है।

तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्त्ति प्रकीर्तितम् ।
रत्नत्रयमशेषाघविघातकरणं ध्रुवम् ॥ ४७ ॥
ततो नान्योऽस्ति मोक्षस्य साक्षान्मार्गो विशेषतः ।
पूर्वावधारणं येन न व्यवस्थामियर्त्ति नः ॥ ४८ ॥

तिस कारणसे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिनेंद्रके अंतिम समयमें होनेवाला पूर्ण रत्नत्रय ही सम्पूर्ण कर्मोंके समुदायको क्षय करनेमें निश्चयसे समर्थ कहा गया है। उस कारणसे रत्नत्रयके अतिरिक्त दूसरा कोई विशेषरूपसे मोक्षका अव्यवहित पूर्ववर्ती मार्ग नहीं है। अर्थात् रत्नत्रय ही मोक्षका साक्षात् कारण है। जिससे हमारा पहिले उद्देश्य दलमें एवकार लगाकर निश्चय करना, इस व्यवस्थाको प्राप्त न होता। भावार्थ—पहिला अवधारण करना भले प्रकार व्यवस्थित है।

नन्वेवमप्यवधारणे तदेकांतानुषङ्गः इति चेत्, नायमनेकांतवादिनामुपालम्भो नयार्पणादेकांतस्येष्टत्वात्, प्रमाणार्पणादेवानेकांतस्य व्यवस्थितेः।

यहां किसीका सक्षेप शंका है कि इस प्रकार अवधारण करनेपर तो जैनोंको उस नियम करनारूप एकांत मंतव्यका प्रसंग आता है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे तो हम जैन कहते हैं कि यह आपका उलाहना अनेकांतवादकी टेव रखनेवाले स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं आता है। क्योंकि सुनयकी प्रधानतासे एकांतवादको भी हम इष्ट करते हैं। जैसे कि मुक्तजीव सर्वज्ञ ही है, सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, यथाख्यात चारित्रसे ही मोक्ष होती है। इत्यादि नय वाक्य अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखते हुए समीचीन एकांतको प्रतिपादन करनेवाले माने गये हैं। हां! प्रमाणके द्वारा ही वस्तुका निरूपण करनेकी अपेक्षासे अनेकांत मतकी व्यवस्था हो रही है। श्रीसमंतभद्र स्वामीने भी यही कहा है कि—

अनेकांतोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोर्पितान्नयात् ॥ १ ॥

पदार्थोंमें अनेक धर्म हैं। यह अनेकांत भी एकांत रूपसे नहीं है। किंतु प्रमाण और नयकी अपेक्षासे साधा गया अनेकांत रूप है। तुम जिनेंद्र देवके मतमें प्रमाणदृष्टिसे अनेक धर्म स्वरूप वस्तुका निरूपण है और प्रयोजनवश प्रधानताको प्राप्त हुये एक धर्मकी नयदृष्टिसे समीचीन एक धर्म स्वरूप भी पदार्थ है। भावार्थ—अनेकांत और समीचीन एकांत ये दोनों भी हमको इष्ट हैं। अन्य धर्मोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला केवल एकांत तो मिथ्या है।

ज्ञानादेवाशरीरत्वसिद्धिरित्यवधारणम् ।
सहकारिविशेषस्यापेक्षयास्त्विति केचन ॥ ४९ ॥

यहां कोई प्रतिवादी कह रहे हैं कि सहकारीकी अपेक्षा रखने वाले रत्नत्रयको ही आप जैन मोक्षमार्ग मानते हैं। इसकी अपेक्षासे तो ऐसे नियम करनेमें लाघव है कि विशेष सहकारी कारणोंकी अपेक्षा करके सहित अकेले ज्ञानसे ही स्थूल, सूक्ष्म शरीरसे रहित हो जाना स्वरूप मोक्षकी सिद्धि हो जाओ। इस प्रकार कोई नैयायिक आदि कहते हैं।

तत्त्वज्ञानमेव निःश्रेयसहेतुरित्यवधारणमस्तु सहकारिविशेषापेक्षस्य तस्यैव निःश्रेयससम्पादनसमर्थत्वात्। तथा सति समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य योगिनः सहकारिविशेषसन्निधानात्पूर्वं स्थित्युपपत्तेरुपदेशप्रवृत्तेरविरोधात्, तदर्थं रत्नत्रयस्य मुक्तिहेतुत्वकल्पनानर्थक्यात्, तत्कल्पनेऽपि सहकार्यपेक्षणस्यावश्यंभावित्वात्, तत्त्रयमेव मुक्तिहेतुरित्यवधारणं माभूदिति केचित्।

यहां उक्त आक्षेपका विवरण यों है कि जीव आदिक तत्त्वोंका ज्ञान ही मोक्षका हेतु है। इस प्रकार पहिला अवधारण ठीक हो जावे। क्योंकि सम्यक्त्व, चारित्र और आत्माके विशेष परिणाम रूप विशिष्ट सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखता हुआ वह ज्ञान ही मोक्षके प्राप्त करानेमें समर्थ है। तैसा कहनेपर एक लाभ यह भी हो जाता है कि सयोग केवली अर्हन्त भगवान्के केवलज्ञान स्वरूप तत्त्वज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर भी मोक्षके उपयोगी विशेष सहकारी कारणकी उपस्थिति हो जानेके पहिले अर्हंतदेवका संसारमें स्थित रहना बन सकता है और हजारों वर्ष तक ठहर कर भगवान् भव्य जीवोंके प्रति उपदेश देनेकी प्रवृत्ति कर सकते हैं। कोई विरोध नहीं है। उस उपदेश देनेके लिये रत्नत्रयको मोक्षमार्गपनेकी कल्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि उन तीनको भी मोक्षमार्गकी कल्पना करने पर आपको सहकारीकी अपेक्षा करनारूप कथन तो आवश्यक होने वाला ही है। इसकी अपेक्षा तो सहकारी कारणोंसे सहित एक ज्ञानको ही मोक्षका मार्ग कहना कहीं अच्छा है। अतः वे तीनों ही मोक्षके कारण हैं। इस प्रकार आप जैनोंका नियम करना न होवे ऐसा कोई पण्डित कह रहे हैं।

तेषां फलोपभोगेन प्रक्षयः कर्मणां मतः ।
सहकारिविशेषोऽस्य नासौ चारित्रतः पृथक् ॥ ५० ॥

उन प्रतिवादियोंके यहां अकेले ज्ञानका विशेष सहकारी कारण यह माना गया है कि आत्माको कर्मजन्य सुख, दुःखरूप फलका उपभोग कराकर आत्मासे सञ्चित कर्मोंका प्रक्षय हो जाना, किंतु फलोंके भोग करके कर्मोंका क्षय हो जाना, वह सहकारी कारण तो हमारे जैनोंके माने हुए चारित्रसे भिन्न नहीं है।

तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानस्य सहजस्याहार्यस्य चानेकप्रकारस्य प्रतिप्रमेयं देशादिभेदादुद्भवतः प्रक्षयात्तद्धेतुकदोषनिवृत्तेः प्रवृत्त्यभावादनागतस्य जन्मनो निरोधादुपात्तजन्मनश्च प्रावृत्तधर्माधर्मयोः फलभोगेन प्रक्षयणात्, सकलदुःखनिवृत्तिरात्यंन्तिकी मुक्तिः, दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायान्निःश्रेयसमिति कैश्चिद्वचनात्।

केवल तत्त्वज्ञानको मोक्षका मार्ग माननेवाले कतिपय प्रतिवादियोंका मन्तव्य पृथक् पृथक् है। उनमें नैयायिक तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होनेकी प्रक्रियाका निरूपण ऐसा करते हैं कि कारण विशेषोंसे उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञानके द्वारा मिथ्याज्ञानका प्रक्षय हो जाता है। मिथ्याज्ञान मूलभेदसे दो प्रकारका है। एक सहज, दूसरा आहार्य। जो स्वभावसे ही वनस्पति, कीट, पशु, मूर्ख तिर्यञ्च मनुष्योंके अपने आप मिथ्या संस्कारवश उत्पन्न हो जाता है, वह जैनियोंके अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीवके ज्ञानसमान सहजमिथ्याज्ञान है। और दूसरोंके उपदेशसे या स्वयं खोटे अध्यवसायसे इच्छापूर्वक चलाकर विपरीतज्ञान कर लिया जाता है वह आहार्य है। आहार्यका लक्षण नैयायिकोंने ऐसा माना है कि " बाधकालीनोत्पन्नेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम् " किसी विषयके बाधकज्ञानके रहते हुए भी चलाकर इच्छा उत्पन्नकर आग्रहसे विपरीत ज्ञान पैदा करलेना आहार्य मिथ्याज्ञान है। इन दोनों मिथ्याज्ञानोंके अनेक भेद हैं। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेके प्रथम प्रत्येक प्रमेयमें देश, काल, अवस्था, सम्बन्धकी अपेक्षासे उत्पन्न हो रहे मिथ्याज्ञानोंका तत्त्वज्ञान द्वारा बढिया क्षय हो जानेसे मिथ्याज्ञानजन्य दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है और रागद्वेष स्वरूप दोषोंकी निवृत्ति हो जानेपर धर्म अधर्म प्रवृत्तियोंका अभाव हो जाता है। क्योंकि उन प्रवृत्तियोंके कारण दोष थे। जब दोषोंका ही अभाव हो गया, तब प्रवृत्तिरूप कार्य भी नहीं हो सकते हैं। कारणके न होनेपर कार्य भी नहीं होता है। और प्रवृत्तिके अभावसे उसके कार्यजन्मका भी अभाव हो जाता है। वहां भविष्यमें होनेवाले जन्मोंका अभाव तो प्रवृत्तिके न होनेसे हो गया और ग्रहण किये गये मनुष्य जन्मका तथा वर्तमानमें फल देनेवाले प्रवृत्तिस्वरूप धर्म अधर्मका फल देनारूप भोग करके नाश हो जाता है। जब जन्म लेना तथा पुण्य पापका ही नाश होगया, तब उनके कार्य संपूर्ण दुःखोंकी भी निवृत्ति होगयी, और उसी अन्तको अतिक्रमण करनेवाली अनन्तकाल तकके लिये हुयी दुःखनिवृत्तिको ही मुक्ति कहते हैं। नैयायिकोंके गौतम ऋषिका सूत्र है कि " दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान इनमें पूर्वके कार्य हैं और उत्तर में कहे हुए कारण हैं। तत्त्वज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर मिथ्याज्ञानोंका जब नाश होगया तो आगे आगेवाले कारणोंका अभाव होजानेपर उनके अव्यवहित पूर्ववर्ती कार्योंका भी अभाव होजाता है। अन्तमें दुःखोंके निवृत्त हो जानेसे मोक्ष हो जाती है। इस प्रकार फलोपभोगको सहकारी कारण पकडता हुआ सम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) ही मोक्षका कारण है, ऐसा किन्हीं नैयायिकोंके द्वारा कहा जाता है।

साक्षात्कार्यकारणभावोपलब्धेस्तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसमित्यपरैः प्रतिपादनात्, ज्ञानेन चापवर्ग इत्यन्यैरभिधानात्, विद्यात एवाविद्यासंस्कारादिक्षयान्निर्वाणमितीतरैरभ्युपगमात्। फलोपभोगेन संचितकर्मणां प्रक्षयः सम्यग्ज्ञानस्य मुक्त्युत्पत्तौ सहकारी ज्ञानामात्रात्मकमोक्षकारणवादिनामिष्टो न पुनरन्योऽसाधारणः कश्चित्, स च फलोपभोगो यथाकालमुपक्रमविशेषाद्वा कर्मणां स्यात् ? न तावदाद्यः पक्ष इत्याहः—

तत्त्वज्ञान अव्यवहित पूर्ववर्ती होकर कारण है और मोक्ष कार्य है। किसी तप, दीक्षा, कायक्लेश आदिको सहकारी कारण माननेकी आवश्यकता नहीं है। तत्त्वज्ञान और मोक्षमें परम्पराके विना साक्षात् रूपसे कार्यकारणभाव देखा जाता है। अतः तत्त्वज्ञानसे झट मोक्ष हो जाती है। इस प्रकार दूसरे मीमांसक प्रतिपादन करते हैं। तथा सांख्यका यह सिद्धांत है कि प्रकृति और पुरुषका भेद ज्ञान कर लेनारूप तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अन्य कापिलोंके द्वारा कहा जाता है। तथा आत्म तत्त्वको वेद द्वारा, सुनो, मनन करो, दृढ भावना करो, आत्मा ही परब्रह्म एक तत्त्व है। इस प्रकारकी विद्यासे ही भेदरूप अविद्याके संस्कारोंका और मेरे तेरे आदि संकल्पों आदिका क्षय हो जानेसे परब्रह्ममें लीन हो जानारूप मोक्ष हो जाती है। इस प्रकार निराले ब्रह्माद्वैतवादी स्वीकार करते हैं। और बौद्ध लोग भी क्षणिक विज्ञानरूप या नैरात्म्य भावनारूप विद्यासे ही अविद्याके संस्कार, तृष्णा, आदिके क्षय हो जानेसे ज्ञानसंतानका पहिली संतानसे संबंध टूटकर आस्रवरहित हो जानारूप मोक्षको स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार ऊपर कहे हुए अकेले ज्ञानस्वरूप मात्रको ही मोक्षका कारण कहनेवाले प्रतिवादियोंने मोक्षकी उत्पत्ति करनेमें सम्यग्ज्ञानका सहकारी कारण संचित कर्मोंका फल भोग करके क्षय हो जाना माना है। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरा फिर असाधारण कारण नहीं माना है। किन्हीं किन्हीं नैयायिक, वैशेषिक आदिने तो संचित कर्मोंके नाश करनेमें उन कर्मोंके सुख दुःखरूप फलका भोगना अतीव आवश्यक बतलाया है। वे कहते हैं कि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" "करोडों, अरबों, कल्पकालोंके बीत जाने पर भी बिना फल देकर कर्म आत्मासे झरते नहीं हैं। इस पर हमारा यह पूंछना है कि कर्मोंका वह फल भोगना क्या कर्मोंके यथायोग्य ठीक ठीक समयमें उदय आनेपर फल भुगवाकर होगा ? या किसी तपस्या तथा समाधिके बलसे विशेष उपक्रम द्वारा अर्थात् भविष्य हजारों, लाखों, वर्षोंमें उदय आने वाले कर्मोंका थोडी देरमें ही उदय लाकर उन कर्मोंका फल भोगा जा सकेगा ? बताओ। इन दो पक्षोंमें पहिला आदिका पक्ष तो ठीक नहीं है। इस बातको आचार्य महाराज कहते हैं।

भोक्तुः फलोपभोगो हि यथाकालं यदीष्यते।
तदा कर्मक्षयः क्वातः कल्पकोटिशतैरपि ॥ ५१ ॥

यदि पूर्वमें बंधे हुए कर्म अपने अपने यथायोग्य कालमें उदय आकर भोगनेवाले आत्माको फलका उपभोग करा देते हैं, तब पीछे उन कर्मोंका क्षय हो जाता है, ऐसा पक्ष मानते हैं, तब तो सैकडों करोड कल्पकालों करके भी इस फलोपभोगसे भला कर्मोंका क्षय किस आत्मामें हो सकेगा ?। अर्थात् कोई आत्मा भी मुक्त न होवेगा। क्योंकि प्रत्येक कर्म जब अपना फल देगा, उस समय आत्मामें राग, द्वेष, अभिलाषाएं आदि अवश्य उत्पन्न हो जावेंगी और उनसे पुनः नवीन कर्मोंका बन्ध हो जावेगा और नवीन बंध होनेपर यथायोग्य कालमें उन कर्मोंका उदय आनेसे उपभोग करते हुये फिर आत्माके राग, द्वेष आदि भाव उत्पन्न होवेंगे ही, जो कि पुनः बन्धके कारण हैं। यह क्रम कभी न टूटेगा, तथा च आत्माकी अनंत कालतक भी मोक्ष न हो सकेगी। द्रव्यकर्मसे भाव कर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्मकी धारा चलती रहेगी।

न हि तज्जन्मन्युपात्तयोर्धर्माधर्मयोः जन्मान्तरफलदानसमर्थयोरेकाकालं फलोपभोगेन जन्मान्तरादृते कल्पकोटिशतैरप्यात्यन्तिकः क्षयः कर्तुं शक्यो, विरोधात्।

उस विवक्षित जन्ममें ग्रहण किये गये ऐसे भविष्यके अनेक जन्म जन्मान्तरोंमें फल देनेकी शक्तिवाले पुण्य पाप कर्मोंका यथायोग्य कालमें फलोपभोग यदि होगा तो भविष्यमें होनेवाले दूसरे अनेक जन्मोंके बिना सैकडों करोड कल्पों करके भी फलोंके उपभोग द्वारा उन कर्मोंका सर्वदाके लिये पूर्ण रूपसे क्षय करना शक्य नहीं है। क्योंकि विरोध है। भावार्थ—एक ओर यह मानना कि बिना फल दिये हुए कर्मोंका क्षय होता नहीं है और दूसरी ओर यह कहना कि तत्त्वज्ञानसे उसी जन्ममें मोक्ष हो जाती है। ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। भला विचारो तो सही कि तत्त्वज्ञान मुक्त जीवके तो होता नहीं है। किंतु संसारी मनुष्योंके ही होगा। उनके पहिले कालोंमें बांधे हुए संचित कर्म भी विद्यमान हैं। वे कर्म जब फल देंगे तभी अनेक जन्मांतरोंमें फल देनेवाले कर्म पुनः बंध जावेंगे। द्रव्य, क्षेत्र, आदि सामग्री न मिलनेसे या तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए कर्मोंका झड जाना और तप; या उदीरणा, अपकर्षण आदिकी विधिसे भविष्यमें आनेवाले कर्मोंका वर्तमान थोडे कालमें फल देकर झडजाना इसको आप स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसी दशामें तो किसीकी मोक्ष नहीं हो सकेगी। अतः प्रत्येक कर्म यथायोग्य कालमें फल देकर ही नष्ट होते हैं। यह आग्रह समीचीन नहीं है।

जन्मान्तरे शक्य इति चेन्न, साक्षादुत्पन्नसकलतत्त्वज्ञानस्य जन्मान्तरासम्भवात्, न च तस्य तज्जन्मफलदानसमर्थत्वे च धर्माधर्मौ प्रादुर्भवत इति शक्यं वक्तुं, प्रमाणाभावात्। तज्जन्मनि मोक्षार्हस्य कुतश्चिदनुष्ठानाद्धर्माधर्मौ तज्जन्मफलदानसमर्थौ प्रादुर्भवतः, तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मत्वादित्यप्ययुक्तं हेतोरन्यथानुपपत्त्यभावात्। यौ जन्मान्तरफलदानसमर्थौ तौ न तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मौ, यथास्मदादि धर्माधर्मौ इत्यस्त्येव साध्याभावे साधनस्यानुपपत्तिरिति चेत्, स्यादेवम्, यदि तज्जन्ममोक्षार्हधर्माधर्मत्वं जन्मान्तरफलदानसमर्थत्वेन विरुध्येत, नान्यथा।

यदि आप नैयायिक यों कहें कि तत्त्वज्ञानीके जन्मान्तरमें फल देने योग्य कर्म बंध गये हैं तो वे कर्म दूसरे जन्ममें फल भोगकर नष्ट किये जा सकते हैं। यह इस प्रकार कहना कैसे भी ठीक नहीं है। क्यों कि जिस जीवके संपूर्ण तत्त्वोंका प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान उत्पन्न हो गया है। उस जीवका अन्य जन्मोंको धारण करना असम्भव है। वह तो उसी जन्मसे मोक्ष प्राप्त करेगा। यदि आप यों कहें कि उस ही जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेवाले उस प्राणीके जो नवीन धर्म अधर्म उत्पन्न होते हैं, वे उस ही जन्ममें फल देनेकी शक्तिपने करके प्रगट हुए हैं। अतः उसकी उसी एक जन्मसे मोक्ष हो जावेगी। इस प्रकार भी आप नैयायिक नहीं कह सकते हैं। क्योंकि आपके कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। अबतक जब ही कर्मबंध हुआ है, तभी उसमें सागर, पल्य, और लाखों वर्षोंकी स्थिति पडी है, वे अनेक जन्मोंमें ही भोगे जा सकते हैं। यही धारा अनादि कालसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले समय तक अनुक्रमसे चली आ रही है। यदि आप यह अनुमान प्रमाण बोलें कि उस ही जन्ममें मोक्ष प्राप्तिकी योग्यतावाले तत्त्वज्ञानी जीवके जो पुण्य पाप उत्पन्न होते हैं (पक्ष) वे किसी समाधि या पुण्यक्रियारूप अनुष्ठानसे उस जन्ममें ही फल देनेके लिये समर्थ हैं, (साध्यदल) क्योंकि वे उसी जन्ममें मोक्षप्राप्ति की योग्यतावाले तत्त्वज्ञानीके धर्म अधर्म हैं (हेतु) इस प्रकार आपका अनुमान भी युक्तियोंसे रहित है। कारण कि आपके हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति (साध्यके विना हेतुका न रहना) नहीं बनती है। यदि आप यों व्याप्ति बनावेंगे कि जो धर्म, अधर्म, दूसरे जन्मोंमें फल देनेकी शक्ति रखते हैं। वे उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके योग्य धर्म अधर्म नहीं हैं। जैसे कि अनेक जन्मोंमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले हम लोगोंके धर्म अधर्म हैं। इस प्रकार साध्यके न रहनेपर हेतुकी उपपत्ति (सिद्धि) न होना रूप व्याप्ति बन ही जाती है। ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं कि इस प्रकार आपकी व्याप्ति तो तब बन सकती थी, यदि उस जन्ममें मोक्षकी योग्यतावाले जीवके धर्म अधर्मोंका दूसरे जन्मोंमें फल देनेकी शक्तिके साथ विरोध होता। दूसरे प्रकारसे आपकी व्याप्ति नहीं बन सकती है। किंतु हम देखते हैं कि उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्तिकी योग्यतावाले जीवके यदि तीव्र पाप या पुण्यका उदय हो जाता है तो प्रधान मुनीश्वर भी द्वीपायन या सुकुमालके समान अन्य जन्म धारण कर नरक या सर्वार्थसिद्धिमें अनेक सागर पर्यंत पाप, पुण्यका फल भोगते रहते हैं।

तस्य तेनाविरोधे तज्जन्मनि मोक्षार्हस्यापि मोक्षाभावप्रसंगात्, विरुध्यत एवेति चेत् न तस्य जन्मान्तरेषु फलदानसमर्थयोरपि धर्माधर्मयोरुपक्रमविशेषात्। फलोपभोगेन प्रक्षये मोक्षोपपत्तेः।

संभव है कि आप यों कहें कि उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके उन पुण्य पापोंका यदि उस दूसरे जन्मोंमें फल देनेकी योग्यतासे विरोध न होता तो उस ही जन्ममें मोक्षके योग्य भी जीवकी मोक्ष होजानेके अभावका प्रसंग होजाता। अतः तद्भव मोक्षगामी जीवके धर्म अधर्मपनेका

दूसरे जन्मोंमें फल देनेके साथ अवश्य विरोध है ही। भावार्थ—जो तद्भवमोक्षगामी जीवके धर्म अधर्म हैं, वे अगले अन्य भवोंमें फल देनेके लिये समर्थ नहीं हैं। और जो अदृष्ट दूसरे जन्मोंमें फल देनेवाले हैं, वे तद्भव मोक्षगामीके पुण्य पाप नहीं हैं। हां, इस प्रकार कहोगे सो भी ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि भविष्यके अनेक दूसरे जन्मोंमें फल देनेकी सामर्थ्यवाले धर्म, अधर्मका भी विशेष तपश्चर्याके द्वारा विशिष्ट उपक्रमसे फलोपभोग करके नाश करदेने पर उसी भवसे उस जीवके मोक्षकी सिद्धि होजाती है। भावार्थ—अन्तकृत्केवली या तद्भव मोक्षगामी कतिपय मुनि महाराजोंके भी अनेक उपसर्ग होना शास्त्रोंमें लिखा हुआ है। वे साधु महाराज उत्तर जन्मोंमें फल देनेवाले कर्मोंको उपक्रमके कारण तप या उपसर्गकी योग्यता मिलनेपर समाधि परिणामोंसे उनका फल भोगकर उसी जन्ममें नष्ट कर देते हैं। यदि वे साधु शुद्ध समाधिरूप परिणाम नहीं कर पाते तो वे अवश्य जन्मान्तरोंको धारण कर पुण्य पापका फल भोगते। किंतु उन्होंने इस ही जन्ममें कर्मोंकी औपक्रमिक निर्जरा कर दीनी है। विशेष बात यह है कि उसी जन्ममें डेढ गुणहानि प्रमाण द्रव्यके मोक्ष करलेनेकी योग्यता तो बहुतसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके स्थल मानी गयी कर्मभूमिके मनुष्योंमें है। जोकि पुरुषार्थ न करनेके कारण अनेक भवोंमें भी व्यक्त नहीं हो पाती है। मोक्षकी प्राप्तिमें प्रधानता पुरुषार्थकी है। जो मुनीश्वर कर्मोंके प्रहार, उपसर्ग आदिको जीतकर उत्कृष्ट शुक्लध्यानमें आरूढ होजाते हैं। वे असंख्य जन्मोंके संचित कर्मोंका उसी समय ध्वंस करदेते हैं। अतः दैववादका आग्रह कर मोक्षकी योग्यतावाले जीवोंके पुण्य, पापके ध्वंस करनेमें कुचोद्य नहीं करना।

यदि पुनर्नैवं 'यथाकालं तज्जन्ममोक्षार्हस्य धर्माधर्मौ तज्जन्मनि फलदानसमर्थौ साध्येते, किं तर्ह्युपक्रमविशेषादेव संचितकर्मणां फलोपभोगेन प्रक्षय इति पक्षांतरमायातम्।

यदि फिर आप नैयायिक जैन सिद्धांतके अनुसार यों मानलोगे कि उसी भवमें मोक्ष जाने वाले जीवके पहिले संचित किये हुए धर्म अधर्म यथायोग्य उस जन्ममें उदय आकर फल देनेमें समर्थ हैं, हम यह नहीं सिद्ध करते हैं, तब तो क्या कहते हैं? सो सुनो। तप या समाधिरूप विशेष उपक्रमके बलसे ही पहिले इकट्ठे हुए कर्मोंका फलके उपभोग करके अच्छा नाश हो जाता है, ऐसा मानने पर तो दूसरा पक्ष आया ही कहना चाहिये। भावार्थ—आपने कर्मोंकी औपक्रमिक निर्जरा मानकर पहिले ही उठाये हुए दो प्रश्नोंमेंसे द्वितीय पक्षका ग्रहण किया है, अस्तु।

विशिष्टोपक्रमादेव मतश्चेत्सोऽपि तत्त्वतः।
समाधिरेव सम्भाव्यश्चारित्रात्मेति नो मतम्॥ ५२॥

विलक्षण प्रकारके उपक्रमसे ही कर्मोंके फलका उपभोग करना यदि आपको इष्ट है, तब तो वास्तविकतासे विचारा जावे तो वह विशेष उपक्रम करना भी समाधिरूप ही सम्भव है, जो कि

ऐसी समाधि तो हम स्याद्वादियोंके मतमें चारित्र स्वरूप मानी गयी है। पाल देकर आमको पकाने या सुखानेके समान भविष्यमें उदय आनेवाले कर्मोंको पुरुषार्थी तपस्वी उसी जन्ममें फल भोग कर या विना फलके निर्जीर्ण कर देता है।

यस्मादुपक्रमविशेषात् कर्मणां फलोपभोगो योगिनोऽभिमतः स समाधिरेव तत्त्वतः सम्भाव्यते, समाधावुत्थापितधर्मजनितायामृद्धौ नानाशरीरादिनिर्माणद्वारेण संचितकर्मफलानुभवस्येष्टत्वात्। समाधिश्चारित्रात्मकः एवेति चारित्रान्मुक्तिसिद्धेः सिद्धं स्याद्वादिनां मतं सम्यक्त्वज्ञानानंतरीयकत्वाच्चारित्रस्य।

जिस कारणसे कि विशिष्ट उपक्रम द्वारा योगी महाराजके कर्मोंका फलोपभोग स्वीकार किया है, वह विशिष्ट उपक्रम तो समाधिरूप ही वस्तुतः सम्भव है। चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिमें उत्पन्न हुए विलक्षण पुण्यसे बनायी गयी ऋद्धियोंके होनेपर अनेक शरीर, केवलिसमुद्घात आदिकी रचनाके द्वारा पहिले एकत्रित किये हुए कर्मोंके फलका अनुभव करना इष्ट है और वह समाधि चारित्र स्वरूप ही है। केवली महाराज भी अनेक पुण्यकर्मोंके उदय होनेपर विना इच्छाके सुखका अनुभव करते हैं। वे सुख अनंत सुखमें ही गर्भित होजाते हैं अर्थात् विष्णुकुमार मुनीश्वरने शरीर बनाया था। उस विक्रिया करनेमें उनके पूर्व सञ्चित पुण्यकर्मका भोग अवश्य हुआ। वादिराज मानतुङ्ग आदि महर्षियोंने अपने पुण्यका घाटा सहकर ही बिना इच्छाके लौकिक सुख प्राप्त किया था। इसी प्रकार मुनि महाराजोंके पुण्य पापके उदयानुसार सुख, दुःख होते रहते हैं। किंतु समाधिपरिणामोंसे उनका ऐच्छिक वेदन नहीं होने पाता है। आहारक ऋद्धिके लेनेमें भी पुण्यका व्यय होता है। इस प्रकार चारित्रसे कर्मफल भोगकर कर्मोंकी मोक्ष होना सिद्ध होता है। हां! जो पौराणिक ऐसा मानते हैं कि राजापनको भोगानेवाले कर्मोंसे मुनियोंके राजा तथा अनेक रानियां चाकर आदिके शरीर बनजाते हैं। वे राजा होकर रानियोंसे तपमें बैठे हुए ही भोग करते हैं। यह सिद्धांत तो जैनोंके इष्ट नहीं है। राज्य, चक्रवर्तीपन, इन्द्रत्व आदिको बनानेवाले कर्म तद्भव मोक्षगामी जीवके विना फल दिये हुए ही झडजाते हैं। कर्मोंका विपाक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिलनेपर होता है। बिना सामग्रीके धूलमें पडी हुयी आगके समान अनेक कर्म तो फल दिये बिना ही नष्ट हो जाते हैं। अतः स्याद्वादियोंका मंतव्य सिद्ध हो गया। क्योंकि चारित्र गुणका सम्यक्त्व और ज्ञानसे अविनाभावीपना है। भावार्थ—जहां सम्यक्चारित्र होगा उसके प्रथम सम्यग्दर्शन और ज्ञान अवश्य हो चुके होंगे। अथवा सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञानके अनंतर चारित्र हुआ करता है तथा च रत्नत्रयसे ही मुक्तिकी सिद्धि हुयी।

सम्यग्ज्ञानं विशिष्टं चेत्समाधिः सा विशिष्टता।
तस्य कर्मफलध्वंसशक्तिर्नामांतरं ननु ॥ ५३ ॥

मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम् ।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महंतृता ॥ ५४ ॥
शक्तित्रयात्मकादेव सम्यग्ज्ञानाददेहता ।
सिद्धा रत्नत्रयादेव तेषां नामान्तरोदितात् ॥ ५५ ॥

यदि किसी आत्मीय स्वभावसे विशिष्ट हुए सम्यग्ज्ञानको ही समाधि मानोगे तो वह उस ज्ञानकी विशिष्टता दूसरे शब्दोंमें कर्मोंके फलको ध्वंस करनेकी शक्ति ही समझनी चाहिये। यही हम समीचीन तर्कणा करते हैं। ज्ञानका मिथ्याश्रद्धानरूप आग्रहसे रहित हो जाना ही सम्यग्दर्शन सहितपना निर्णीत है। तथा तत्त्वार्थोंको जानलेना ज्ञानपन है और कर्मोंका नाशकर-देनापन ही ज्ञानका चारित्रपना है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप तीनों शक्तियोंके अभेदात्मक सम्यग्ज्ञानसे ही शरीररहित मुक्त अवस्था सिद्ध हो जाती है। उन तीन रत्नोंको ही उन नैयायिकोंने दूसरे शब्दोंसे कहा है अर्थात् समाधि, फलोपभोग, आदि अन्य शब्दोंसे कहकर नैयायिकोंने रत्नत्रयको ही मोक्षका मार्ग माना है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, सम्यग्ज्ञानं मिथ्याभिनिवेशमिथ्याचरणाभावविशिष्टमिति वा न कश्चिदर्थभेदः, प्रक्रियामात्रस्य भेदान्नामांतरकरणात् ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता मोक्षका मार्ग है, यह जैनोंका मंतव्य है और मिथ्या आग्रह तथा मिथ्याचर्या इन दोनोंके अभावसे विशिष्ट सम्यग्ज्ञान ही मोक्षमार्ग है इस प्रकार नैयायिकोंका अथवा अकेले सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष माननेवाले वादियोंका कहना है। इस प्रकार केवल शब्दोंमें भेद है। अर्थमें कोई भेद नहीं है। थोडीसी केवल दार्शनिक प्रक्रियाके भेदसे दूसरे दूसरे नाम कर दिये गये हैं। परिशेषमें रत्नत्रयसे ही सबके मतमें मोक्ष होना अभिप्रेत हो जाता है। इन्द्रदत्त नामका छात्र न्याय और व्याकरण तथा सिद्धांत इन तीन विषयोंको पढता है, यों कहो या न्याय व्याकरणके साथ सिद्धांत विषयको पढता है यों कहिये अभिप्राय एक ही है।

एतेन ज्ञानवैराग्यान्मुक्तिप्राप्त्यवधारणम् ।
न स्याद्वादविघातायेत्युक्तं बोद्धव्यमञ्जसा ॥ ५६ ॥

जो अकेले तत्त्वज्ञानको ही मोक्षका कारण मानते हैं। उनको भी सहकारी कारणोंकी प्रक्रियासे रत्नत्रयको मोक्षमार्ग मानना पडता है। इस उक्त कथनके द्वारा यह बात भी निर्दोष रूपसे कथन कर दी गयी समझनी चाहिये कि ज्ञान और वैराग्यसे ही मोक्षकी प्राप्तिका नियम करना भी स्याद्वादसिद्धांतको क्षत करनेके लिये समर्थ नहीं है। भावार्थ—ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनके

साथ होने पर ही आती है। अतः तत्त्वज्ञानका अर्थ सम्यग्दर्शनसहित तत्त्वज्ञान है। चारित्ररूप वैराग्यको आप कण्ठोक्त मानते ही हैं। तथाच ज्ञान और वैराग्यसे ही मोक्षकी प्राप्ति मानना रत्नत्रयसे ही मोक्ष होना स्वीकार करना है।

तत्त्वज्ञानं मिथ्याभिनिवेशरहितं सद्दर्शनमन्वाकर्षति, वैराग्यं तु चारित्रमेवेति रत्नत्रयादेव मुक्तिरित्यवधारणं बलादवस्थितम्।

मिथ्याश्रद्धानसे रहित जो तत्त्वोंका ज्ञान होगा, वही तत्त्वज्ञान समझा जावेगा। जैसे श्रोत्र इंद्रियजन्य मतिज्ञानवाले जीवके चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञानकी लब्धि होना आवश्यक है, वैसे ही तत्त्वोंका ज्ञान सम्यग्दर्शनका अविनाभाव रूपसे आकर्षण कर लेता है और वैराग्य तो चारित्र है ही। इस प्रकार रत्नत्रयसे ही मोक्षकी प्राप्ति है, यह नियम करना बलात्कारसे सिद्ध हो जाता है। इसमें आनाकानी नहीं कर सकते हो।

" दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा बंधकारणम्। जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छती "त्यप्यर्हन्मतसमाश्रयणमेवानेन निगदितम्, दर्शनज्ञानयोः कथञ्चिद्भेदान्मतान्तरासिद्धेः।

जिस प्रतिवादीने ज्ञान और वैराग्यको ही मुक्तिका मार्ग माना है, उस यौगका यह सिद्धांत है कि शरीर, धन, सांसारिक भोग, आदि दुःखरूप पदार्थोंमें सुख माननारूप विपरीत बुद्धि करना अविद्या है और भोग, उपभोगोंमें आसक्ति करना अथवा उनकी भविष्यके लिये अभिलाषा करना तृष्णा है। संसारी जीवकी अविद्या और तृष्णा उसके बंधका कारण है। संसारमें जन्म और मरण करनेवाले जिस जीवके ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर वे अविद्या और तृष्णा नहीं रहते हैं, वह जीव पुनः जन्म मरणको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस प्रकार कहनेवाले योग मतानुयायियोंने तो श्रीअर्हंत देवके प्रतिपादन किये गये मतका ही फिर आश्रय ले लिया है। इस उक्त कथनसे ऐसा ही निरूपण किया गया प्रतीत होता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप विद्याका कथञ्चित् भेद है और अनेक अंशोंमें अभेद है। अतः विद्या कहनेसे दोनों गुण कहे गये। चारित्र उन्होंने माना ही है। अतः रत्नत्रयसे ही मोक्ष होना कहा गया। एतावता स्याद्वाद सिद्धांतके अतिरिक्त अन्यमतोंकी सिद्धि नहीं होने पाती है। पोत काक न्यायसे सबको रत्नत्रयकी शरण लेनेके लिये ही बाध्य होना पडेगा। इस प्रकरणको समाप्त कर एक द्रव्यके भी शक्तिस्वरूप अनेक गुण भिन्न होते हैं, इस बातको छेडते हैं।

न चात्र सर्वथैकत्वं ज्ञानदर्शनयोस्तथा।
कथञ्चिद्भेदसंसिद्धिर्लक्षणादिविशेषतः॥ ५७॥

इस सूत्रमें पड़े हुए ज्ञान और दर्शन गुणका सर्वथा एकपना सिद्ध नहीं है। क्योंकि उसी प्रकारसे लक्षण, संज्ञा, प्रयोजन आदिकी विशेषताओंसे ज्ञान और दर्शनमें किसी अपेक्षासे भेदकी समीचीन रूपसे सिद्धि हो रही है।

न हि भिन्नलक्षणत्वं भिन्नसंज्ञासंख्याप्रतिभासत्वं वा कथञ्चिद्भेदं व्यभिचरति, तेजोंभसोर्भिन्नलक्षणयोरेकपुद्गलद्रव्यात्मकत्वेपि पर्यायार्थतो भेदप्रतीतेः।

शक्रपुरंदरादिसंज्ञाभेदिनो देवराजार्थस्यैकत्वेऽपि शकनपूर्दारणादिपर्यायतो भेदनिश्चयात्। जलमाप इति भिन्नसंख्यस्य तोयद्रव्यस्यैकत्वेऽपि शक्त्यैकत्वनानात्वपर्यायतो भेदस्याप्रतिहतत्वात्।

भिन्न भिन्न लक्षण होना, अथवा पृथक् पृथक् संज्ञा होना, तथा विशेष विशेष संख्या होना एवं निराली निराली ऋद्धि होना, ये हेतु कथञ्चित् भेदस्वरूप साध्यके साथ व्यभिचार नहीं करते हैं। देखिये! अग्नि और जल दोनों उष्ण स्पर्श तथा शीत स्पर्शरूप भिन्न लक्षणवाले हैं। भले ही वे एक पुद्गल द्रव्यस्वरूप हैं तो भी पर्यायार्थिक नयसे अग्नि और जलमें प्रत्यक्षप्रमाणसे भेदकी प्रतीति हो रही है। पुद्गल द्रव्यकी जब जल पर्याय है तब अग्नि पर्याय नहीं है। हां! कालांतरमें वृक्षमें जल जाकर जब काष्ठरूप परिणत हो जावेगा और जलाने पर उस काठकी अग्नि बन सकती है। एवं पुद्गलकी अग्नि पर्यायके समय जल पर्याय नहीं है। हां! अग्निसे वायु फिर जल बन सकता है। इसमें देर लगेगी। अतः भिन्नलक्षणत्वसे पदार्थोंका भेद सिद्ध हो जाता है। प्रकृतमें तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका लक्षण है और तत्त्वोंको नहीं कमती बढती स्वरूपसे ठीक जान लेना सम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार भिन्नलक्षण होनेसे दोनों गुणोंमें भेद है।

इंद्रके वाचक अनेक शब्द हैं। शक्र, पुरंदर, शचीपति, वज्री, सुरपति आदि भिन्न संज्ञायें द्रव्यार्थिक नयसे देवोंके राजारूप एक ही मघवा अर्थके वाचक हैं। फिर भी एक द्रव्यमें अनेक गुण और पर्यायें विद्यमान रहती हैं। अतः जम्बूद्वीपको परिवर्तन करनेकी शक्तिको धारण करने वाले इंद्रको शक्र कहते हैं और पौराणिक सम्प्रदायसे नगरीका ध्वंस करनेवाले इंद्रको पुरंदर कहते हैं। ऐसे ही पुलोमजाके पति या वज्रधारण करनेसे इंद्रको शचीपति और वज्री कहते हैं। ये परम ऐश्वर्य, अत्यधिकबल, वज्रधारण आदि पर्यायें निराली हैं। तभी तो उनके वाचक शब्द भिन्न माने गये हैं। यों न्यारी पर्यायोंसे भेदका निश्चय हो रहा है। अतः भिन्न संज्ञा होना भी भेदका साधक है। वह भिन्न संज्ञापन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गुणोंमें भी विद्यमान हैं। अतः ये दोनों गुण भी कथञ्चित् भिन्न हैं। यह ध्यान रखना कि जिस शक्ति या पर्यायको अवलम्ब लेकर अनेक संज्ञायें रखी गयी हैं। द्रव्यमें एवम्भूत नयके विषय वे स्वभाव न्यारे ही हैं। कल्पित या भ्रष्ट शब्दोंको छोड

दो। किंतु जो शब्द अनादिसे उस उस अर्थके वाचक स्वाभाविक योग्यतासे चले आ रहे हैं, उन शब्दोंकी वाचकशक्ति वाच्य अर्थके स्वाभाविक परिणामोंपर निर्भर है।

जल यह एकत्व संख्यासे युक्त शब्द है और आप यह बहुत्व संख्यासे सहित शब्द है। भिन्न भिन्न संख्यावाले दोनों शब्द एक ही पानीस्वरूप द्रव्यके वाचक हैं। यद्यपि पानी द्रव्य एक है। किन्तु उस पानीमें एक पिण्ड और नाना अवयवरूप पर्यायें निराली हैं। यों पर्याय दृष्टिसे पानीमें भेदका होना बाधाओंसे रहित है। शब्दनय अनुसार भेदका कोई घात नहीं कर सकता है। जहां पानीके एक अखण्ड द्रव्यकी विवक्षा है, वहां एकवचनान्त जल शब्दका प्रयोग होगा और जब पानीके अनेक टुकडोंकी विवक्षा है, वहां आपः शब्द बोला जावेगा। अतः एक द्रव्यमें भी रहनेवाली शक्तियां पर्यायोंके भेदसे भिन्न भिन्न मानी जाती हैं। प्रकरणमें भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान शब्द समास न करने पर एक वचनान्त रहते हैं। समास करनेपर द्वित्व संख्यासे युक्त "सम्यग्दर्शनज्ञाने" ऐसा शब्द बन जाता है। एक ही व्यक्तिको कहने वाले घट और कलश शब्दका समास करनेपर घटौ नहीं बनता है। अतः सिद्ध होता है कि संख्याभेद भी कथञ्चित् भेदका साधक है। सम्यग्दर्शनके निसर्गज, अधिगमज या सराग, वीतराग तथा व्यवहार निश्चय करके दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक करके तीन भी भेद हैं। आज्ञा आदिसे दश भेद भी हैं। तथा सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे दो हैं। मतिज्ञानादिसे पांच हैं। उनमें मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस, श्रुतज्ञानके अंगोंकी अपेक्षा बारह और आवरणोंसे बीस भेद हैं। अवधिके तीन और मनःपर्ययके दो भेद हैं। केवलज्ञान एक ही प्रकारका है। यह भी संख्याभेद है।

स्पष्टास्पष्टप्रतिभासविषयस्य पादपस्यैकत्वेऽपि तथाग्राह्यत्व पर्यायार्थादेशान्नानात्वव्यवस्थितेः।

एक ही वृक्षको निकटसे देखा जावे तो वृक्षका स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है। दूरवर्ती प्रदेशोंसे वृक्षको देखनेपर अस्पष्ट प्रतिभास होता है। यद्यपि स्पष्ट ज्ञान और अस्पष्ट ज्ञानका विषय वह वृक्ष एक ही है। फिर भी उस प्रकार विशद ज्ञान और अविशद ज्ञानके द्वारा जाननेकी योग्यता रूप ग्राह्यत्व पर्यायें भिन्न हैं। इस कारण पर्यायार्थिकनयके अनुसार कथन करनेसे नानापनकी व्यवस्था हो रही है। प्रत्येक पदार्थमें विद्यमान प्रमेयत्व गुणके परिणाम भिन्न सामग्रीके मिलने पर अनेक अविभागप्रतिच्छेदोंको लिये हुए न्यारे न्यारे हो जाते हैं। अग्निको आगमवाक्य द्वारा जाननेपर उसमें आगमगम्यतारूप स्वभाव माना जाता है। धूम हेतुसे जाननेपर अग्निमें अनुमेयत्व धर्म है और प्रत्यक्षसे जाननेपर अग्निमें प्रत्यक्षगोचरत्व स्वभाव है। यद्यपि क्षयोपशमके भेदसे ज्ञानोंमें भेद हो जाता है। फिर भी विषयोंमें स्वभावभेद मानना आवश्यक है। बिना स्वभावभेद माने भिन्न भिन्न कार्योंके होनेका नियम कैसे किया जावे ?। चुम्बकमें आकर्षण शक्ति है। किंतु इधर लोहमें आकर्ष्य शक्तिका मानना भी अनिवार्य है। चुम्बकपाषाण तभी तो चांदी, सोना, मिट्टीको नहीं खींच सकता है और

लोहा भी चुम्बकके सिवाय अन्य पदार्थोंसे खिचता नहीं है। इस सिद्धांतका अष्टसहस्रीमें अच्छा स्पष्टीकरण किया है। प्रकृतमें ज्ञानोंका स्वांशमें स्पष्टप्रतिभास होता है और सम्यग्दर्शन गुणका आत्मानुभूतिरूप उपयोग दशामें भले ही किसीको प्रतिभास हो जावे। महाविद्वान् पञ्चाध्यायीकारने इस विषयको बहुत स्पष्ट किया है। किंतु क्षयोपशम सम्यक्त्व, उपशम सम्यग्दर्शन या क्षायिक-सम्यक्त्वका अनुपयोग अवस्थामें स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं होता है। प्रशम, संवेग, आदि कार्योंसे अनुमान कर सम्यग्दर्शनका अस्पष्ट प्रतिभास कर लेते हैं। अतः दोनों गुणोंमें प्रतिभासके भेद होनेसे कथञ्चित् भेद मानना चाहिये। ज्ञानके सिवाय आत्माके सम्पूर्ण गुण निराकार हैं। जाति आदिका उल्लेख करना, सम्यक्त्व गुणमें नहीं सम्भवे है। अतः छद्मस्थोंको सम्यक्त्व गुणका प्रायःकरके स्वसंवेदन नहीं होपाता है।

अन्यथा स्वेष्टतत्त्वभेदासिद्धेः सर्वमेकमासज्येत, इति क्वचित्कस्यचित्कुतश्चिद्भेदं साधयता लक्षणादिभेदाद्दर्शनज्ञानयोरपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः।

अन्यथा यानी यदि उक्त प्रकार भिन्न लक्षण भिन्न संख्या आदि हेतुओंसे पदार्थोंके भेदकी व्यवस्था न मानी जावेगी तो प्रत्येक वादी प्रतिवादीको अपने अपने इष्ट तत्त्वोंमें भेद मानना सिद्ध न हो सकेगा। तब तो सर्व ही पदार्थोंको ब्रह्मादैतवादीके माने हुए आत्माके समान एक हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। "सर्वं एकं स्यात्"। प्रकृति पुरुष या जड चेतन और जीव पुद्गल इनका भेद न हो सकेगा। इस प्रकार किसी न किसी पदार्थमें अन्य किसी एक पदार्थका किसी नियत अपेक्षासे भेदको सिद्ध करनेवाले दार्शनिकके द्वारा लक्षण, संज्ञा, संख्या आदिके भेदसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें भी भेद स्वीकार कर लेना चाहिये।

तत एव न चारित्रं ज्ञानं तादात्म्यमृच्छति।
पर्यायार्थप्रधानत्वविवक्षातो मुनेरिह ॥ ५८ ॥

ऊपर कहे गये इन कारणोंसे ही चारित्र और ज्ञान गुण भी तादात्म्यको प्राप्त नहीं हो सकते हैं। क्योंकि आत्माके चारित्र गुणकी पर्याय यथाख्यातचारित्र है और आत्माके चेतना गुणकी पर्याय सम्यग्ज्ञान है। इस मोक्षमार्गके प्रकरणमें उमास्वामी मुनि महाराजकी पर्यायार्थिक नयके प्रधानताकी विवक्षा है। जैसे अग्निस्वरूप अशुद्ध द्रव्यकी दाहकत्व, पाचकत्व, शोषकत्व, स्फोटकत्व पर्यायें न्यारी हैं, वैसे ही आत्माके तीन गुणोंकी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र पर्यायें भिन्न हैं।

न ज्ञानं चारित्रात्मकमेव ततो भिन्नलक्षणत्वाद्दर्शनवदित्यत्र न स्वसिद्धान्तविरोधः, पर्यायार्थप्रधानत्वस्येह सूत्रे सूत्रकारेण विवक्षितत्वात्।

ज्ञान गुण (पक्ष) चारित्रगुण स्वरूप ही नहीं हैं। क्योंकि सम्यग्ज्ञान उस चारित्रके लक्षणसे भिन्न लक्षणवाला है (हेतु) जैसे कि सम्यग्दर्शनका लक्षण चारित्रसे भिन्न है (अन्वयदृष्टान्त) ज्ञानका लक्षण तत्त्वोंका निर्णय करना है और आत्मद्रव्यकी केवल स्वात्मामें स्थिति हो जाना चारित्र है। इस प्रकार यहां माननेमें हमको कोई अपने सिद्धान्तसे विरोध नहीं पडता है। क्योंकि इस सूत्रमें सूत्रोंको बनानेवाले उमास्वामी महाराजने पर्यायार्थिक नयकी प्रधानताको विवक्षित किया है। यदि द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता विवक्षित होती तब तो कतिपय पर्यायोंसे परिणत एक आत्म-द्रव्य ही शुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षका मार्ग हो जाता। इसलिये अशुद्ध द्रव्यका कथन करना पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे ही ठीक पडता है।

द्रव्यार्थस्य प्रधानत्वविवक्षायां तु तत्त्वतः।
भवेदात्मैव संसारो मोक्षस्तद्धेतुरेव च॥ ५९॥
तथा च सूत्रकारस्य क्व तद्भेदोपदेशना।
द्रव्यार्थस्याप्यशुद्धस्यावान्तराभेदसंश्रयात्॥ ६०॥

द्रव्यार्थिक नयके विषय माने गये द्रव्यरूप अर्थके प्रधानताकी विवक्षा होनेपर तो वास्तविक रूपसे आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष होसकता है तथा उन संसार और मोक्षका कारण भी आत्मा ही है। भिन्न भिन्न अनेक पर्यायोंका अविष्वग्भावापिंडरूप आत्माद्रव्य एक ही है। नयके द्वारा द्रव्यको जाननेपर भिन्न भिन्न पर्यायें नहीं जानी जासकती हैं। और वैसा होनेपर सूत्र बनानेवाले उमास्वामी महाराजका उस आत्माके भिन्न भिन्न गुणोंका उपदेश देना भला कहां बन सकता है! दूसरे द्रव्यसे बंधे हुए अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय भी महान् अभेदसे छोटे अभेदका आश्रयकर प्रवर्तता है। अतः अशुद्ध द्रव्यकी विवक्षा होनेपर भी भेदरूप गुणोंका उपदेश देना नहीं बनता है। हां! प्रमाणोंसे या पर्यायार्थिक नयसे भेदकी देशना होना सम्भवे है।

यथा समस्तैक्यसंग्रहो द्रव्यार्थिकः शुद्धस्तथावान्तरैक्यग्रहोप्यशुद्ध इति तद्विवक्षायां संसारमोक्षतदुपायानां भेदाप्रसिद्धेरात्मद्रव्यस्यैवैकस्य व्यवस्थानात्तद्भेददेशना क्व व्यवतिष्ठेत? ततः सैव सूत्रकारस्य पर्यायार्थप्रधानत्वविवक्षां गमयति, तामन्तरेण भेददेशनानुपपत्तेः।

जैसे सम्पूर्ण गुण और पर्यायोंकी अखण्डपिण्डरूप एकताको संग्रह करनेवाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, वैसे ही कतिपय गुण और पर्यायोंकी मध्यवर्ती एकताको ग्रहण करनेवाला नय भी अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। इस प्रकार दोनों शुद्ध अशुद्ध द्रव्यार्थिककी विवक्षा होनेपर संसार, मोक्ष तथा उनके उपाय माने गये संसारकारण और मोक्षकारण तत्त्वोंका भेद करना प्रसिद्ध नहीं है।

द्रव्यदृष्टिसे विचारा जावे तो आत्मद्रव्य एक ही व्यवस्थित होरहा है। अतः उसके भेदरूपोंका उपदेश देना कहां व्यवस्थित होगा ? भावार्थ—संसारी आत्मा और मुक्त आत्मामें तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, प्रमाद और कषायोंसे परिणत आत्मामें और संवर, निर्जरा, व्रत, समिति, तपस्या आदि परिणामोंसे युक्त हुये आत्मामें कोई अंतर नहीं है। द्रव्यको छूनेवाली निश्चय नयसे जैसे ही एकेन्द्रिय जीवकी आत्मा है, वैसे ही सिद्धपरमेष्ठी की आत्मा है। किंतु सूत्रकार जब संसार, मोक्ष, सम्यग्दर्शन, कषाय आदिका भेदरूप उपदेश देरहे हैं, इस कारण उससे ही अनुमान करलिया जाता है कि सूत्रकारको भिन्न भिन्न पर्यायरूप अर्थोंके प्रधानताकी विवक्षा है। क्योंकि पर्यायरूप अर्थके प्रधानत्वकी उस विवक्षाके विना गुणपर्यायोंके भेदका उपदेश देना बन नहीं सकता था ।

ये तु दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानचारित्रयोर्वा सर्वथैकत्वं प्रतिपद्यन्ते तं कालाभेदादेशाभेदात्सामानाधिकरण्याद्वा ? गत्यन्तराभावात् । न चैते सद्धेतवोऽनैकान्तिकत्वाद्विरुद्धत्वाच्चेति निवेदयतिः—

जो प्रतिवादी सम्यग्दर्शन और ज्ञानका अथवा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका सर्वथा अभेद होना समझ रहे हैं, वे प्रतिवादी क्या कालके अभेदसे या देशके अभेदसे अथवा समान अधिकरणपनेसे उन गुणोंका अभेद कहते हैं ? बताओ। क्योंकि अभेद सिद्ध करनेमें उन तीनके अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है। प्रकृतमें अभेदको सिद्ध करनेके लिए दिये गये ये तीनों हेतु तो सद्धेतु नहीं हैं। किंतु व्यभिचारी और विरुद्ध होनेके कारण हेत्वाभास हैं। इसी बातको ग्रंथकार निवेदन कर देते हैं।

कालाभेदादभिन्नत्वं तयोरेकान्ततो यदि ।
तदैकक्षणवृत्तीनामर्थानां भिन्नता कुतः ॥ ६१ ॥

उन दर्शन और ज्ञान या ज्ञान और चारित्रमें कालका अभेद हो जानेसे यदि एकांतरूपसे अभेद सिद्ध करोगे, तब तो एक समयमें रहनेवाले अनेक घट, पट आदिक अर्थोंकी भिन्नता कैसे होगी ? बतलाइये, भावार्थ—जिनका काल अभिन्न है, ऐसे पदार्थोंको अभिन्न मान लिया जावे तो समान समयवाले अनेक पदार्थ एक हो जावेंगे। वर्तमानमें विद्यमान हाथी, घोडे, मनुष्य, घट, पट आदि अनेक पदार्थ एक स्वरूप हो जावेंगे। यह बडा भारी सांकर्य दोषका प्रकरण है। और हेतु व्यभिचारी है।

देशाभेदादभेदश्चेत्कालाकाशादिभिन्नता ।
सामानाधिकरण्याच्चेत्तत एवास्तु भिन्नता ॥ ६२ ॥

सामानाधिकरण्यस्य कथञ्चिद्भिदया विना ।
नीलतोत्पलतादीनां जातु क्वचिददर्शनात् ॥ ६३ ॥

दूसरे पक्षके अनुसार यदि दर्शन, ज्ञानमें या ज्ञान, चारित्रमें देशके अभेद होनेसे अभेद माना जावेगा, तब तो काल आकाश, काल जीव आदि पदार्थोंकी भिन्नता कैसे हो सकेगी ? जिन आकाशके प्रदेशोंपर जीव द्रव्य है, वहां अनेक जातिके पुद्गल द्रव्य भी विद्यमान हैं। कालाणु भी रखे हुए हैं। आकाश तो वहां है ही। अतः व्यभिचारदोष हो जानेसे देशका अभेद होना भी पदार्थोंके अभेदका कारण नहीं है। तथा तीसरा पक्ष लेनेपर समान अधिकरणपनेसे अभेद मानोगे तो उस सामानाधिकरण्यसे तो भिन्नता ही भली प्रकार सिद्ध हो जावेगी, सामानाधिकरण्य हेतु तो प्रत्युत पदार्थोंके भेदको सिद्ध करता है। अतः तुम्हारा हेतु विरुद्ध है। देखिये। समान है अधिकरण जिनका ऐसे दो, तीन, चार आदि पदार्थोंको समानाधिकरण कहते हैं और उन समानाधिकरण होरहे पदार्थोंका जो भाव है, वह सामानाधिकरण्य है। घट और कलशरूप एक पदार्थमें सामानाधिकरण्य नहीं बनता है। नीला कमल है। यहां नीलपने और कमलपनेका एक फूलमें समानाधिकरणता है। तभी तो यहां व्यभिचार होनेपर कर्मधारय समास बन जाता है। कमलको छोडकर नीलापन जामुन, नीलमणि, कम्बल आदिमें भी रह जाता है और नीलपनेको छोडकर कमलपना भी शुक्ल, लाल, पीले कमलोंमें ठहर जाता है। दोनोंका सांकर्य नील कमलमें है। अतः कथञ्चित् भेदके बिना समानाधिकरणपना नील उत्पल, वीरपुरुष, आदिमें कहीं भी कभी देखा नहीं गया है। सामानाधिकरण्य हेतुसे अभेदको सिद्ध करने चले थे, किंतु भेद सिद्ध होगया। साध्याभावके साथ व्याप्तिको रखनेवाला हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

न हि नीलतोत्पलत्वादीनामेकद्रव्यवृत्तितया सामानाधिकरण्यं कथञ्चिद्भेदमन्तरेणोपपद्यते, येनैकजीवद्रव्यवृत्तित्वेन दर्शनादीनां सामानाधिकरण्यं तथाभेदसाधनाद्विरुद्धं न स्यात् ।

नीलपना और उत्पलपना, तथा रक्तपना तथा घटपना, एवं धूर्तपना और शृगालपना, आदि की एक द्रव्यमें वृत्तिता हो जानेसे समानाधिकरणता कथञ्चित् भेदके बिना नहीं बन सकती है। जिससे कि एक जीव द्रव्यमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंके विद्यमान रह जानेसे बन गया समानाधिकरणपना भी इस प्रकार भेदको सिद्ध करनेवाला होनेके कारण अभेद सिद्ध करनेमें विरुद्ध हेत्वाभास न होता। अर्थात्—सामानाधिकरण्य हेतु विरुद्ध है।

मिथ्याश्रद्धामविज्ञानचर्याविच्छित्तिलक्षणम् ।
कार्यं भिन्नं दृगादीनां नैकान्ताभिदि सम्भवि ॥ ६४ ॥

तथा जिनका कार्य भिन्न भिन्न होता है, वे सर्वथा एक नहीं होते हैं। सम्यग्दर्शनका कार्य झूठे श्रद्धान यानी मिथ्यात्वका नाश करदेना है। और सम्यग्ज्ञानका कार्य मिथ्याज्ञानका ध्वंस कर देना है तथा सम्यक्चारित्रका कार्य कुचारित्रको निवृत्त करना है। अतः न्यारे लक्षणोंवाले दर्शनादिकोंके ये भिन्न भिन्न कार्य एकांतरूपसे अभेद माननेमें नहीं सम्भवते हैं।

सद्दर्शनस्य हि कार्यं मिथ्याश्रद्धानविच्छित्तिः, संज्ञानस्य मिथ्याज्ञानविच्छित्तिः, सच्चारित्रस्य मिथ्याचरणविच्छित्तिरिति च भिन्नानि दर्शनादीनि भिन्नकार्यत्वात् सुखदुःखादिवत्। पावकादिनानैकांत इति चेन्न, तस्यापि स्वभावभेदमंतरेण दाहपाकाद्यनेककार्यकारित्वायोगात्।

आत्मामें सम्यग्दर्शन गुणके प्रगट होनेपर निश्चय करके उसका कार्य मिथ्याश्रद्धानका नष्ट हो जाना है। और सम्यग्ज्ञानका प्रयोजन मिथ्याज्ञानको दूर कर देना है। एवं समीचीन चारित्रका फल तो मिथ्याचारित्रका प्रलय कर देना है। इस कारण हम अनुमान करते हैं कि दर्शन ज्ञान और चारित्र ये तीनों पर्यायें (पक्ष) भिन्न हैं (साध्य) क्योंकि इनका भिन्न भिन्न कार्य देखा जा रहा है (हेतु) जैसे कि सुख, दुःख, दान, लाभ आदि पर्यायें निराली हैं। सुखका कार्य अनुकूल वेदन होना है। दुःखका कार्य अनिष्ट या प्रतिकूल अनुभव है आदि।

यदि यहां कोई यह दोष देवे कि अग्नि एक है वह पानीको सुखा रही है, भातको पका रही है, ईन्धनको जला रही है। अतः एकके भी अनेक कार्य देखे जाते हैं। तब तो आप जैनोंका भिन्नकार्यत्व हेतु अनेक कार्य करनेवाले अग्नि, नर्तकी, लवङ्ग आदिसे व्यभिचारी हुआ। यों यह दोष देना ठीक नहीं है। क्योंकि उस अग्नि, सोंठ आदिको भी अपने अनेक भिन्न भिन्न स्वभावोंके भेद हुए बिना जलाना, पकाना, सुखाना आदि अनेक कार्योंका करदेनापन नहीं बन सकेगा। भावार्थ—अग्नि यद्यपि अशुद्ध एक पुद्गल द्रव्य है। किंतु उसमें अनेक स्वभावरूप शक्तियां विद्यमान हैं। अनेक स्वभावोंसे ही अनेक कार्य हो सकते हैं। ऐसा जैन सिद्धांत है। चार हाथकी एक लाठीको बीचमें पकडकर आडी उठाओ! तब उस लाठीकी दूसरी शक्तियां कार्य कर रही हैं और उसी लाठीको तीन हाथ एक ओर और एक हाथ दूसरे छोरपर छोडकर मध्यमेंसे आडी उठाने पर लाठीके अन्य स्वभाव कार्यकारी हैं, जिन स्वभावोंका कार्य हमें हाथोंपर बल लानेसे प्रतीत हो जाता है। किसी भूमि पर पडी उस लाठीको केवल एक अंगुल अंतभागमें पकड कर बडा भारी मल्ल भी सीधी नहीं उठा सकता है, यों लट्ठमें वेग या झोकके परिणाम अनेक हैं। अतः दर्शन ज्ञान और चारित्रको आत्माके भिन्न भिन्न परिणाम मानने चाहिये। तभी तो उनके अनेक भिन्न कार्य दीख रहे हैं। अब श्रीविद्यानंद आचार्य कारणोंके भेदसे दर्शन आदिका भेद सिद्ध करते हैं।

दृङ्मोहविगमज्ञानावरणध्वंसवृत्तमुट्-
संक्षयात्मकहेतोश्च भेदस्तद्भिदि सिद्धयति ॥ ६५ ॥

कारणोंके भेदसे भी कार्यभेद माना जाता है। सम्यग्दर्शनका कारण तो दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम और क्षय होना है तथा सम्यग्ज्ञानका कारण ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम या क्षय होना है। एवं सम्यक्चारित्रका चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम, उपशम और क्षय होना कारण है। इन कर्मध्वंसरूप हेतुओंके भेदसे भी कार्योंमें भेद होना सिद्ध होजाता है। अतः उस कार्यभेद होनेमें कारणोंका भेद ज्ञापक हेतु है। कारक भी है। छन्दके दूसरे और तीसरे पादमें समास होजाना या सन्धि करदेना न्यायग्रंथोंके लिये सह्य है।

दर्शनमोहविगमज्ञानावरणध्वंसवृत्तमोहसंक्षयात्मका हेतवो दर्शनादीनां भेदमन्तरेण न हि परस्परं भिन्ना घटन्ते, येन तद्भेदाच्चेषां कथञ्चिद्भेदो न सिद्धयेत्।

दर्शनमोहनीय कर्मका दूर होना और ज्ञानावरण कर्मका विघट जाना तथा चारित्र मोहनीयका अच्छा नाश होजानास्वरूप भिन्न भिन्न अनेक कारक हेतु तो कार्यभूत दर्शन, ज्ञान, चारित्रोंके भेद बिना परस्परमें भिन्न नहीं घटित हो सकते हैं। जिससे कि उन हेतुओंके भेदसे उन कार्योंका कथञ्चित् भेद सिद्ध न होवे, अर्थात् कारणोंके भेदसे कार्यभेद होना अनिवार्य है।

चक्षुराद्यनेककारणेनैकेन रूपज्ञानेन व्यभिचारी कारणभेदो भिदि साध्यायामिति चेन्न, तस्यानेकस्वरूपत्वसिद्धेः। कथमन्यथा भिन्नयवादिबीजकारणा यवांकुरादयः सिध्येयुः परस्परभिन्नाः।

हेतुभेदसे कार्यभेदका अनुमान करनेमें दी गयी व्याप्तिके व्यभिचार दोषको कोई दिखलाता है कि चक्षु, आलोक, आत्मा, मन, पुण्य, पाप आदि अनेक कारणोंकरके एक रूपका ज्ञान होता है। यहां कारण अनेक हैं और कार्य एक है। अतः भेदको सिद्ध करनेमें जैनकी ओर (तरफ) से दिया गया कारणभेद हेतु व्यभिचारी है। आचार्य कहरहे हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिये। क्योंकि एक माने गये रूपज्ञानमें भी अनेकस्वभावपना सिद्ध है। रूपके ज्ञानमें नेत्रजन्यता स्वभाव न्यारा है और आत्मजन्यता धर्म पृथक् है, आदि। यदि ऐसा नहीं मानकर अन्य प्रकार मानोगे, यानी अनेक कारणजन्य एक कार्यमें भिन्न धर्म न होते तो भिन्न भिन्न जौ, गेहूं, चना आदिके बीजोंको कारण मानकर न्यारे न्यारे जौके अंकुर, गेहूंके अंकुर, जौकी बाल, गेहूंकी बाल, चनाके होरा आदि परस्पर में एक दूसरेसे भिन्न भिन्न कार्य भला कैसे सिद्ध होजाते ? बताओ। अर्थात् पृथ्वी, घाम, पानी, किसान, वायु, आदिकी समानता होते हुए भी अत्यल्प बीजके भेदसे बडे बडे वृक्षरूप कार्य भिन्न भिन्न बन जाते हैं। एक औषधि भिन्न भिन्न अनुपानोंके भेदसे नाना रोगोंका

प्रशम कर देती है। तैलके दीपकी कलिकाका और घृतदीपककी कलिकाका तथा बिजलीकी कलिकाका परिणाम (तासीर) न्यारा न्यारा है। अणु ब्रह्मचारिणी भी स्त्रीके चतुर्थ स्नानके अनन्तर अकस्मात् क्रोधी या काले पुरुषके दीख जानेपर गर्भस्थ जीवकी प्रकृति, आकृतिमें, अंतर आ जाता है। सेव (फल) खाकर पेडा खाना और पेडा खाकर सेव खाना इस कालव्युत्क्रमसे ही रासन-प्रत्यक्षरूप अर्थक्रियाओंमें अंतर आ जाता है। इन दृष्टांतोंसे सिद्ध है कि जितने कारणोंसे कार्य बना है, उन सबकी ओरसे कार्यमें भिन्न भिन्न स्वभाव आगये हैं। दालमें पडे हुए हल्दी, मिर्च, धनिया, जीरा, नमक ये बात, पित्त, कफके दोषोंको दूर करते हैं और पाचन शक्तिको बढाते हैं, स्वाद बदल देते हैं।

न चैककारणनिष्पाद्ये कार्यैकस्वरूपे कारणान्तरं प्रवर्तमानं सफलम्। सहकारित्वात्सफलमिति चेत्, किं पुनरिदं सहकारिकारणमनुपकारकमपेक्षणीयम्? तदुपादानस्योपकारकं तदिति चेन्न, तत्कारणत्वानुषंगात्, साक्षात्कार्ये व्याप्रियमाणमुपादानेन सह तत्करणशीलं हि सहकारि न पुनः कारणमुपकुर्वाणम्। तस्य कारणकारणत्वेनानुकूलकारणत्वादिति चेत्, तर्हि सहकारिसाध्यरूपतोपादानसाध्यरूपतायाः परा प्रसिद्धा कार्यस्येति न किञ्चिदनेककारणमेकस्वभावम्, येन हेतोर्व्यभिचारित्वाद्दर्शनादीनां स्वभावभेदो न सिध्येत्।

यदि कार्यमें एक ही स्वभाव माना जावे और वह एक कारणके द्वारा बना दिया जावे, तब तो उस कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाले अनेक दूसरे कारण विचारे सफल नहीं हो सकेंगे। भावार्थ— एक स्वभाववाला कार्य एक कारणसे ही बन जावेगा। फिर उसके लिये अनेक कारणोंके ढूंढनेकी क्या आवश्यकता है! किन्तु जैन, नैयायिक आदि सर्व ही वादियोंने प्रत्येक कार्यके उपादान कारण सहकारी कारण और उदासीन कारण आदि अनेक कारणोंसे उस एक कार्यकी उत्पत्ति मानी है। यदि यहां कोई यों कहे कि दूसरा कारण पहिले कारणका सहकारी है। अतः उपादानका सहायक हो जानेसे सफल है। ऐसा कहनेपर तो फिर हम जैन पूंछते हैं कि यह सहकारी कारण क्या कार्यके प्रति उपकार न करता हुआ ही कार्यको अपेक्षित हो रहा है? बताओ। यदि इसका उत्तर आप यह देवें कि वह सहकारीकारण उपादान कारणका सहायक है। साक्षात् कार्यका उपकारकर्ता नहीं है। एक स्वभाववाला कार्य तो केवल एक उपादानकारणसे बन जावेगा। " उपादानं सहकरोति इति सहकारी " जो उपादानकारणको सहायता (मदत) पहुंचाता है, सो यह उत्तर तो ठीक नहीं है। क्योंकि तब तो वह सहकारीकारण उपादान कारणका कारण बन जावेगा। कार्यका सहकारी कारण न बन सकेगा।

यदि आक्षेपक आप सहकारी कारणका यह अर्थ करें कि " उपादानेन सहकरोति कार्यं " जो उपादान कारणकी परम्परा न लेकर सीधा ही कार्यमें उपादान कारणके साथ व्यापार करता

है। अतः उपादानके साथ उस कार्यको करनेका स्वभाव होनेसे ही वह सहकारी कारण है। किंतु उपादान कारणका उपकार करनेवालेको हम फिर सहकारी कारण नहीं कहते हैं। वह उपादानका कारण तो कारणका कारण है। इस कारण कार्यका प्रतिकूल नहीं है। अतः अनुकूल कारण माना जाता है। असाधारण कारण नहीं है। ऐसा कहनेपर तब तो हमारा जैन सिद्धांत ही आ जाता है कि कार्यका सहकारी कारणसे बनाये जाने योग्यरूप स्वभाव न्यारा है और उपादान कारणसे साधा गया कार्यका स्वभाव निराला है। इस प्रकार अनेक कारणोंसे बना हुआ कार्य अनेक स्वभाववाला ही प्रसिद्ध है। एक स्वभाववाला नहीं है, जिससे कि हमारा कारणभेद हेतु व्यभिचारी हो जानेसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रों या इसी प्रकार क्षमा, ब्रह्मचर्य, मार्दव, आदिके स्वभावभेदोंको सिद्ध न कर पाता। भावार्थ—कारणभेद हेतु अव्यभिचारी है। वह स्वभावभेदको सिद्ध कर ही देता है। विशेष यह है कि जो कार्यरूप परिणमता है, उसको उपादान कहते हैं, जैसे रोटी बनानेमें चून। और जो उपादानके साथ रहकर कार्य करनेमें सहायक होता है, वह सहकारी कारण है। जैसे कि रोटी बनानेमें चकला, बेलना। दूसरे प्रकारका सहकारी कारण वह भी होता है, जो कि साक्षात् कार्य करनेमें तो सहायता न करे, किंतु कारणोंका कार्य करानेमें प्रयोजक हो जावे। जैसे कि एक मनुष्यसे रस्सीके द्वारा कुंएमेंसे घडा नहीं खिंचता है। दूसरे मनुष्यने आकर साथ लेजुको तो नहीं खींचा किंतु लेजु पकडे हुए उस मनुष्यको खींच लिया। ऐसी दशामें दूसरा प्रेरक मनुष्य भी सहकारी कारण माना जा सकता है। और भी कतिपय प्रकारके सहकारी कारण होते हैं। जैसे घडेके बनानेमें कुलाल कर्तारूपसे, दण्ड चाकको घुमानेसे, और चाक मिट्टीका गोल आकार करानेसे तथा डोरा घडेसे लगी हुयी नीचेकी मिट्टीको काटनेसे, सहकारी हैं और ठण्डा पानी पीने वालोंका पुण्य या घडेके नीचे दब पिचकर हानि उठानेवाले जीवोंका पाप भी अप्राप्यकारी होकर घट बनानेमें सहकारी हैं।

तेषां पूर्वस्य लाभेऽपि भाज्यत्वादुत्तरस्य च।
नैकान्तेनैकता युक्ता हर्षामर्षादिभेदवत् ॥ ६६ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्रको भिन्न सिद्ध करनेमें यह भी एक ज्ञापक हेतु है कि उन दर्शन आदि गुणोंके पूर्ववर्ती गुणका लाभ हो जानेपर भी उसका उत्तरवर्तीगुण भाज्य होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होवे तो पूर्ण सम्यग्ज्ञान होवे भी और न भी होवे। कुछ नियम नहीं। एवं दर्शन और ज्ञानके होते हुए भी पूर्णचारित्र होवे न भी होवे, यह भी भजनीय है। यदि एकान्त पनेसे तीनोंको एक माना जावेगा तो यह भजनीयपना युक्त न होगा। अतः हर्ष, क्रोध, पण्डिताई बल आदि परिणतियोंके भेदके समान दर्शन आदिकमें भी भेद है। एकान्तसे अभेद नहीं है।

न चेदमसिद्धं साधनम्—

भेदसिद्ध करनेमें दिया गया पूर्वके लाभ होनेपर भी उत्तरवर्ती गुणकी विद्यमानताका अनियमपनरूप हेतु असिद्ध नहीं है अर्थात् तीनों रत्नस्वरूप साध्य हेतु रहमाता है। अतः स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

तत्त्वश्रद्धानलाभे हि विशिष्टं श्रुतमाप्यते।
नावश्यं नापि तल्लाभे यथाख्यातममोहकम्॥ ६७॥

तत्त्वोंका श्रद्धान करना स्वरूप सम्यग्दर्शनके लाभ हो जानेपर निश्चयकर सर्वोत्तम द्वादशांग श्रुतज्ञान अवश्य प्राप्त हो ही जावे यह नियम नहीं है। और उस सम्यग्ज्ञानके लाभ हो जाने पर भी मोहनीयकर्मकी सत्तासे रहित और आनुषंगिक दोषोंसे रहित पूर्ण यथाख्यातचारित्र भी अवश्य प्राप्त हो ही जावे ऐसा नियम नहीं है। होवे भी और न भी होवे, यों विकल्पनीय है।

न ह्येवं विरुद्धधर्माध्यासेऽपि दर्शनादीनां सर्वथैकत्वं युक्तमतिप्रसंगात्। न च स्याद्वादिनः किञ्चिद्विरुद्धधर्माधिकरणं सर्वथैकमस्ति, तस्य कथञ्चिद्भिन्नरूपत्वव्यवस्थितेः। न च सत्त्वादयो धर्मा निर्बाधबोधोपदर्शिताः क्वचिदेकत्रापि विरुद्धा, येन विरुद्धधर्माधिकरणमेकं वस्तु परमार्थतः न सिध्येत्। अनुपलम्भसाधनत्वात् सर्वत्र विरोधस्यान्यथा स्वभावेनापि स्वभाववतो विरोधानुषंगात्। ततो न विरुद्धधर्माध्यासो व्यभिचारी।

इस प्रकार अनेक विरुद्ध धर्मोंके आधार होते हुए भी दर्शन आदिकोंको सर्वथा एकपना मानना युक्त नहीं है। यदि ऐसा मानोगे तो अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् रूपसहितपना और ज्ञानसहितपना इन विरुद्ध धर्मोंके होते हुए भी पुद्गल और जीवद्रव्य भी एक हो जावेंगे। तथा अनेक विरुद्ध कार्योंको करनेवाले घट, पट, खम्भ आदि भी एक पदार्थ बन जावेंगे। हम स्याद्वादियोंके यहां विरुद्ध धर्मोंका आधारभूत कोई भी पदार्थ सर्व प्रकारोंसे एक नहीं माना गया है। उसको कथञ्चित् भिन्नरूपपना ही युक्ति, आगमों द्वारा सिद्ध किया जाता है। एक अग्निमें भी यदि दाहकत्व, पाचकत्व आदि अनेक धर्म हैं तो वह भी भिन्न भिन्न अनेक स्वभाववाली है, सर्वथा एक नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि वस्तुतः विचारा जावे तो अग्निमें विद्यमान हो रहे दाहकत्व, पाचकत्व आदि धर्म विरुद्ध हैं ही नहीं, उनमें सहानवस्थान (एक साथ न रहना) रूप विरोधका लक्षण नहीं घटता है। रूपवत्त्व और ज्ञानवत्त्व तथा गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व एवं आकर्ष्यत्व और आकर्षकत्व आदि अवश्य विरुद्ध धर्म है। जो कि एक द्रव्यमें नहीं ठहरपाते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, आदि धर्म किसी एक पदार्थमें रहते हुये भी बाधारहित ज्ञानके द्वारा देखे जा रहे हैं। अतः विरुद्ध नहीं हैं। जीवद्रव्य तीनों कालमें विद्यमान है। वह अनेक गुणोंका निवास है। वह प्रतिक्षण परिणमन करता है जिससे कि विरुद्ध सरीखे दीखते हुए अनेक धर्मोंका अधिकरण एक वस्तु यथार्थरूपसे सिद्ध न होती, अर्थात् उक्त अनेक अविरुद्ध धर्मोंकी आधार मानी गयी

एक वस्तु सिद्ध हो जाती है। हां! विरुद्ध कतिपय धर्मोंका आधारभूत एक वस्तु परमार्थरूपसे सिद्ध न होगी। जो धर्म एक धर्मीमें कभी किसीके द्वारा नहीं देखे जाते हैं, इस अनुपलम्भ प्रमाणसे सभी स्थानोंमें विरोधकी सिद्धि की जाती है। यदि ऐसा न मानोगे अर्थात् दूसरे प्रकारसे कहोगे कि जिन धर्मोंका एक वस्तुमें साथ साथ उपलम्भ हो रहा है, उनका भी परस्परमें विरोध माना जावेगा, तब तो स्वभाववाली वस्तुका अपने स्वभावके साथ भी विरोध होनेका प्रसंग आजावेगा। तथा च अग्निका उष्णताके साथ और आत्माका ज्ञानके साथ भी विरोध ठन जावेगा, जो कि किसीको इष्ट नहीं है। तिस कारणसे अबतक सिद्ध होता है कि विरुद्ध गुणवाले गुणी द्रव्य जैसे भिन्न भिन्न होते हैं वैसे ही एक द्रव्यके गुण और पर्याय भी अनेक विरुद्ध स्वभावोंसे युक्त होते हुए भिन्न हैं। अतः विरुद्ध धर्मोंका अधिकरणत्व हेतु व्यभिचारी नहीं है, दर्शन आदिकोंके भेदको सिद्धकर ही देवेगा।

नन्वेवमुत्तरस्यापि लाभे पूर्वस्य भाज्यता ।
प्राप्ता ततो न तेषां स्यात्सह निर्वाणहेतुता ॥ ६८ ॥

यहां शंका है कि जैसे पूर्वकथित दर्शन गुणके होजानेपर भी ज्ञान और चारित्रके होजानेका कोई नियम नहीं है और दर्शन, ज्ञानके होजानेपर भी चारित्र होनेका नियम नहीं है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती गुणके लाभ होजानेपर भी तो पूर्वगुणकी भाज्यता प्राप्त होती है। क्योंकि जब वे तीनों गुण स्वतंत्र हैं, उनके स्वभाव एक दूसरेसे विरुद्ध हैं, ऐसी दशामें सम्भव है कि उत्तरवर्ती गुण होवे और पूर्वका गुण न होवे। देखा भी जाता है कि किसी जीवके अनेक वर्षोंसे सम्यग्ज्ञान है, किंतु उस जीवके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं हैं। एवं क्षायिक चारित्र भी होजाता है। फिर भी बारहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान नहीं है। अतः उस भाज्यताके कारण उक्त तीनों गुणोंको साथ रहकर मोक्षका मार्गपना प्राप्त नहीं होता है। जो विरुद्ध धर्मोंके आधार हैं, वे मिलकर भी एक कार्यमें अग्नि और जलके समान भला सहायक भी कैसे होंगे?।

नहि पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरमुत्तरस्य तु लाभे नियतः पूर्वलाभ इति युक्तम्, तद्विरुद्धधर्माध्यासस्याविशेषात्, उत्तरस्यापि लाभे पूर्वस्य भाज्यताप्राप्तेरित्यस्याभिमननम्।

आक्षेपकार कहता है कि पूर्व गुणके प्राप्त हो जानेपर आगेका गुण भजनीय है और उत्तरवर्ती गुणके लाभ हो जानेपर तो पूर्वगुणका लाभ होना नियमसे बद्ध है, यह जैनोंका कहना युक्तिसहित नहीं है। क्योंकि वह विरुद्ध धर्मोंसे आरूढ हो जाना तीनों गुणोंमें अन्तर रहित विद्यमान है। उत्तर गुणके लाभ हो जानेपर भी पहिले गुणको विकल्पसे रहनापन प्राप्त है। अर्थात् किसी ठाकुरके यहां हाथी रहनेपर घोडा होवे ही यह नियम नहीं, जब कि हाथी और घोडा अपनी स्वतंत्रताके साथ न्यारे न्यारे भी रहसकते हैं। किसी प्रभुके केवल हाथी है और किसीके यहां अकेला घोडा है। भले ही किसीके दोनों भी होवें। ग्रंथकार कहते हैं कि इस

प्रकार इस शंकाकारका गर्वसहित मानना है। भेद सिद्ध करनेमें हमारी ओरसे दिये गये विरुद्ध-धर्माध्यासरूप हेतुके प्रयोजक उत्तर गुणकी भाज्यताको बिगाड देनेका इस शंकाकारका अभिप्राय है।

तन्नोपादेयसम्भूतेरुपादानास्तितागतेः।
कटादिकार्यसंभूतेस्तदुपादानसत्त्ववत् ॥ ६९ ॥
उपादेयं हि चारित्रं पूर्वज्ञानस्य वीक्ष्यते।
तद्भावभावितादृष्टेस्तद्वज्ज्ञानदृशोर्मतम् ॥ ७० ॥

वह शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उपादानसे बनाये गये कार्यकी उत्पत्ति हो जानेसे उपादान कारणके अस्तित्वका ज्ञान हो जाता है। जैसे कि चटाई घर आदि कार्योंके पैदा हो जानेसे उनके उपादान कारण माने गये पटेरा, पलिंगा, तृण मिट्टी आदि कारणोंका सत्त्व प्रतीत हो जाता है। पूर्ववर्ती ज्ञानस्वरूप उपादान कारणका उपादेय कार्य चारित्र देखा जाता है। क्योंकि उस ज्ञानके होनेपर चारित्रका होना और ज्ञानके न होनेपर चारित्रका न होना यह अन्वय व्यतिरेक देखा जा रहा है। उसी प्रकार ज्ञान और दर्शनमें भी उपादान उपादेय भाव माना गया है। भावार्थ—पहिले दर्शन होगा तभी ज्ञान हो सकेगा। यहां अभेददृष्टि या निश्चय नयसे दर्शनको ज्ञानका और ज्ञानको चारित्रका उपादानकारण मान लिया है। क्योंकि चेतनस्वरूप आत्माके कोई भी गुण अन्यगुणोंमें प्रतिफलन होकर कार्य करते हैं। जैसे अस्तित्वगुण स्वतंत्र है। वह अपनेको तीनों कालोंमें स्थित रखता है। फिर भी अस्तित्वसे अभिन्न द्रव्यत्व, वस्तुत्व आदि गुणोंमें भी अस्तित्वका प्रतिफलन (छाया) है। अतः द्रव्यत्व आदिक भी अनादि अनंत कालतक सत्‌रूप स्थित रहेंगे। ऐसे ही द्रव्यत्व गुण स्वयं प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करता है। किंतु द्रव्यत्वसे अभिन्न अस्तित्व, अगुरुलघुत्व आदि गुणोंको भी प्रतिक्षण नवीन पर्यायें धारण करनी पडती हैं। साझेका काम ऐसा ही हुआ करता है। अतः द्रव्यदृष्टिसे ज्ञानको दर्शनका और चारित्रको ज्ञानका उपादेय ठहराया है। यदि प्रमाण दृष्टिसे विचार किया जावेगा तो दर्शन, ज्ञान, (चेतना) चारित्र इन तीन भिन्न गुणोंकी पूर्ववर्ती न्यारी न्यारी पर्यायें उपादान कारण हैं और उत्तरकालमें होनेवाली पर्यायें उपादेय हैं। हां, ज्ञानका दर्शन (सम्यक्त्व) गुण निमित्त कारण हो जाता है। उपादान कारण तो चेतना है और दर्शनका ज्ञान नैमित्तिक कार्य बन जाता है। जब कि द्रव्यत्वसे इन गुणोंमें उपादान उपोदय भाव है। तब पूर्वके लाभ होनेपर उत्तर गुणको ही भाज्यता प्राप्त होगी। किंतु उत्तरवर्ती गुणके हो जानेपर पूर्व गुणकी सत्ता, तो विकल्पसे नहीं मानी जा सकेगी। कारण होय और उत्तरवर्ती कार्य न भी होय। किंतु यदि उत्तरवर्ती कार्य है तो पूर्ववर्ती कारण अवश्य हो चुका है।

न हि तद्भावभावितायां दृष्टायामपि कस्यचित्तदुपादेयता नास्तीति युक्तम्, कटादिवत् सर्वस्यापि वीरणाद्युपादेयत्वाभावानुपपत्तेः न चोपादेयसम्भूतिरुपादानास्तितां न गमयति। कटादिसम्भूतेर्वीरणाद्यस्तित्वस्यागतिप्रसंगात्, येनोत्तरस्योपादेयस्य लाभे पूर्वलाभो नियतो न भवेत्।

उसके होनेपर होनापनको देखते सन्ते भी किसीको उसकी उपादेयता नहीं है, यह नहीं कहना चाहिये। अन्यथा चटाई, कपडा आदिके समान सर्व ही पदार्थोंको उशीर, तृण, तन्तु आदिके द्वारा उपादेयपनेके अभावका भी प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ— चटाई आदिके उपादान कारण अब तृण, पटेरे आदि न हो सकेंगे और ऐसे ही गृह बनानेमें ईंट, चूना और लड्डू बनानेमें बेसन, घी आदि उपादान कारण न हो सकेंगे। उपादेय कार्यकी उत्पत्ति हो जाना पूर्वकालके उपादान कारणकी अस्तिताको नहीं समझाती है, यह नहीं कह बैठना अर्थात् कार्यसे उपादान कारणका ज्ञान हो ही जाता है। यदि ऐसा न माना जावेगा तो चटाई, कुण्डल, आदिकी उत्पत्तिसे तिनका, सुवर्ण, आदि उपादान कारणोंके अस्तित्वका ज्ञान नहीं होना चाहिये था। यह अनिष्ट प्रसंग पडेगा। किन्तु ज्ञान हो ही जाता है, जिससे कि उत्तरवर्ती उपोदयके लाभ हो जानेपर पूर्ववर्ती उपादानका लाभ हो चुकना नियत न होता अर्थात् उपादेयाका लाभ हो जानेपर उपादानका लाभ नियत है। उक्त नियति करनेसे हमारा पहिला नियम करनेका सिद्धांत न बने, सो नहीं है। अर्थात् पूर्वका लाभ होनेपर उत्तरवर्ती भजनीय है।

तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणानामवश्यं कार्यवत्त्वाभावात्, समर्थस्य कारणस्य कार्यत्वमेवेति चेन्न, तस्येहाविवक्षितत्वात्। तद्विवक्षायां तु पूर्वस्य लाभे नोत्तरं भजनीयमुच्यते स्वयमविरोधात्।

इस पूर्व उत्तरवर्ती गुणोंका उपादान उपादेयभाव होजानेसे ही उपादानके लाभ होजानेपर उत्तरवर्ती उपादेयका लाभ होजाना नियत नहीं है। क्योंकि कारणोंको आवश्यकरूपसे कार्यसहित पनेका अभाव है। भावार्थ—कार्य तो कारणोंसे युक्त अवश्य होते ही हैं। किंतु संपूर्ण ही कारण अपने कार्योंको उत्पन्न कर ही देवें, ऐसा नियम नहीं है। सामग्रीके न मिलनेसे अनेक कारण कार्योंको विना उत्पन्न किये हुए ही यों ही पडे रहते हैं। अतः पहिले गुणके होनेपर उत्तरवर्ती कार्य होवें ही, ऐसा नियय नहीं है, तथा च उत्तरवर्तीगुण विकल्पनीय है। यदि यहां कोई यों कहे कि सामग्रीसे युक्त होरहा समर्थ कारण तो अवश्य ही कार्यवाला है। क्योंकि प्रतिबन्धकोंके अभावसे और संपूर्ण कारणपरिकरोंसे सहित समर्थ कारण अवश्य ही उत्तरक्षणमें कार्योंको पैदा करता है। तब तो पूर्व गुणकी भी उत्तरगुणके साथ समव्याप्ति बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकरणमें इस समर्थ कारणकी विवक्षा नहीं की

गयी है। हां, यदि उन समर्थ कारणोंकी विवक्षा की जावेगी, तब तो पूर्वके लाभ होजानेपर उत्तर-गुण विकल्पनीय नहीं कहा जाता है। ऐसी बात कहनेमें हमको स्वयं कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—समर्थ सम्यग्दर्शन नियमसे पूर्ण ज्ञानको पैदा कर देवेगा और समर्थज्ञान भी चारित्रको उत्पन्न करदेवेगा। ऐसी दशामें कार्यकारणोंकी दोनों ओरसे समव्याप्ति है। उस समय भेदके साधक भाज्यतारूप हेतुको हम उठा लेवेंगे।

इति दर्शनादीनां विरुद्धधर्माध्यासाविशेषेप्युपादानोपादेयभावादुत्तरं पूर्वास्तितानियतं न तु पूर्वमुत्तरास्तित्वगमकम्।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोंको विरुद्ध धर्मोंके अन्तररहित अधिकरण होते हुए भी सामान्यपनेसे उपादान उपादेय भावकी अपेक्षासे उत्तरवर्ती गुण पूर्वगुणके अस्तित्वके साथ नियत है। किंतु पूर्वका गुण तो उत्तरवर्तीके अस्तित्वका ज्ञापक नहीं है। भावार्थ—लोकमें अन्वय व्यतिरेकके द्वारा व्यक्तिरूपसे कार्यकारणभावका निर्णय होना अधिक प्रसिद्ध है। सामग्रीरूप समर्थ कारणका तो कहीं कहीं विचार किया जाता है। क्योंकि समर्थ कारणके उत्तरकालमें जब कि तत्क्षण कार्य हो ही जाता है, ऐसी दशामें कार्यको बनानेके लिये किस किस कारण की योजना करना चाहिये, ऐसा विचार एक प्रकारसे व्यर्थ पडता है।

ननूपादेयसम्भूतिरुपादानोपमर्दनात्।
दृष्टेति नोत्तरोभ्दूतौ पूर्वस्यास्तित्वसंगतिः॥ ७१॥

यहां अब न्यारी शंका है कि उपादेय कार्यकी उत्पत्ति तो उपादान कारणके मटियामेट (ध्वंस) हो जानेसे देखी गयी है, जैसे कि तैलके नष्ट हो जाने पर दीपकलिका या खातके ध्वंस हो जाने पर नाज, करब आदि अथवा कमलके उपयोगी कीचडके सर्वथा बिगड जानेपर कमल होता है। इस प्रकार उपादेय अवस्थामें उपादानका जब समूलचूल नाश हो चुका तो उत्तर गुणकी उत्पत्ति हो जानेपर उपादान कारण कहे जारहे पूर्व गुणके अस्तित्वका परिज्ञान आप जैन नहीं कर सकेंगे। क्योंकि वह पदार्थ ही नहीं रहा। "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" ऐसा समंतभद्र वचन है। उपादान कारणका पूर्व आकारसे क्षय हो जाना ही कार्यकी उत्पत्ति है।

सत्यप्युपादानोपादेयभावे दर्शनादीनां नोपादेयस्य सम्भवः पूर्वस्यास्तितां स्वकाले गमयति, तदुपमर्दनेन तदुभ्दूतेः। अन्यथोत्तरप्रदीपज्वालादेरस्तित्वप्रसक्तिः तथा च कुतस्तत्कार्यकारणभावः समानकालत्वात् सव्येतरगोविषाणवदित्यस्याकूतम्।

कारिकाका भाष्य यों है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोंका जैनोंके अनुसार उपादान उपादेयभाव होते हुए भी उपादेय कार्यका उत्पन्न हो जाना पूर्वकारणकी सत्ताको अपने कालमें

नहीं समझा सकता है। क्योंकि उस कारणके पटरा (चौपट) हो जानेसे वह कार्य उत्पन्न होता है। उपादानके क्षयको आपने कार्यकी उत्पत्ति माना है " कार्योत्पादः क्षयो हेतोः " उपादानका क्षय ही उपादेयका उत्पाद है। यदि ऐसा न मानकर आप दूसरे प्रकारसे मानोगे तो उपादेयके समयमें आगे आगे होनेवाली पहिली अनेक पर्यायोंका सत्त्व मानना पडेगा। दीपककी पहिली कलिका दूसरीको और दूसरी तीसरीको उत्पन्न कर रही हैं। यदि दूसरी कलिकाके उत्पन्न कर चुकनेपर पहिली कलिकाका नाश और तीसरी कलिकाके उत्पन्न हो जानेपर दूसरी लौका नाश न हो गया होता तो एक दीपककी एक समयमें दो, तीन कलिकाएं दीख जाती। इस प्रकार हजारों कलिकाओंके दीखनेका प्रसंग आता है। ऐसे ही एक ही सुवर्णके क्रमसे केयूर, कुण्डल, कडे बन जानेपर पहिली अवस्थाओंका सत्त्व मानना पडेगा। और तैसा होजानेपर समान कालवाले उन परिणामोंका कार्यकारणभाव भी कैसे होगा ? जैसे कि गौके एक समयमें उत्पन्न हुए सीधे और डेरे सींगोंमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं है, वैसे ही एक समयमें विद्यमान होरहीं अनेक दीपकलिकाओंका या अग्निकी ज्वालाओं अथवा स्थास, कोष, कुशूल, घट, आदिका उपादान उपादेय भाव कैसे बन सकता है ? कथमपि नहीं। यहां इस प्रकार इस शंकाकारकी चेष्टा हो रही है कि ज्ञानकालमें दर्शन नहीं है और चारित्रके कालमें ज्ञान, दर्शन दोनों ही नहीं हैं। फिर भाज्यपना कैसे ? बताओ। अब आचार्य महोदय समझाते हैं।

सत्यं कथञ्चिदिष्टत्वात्प्राङ्नाशस्योत्तरोद्भवे।
सर्वथा तु न तन्नाशः कार्योत्पत्तिविरोधतः॥ ७२॥
ज्ञानोत्पत्तौ हि सद्दृष्टिस्तद्विशिष्टोपजायते।
पूर्वाविशिष्टरूपेण नश्यतीति सुनिश्चितम्॥ ७३॥
चारित्रोत्पत्तिकाले च पूर्वदृग्ज्ञानयोश्च्युतिः।
चर्याविशिष्टयोर्भूतिस्तत्सकृत्त्रयसम्भवः॥ ७४॥

यह शंकाकारका कहना किसी अपेक्षासे ठीक है, देखो, उत्तरपर्यायके उत्पन्न हो जानेपर पहिली पर्यायका कथञ्चित् नाश हो जाना हम जैनोंको अभीष्ट है। किन्तु उस पहिली पर्यायका अन्वयसहित सर्वथा नाश हो जाना नहीं बनता है। क्योंकि ऐसे तो कार्यकी उत्पत्ति होनेका ही विरोध है। भित्ति होनेपर ही चित्र ठहर सकता है। गङ्गाकी धारन टूटनेसे ही गंगा नदी बहती है। हम कहते हैं कि ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर उस ज्ञानसे विशिष्ट नवीन सम्यग्दर्शन विषय उत्पन्न हो जाता है और ज्ञानसे विशिष्ट नहीं यानी रहित अपने पहिले स्वरूपसे सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तो सत्के प्राण हैं, यह बात प्रमाणोंसे श्रीसमन्तभद्र आदि आचार्योंने अच्छी तरह निर्णीत कर दी है। ऐसे ही चारित्रके उत्पन्न होते समय पहिले चारित्ररहित

हो रहे दर्शन ज्ञानरूप परिणामोंका ध्वंस हो गया है। और चारित्रसे सहित होरहे ज्ञान, दर्शन पर्यायोंकी उत्पत्ति हो गयी है। इस कारण एक समयमें भी उन तीनों गुणोंका विद्यमान रहना संभव है। अतः पूर्वके लाभ होनेपर उत्तरकी सत्ताका विकल्प होना रूप अखण्ड सिद्धांत सिद्ध हुआ।

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनम्, तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत्।

आत्मद्रव्यकी सम्यग्दर्शन होना एक अभिन्न परिणति है। उस परिणतिसे परिणमन करता हुआ आत्मा ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वह सम्यग्दर्शन तो आत्माके सम्यग्दर्शनविशिष्ट सम्यग्ज्ञानरूप परिणामकी उत्पत्तिका उपादान कारण है। जैसे कुशूल अवस्थासे युक्त मिट्टी ही घटका उपादान कारण है। बिना अन्वेता द्रव्यके केवल पूर्ववर्ती पर्याय उत्तर पर्यायका उपादान नहीं हो पाती है और पर्यायोंसे कल्पित किया गया अकेला जीवद्रव्य भी ज्ञान, दर्शन, आदिका सर्व प्रकारसे उपादान कारण नहीं है। ऐसे केवल कुशूल पर्याय या अकेली मिट्टीको घटके उपादान-कारण हो जानेका योग नहीं है। किंतु कुशूल अवस्थासे सहित हो रही मिट्टी उपादान कारण है। जैसे कछुवेके बाल, आकाशका फूल आदि असत् पदार्थ हैं, वैसे ही बौद्धोंकी मानी हुयी द्रव्यरहित पूर्व उत्तर पर्यायें और सांख्योंका माना हुआ पर्यायोंसे रहित आत्मद्रव्य भी असत् पदार्थ है, कोई वस्तुभूत नहीं है।

तत्र नश्यत्येव दर्शनपरिणामे विशिष्टज्ञानात्मतयात्मा परिणमते, विशिष्टज्ञानासहचारितेन रूपेण दर्शनस्य विनाशात्तत्सहचरितेन रूपेणोत्पादात्, अन्यथा विशिष्टज्ञानसहचारितरूपतयोत्पत्तिविरोधात् पूर्ववत्।

इस प्रकरणमें यह कहना है कि पहिली रिक्त दर्शन पर्यायके नाश होजानेपर ही सम्यक्त्व करके विशिष्ट होरहे ज्ञानस्वरूपसे आत्मा परिणमन करता है। पूर्ण श्रुतज्ञान या केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके पहिले सम्यग्दर्शन गुण अकेला था। विशिष्ट ज्ञान होजानेपर तो विशिष्ट ज्ञानके साथ न रहनेवाले स्वरूप करके सम्यग्दर्शनका नाश होजाता है और विशिष्ट ज्ञानके साथ रहनेवाले स्वभाव करके दर्शनका उत्पाद होजाता है। अन्यथा यानी यदि पहिले असहचारीरूपसे दर्शनका नाश न होगया होता तो विशिष्ट ज्ञानके सहचारीपन स्वभाव करके दर्शनकी उत्पत्ति होनेका विरोध होजाता। जैसे कि विशिष्टज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले दर्शनगुणकी असंख्य पर्यायें ज्ञानसे असहचरपने करके उत्पन्न हो चुकी हैं। यदि साथ न रहनेपनका नाश न मानाजावे तो पूर्वकीसी दर्शनकी ज्ञानरहित परिणतियां ही होती रहेंगी। ज्ञानसहित परिणति होजानेका अवसर न मिलेगा। एक समयमें सहचरित और असहचरितपनेसे परिणतियां हो नहीं सकतीं। क्योंकि विरोध दोष है।

तथा दर्शनज्ञानपरिणतो जीवो दर्शनज्ञाने, ते चारित्रस्योपादानम्, पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतेर्घटपरिणमनसमर्थपर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य घटोपादानवत्त्ववत्, तत्र नश्यतोरेव दर्शनज्ञानपरिणामयोरात्मा चारित्रपरिणाममियर्ति चारित्रासहचरितेन रूपेण तयोर्विनाशाच्चारित्रसहचरितेनोत्पादात्, अन्यथा पूर्ववच्चारित्रासहचरितरूपत्वप्रसङ्गात्।

इस ही प्रकार दर्शन और ज्ञान पर्यायोंसे परिणमन करता हुआ संसारी जीव द्रव्य ही दर्शनज्ञानरूप है। वे दर्शन और ज्ञानगुण दोनों उत्तरवर्ती चारित्र गुणके उपादान कारण हैं। विशेष पर्यायोंसे अभेद रखता हुआ द्रव्य ही उपादानरूपपनेसे प्रतीत होरहा है। जैसे कि घटरूप पर्यायको बनानेके लिये समर्थ शिवक आदि पर्यायें हैं। उन शिवक, छत्र, स्थास, कोष और कुशूल पर्यायोंसे तदात्मक होरहा मृत्तिका द्रव्य ही घटका उपादान कारण माना गया है। यदि पूर्वसमयवर्ती अकेली पर्यायको ही उपादान कारण कहते तो द्रव्यके अन्वयरहित उस पर्यायके सर्वथा नाश होजानेसे कार्यकालमें उपादानकारणका दर्शन नहीं हो सकता था। किंतु जैन सिद्धांतके अनुसार प्रत्येक पर्यायमें द्रव्यका अन्वय लग रहा है। जैसे कि मोतीकी मालामें पिरोये हुए डोरेका अन्वय ओतपोत होरहा है। अकेला द्रव्य भी उपादान नहीं है। अन्यथा सर्व ही पर्यायें युगपत् होजानी चाहिये और केवल द्रव्य कारण होकर पर्यायें भी क्यों धारण करेगा ? अतः पर्याययुक्त द्रव्य उपादान है। देखो ! पटज्ञानके उत्तर कालमें पटज्ञान उत्पन्न हुआ। यहां चेतनापरिणतिके अनुसार घटज्ञान उपादान कारण है। वह ज्ञानपनेसे नष्ट नहीं हुआ है। किंतु ज्ञानमें घटकी विषयिता नष्ट होगयी है और पटकी विषयिता उत्पन्न होगयी है। ज्ञानकी सत्ता परिणमन करती हुयी सर्वदा विद्यमान है। जैसे सूक्ष्म रूपसे परिणमन करती हुयी कलिकाके प्रकाशमें घटको दूर कर पट रखदिया जाता है। वहां प्रकाश्य बदल गया है। प्रकाशक वही है। इस प्रकरणमें नाशको प्राप्त होते हुए ही दर्शन और ज्ञान पर्यायोंका परिणामी आत्मा ही चारित्र पर्यायको प्राप्त होता है। तब चारित्रगुणके असहचारी स्वभावसे उन दोनों दर्शन और ज्ञानका नाश हो चुका है और चारित्रगुणके साथ रहनेपनसे दर्शन, ज्ञानका उत्पाद हो गया है। यदि ऐसा उत्पाद, विनाश न स्वीकार कर अन्य प्रकारोंसे माना जावेगा तो पहिली अवस्थाके समान चारित्र गुणके प्रगट होनेपर भी दर्शन, ज्ञान गुणोंको चारित्रके साथ न रहने स्वरूपका प्रसंग हो जावेगा जो कि इष्ट नहीं है। तभी तो चारित्रके समय तीनों गुण माने गये हैं।

इति कथञ्चित्पूर्वरूपविनाशस्योत्तरपरिणामोत्पत्त्यविशिष्टत्वात् सत्यमुपादानोपमर्देनेनोपादेयस्य भवनम्। न चैवं सकृद्दर्शनादित्रयस्य सम्भवो विरुध्यते चारित्रकाले दर्शनज्ञानयोः सर्वथा विनाशाभावात्।

इस प्रकार पूर्वपर्यायका कथञ्चित् नाश हो जाना ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति है। विशेष अंतर नहीं है। इस कारण उपादान कारणके मटियामेट हो जानेसे उपादेयकी उत्पत्ति होना यह सिद्धांत

भी ठीक बैठ जाता है। इस प्रकार माननेसे उपादान उपादेयरूपेस निश्चित किये गये दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों गुणोंके एक समयमें उपज जानेका विरोध है, सो नहीं समझना। क्योंकि चारित्र उत्पन्न होनेके समय उपादान कारण कहे गये दर्शन और ज्ञानका सर्व प्रकारोंसे नाश नहीं हुआ है। केवल चारित्रके साथ न रहनेपनका ही नाश हुआ है। उपादान कारण द्रव्य तो अक्षुण्ण विद्यमान है। अतः तीनों गुण एक समयमें भी पाये जा सकते हैं। घटके दृष्टांतमें भी केवल कुशूल अवस्थाका नाश होकर घट पर्यायसे युक्त मृत्तिका बन गयी है तभी तो पकानेसे पहिले मिट्टीकी शिवकसे लेकर घट तककी पर्यायोंमें वैसेके वैसे ही मृत्तिकाके स्पर्श, रूप, रस आदिक बने रहते हैं। सोने चांदीके घडेमें तादृश रहते हैं। हां! रहित सहितपनेका अंतर पड जाता है।

एतेन सकृद्दर्शनज्ञानद्वयसम्भवोपि क्वचिन्न विरुध्यते इत्युक्तं वेदितव्यम्, विशिष्टज्ञानकार्यस्य दर्शनस्य सर्वथा विनाशानुपपत्तेः। कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वविरोधात् प्रलीनतमवत्। ततः कार्योत्पत्तेरयोगाद्व्यवधानासम्भवात्।

उक्त कथनसे दर्शन और ज्ञान इन दोनोंका एक समयमें सम्भव होना भी कहीं भी विरुद्ध नहीं होता है, यह भी कहा गया समझ लेना चाहिये। विशिष्टज्ञान है कार्य जिसका ऐसे पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शनका सर्व प्रकारसे नाश हो जाना युक्तिसिद्ध नहीं है। जो कारण पूर्वसमयमें ही सर्वथा नष्ट हो चुकेगा वह उत्तरवर्ती कार्यरूप परिणत भला कैसे होगा!। जो कारण कार्य होनेके समयमें प्राप्त नहीं हो रहा है, उसको कारणपनेका विरोध है। भले ही वह कार्यके एक समय पहिले जीवित था। किंतु "मरे हुए बाबा गुड नहीं खाते" इस लोकन्यायके अनुसार ध्वस्त पदार्थ उसी प्रकार कार्यकारी नहीं हैं, जैसे कि सहस्रों वर्ष प्रथम नष्ट हो चुका कारण इस वर्तमानके प्रकृतकार्यको नहीं करपाता है। वैसे ही एक समय प्रथम प्रलयको प्राप्त हो चुका कारण भी कार्यको न कर सकेगा। कई दिन प्रथम मर चुका बुड्ढा जैसे गुड नहीं खाता है वैसे ही एक क्षण पहिले मर चुका वृद्ध भी गुड नहीं खा सकता है। कारणोंकी सत्ता ही कार्यको करती है। कारणोंका ध्वंस कार्यको नहीं करता है। जो कारण कार्यके समय विद्यमान नहीं हैं उससे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। विवाहकी पाणि-ग्रहण क्रियाके समय दूल्हाका रहना आवश्यक है। कारणके विद्यमान रहनेके अतिरिक्त कार्यकी उत्पत्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। जैनसिद्धांतमें पर्यायसहित द्रव्यको उपादान कारण माना है। कार्यकालमें द्रव्य विद्यमान है। परिणतियां बदलती रहती हैं।

नन्वत्र क्षायिकी दृष्टिर्ज्ञानोत्पत्तौ न नश्यति।
तदपर्यन्ततानेरित्यसिद्धान्तविद्वचः ॥ ७५ ॥

यहां शंका है कि आप जैन यदि ज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेपर पूर्वदर्शन पर्यायका नाश होना मानते हो तो बतलाओ! इसका उपाय क्या है कि क्षायिकसम्यग्दर्शनके पश्चात् विशिष्ट ज्ञानके

उत्पन्न होनेपर तो पहिला क्षायिकसम्यक्त्व नष्ट नहीं होता है। क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वको अविनाशी अनंत माना गया है। नष्ट हो जानेसे तो उस क्षायिकसम्यक्त्वके अनंतत्वकी हानि होती है, जो कि इष्ट नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार शंकाकारके वचन तो जैनसिद्धांतको नहीं समझकर कहनेवालेके कहना चाहिये।

क्षायिकदर्शनं ज्ञानोत्पत्तौ न नश्यत्येवानन्तत्वात् क्षायिकज्ञानवत्, अन्यथा तदपर्यन्तत्वस्यागमोक्तस्य हानिप्रसंगात्। ततो न दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानचारित्रयोर्वा कथञ्चिदुपादानोपादेयता युक्ता, इति ब्रुवाणो न सिद्धान्तवेदी ॥

वार्त्तिकका विवरण यों है कि शंकाकारका अनुमान है कि विशिष्टज्ञान या केवलज्ञानकी उत्पत्ति होजानेपर भी पहिला क्षायिकसम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होपाता है। क्योंकि वह अनन्तकालतक रहनेवाला है। जैसे कि ज्ञानावरणकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ केवलज्ञान अनन्तकालतक रहता है। अतः अविनाशी है। यदि आप जैन ऐसा न मानकर अन्य प्रकारसे क्षायिकसम्यक्त्वका विनाश होना मानलोगे तो आपके आगममें कही हुयी क्षायिकसम्यक्त्वके अनन्तताकी हानिका प्रसंग होगा। तिस कारण दर्शन और ज्ञानका तथा ज्ञान और चारित्रका किसी भी अपेक्षासे उपादान उपादेय भाव मानना युक्त नहीं है। क्योंकि पूर्वगुणको उपादान कारण माननेसे ही यह नाश करानेवाली रार (झगडा) खडी हुयी है। इस प्रकार कहनेवाला शंकाकार तो जैन सिद्धान्तके मर्मको नहीं जान रहा है। यदि जैनसिद्धान्तको जान लेता तो ऐसा कुचोद्य नहीं कर पाता। अब इसका समाधान वार्त्तिक द्वारा सुनिये, समझिये।

सिद्धान्ते क्षायिकत्वेन तदपर्यन्ततोक्तितः।
सर्वथा तदविध्वंसे कौटस्थ्यस्य प्रसङ्गतः ॥ ७६ ॥

जैन सिद्धान्तमें उस क्षायिक सम्यग्दर्शनको अनन्तकालतक अविनाशी कहा है। यह कथन क्षयसे होनेवाले या क्षयके होनेपनेमें है। भावार्थ—एक बार दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय हो जानेसे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होगया। फिर बार बार दर्शनमोहनीय कर्मका टण्टा नहीं रहता है। एक बारका हुआ क्षय अनन्तकालतक स्वाभाविक परिणमनोंमें उपयोगी है। हम द्रव्य या गुणको अपरिणामी नहीं मानते हैं। यदि उन क्षायिक गुणोंका सर्व ही प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे ध्वंस होना नहीं माना जावेगा तो गुणोंको कूटस्थ नित्यपनेका प्रसंग होता है। और कूटस्थ पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं होने पाती है। अतः अश्वविषाणके समान वह अवस्तु है।

तथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति हीयते।
प्रतिक्षणमतो भावः क्षायिकोऽपि त्रिलक्षणः ॥ ७७ ॥

तथा दूसरी बात यह है कि यदि पदार्थोंका किसी भी प्रकारसे नाशरूप परिवर्तन होना नहीं माना जावेगा तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे सहित सत् द्रव्य होता है, इस सिद्धांतकी हानि हो जावेगी। इस कारण कर्मोंके क्षयसे होनेवाले भाव भी प्रत्येक समयमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन लक्षणवाले हैं, तभी तो वे सत् पदार्थ हैं। क्षायिकभाव अनंतकालतक वहका वही रहता है, इसका अर्थ है कि वैसा ही रहता है। आकाश, सुमेरुपर्वत, सूर्य, चंद्रमा, सुवर्ण आदि दृढ पदार्थ भी प्रतिसमयमें पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण और द्रव्यपनेसे स्थिरता इन तीन लक्षणोंको लिये हुए हैं। परमपूज्य सिद्ध भगवान् और उनके अनंतसंख्यावाले गुण भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे युक्त हैं। क्षायिकगुणोंमें अब किसी अन्य विजातीय कारणकी आवश्यकता नहीं रही है। केवल अपने स्वभावोंसे ही उत्पाद, व्यय करते हुए वे अनंतकालतक ठहरे रहेंगे, द्रव्य परिणामी होता है। ऐसा जैनसिद्धांत है।

ननु च पूर्वसमयोपाधितया क्षायिकस्य भावस्य विनाशादुत्तरसमयोपाधितयोत्पादात्स्वस्वभावेन सदा स्थानात्त्रिलक्षणत्वोपपत्तेः, न सिद्धांतमनवबुध्य क्षायिकदर्शनस्य ज्ञानकाले स्थितिं ब्रूते येन तथा वचोऽसिद्धांतवेदिनः स्यादिति चेत्—

अब फिर शंकाकार कहता है कि मैंने जैनसिद्धान्तको जानकर ही शंका की थी। मैं अज्ञ नहीं हूं। जैनियोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके सिद्धान्तको जानता हूं। क्षायिक सम्यग्दर्शनके किसी प्रकारसे नष्ट न होते हुए भी आप जैनोंकी विलक्षणता बन जाती है। व्यवहार काल नष्ट होता है और उत्पन्न होता है। कालमें रहनेवाला क्षायिकगुण नाशशील नहीं है। हां! पूर्व समयमें रहनेवाला क्षायिकगुण दूसरे समयमें भी रहनेवाला वही नित्य क्षायिकगुण है। अन्तर इतना ही है कि क्षायिकगुणके पूर्वसमयमें रहनेरूप विशेषत्वणसे युक्त भावका पर्यायरूपसे नाश हो गया है, और उत्तर समयमें रहनारूप विशेषणकरके उत्पाद हो गया है। तथा अपने स्वभाव करके क्षायिकगुण सर्वदा स्थित रहता है। इस कारण त्रिलक्षणपनेकी सिद्धि हो गयी। देवदत्तका रुपया जिनदत्तके पास आगया। वहां रुपया वही है। हां! स्वामित्वसम्बन्धका उत्पाद विनाश हो गया है। अतः जैन सिद्धान्तके तत्त्वको न समझकर यह मैं क्षायिक सम्यग्दर्शनकी ज्ञानके समयमें अक्षुण्णस्थितिको नहीं कहरहा हूं जिससे कि उस प्रकार पूर्वोक्त शंकारूपी वचन मुझ सिद्धान्तको न जाननेवालेके होते। भावार्थ—त्रिलक्षणताकी सिद्धि होते हुए भी ज्ञानके उत्पन्न होजानेपर क्षायिक सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता है। भला ऐसी दशामें जैनोंका माना गया दर्शन, ज्ञानका या ज्ञान, चारित्रका उपादान उपादेयपन कैसे सिद्ध होगा? यह मेरी शंका खडी हुयी है। आप जैन इसका उत्तर दीजिये! टालिये नहीं, आचार्य बोलते हैं कि यदि शंकाकार ऐसा कहेगा तो—

पूर्वोत्तरक्षणोपाधिस्वभावक्षयजन्मनोः।
क्षायिकत्वेनावस्थाने स यथैव त्रिलक्षणः॥ ७८॥

तथा हेत्वन्तरोन्मुक्तयुक्तरूपेण विच्युतौ ।
जातौ च क्षायिकत्वेन स्थितौ किमु न तादृशः ॥ ७९ ॥

पूर्व समयमें रहना स्वभावरूप विशेषणका नाश और उत्तरक्षणमें रहजाना स्वभावरूप विशेषणका उत्पाद तथा प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हो गये–पनसे सर्वदा स्थित रहना, इस प्रकार तीन लक्षण जैसे ही उन क्षायिक भावोंके आप शंकाकार मानते हैं, वैसे ही अन्य कारणोंसे रहितपने स्वभावसे नाश होना और दूसरे कारणोंसे सहितपने करके उत्पत्ति तथा क्षायिकपनेसे स्थिति रहना माननेपर क्यों नहीं वैसा तीन लक्षणपना माना जाता है ?। अर्थात् व्यवहारकालरूप विशेषणोंका जैसे उत्पाद, विनाश माना जाता है, वैसे ही क्षायिकदर्शनमें विशिष्ट ज्ञानके असहचारीपनका नाश और विशिष्ट ज्ञानके सहचारीपनका उत्पाद तथा अपने स्वरूपलाभका कारण क्षायिकपने करके स्थित रहना, ये तीनों स्वभाव भी मानने चाहिये। एक एक द्रव्यमें या उसके प्रत्येक गुणमें अथवा उसकी पर्यायोंमें भी अनेक प्रकारोंसे त्रिलक्षणता मानी गयी है। दूधका दही बन जाता है, यहां पतले या नरमपनका नाश कठिनताका उत्पाद और स्पर्शकी स्थिति है एवं मधुरताका नाश, खट्टापनका उत्पाद, स्वादु रसकी स्थिति है। बलोत्पादक शक्तिका नाश है। कफको पैदा करने वाले स्वभावका उत्पाद है। गोरसकी शक्ति स्थित है। उष्णता प्रकृति (तासीर) का नाश, शीतल प्रकृति (तासीर) का उत्पाद, समान प्रकृतिपनेकी स्थिति है। दूध, दहीमें अनेक स्वभाव होनेसे ही यह व्यवस्था मानी गयी है। पर्यायोंमें भी अनेक स्वभाव होते हैं। कब किस बहिरंग निमित्तसे और अंतरङ्ग अगुरुलघु गुणके निमित्तसे तथा अनेक अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकतासे कौन स्वभाव उत्पन्न होते हैं और कौन नष्ट होते हैं तथा कौन स्थिर रहते हैं, इस जैनसिद्धांतको स्याद्वादी ही समझ सकता है, अन्य जन इसके मर्मको नहीं पहुंच पाते हैं।

क्षायिकदर्शनं तावन्मुक्तेर्हेतुस्ततो हेत्वन्तरं विशिष्टं ज्ञानं चारित्रं च, तदुन्मुक्तरूपेण तस्य नाशे तद्युक्तरूपेण जन्मनि क्षायिकत्वेन स्थाने त्रिलक्षणत्वं भवत्येव, तथा क्षायिकदर्शनज्ञानद्वयस्य मुक्तिहेतोर्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्य वा हेत्वन्तरं चारित्रमघातित्रयनिर्जराकारी क्रियाविशेषः कालादिविशेषश्च, तेनोन्मुक्तया प्राक्तन्या युक्तरूपया चोत्तरया नाशे जन्मनि च क्षायिकत्वेन स्थाने वा तस्य त्रिलक्षणत्वमनेन व्याख्यातमिति क्षायिको भावस्त्रिलक्षणः सिद्धः।

उन तीनों रत्नोंमें दर्शनमोहनीयके क्षयसे उत्पन्न हुआ पहिला क्षायिकसम्यग्दर्शन तो मुक्तिका कारण है। उससे अतिरिक्त मुक्तिके दूसरे कारण पूर्णज्ञान और यथाख्यात चारित्र है। अकेले क्षायिक सम्यग्दर्शनके अनन्तर यदि ज्ञान और चारित्र उत्पन्न हुए, तब उस सम्यग्दर्शन गुणका

पहिलेके उस ज्ञानचारित्र-रहितपने स्वभाव करके नाश हुआ और इन ज्ञान दर्शनसे सहितपने-करके दर्शनकी उत्तरपर्यायरूप क्षायिकसम्यक्त्वका उत्पाद हुआ तथा दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआपन स्थित रहा, ऐसी दशामें सम्यक्त्वकी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणता हो जाती ही है। उसी प्रकार मुक्तिके कारण माने गये क्षायिकसम्यक्त्व और पूर्णज्ञान इन दोनों हेतुओंको तीसरे हेतु चारित्रकी आकांक्षा है। अतः चारित्रगुण उत्पन्न होनेके अनंतर उत्तरवर्ती कालमें पहिले चारित्ररहित स्वरूपसे दर्शन और ज्ञानका नाश हुआ और पूर्णचारित्र सहितपनेसे सम्यक्त्व और ज्ञानका उत्पाद हुआ तथा मोहनीय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे जन्यपना स्वभाव स्थिर रहा। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थानके आदि समय सम्बन्धी सम्यक्त्व और ज्ञान गुणोंमें भी त्रिलक्षणता आगयी। एवंच मुक्तिके कारण क्षायिक दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। इन तीनोंको भी अन्य दो हेतु-ओंकी अपेक्षा है। उनमें पहिला तो तीन अघातिकर्मोंकी निर्जरा करनेवाला अपरिस्पन्द-क्रियारूप आत्माका विशेष परिणाम व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्ल ध्यान है, जो कि चारित्ररूप है और दूसरा सहायक इन काल, कर्मभूमि, आर्यक्षेत्र, आयुष्य कर्मका झड जाना, आदिका समुदाय विशेष है। संहरणकी अपेक्षा अन्यकाल अन्य क्षेत्रोंसे भी मोक्ष होती है। अतः चौदहवें गुणस्थानमें उपान्त्य समयके क्षायिकसम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंका परिणमन चौथे शुक्लध्यान और काल आदि विशेषोंसे रहित था। किंतु चौदहवें गुणस्थानके अंतमें चतुर्थ शुक्लध्यान और काल आदि विशेषसे रहितपने स्वभाव करके नाश हुआ और रत्नत्रयका उत्तरवर्ती क्रियाविशेष और काल आदि विशेषसहितपनेसे उत्पाद हुआ तथा दर्शनमोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोहनीयके क्षयसे जन्यपने करके स्थिति रही। अतः उस क्षायिकरत्नोंकी त्रिलक्षणताका भी इस उक्त कथनके द्वारा व्याख्यान कर दिया गया है। इस प्रकार क्षायिक भाव भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीन लक्षणोंसे सहित होकर सद्रूप सिद्ध हो चुका। सिद्ध भगवानोंमें भी समयकी उपाधि अनुसार और ज्ञेयोंकी परिणतिकी अपेक्षासे अगुरुलघु गुण द्वारा त्रिलक्षणता सर्वदा विद्यमान है।

ननु तस्य हेत्वन्तरेणोन्मुक्तताहेत्वन्तरस्य प्रागभाव एव, तेन युक्तता तदुत्पाद एव, न चान्यस्याभावोत्पादौ क्षायिकस्य युक्तौ, येनैवं त्रिलक्षणता स्यात्, इति चेत्, तर्हि पूर्वोत्तरसमययोस्तदुपाधिभूतयोर्नाशोत्पादौ कथं तस्य स्यातां यतोऽसौ स्वयं स्थितोऽपि सर्वतदपेक्षया त्रिलक्षणः स्यादिति कौटस्थ्यमायातम्। तथा च सिद्धांतविरोधः परमतप्रवेशात्।

यहां शंका है कि उस क्षायिक सम्यक्त्वका दूसरे अन्य हेतुओंसे रहितपना तो अन्य हेतुओंका प्रागभाव रूप है अर्थात् अकेले क्षायिक सम्यग्दर्शनके समय ज्ञान नहीं है। यानी ज्ञानका प्रागभाव है। थोडी देर पीछे ज्ञान होनेवाला है। और उन हेत्वन्तरोंसे सहितपना उन दूसरे हेतुओंका उत्पाद हो जाना ही है। अर्थात्—क्षायिक सम्यग्दर्शन तो था ही, दूसरा विशिष्ट ज्ञान और भी अधिक उत्पन्न हो गया। एतावता दूसरे अन्य हेतुओंके प्रागभाव और उत्पत्ति होना पहिले विद्यमान होरहे

इस क्षायिक भावके कहे जावें यह तो युक्त नहीं है जिससे कि इस प्रकार ऊपर कहा हुआ तीन लक्षणपना क्षायिक सम्यक्त्वमें सिद्ध हो जावे। भावार्थ—चंद्रोदयका प्रागभाव और चंद्रमाका उदय ये दोनों सूर्योदयके उत्पाद, व्यय करनेमें उपयोगी नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार दूसरे गुणोंके प्रागभाव और उत्पाद अन्य गुणोंकी त्रिलक्षणताको पुष्ट नहीं कर सकते हैं। भला विचारो तो सही कि तटस्थ या उदासीन पदार्थोंके उत्पत्ति व्ययसे प्रकृतपदार्थमें कैसे परिणाम होंगे। ग्रंथकार समझाते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे तब तो हम कहते है कि शंकाकारके द्वारा पहिले माने गये पूर्वसमयमें रहनारूप होचुके विशेषणका नाश और उत्तर समयमें रहनारूप होरहे विशेषणका उत्पाद ये दो धर्म भला उस सम्यग्दर्शनके कैसे हो सकेंगे ? बताओ। जिससे कि यह क्षायिकभाव शंकाकारके कथनानुसार अपने आप स्वयं स्थित होता हुआ भी सम्पूर्ण इन पूर्व, अपर, उत्तर, समयोंमें वर्तनारूप उपाधियोंकी अपेक्षासे तीन लक्षणवाला बन जाता। इस प्रकार तो क्षायिक भावको कूटस्थ नित्यपना प्राप्त होता है। अर्थात् पूर्व समयमें रहनेपनका अभाव और उत्तरसमयमें रहनेपनका उत्पाद ये धर्म भी तो दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षासे ही सिद्ध हो सके हैं। ऐसी दशामें आप शंकाकारने हमारे मतको नहीं समझा यही कहना पडेगा। फिर व्यर्थ ही जैनसिद्धांतको समझ लेनेका कोरा अभिमान क्यों किया जारहा है ?। हम जैन मानते हैं कि पूर्व समय चला गया और उत्तर समय आगया। वह भी चला जावेगा और तीसरा समय आजावेगा। यह धारा अनादिसे अनंतकाल तक बहेगी। लोकमें प्रसिद्ध है कि " गया हुआ समय फिर हाथ नहीं आता "। यहांपर विचार करना है कि व्यवहारकाल तो जीव द्रव्यसे निराला पदार्थ है। उसके चले जानेसे हमको पश्चात्ताप क्यों करना चाहिये ? किंतु इसमें रहस्य है। वह यह है कि उस व्यवहारकालको निमित्त पाकर हमारे जीव पुद्गलोंके भिन्न भिन्न परिणमन होरहे हैं। वे बीते हुए परिणमन फिर हाथ नहीं आते इसका पश्चात्ताप है। बाल्यअवस्थामें कितनी स्वच्छन्दता, कोमल अवयव, कुटुम्बीजनोंका प्रेम, हृदयकी कलुषताका अभाव, बुद्धिकी स्वच्छता, सत्य बोलना ज्ञानोपार्जनकी शक्ति थी। अब वे युवा अवस्थामें नहीं हैं। युवा अवस्थामें आकांक्षायें, कामवासनाएं बढ जाती हैं अर्थका उपार्जन, यशोवृद्धि, संतानवृद्धिकी उत्सुकताएं बनी रहती हैं। इसके बाद वृद्धावस्था आनेपर उन ऐन्द्रियिक सुखोंका अवसर भी निकल चुका। अनेक व्यर्थकी चिंतायें सताती हैं। अपने अर्जित धनपर व्यय करनेमें निर्दय ऐसे पुत्रोंका या अन्य घरोंसे आयी हुयी गृहदेवियोंका अधिकार हो जाता है। अतिवृद्ध होनेपर तो भारी दुर्दशा हो जाती है। अतः यह जीव बीते हुए पूर्व समयके लिये नहीं, किंतु बीती हुयी अपनी अच्छी अवस्थाओंके लिये या उस समय हम कितने समुचित कार्य कर सकते थे, इसके लिये रोता है। हमसे सर्वथा निराले समयके निकल जानेसे भला हमको क्या पछतावा हो सकता था ?। जिस नदीके पानीसे हमको रंचमात्र भी लाभ नहीं है उसका पानी सबका सब बह जाओ इसकी हमको कोई चिंता नहीं है। यदि पूर्वसमयके परिवर्तनोंसे हमारी शारीरिक और आत्मीय

अवस्थाओंके परिवर्तनका संबंध न होता तो जाते हुए समयका हम ताप न करते। प्रत्युत उस समयमें दो लात और लगाकर प्रसन्न होते, जिससे कि वह शीघ्र ही अतिदूर चला जाता। जैन-सिद्धांत यह है कि निश्चयकाल और व्यवहार काल (द्रव्यपरिवर्तनरूप) तो पदार्थोंके परिणमन करनेमें सहकारी कारण हैं, जो कि पूर्व उत्तरपरिणामोंके उत्पाद, व्यय करते हैं। ऐसा न मानोगे तो आप शंकाकारके द्वारा पुनः शंका उठानेसे क्षायिकगुणकी कूटस्थता आती है और वैसा होने पर जैनसिद्धांतसे आपके मंतव्यका विरोध होगा और दूसरे सांख्यमतका प्रवेश हो जावेगा, जो कि अनिष्ट है। प्रमाणसिद्ध भी तो नहीं है।

यदि पुनस्तस्य पूर्वसमयेन विशिष्टतोत्तरसमयेन च तत्स्वभावभूतता ततस्तद्विनाशोत्पादौ तस्येति मतम्, तदा हेत्वन्तरेणोन्मुक्तता युक्तता च तद्भावेन तदभावेन च विशिष्टता तस्य स्वभावभूततैवेति तन्नाशोत्पादौ कथं न तस्य स्यातां, यतो नैवं त्रिलक्षणोऽसौ भवेत्, ततो युक्तं क्षायिकानामपि कथञ्चिदुपादानोपादेयत्वम्।

आप शंकाकारका फिर यदि यह मन्तव्य होवे कि उस क्षायिकभावकी पूर्व समयके साथ सहितपना और उत्तरसमयसे सहितता ये दोनों उस गुणके तदात्मक होते हुए स्वभावरूप हैं। इस कारण उन स्वभावरूप धर्मोंके उत्पाद और विनाश ये उसी क्षायिक भावके उत्पाद विनाश बोले जावेंगे, तब तो हम जैन कहते हैं कि उस क्षायिक सम्यग्दर्शनके दूसरे कारण कहे गये पूर्ण ज्ञान चारित्र करके रहितपना और इनसे सहितपना ये दोनों ही धर्म उसके स्वभावरूप भावकरके सहितता और उसके स्वभावरूप अभाव करके विशिष्टतारूप हैं। अतः वे विशिष्टतारूप धर्म उस क्षायिकभावके आत्मभूत स्वभाव ही हैं। इस प्रकार आत्मभूत स्वभावोंके नाश और उत्पाद, उस क्षायिक भावके क्यों नहीं कहे जावेंगे ? आप ही कहिये, जिससे कि वह इस प्रकार तीन लक्षण वाला न हो सके। भावार्थ—समयोंकी रहितता और विशिष्टता भी वास्तविक पदार्थ हैं। उन स्वभावोंको अवलम्ब लेकर तीन लक्षणपना सिद्ध किया है। उस कारण क्षायिक भावोंका भी किसी अपेक्षासे उपादान उपादेयपना मानना युक्तियोंसे परिपूर्ण है। भावार्थ—उदासीन या अनपेक्ष्य पदार्थ भी बडा कार्य करते हैं। साथमें टोसा रखनेसे मूंक कम लगती है एवं संगमें सवारीके रहनेपर पैदल चलनेमें परिश्रम (थकावट) कम व्यापता है। घरमें रुपया है, चाहे उसका व्यय नहीं कर रहे हैं। फिर धनसहित और धनरहितपनेके परिणमन आत्मामें न्यारे न्यारे हैं। गीली मिट्टीको सुखाकर पुनः उसमें पानी डालकर भींत बनाई जाती है। उस भीतको भी पुनः सुखाना पडता है। इन दृष्टान्तोंमें भिन्न भिन्न परिणामोंकी अपेक्षामे त्रिलक्षणपना विद्यमान है। तीन लक्षणवाला परिणाम सद्भूत पदार्थोंमें पाया जाता है।

कारणं यदि सद्दृष्टिः सद्बोधस्य तदा न किम्।
तदनन्तरमुत्पादः केवलस्येति केचन ॥ ८० ॥

तदसत्तत्प्रतिद्वन्द्विकर्माभावे तथेष्टितः ।
कारणं हि स्वकार्यस्याप्रतिबन्धिप्रभावकम् ॥ ८१ ॥

यहां कोई आक्षेपक शंका करते हैं कि कारण उसको कहते हैं, जो उत्तरक्षणमें कार्यको उत्पन्न कर देवे। यदि आप जैन पूर्णज्ञानका कारण सम्यग्दर्शन गुणको मानते हैं तो उस क्षायिक-दर्शनके अव्यवहित उत्तर कालमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती है ? बताओ। जब कि कारण है, तब कार्य होना ही चाहिये। श्रीविद्यानंद आचार्य समाधान करते हैं कि इस प्रकार किसीका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि कारणके लक्षणमें प्रतिबंधकोंका अभाव पडा हुआ है अर्थात् जो प्रतिबन्धकोंसे रहित होता हुआ कार्यके अव्यवहित पूर्व समयमें रहे सो कारण है। बत्ती, तेल, दीपशलाका, दिया इन कारणोंके होनेपर भी यदि आंधी चल रही है तो दीपशलाका प्रज्वलित नहीं हो सकती है। तथा सम्पन्न सेठ के पास भोग उपभोग की सामग्री होते हुए भी असातावेदनीय या अन्तराय कर्मके उदय आनेपर रोग अवस्थामें उसको केवल मूंगके दालका पानी ही मिलता है। अतः प्रतिबन्धकोंका अभाव होना कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक है। प्रकृतमें उस केवलज्ञानका प्रतिबन्ध करनेवाले केवलज्ञानावरण और अन्तराय कर्म विद्यमान हैं। अतः चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थानतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दर्शनके हो जानेपर भी प्रतिबंधकोंके आडे आजानेके कारण केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता है। हां ! एकत्ववितर्कवीचार नामके द्वितीय शुक्लध्यानद्वारा बारहवें गुणस्थानके अन्तमें प्रतिद्वन्दी कर्मोंका अभाव हो जानेपर अनन्तर कालमें उस प्रकार केवलज्ञानको उत्पत्ति होना हम इष्ट करते हैं। जब कि प्रतिबन्धकोंसे रहित होरहा ही कारण अपने कार्यका अच्छा उत्पादक माना गया है।

नहि क्षायिकदर्शनं केवलज्ञानावरणादिभिः सहितं केवलज्ञानस्य प्रभवं प्रयोजयति। तैस्तत्प्रभावत्वशक्तेस्तस्य प्रतिबन्धात् येन तदनन्तरं तस्योत्पादः स्यात्। तैर्वियुक्तं तु दर्शनं केवलस्य प्रभावकमेव तथेष्टत्वात्, कारणस्याप्रतिबन्धस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीतेः।

सर्वघाती माने गये केवलज्ञानावरण कर्मका उदय और सत्त्व तथा मनःपर्यय, अवधिज्ञान, मति और श्रुतकी देशघाती प्रकृतियोंका उदय तथा इनके अविनाभावी कुछ अंतरायकी देशघात करनेवाली प्रकृतियोंका उदय बारहवें गुणस्थान तक केवलज्ञानको रोकनेवाला है। अतः केवल-ज्ञानावरण आदि कर्मोंके साथ रहता हुआ क्षायिक सम्यग्दर्शन तो केवलज्ञानकी उत्पत्तिका प्रयोजक नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान और अनंतसुखको बिगाडनेवाले उन केवलज्ञानावरण आदि कर्मोंने उन सम्यग्दर्शनकी केवलज्ञानको उत्पन्न करादेनेवाली उस शक्तिका प्रतिबंध (रोकना) कर दिया है जिससे कि दर्शनके अव्यवहित कालमें उस केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो सके। भावार्थ—कार्य करनेके लिये कारणकी उन्मुखता होनेपर मध्यमें प्रतिबंधकके आ जानेसे केवलज्ञानरूप कार्य नहीं हो पाता

है। हां! उन केवलज्ञानावरण आदि कर्मोंसे रहित जो सम्यग्दर्शन है, वह तो केवलज्ञानको उत्पन्न करानेवाला कारण है ही। बारहवें गुणस्थानके अंतसमयवर्ती सम्यग्दर्शनको हमने उस प्रकार कारणरूपसे इष्ट किया है। सर्व ही कारण बिचारे प्रतिबंधकोंसे रहित होकर ही अपने कार्योंको उत्पन्न करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। प्रतिबंधकोंके सद्भावमें प्यन्त प्रयोजक हेतु भी क्या करें? कुछ नहीं।

सद्बोधपूर्वकत्वेऽपि चारित्रस्य समुद्भवः।
प्रागेव केवलान्न स्यादित्येतच्च न युक्तिमत् ॥ ८२ ॥
समुच्छिन्नक्रियस्यातो ध्यानस्याविनिवर्तिनः।
साक्षात्संसारविच्छेदसमर्थस्य प्रसूतितः ॥ ८६ ॥
यथैवापूर्णचारित्रमपूर्णज्ञानहेतुकम्।
तथा तत्किन्न सम्पूर्णं पूर्णज्ञाननिबन्धनम् ॥ ८४ ॥

उक्त प्रकारसे रत्नत्रयका कार्यकारणभाव हो जानेपर भी यहां किसीका पुनः प्रश्न है कि आप जैन पूर्वमें समीचीन पूर्ण ज्ञान हो जानेपर पश्चात् यदि पूर्ण चारित्रकी बढिया उत्पत्ति मानेंगे तब तो केवलज्ञानसे प्रथम ही क्षायिक चारित्र नहीं उत्पन्न होना चाहिये था। क्योंकि कारणके पश्चात् कालमें कार्य हुआ करते हैं। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार कहना भी युक्तियोंसे सहित नहीं है। क्योंकि यद्यपि केवलज्ञानसे प्रथम क्षायिकचारित्र हो चुका है। फिर भी उस चारित्रमें अव्यवहित उत्तर कालमें संसारके ध्वंस करनेके सामर्थ्यकी उत्पत्ति तो इस केवलज्ञानसे उत्पन्न होती है, जो कि चारित्र श्वासोच्छ्वास क्रियाके रुक जानेपर और योगपरिस्पन्दरूप क्रियाके नष्ट हो जानेपर तथा अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन ह्रस्व पांच अक्षरके उच्चारण बराबर समयोनकालके बीत जानेपर चौदहवें गुणस्थानके अंतमें इस व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक ध्यानसे युक्त है। भावार्थ—क्षायिक चारित्र गुणकी पूर्णता संसारको ध्वंस करनेवाले चतुर्थ शुक्लध्यानसे होती है और वह चौथा शुक्ल ध्यान सहकारी कारणोंसे सहित केवलज्ञान द्वारा उत्पन्न किया जाता है। अतः जैसे ही अपरिपूर्ण ज्ञानरूप हेतुसे अपरिपूर्ण चारित्र होता है, वैसे ही पूर्ण ज्ञानको कारण मानकर वह पूर्ण चारित्र क्यों न होगा? अर्थात्—ग्यारहवें गुणस्थानतक अपूर्ण चारित्र है। उसका कारण ज्ञानका पूर्ण न होना है। वैसा ही चौदहवेंके अंतके पूर्ण चारित्रका कारण केवलज्ञान है। मध्यके अनेक सहकारी कारण भी अपेक्षणीय हैं। बारहवें गुणस्थानके चारित्रको क्षायिक गुण मानते हैं। किंतु हम उसको परिपूर्ण चारित्र नहीं मानते हैं। क्योंकि उसमें आनुषंगिक स्वभावोंसे अधिकता होनेवाली है। किंतु तेरहवेंके

आदि समयवाले केवलज्ञानमें तथा चौदहवें गुणस्थान या सिद्धपरमेष्ठीके केवलज्ञानमें बालाग्रका भी अंतर नहीं है। उतने ही उत्कृष्ट अनंतानंत संख्यावाले अविभाग प्रतिच्छेद सब केवलज्ञानों में बराबर है।

तन्न ज्ञानपूर्वकतां चारित्रं व्यभिचरति।

उस कारण ज्ञानगुणका चारित्रके पूर्ववर्तीपनेसे व्यभिचार नहीं है अर्थात् पूर्ण चारित्रके पहिले पूर्ण ज्ञान रहता है। चारित्र कभी ज्ञानपूर्वकपनका अतिक्रम नहीं करता है।

प्रागेव क्षायिकं पूर्णं क्षायिकत्वेन केवलात्।
नत्वघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतः॥ ८५॥

यद्यपि केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पहिले ही चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयजन्य क्षायिकपने करके क्षायिकचारित्र पूर्ण हो चुका है, किन्तु वेदनीय आदि अघातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट करनेकी शक्तिरूप परिणामोंसे सहितपने स्वरूप करके अभी चारित्रगुण पूर्ण नहीं हुआ है। अतः तेरहवें गुणस्थानके आदिमें क्षायिक रत्नत्रयके हो जानेपर भी मुक्ति होनेमें विलम्ब है।

केवलात्तत्प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं सम्पूर्णं ज्ञानकारणमिति न शंकनीयम्। तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तेः। विवक्षितस्वकार्यकरणेन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णं, तच्च न केवलात्प्रागस्ति चारित्रस्य, ततोऽप्यूर्ध्वमघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतयासम्पूर्णस्य तस्योदयात्।

जिस क्षायिक चारित्रका कारण आप जैनोंने केवलज्ञानको माना है, वह चारित्रमोहनीयके क्षयसे उत्पन्न हुआ पूर्ण यथाख्यातचारित्र तो केवलज्ञानसे अन्तर्मुहूर्त पहिले ही उत्पन्न होचुका है। फिर यह चारित्रके लिये ज्ञानको कारण माननेका कार्यकारणभाव कैसा है? बताओ! क्या जैन लोगोंने भी बौद्धोंके समान इस सिद्धांतको मानलिया है कि कार्य पहिले उत्पन्न हो जाते हैं और कारण पीछेसे पचासों वर्षोंतक पैदा होते रहते हैं। "तालाब खुदा ही नहीं, मगर आ कूदा"। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि हम जैनोंका यह सिद्धांत है कि कारणोंमें भिन्न भिन्न कार्योंकी अपेक्षासे परिपूर्णता भी न्यारी न्यारी है। मिट्टी द्वारा शिवक, छत्र, स्थास, कोश, कुशूल बनकर पीछे घट बनता है। छत्रको ही घटके प्रति झट कारणता नहीं है। भात पकानेके लिये चूल्हेमें अग्नि जलाकर उसके ऊपर बर्तनमें पानी रखकर चावल डाल दिये हैं। यहां पहिलेके अग्नि संयोगसे ही चावलोंमें पाक प्रारम्भ होजाता है। किंतु पाककी पूर्णता घडीभर बादके अंत समयवाले अग्निसंयोगसे होती है। मध्यवर्ति अग्निसंयोग बीचमें होनेवाले अर्द्धपाकोंके कारण हैं। यदि कोई अध-पके भातको बनाना चाहे तो वे बीचके अग्निसंयोग उस अध-पके भातके

समर्थ कारण भी हैं। किंतु परिपक्वके नहीं। भातकी परिपक्वताके लिये अनेक अग्नि संयोगोंकी और मध्यमें होनेवाले चावलोंके विक्लेदनोंकी सहायता अभिप्रेत है। ग्रंथोंके अध्ययन करनेपर कोई विद्वान् या वकील परीक्षायें पास करलेता है। किंतु पूर्ण अनुभव प्राप्त करनेके लिये मनन, समय और अभ्यास तथा इनसे होनेवाले विद्वत्ताके विशिष्ट परिणमनोंकी आवश्यकता है। वैसे ही क्षायिकचारित्र भी क्षायिकपनेसे पूर्ण है। फिर भी मुक्तिरूप कार्यको उत्पन्न करानेमें उस क्षायिक चारित्रको कई विशेष सहकारी कारणोंकी अपेक्षा है। अतः चारित्रका पूर्णपना सिद्ध नहीं है। वर्तमानमें विवक्षाको प्राप्त हुए विशेष अपने कार्यको करनेमें कारणका अंतके क्षणमें प्राप्त होनापन ही संपूर्णता कही जाती है। मध्यवर्ती हजारों पर्यायोंके पूर्व, उत्तरमें रहनेवाली संपूर्ण पर्यायोंमें परस्पर यह अपने अपने कार्यके प्रति कारणका अन्त्य क्षणमें प्राप्त होनापन घट जाता है। और अभीतक वह मोक्षके लिये कारणकी संपूर्णता केवलज्ञानसे पहिले होनेवाले चारित्रके उत्पन्न नहीं हुयी है। क्योंकि उस बारहवें गुणस्थानसे ऊपर चलकर भी उस पूर्णचारित्रकी भी अघातियोंको सर्वांग नष्ट करनेवाली सामर्थ्यसे सहितपने करके वह पूर्णता उत्पन्न होनेवाली है। ऐसी दशामें भला बारहवें गुणस्थानके चारित्रको हम परिपूर्ण कैसे कह सकते हैं ? कदापि नहीं।

न च " यथाख्यातं पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्यैवं बाधास्ति " तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात्। नहि सकलमोहक्षयादुद्भवच्चारित्रमंशतोऽपि मलवदिति शश्वदमलवदात्यन्तिकं तदभिष्टूयते।

कोई आगमसे बाधा उपस्थित करे कि जब आप चारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बतलाते हैं। ऐसा कहनेपर तो " यथाख्यात चारित्र पूर्ण है, " इस प्रकार आगमवाक्यकी बाधा होती है। क्योंकि यथाख्यातचारित्र तो दशमें गुणस्थानके अंतमें ही होजाता है। सो यह आगमकी बाधा नहीं समझना। क्योंकि उस आगममें उस चारित्रको चारित्रमोहनीयके क्षयसे जन्यपने स्वभाव करके पूर्णपना कहा गया है। जब कि सम्पूर्ण मोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होरहा क्षायिकचारित्र एक अंशसे भी मलयुक्त नहीं है। इस कारण वह क्षायिकचारित्र सर्वदा ही अत्यधिक अनंत काल तकके लिये सर्व अंगोंमें निर्मलपने करके प्रशंसित किया जाता है।

कथं पुनस्तदसम्पूर्णादेव ज्ञानात्क्षायोपशमिकादुत्पद्यमानं तथापि सम्पूर्णमिति चेत् न, सकलश्रुताशेषतत्त्वार्थपरिच्छेदिनस्तस्योत्पत्तेः।

कोई यहां पूंछता है कि क्यों जी ! फिर वह चारित्र क्षयोपशमसे होनेवाले अपूर्ण ज्ञानोंसे ही उत्पन्न होता हुआ तो भी सम्पूर्ण कैसे हो सकता है ? बताओ। भावार्थ—अपूर्ण ज्ञानसे तो अपूर्ण चारित्र होना चाहिये था। दशवें गुणस्थानमें पूर्णज्ञान नहीं है। द्वादशाङ्गका ज्ञान या सर्वावधि और विपुलमति ये पूर्ण ज्ञान नहीं माने हैं। पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है। अतः अपूर्ण ज्ञानसे

चारित्र भी पूर्ण न हो सकेगा। फिर आपने बारहवें गुणस्थानके आदि समयवाले चारित्रको पूर्ण कैसे कहदिया ? आचार्य कहते हैं कि ऐसी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंको परोक्षरूपसे जाननेवाले पूर्णश्रुतज्ञानसे उस चारित्रकी उत्पत्ति होती है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों पूर्ण हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। श्री गोम्मटसारमें कहा है कि "सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणंच परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं"॥

पूर्णं तत एव तदस्त्विति चेन्न, विशिष्टस्य रूपस्य तदनन्तरमभावात्। किं तद्विशिष्टं रूपं चारित्रस्येति चेत्, नामाद्यघातिकर्मत्रयनिर्जरणसमर्थं समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानमित्युक्तप्रायम्।

जब कि बारहवें गुणस्थानका चारित्रपूर्ण श्रुतज्ञानसे उत्पन्न हुआ है तो फिर उस ही कारणसे बारहवें गुणस्थानके उस चारित्रको सर्व प्रकारसे पूर्ण ही क्यों नहीं कह दिया जावे ?। केवलज्ञानसे चारित्रमें क्या कार्य होना शेष है ? इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अपने अंशोंमें तो चारित्र पूर्ण है। किन्तु उस चारित्रके कतिपय विलक्षण स्वभाव उस पूर्ण श्रुतज्ञानके पश्चात् उत्पन्न नहीं होते। वे स्वभाव तो केवलज्ञान होनेपर ही कुछ सहकारियोंके मिलनेपर उत्पन्न होते हैं। वह चारित्रका विशिष्ट स्वभाव क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर तो इसका उत्तर यह है कि नाम आदि यानी नाम वेदनीय और गोत्र इन तीन अघाती कर्मोंकी निर्जरा करनेमें समर्थ ऐसा चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान है। इस बातको प्रायः पूर्वप्रकरणमें हम कह चुके हैं।

तद्रूपावरणं कर्म नवमं न प्रसज्यते।
चारित्रमोहनीयस्य क्षयादेव तदुद्भवात्॥ ८६॥

उस चारित्रके अंतिम स्वभावको आवरण करनेवाला आठ कर्मोंके अतिरिक्त कोई न्यारा कर्म होगा, इस प्रकार नवमें कर्म हो जानेका प्रसंग नहीं होपाता है। क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयसे ही उस स्वभावकी भी उत्पत्ति हो जाती है। कुछ विशेष सहकारी कारण और समयविशेषकी आकांक्षा है।

यद्यदात्मकं तत्तदावरककर्मणः क्षयादुद्भवति, यथा केवलज्ञानस्वरूपं तदावरणकर्मणः क्षयात्, चारित्रात्मकं च प्रकृतमात्मनो रूपमिति चारित्रमोहनीयकर्मण एव क्षयादुद्भवति न च पुनस्तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यतेऽन्यथातिप्रसंगात्।

यह व्याप्ति बनी हुयी है कि जो स्वभाव जिस भावस्वरूप होता है (हेतु) वह भी उस भावके आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयसे ही उत्पन्न होजाता है (साध्य) जैसे कि आत्माका केवल-

ज्ञान स्वभाव उस केवलज्ञानावरण कर्मके क्षयसे प्रगट हो जाता है (अन्वयदृष्टांत) प्रकरणमें आत्माका स्वभाव चारित्ररूप है। चारित्रके अन्य निमित्तोंसे जन्य स्वभाव भी चारित्रस्वरूप हैं (उपनय) इस कारण वे चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयसे ही उत्पन्न हो जाते हैं (निगमन) उन रूपोंको आवरण करनेवाले फिर कोई नववें कर्मको माननेका प्रसंग नहीं होता है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे अर्थात् छोटे छोटे निमित्तों द्वारा उत्पन्न होनेवाले आत्माके या आत्मीय गुणोंके स्वभावोंको रोकनेवाले न्यारे न्यारे कर्मोंकी कल्पना की जावेगी, तब तो आठ कर्मोंके स्थानपर अनेक जातिवाले कर्मोंके माननेका अतिप्रसंग होगा, अर्थात् अनंत सुखको आवरण करनेवाला भी एक स्वतंत्र कर्म मानना पडेगा तथा सातिशय मिथ्यादृष्टिके होनेवाले करणत्रयको, और अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेके लिये होनेवाले करणत्रयको, एवं क्षायिकचारित्रको करनेवाले अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामोंको रोकनेवाले कर्म भी अतिरिक्त मानने पडेंगे तथा केवलिसमुद्घातरूप आत्माके स्वभावको प्रतिबंध करनेवाला भी कर्म मानना आवश्यक होगा। यहांतक कि घट, पट, पुस्तक, चौकी, लेखनी आदि प्रत्येक पदार्थके देखने, जाननेको आवरण करनेवाले चाक्षुषप्रत्यक्षावरण भी पृथक् पृथक् मानने पडेंगे। एवं च बडा भारी आनन्त्य दोष होगा।

यदि विशिष्ट कारणोंसे आत्माके पुरुषार्थजन्य उपर्युक्त भाव होते रहते हैं। इन स्वभावोंके लिये अतिरिक्त कर्मोंकी आवश्यकता नहीं मानी जावेगी, ऐसा उत्तर दोगे तो वैसे ही उस चारित्रके चौदहवें गुणस्थानमें होनेवाले स्वरूपके लिये भी एक स्वतंत्र नववें कर्म माननेकी आवश्यकता नहीं है। आत्मामें बाल्य, कुमार, युवा, आदि अवस्थाएं होती रहती हैं। पढने, लिखने, ध्यान करनेके परिणाम होते हैं। जाना, बैठना, खाना, पीना आदि परिस्पंद होते रहते हैं। इन सबके लिये कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है। यदि किसी कर्मका उदय या उपशम आदि परम्परासे सहायक भी हो तो बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक होनेवाले पुरुषार्थजन्य स्वरूपोंमें उसकी कोई गणना नहीं है। खांसना, डकार लेना, व्यायाम करना, स्वाध्यायक्रिया करना, तपश्चरण, ब्रह्मचर्य धारण, सिद्ध अवस्था आदि कार्य आत्माके स्वतंत्र हैं। सर्वत्र कर्मका पुंछल्ला लगाना उचित नहीं।

क्षीणमोहस्य किं न स्यादेवं तदिति चेन्न वै।
तदा कालविशेषस्य तादृशोऽसम्भवित्वतः ॥ ८७ ॥
तथा केवलबोधस्य सहायस्याप्यसम्भवात्।
स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते ॥ ८८ ॥

जब चारित्रके स्वभावोंका भी प्रतिबंधक चारित्रमोहनीय कर्म है तो ऐसा होनेपर मोहका क्षय करचुके बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिमहाराजके ही क्यों नहीं वह स्वभाव अवश्य उत्पन्न होजाता

है ? बतलाइये। ग्रंथकार समझाते हैं कि यह नहीं कहना। क्योंकि उस समय बारहवें गुणस्थानमें वैसे विशेषकालका असम्भव है, जो कि उस चारित्रस्वभावको निश्चयसे अपेक्षणीय है। इस ही प्रकारसे तेरहवें गुणस्थानका केवलज्ञान भी उस चारित्रके स्वभावको उत्पन्न नहीं कर सकता है। क्योंकि उसका भी सहायक होरहा कालविशेष उस अवसरमें नहीं है। अपनी पूर्ण सामग्रीके विना अकेले एक दो कारण विचारे कार्यको करते हुए कभी नहीं देखे जाते हैं।

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलस्तथाप्रतीतेः।

काल, क्षेत्र, आत्मीय परिणाम, केवलिसमुद्घात आदि सामग्रीकी अपेक्षा रखता हुआ ही मोहनीय कर्मका क्षय उस चारित्रके स्वभावको प्रगट करनेका कारण है। अकेला मोहनीय कर्मका क्षय ही चौदहवें गुणस्थानके अंतमें होनेवाले स्वभावोंको उत्पन्न नहीं कर सकता है। वैसी ही प्रमाणोंसे प्रतीति होरही है। और केवलज्ञान भी अकेला विना सामग्रीके उस स्वभावको उत्पन्न नहीं करपाता है। पहिले महीनेका गर्भ नवमें महीनेकी गर्भअवस्थाका जनक नहीं है। हां! दूसरे, तीसरे, आदि महीनोंकी और उनमें होनेवाले परिणमनोंकी अपेक्षा रखता हुआ वह पूर्ण साङ्गोपाङ्ग बालकको उत्पन्न करसकता है। अतः प्रत्येक कार्यमें काल आदिकी अपेक्षा होती है।

क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे।
यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता॥ ८९॥
ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तुं तद्वदयोगिनः
पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ॥ ९०॥

इस प्रकार बारहवें क्षीणकषाय नामक गुणस्थानके पहिले क्षणमें ही चारित्र मोहनीय नामक कर्म नष्ट होचुका है। फिर भी उस क्षीणकषायकी ज्ञानावरण आदि चौदह कर्म प्रकृतियोंके नष्ट करनेके लिये शक्तिका विकास तो बारहवें गुणस्थानके अंतसमयमें मुनिमहाराजके उत्पन्न होता है। अन्तर्मुहूर्ततक क्षीणकषायके पक परिणमन होते रहने चाहिये, वैसे ही उस चारित्रकी शेष बचे हुए तीन अघातिया कर्मोंके क्षय करनेके निमित्त उस शक्तिका प्रादुर्भाव अयोगकेवलीके चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही माना गया है। उस अन्त्यसमयके अनन्तर दूसरे समयमें मोक्ष है, जो कि गुणस्थानोंसे परे है।

कर्मनिर्जरणशक्तिर्जीवस्य सम्यग्दर्शने सम्यग्ज्ञाने सम्यक्चारित्रे चान्तर्भवेत्ततोन्या वा स्यात्। तत्र न तावत् सम्यग्दर्शने ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतिचतुर्दशकनिर्जरणशक्तिरन्तर्भवत्य-संयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तपर्यन्तगुणस्थानेष्वन्यतमगुणस्थाने दर्शनमोहक्षयाच्चदाविर्भावप्रसक्तेः।

कर्मोंकी निर्जरा करनेकी शक्तिका जीवके सम्यग्दर्शन गुणमें या सम्यग्ज्ञानमें अथवा सम्यक् चारित्रमें अन्तर्भाव किया जावेगा ? या उस शक्तिको उन गुणोंसे भिन्न ही माना जावेगा ? बताओ। यदि इन प्रश्नोंके उत्तरमें कोई यों कहे कि पहिले सम्यग्दर्शन गुणमें ज्ञानावरण कर्मकी पांच और अन्तराय कर्मकी पांच तथा दर्शनावरणकी चार एवं चौदहों प्रकृतियोंके नाश करनेकी शक्तिका गर्भ हो जाता है, यह कहना तो ठीक नहीं पडता है। क्योंकि असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान तक किसी भी एक गुणस्थानमें दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। अतः चौथेसे सातवें तक ही किसी गुणस्थानमें ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी निर्जरा करनेवाली उस शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाना चाहिये और ऐसा होनेपर सातवें गुणस्थानमें ही केवलज्ञान हो जानेका प्रसंग आवेगा। जो कि अनिष्ट है।

ज्ञाने सान्तर्भवतीति चायुक्तं, क्षायिकेणैतदन्तर्भावे सयोगकेवलिनः केवलेन सहाविर्भावापत्तेः। क्षायोपशमिके तदन्तर्भावे तेन सहोत्पादप्रसक्तेः।

यदि बारहवें गुणस्थानके अन्तमें क्षय होनेवाली चौदह प्रकृतियोंके नाश करनेवाली शक्तिको ज्ञानमें अन्तर्भूत करोगे, यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि ज्ञानोंमेंसे यदि क्षायिकज्ञानके साथ इस शक्तिका अन्तर्भाव माना जावेगा तब तो तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवलीके केवलज्ञानके साथ साथ उस शक्तिके प्रगट होनेका प्रसंग होता है। किंतु वह कारण शक्ति तो केवलज्ञानके पहिले ही बारहवेंके अन्तमें प्रगट हो चुकी है। तभी तो दूसरे क्षणमें प्रतिबन्धकोंके नष्ट हो जानेपर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। यदि ज्ञानोंमेंसे क्षयोपशमजन्य चार ज्ञानोंमें उस शक्तिका अन्तर्भाव करोगे तो उन ज्ञानोंके उत्पन्न होनेके साथ ही उस शक्तिका उत्पाद हो जाना चाहिये। भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तथा देशावधि चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं और परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय छठेसे बारहवें तक उत्पन्न हो सकते हैं। अतः यहीं कहीं इस शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाना चाहिये था। ऐसी दशामें चौथे पांचमें, छठे या सातमें गुणस्थानमें भी केवलज्ञान उत्पन्न हो जानेका प्रसंग है।

क्षायोपशमिके चारित्रे तदन्तर्भावे तेनैव सह प्रादुर्भावानुषंगात्। क्षायिके तदन्तर्भावे क्षीणकषायस्य प्रथमे क्षणे तदुद्भूतेर्निद्राप्रचलयोर्ज्ञानावरणादिप्रकृतिचतुर्दशकस्य च निर्जरणप्रसक्तेर्नोपान्त्यसमये अन्त्यक्षणे च तन्निर्जरा स्यात्।

यदि उस निर्जरा शक्तिका चारित्रमें अन्तर्भाव करोगे, वहां क्षायोपशमिक चारित्रमें यदि उस शक्तिका गर्भ किया जावेगा, तब तो पांचवें, छठवें, सातवें गुणस्थानमें होनेवाले उस क्षायोपशमिक चारित्रके साथ ही उस शक्तिकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये थी। और यदि क्षायिक चारित्रमें उस

शक्तिको अन्तर्भूत करोगे तो क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थानके पहिले समयमें ही वह शक्ति प्रगट हो जावेगी। तब तो सोलह प्रकृतियोंकी निर्जरा बारहवेंके आदिमें ही हो जानी चाहिये। किंतु हम देखते हैं कि निद्रा और प्रचलाकी निर्जरा बारहवेंके अन्त्यके निकट पूर्ववर्ती उपान्त्य समयमें होती है और ज्ञानावरण आदि चौदह प्रकृतियोंकी निर्जरा बारहवेंके अन्त समयमें होती है। सो न होसकेगी। भावार्थ—बारहवेंके आदिमें ही शेष सोलह घातिया प्रकृतियोंके नाश होनेका प्रसंग आता है, जोकि सिद्धान्तसे विरुद्ध है।

दर्शनादिषु तदनंतर्भावे तदावारकं कर्मान्तरं प्रसज्येत, दर्शनमोहज्ञानावरणचारित्रमोहानां तदावारकत्वानुपपत्तेः।

यदि दर्शन ज्ञान और चारित्रमें उस शक्तिका गर्भ न करोगे अर्थात् दूसरे पक्षके अनुसार कर्मोंकी निर्जरा करनेकी शक्तिको अन्य स्वतंत्र गुण मानोगे तो उस शक्तिका आवरण करनेवाला नववां कर्म माननेका प्रसङ्ग आपडेगा। क्योंकि दर्शन मोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोहनीय कर्मोंको उस शक्तिका रोकदेनापन सिद्ध नहीं है। अतः जैसे ज्ञानको रोकनेवाला स्वतंत्र ज्ञानावरण कर्म है, वैसे ही शक्तिको रोकनेवाला नौवां निर्जरणावरण कर्म होना चाहिये।

वीर्यान्तरायस्तदावारक इति चेन्न, तत्क्षयानन्तरं तदुद्भवप्रसंगात्। तथा चान्योन्याश्रयणम्—सति वीर्यान्तरायक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावस्तस्मिंश्च सति वीर्यान्तरायक्षय इति।

यदि कोई यों कहे कि वीर्यान्तराय कर्म उस शक्तिका आवरण करनेवाला पहिलेसे ही बना बनाया कर्म विद्यमान है, फिर नववां कर्म क्यों माना जाता है? यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि तब तो उस वीर्यान्तराय कर्मके क्षय होनेके पीछे तत्काल उस शक्तिकी उत्पत्ति हो सकेगी और ऐसा माननेपर अन्योन्याश्रय दोष है कि वीर्यान्तरायके क्षय होनेपर तो उन चौदह कर्मोंके निर्जरा करनेकी शक्ति होवे और चौदह कर्मोंके क्षय करनेवाली उस शक्तिके प्रगट हो जानेपर वीर्यान्तराय कर्मका क्षय होवे। क्योंकि चौदह प्रकृतियोंके मध्यमें स्वयं वीर्यान्तराय कर्म भी तो पडा हुआ है। इस प्रकार परस्पराश्रय दोष है।

एतेन ज्ञानावरणप्रकृतिपंचकदर्शनावरणप्रकृतिचतुष्टयांतरायप्रकृतिपञ्चकानां तन्निर्जरणशक्तेरावारकत्वेऽन्योन्याश्रयणं व्याख्यातम्।

इस उक्त कथनके द्वारा ज्ञानावरणकी पांच प्रकृतियोंको और दर्शनावरणकी पहिली चार प्रकृतियोंको तथा अंतरायकी पांचों प्रकृतियोंको भी उस निर्जरण शक्तिका आवरक कर्मपना मानने पर भी अन्योन्याश्रय हो जाता है, यह भी व्याख्यात हो चुका। अर्थात् प्रतिबंधक होरही ज्ञानावरण प्रकृतिके नाश होनेपर वह शक्ति उत्पन्न होवे और उस शक्तिके उत्पन्न हो जानेपर ज्ञानावरणका नाश होवे, ऐसा ही परस्पराश्रय दोष अन्य दो पिण्ड प्रकृतियोंके प्रतिबंधक बननेमें भी समझ लेना।

नामादिचतुष्टयं तु न तस्याः प्रतिबंधकम्, तस्यात्मस्वरूपाघातित्वेन कथनात्। न च सर्वथानावृतिरेव सा सर्वदा तत्क्षयणीयकर्मप्रकृत्यभावानुषङ्गात्।

तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय ये चार अघातिया कर्म तो उस कर्म-निर्जरा शक्तिका प्रतिबन्ध करनेवाले नहीं हैं। क्योंकि वे चार अघातिया कर्म आत्माके स्वाभाविक अनुजीवी गुणोंको नहीं घात करनेवाले कहे गये हैं। वे कर्म तो अमूर्तत्व (सूक्ष्मत्व) अगुरुलघु, अवगाहन और अव्याबाध इन अभावात्मक प्रतिजीवी गुणोंके रोकनेवाले हैं। भावात्मक शक्तिको नहीं रोकते हैं। तथा इन चार कर्मोंका नाश तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है और वह शक्ति बारहवेंके अन्तमें अपेक्षणीय है।

यदि चौदह प्रकृतियोंकी निर्जरा करनेवाली उस शक्तिको सर्व प्रकार आवरणोंसे रहित ही मानलिया जावे, सो ठीक नहीं है। क्योंकि तब तो सदा ही उस शक्तिसे क्षयको प्राप्त होने योग्य कर्म प्रकृतियोंके अभावका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—जैन सिद्धांतमें उस निर्जरा शक्तिके प्रगट होनेपर बारहवें गुणस्थानके अंतमें चौदह प्रकृतियोंका नाश होना माना है। यदि वह निर्जरणशक्ति अपने प्रतिबंधक कर्मोंसे रहित होती तो आत्मामें स्वभावसे सदा विद्यमान रहनी चाहिये थी। ऐसी चौदहप्रकृतियोंका नाश आत्मामें अनादिकालसे ही हो चुका होता। दूसरी बात यह है कि उस शक्तिसे नाश होने योग्य कोई कर्म ही न माना जाता। जैसे कि अस्तित्व, द्रव्यत्व, गुण आत्मामें सदैव विद्यमान है। उन गुणोंके द्वारा नाशको प्राप्त होने योग्य कोई कर्म आत्मामें नहीं है। वे सामान्य गुण भी किसी कर्मके नाशसे प्रकट नहीं होते हैं। वे तो शास्वतविकासी हैं।

स्यान्मतं, चारित्रमोहक्षये तदाविर्भावाच्चारित्र एवान्तर्भावो विभाव्यते। न च क्षीणकषायस्य प्रथमसमये तदाविर्भावप्रसङ्गः कालविशेषापेक्षत्वात्तदाविर्भावस्य। प्रधानं हि कारणं मोहक्षयस्तदाविर्भावे सहकारिकारणमंत्यसमयमन्तरेण न तत्र समर्थम्, तद्भाव एव तदाविर्भावादिति।

यदि किसीका मंतव्य होवे कि चारित्र मोहके क्षय होनेपर ही उस शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। अतः चारित्रगुणमें ही उसके अन्तर्भाव करनेका विचार किया गया है, सम्भव है। इसपर कोई यों कहे कि क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें ही चारित्र प्रगट हो जाता है तो चौदह प्रकृतियोंके नाश करानेकी शक्ति भी बारहवेंके पहिले समयमें प्रगट हो जानी चाहिये और केवलज्ञान भी वहींपर प्रगट हो जाना चाहिये सो यह प्रसङ्ग तो ठीक नहीं हैं। क्योंकि इस शक्तिके प्रगट होनेको कालविशेषकी अपेक्षा है। प्रधान कारण तो उस शक्तिके प्रगट होनेमें मोहनीय कर्मका क्षय ही है। किन्तु वह मोहका क्षय सहकारी कारण माने गये बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयके विना उस शक्तिको प्रगट करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि उस सहकारी कारणके होनेपर

ही उस शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। प्रत्येक भावकी परिपक्वताके लिये समय चाहिये। तथा विश्राम ले चुकनेपर ही यानी कारणोंका पुष्ट, पक्व परिणमन हो जानेपर ही पीछे भारी कार्य किया जा सकता है। कर्मोंके क्षय करने समान कोई बडा कार्य नहीं है। इस पुरुषार्थी आत्माको मध्य मध्यमें विश्राम लेना पडता है। तब कहीं योद्धा मेषके समान क्षयकी टक्कर दी जाती है।

तर्हि नामाद्यघातिकर्मनिर्जरणशक्तिरपि चारित्रेऽन्तर्भाव्यते। तन्नापि क्षायिके न क्षायोपशमिके दर्शने नापि ज्ञाने क्षायोपशमिके क्षायिके वा तेनैव सह तदाविर्भावप्रसंगात्। न चानावरणा सा सर्वदाविर्भावप्रसंगात् संसारानुपपत्तेः।

अब मतिज्ञानावरण आदि चौदह प्रकृतियोंके नाश करनेकी शक्ति चारित्रमें गर्भित की है और वह बारहवेंके अंतसमय तथा उस समयके परिपक्व एकत्ववितर्क—वीचारको सहकारी कारण मानकर प्रगट हो जाती है, तब तो नाम आदि चार अघातिया कर्मोंकी निर्जरा करानेवाली आत्मीय शक्ति भी चारित्रगुणमें ही अंतर्भूत हो जावेगी। उस कारण क्षायिक सम्यक्त्वमें भी नहीं तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें उस शक्तिका अंतर्भाव नहीं होता है। और न क्षायिक ज्ञान अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें भी उस शक्तिका गर्भ होता है। जिससे कि उन सम्यक्त्व और ज्ञानोंके साथ ही उस अघातिया कर्मोंका नाश करनेवाली शक्तिके प्रगट हो जानेका प्रसंग होवे। तथा वह अघातियोंका नाश करनेवाली आत्माके स्वभावरूप शक्ति विचारी आवरण करनेवाले कर्मोंसे रहित है। यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि यदि वह शक्ति प्रतिबंधकोंसे रहित होती तो सदा ही आत्मामें प्रगट बनी रहती और इस प्रकार आत्माके स्वभाव करके ही अघातियोंके नाश हो जानेसे संसार ही नहीं बन सकता था। सर्व ही जीव बिना प्रयत्नके मुक्त बन जाते। अतः उस शक्ति का चारित्रमें गर्भ करके चारित्रमोहनीय कर्मको उस शक्तिका प्रतिबंधक मानना चाहिये। यह मन्तव्य अच्छा है।

न ज्ञानदर्शनावरणान्तरायैः प्रतिबद्धा तेषां ज्ञानादिप्रतिबन्धकत्वेन तदप्रतिबंधकत्वात्।

चारित्रमोहनीय कर्मको उस शक्तिका प्रतिबन्धक नहीं मानकर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंसे प्रतिबन्ध होना मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि वे तीन कर्म तो नियतरूपसे ज्ञान आदिके प्रतिबन्धक हैं। इस कारण उन चार अघातिया कर्मोंको नाश करनेवाली शक्तिके वे प्रतिबन्धक नहीं हो सकेंगे। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म आत्माके ज्ञानस्वभावको रोकता है और दर्शनावरण कर्म दर्शनगुणको बिगाड रहा है तथा अन्तरायकर्म वीर्यगुणका ध्वंस कर देता है। अतः इन कर्मोंके अलग अलग कार्य बटे हुए हैं। किन्तु चारित्रका शरीर बहुत बडा है। संसार अवस्थामें भी पहिले चौथे गुणस्थानमें चारित्रगुणका विभाव अनेक संकरपर्यायरूप हो रहा है। एक ही समय आत्मामें चाहें चारों या तीनों क्रोध भी हैं। अरति, शोक भी हैं। भय जुगुप्सायें

परिणति है। वेद भी विद्यमान है। ये सब चारित्रगुणके चिन्ह या संकररूप विभावपर्याय हैं। एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय होती है। यहां जटाजूट बंधगया है। चारित्रका विभाव और स्वभाव दोनों ही अनेक धर्मोंसे सहित हैं। अतः चारित्रमोहनीय कर्मको उस शक्तिका प्रतिबन्धक मानना चाहिये।

नापि नामाद्यघातिकर्मभिस्तत्क्षयानन्तरं तदुत्पादप्रसक्तेः तथा चान्योन्याश्रयणात् सिद्धे नामाद्यघातिक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावात्तत्सिद्धौ नामाद्यघातिक्षयात् इति, चारित्रमोहस्तस्याः प्रतिबंधकः सिद्धः।

यदि अघातिया कर्मोंके नाश करनेवाली शक्तिका प्रतिबंध होना नाम आदि अघातिया कर्मोंके द्वारा माना जावे सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा होनेपर तो उन नाम, गोत्र, आयु और वेदनीयके नाश हो जानेके पश्चात् उस शक्तिकी उत्पत्ति होनी चाहिये। किंतु नाम आदिकके नाश होनेके प्रथम ही उस शक्तिका उत्पाद हो जाता है। तभी तो उस शक्तिके प्रगट हो जानेपर पीछेसे नाम आदिका नाश हो सकेगा। अतः वैसा माननेपर इस ढंगसे परस्पराश्रय दोष होगा कि नाम आदि अघातिया कर्मोंके क्षयके सिद्ध होनेपर उनको निर्जर करनेवाली शक्तिका प्रादुर्भाव होवे और उस निर्जराशक्तिका प्रादुर्भाव सिद्ध हो चुके तब कहीं नाम आदि चार अघातिया कर्मोंका क्षय होना बने। इस प्रकार परस्पराश्रय दोषके हो जानेसे किसी भी कार्यकी सिद्धि न हुयी। इस कारण उस शक्तिका प्रतिबंध करनेवाला चारित्रमोहनीयकर्म ही सिद्ध होता है।

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्। प्रधानं हि कारणं मोहक्षयो नामादिनिर्जरणशक्तेर्नायोगकेवलिगुणस्थानोपान्त्यान्त्यसमयं सहकारिणमंतरेण तामुपजनयितुमलं सत्यपि केवले ततः प्राक्तदनुत्पत्तेरिति। न सा मोहक्षयनिमित्ताऽपि क्षीणकषायप्रथमक्षणे प्रादुर्भवति, नापि तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यते।

जब कि अघातियोंकी निर्जरा करनेवाली शक्तिका प्रतिबंधक जैन लोग चारित्र मोहनीयको मानेंगे तो बारहवें गुणस्थानके पहिले समयमें वह शक्ति प्रगट हो जानी चाहिये, इस प्रकारका प्रसंग हो जाना भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण कार्योंके प्रति अवश्य अपेक्षा करने योग्य कालविशेष सहकारी कारण माना गया है। वनस्पति, धान्य, फल, फूल आदि पदार्थ भिन्न भिन्न समयोंमें ही उत्पन्न होते हैं। वनोंमें सैकडों बीज पडे रहते हैं। मिट्टी, पानी घाम (धूप) ये सहकारी कारण भी विद्यमान हैं। किंतु समय (व्यवहार काल) पाकर ही वे फलते फूलते हैं। सर्वदा नहीं। वैसे ही मोहनीयके क्षय हो जानेपर भी उस शक्तिको सहकारी कारणविशेष कालकी अपेक्षा है।

उस समय बारहवेंके आदिमें वह सहकारी कारण माना गया विशेषकाल नहीं है। अतः उस समय वह शक्ति प्रगट नहीं हो पाती है। नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्मोंकी समूल निर्जरा करने वाली शक्तिका प्रधान कारण तो मोहनीय कर्मका क्षय ही है। किंतु वह मोहक्षय अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अंतिमके निकट होरहे उपान्त्य समय और अंतिम समयरूप सहकारी कारणके विना उस शक्तिको पूर्णरीत्या प्रगट करनेके लिये समर्थ नहीं है। जिस शक्तिके द्वारा चौदहवेंके उपांत्य समयमें बहत्तर प्रकृतियोंका और अन्त्य समयमें तेरह प्रकृतियोंका क्षय हो जानेवाला है। तेरहवेंकी आदिमें केवलज्ञान हो जानेपर भी परिपाक समयके विना चौदहवेंके उन अन्त्य, उपान्त्य समयोंसे पहिले वह शक्ति उत्पन्न नहीं होपाती है। इस कारण मोहक्षयके निमित्तसे हो जानेवाली भी वह शक्ति क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानके पहिले समयमें प्रगट नहीं होती है। और उस शक्तिका प्रतिबंध करनेवाला चारित्र मोहनीय कर्म जब सिद्ध हो चुका तो उस शक्तिका आवरक बननेके लिये आठ कर्मोंसे अतिरिक्त नववें कर्म माननेका भी प्रसंग नहीं आता है।

इति स्थितं कालादिसहकारिविशेषापेक्षं क्षायिकं चारित्रं, क्षायिकत्वेन सम्पूर्णमपि मुक्त्युत्पादने साक्षादसमर्थं केवलात्प्राक्कालभावि तदकारकम्। केवलोत्तरकालभावि तु साक्षान्मोक्षकारणं सम्पूर्णं केवलकारणकमन्यथा तदघटनात्।

इस प्रकार अबतक ऊहापोह पूर्वक सिद्ध हुआ कि मोहनीय कर्मके क्षयसे जन्य होनेकी अपेक्षासे यद्यपि क्षायिकचारित्र बारहवेंकी आदिमें सम्पूर्ण भी हो चुका है, किन्तु अव्यवहित उत्तर कालमें मोक्षको प्राप्त करानेके लिये वह समर्थ नहीं है। क्योंकि सहकारी कारण कहे गये, काल-विशेष आदिकी उसको अपेक्षा है। केवलज्ञानसे पहिले कालमें होनेवाला चारित्र तो कारकहेतु ही नहीं है। क्योंकि मोक्षके कारकहेतु तीनों रत्न माने गये हैं। वहां दो ही हैं। हां! केवलज्ञानके उत्तर कालमें होनेवाला तो वह चारित्र जब अपने अंशोंमें अपने आनुषङ्गिक स्वभावोंसे परिपूर्ण हो जावेगा। तो चौदहवेंके अन्तमें साक्षात् (अव्यवहित उत्तरकालमें) मोक्षका कारण हो जाता है। अतः पूर्णचारित्रका कारण केवलज्ञान है। केवलज्ञान हुए विना दूसरे प्रकारसे चौदहवेंके अन्त समयमें होनेवाली चारित्रकी वह पूर्णता नहीं बन सकेगी। ऐसा होनेपर केवलज्ञानके विद्य-मान होते हुए भी पूर्ण चारित्र विकल्पनीय समझा जाता है।

कालापेक्षितया वृत्तमसमर्थं यदीष्यते।
व्यादिसिद्धक्षणोत्पादे तदन्त्यं तादृगित्यसत् ॥ ९१ ॥
प्राच्यसिद्धक्षणोत्पादापेक्षया मोक्षवर्त्मनि।
विचारप्रस्तुतेरेवं कार्यकारणतास्थितेः ॥ ९२ ॥

चारित्रगुण विशेषकालकी अपेक्षा रखता है। इस कारण शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करानेमें असमर्थ है। यदि ऐसा इष्ट करोगे तो चौदहवेंके अंतमें होनेवाला पूर्णचारित्र भी सिद्ध भगवान्की दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयोंमें होनेवाली पर्यायोंके पैदा करनेमें भी असमर्थ होगा। क्योंकि चौदवेंके अंतमें होनेवाला पूर्णचारित्र पहिले समयकी सिद्ध पर्यायको तो बना देगा। क्योंकि उसके अव्यवहित पूर्वसमयमें समर्थ कारण विद्यमान है। किंतु दूसरे, तीसरे, आदि समयोंकी पर्यायोंको बनानेमें वह वैसा ही असमर्थ रहा आवेगा। ऐसा होनेपर दूसरे, तीसरे प्रभृति समयोंमें वे सिद्ध भगवान् मुक्त न रह सकेंगे, इस प्रकार किसीका कहना तो प्रशस्त नहीं है। क्योंकि कहीं भी कार्यकारणभावका यदि विचार होता है तो वह कार्यके पहिले समयकी पर्यायको पैदा करानेमें ही होता है। प्रकृतमें भी उमास्वामी महाराजका पहिले समयकी सिद्ध पर्यायके उत्पन्न होनेकी अपेक्षासे मोक्षमार्गके प्रकरणमें विचार होनेका प्रस्ताव चल रहा है और ऐसा होनेसे ही कार्यकारणभावकी प्रमाणोंसे सिद्धि होती है। देखिये! सबसे पहिली घटपर्याय उसके पूर्ववर्ती कोष, कुशूल, दण्ड, चक्र, कुलाल, मृत्तिका आदि कारणोंसे होती हुयी मानी है। घटके उत्पन्न हो जानेपर पुनः उस घटकी उत्तरवर्ती सदृश पर्यायोंका कारण पूर्व समयवर्ती परिणाम या कालद्रव्य माने गये हैं। उनमें दण्ड, चक्र, कुलाल, आदिकी आवश्यकता नहीं है। वैसे ही पहिले समयकी सिद्ध पर्यायका कारण सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और परिपूर्ण चारित्र हैं। दूसरे, तीसरे, आदि समयोंमें होनेवाली सजातीय सदृश सिद्ध पर्यायोंका कारण रत्नत्रय नहीं है। किंतु काल और पूर्वपर्याय आदि हैं।

न हि द्व्यादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्यकारणभावो विचारयितुमुपक्रांतो येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि? प्रथमसिद्धक्षणेन सह, तत्र च तत्समर्थमेवेत्यसच्चोद्यमेतत्। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात्? धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः। तथा च न किंचित्कस्यचित्समर्थं कारणं, न चासमर्थात्कारणादुत्पत्तिरिति केयं वराकी तिष्ठेत्कार्यकारणता?।

इस तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भ करनेके प्रकरणमें दूसरे तीसरे चौथे, आदि समयोंमें होनेवाली सिद्ध पर्यायोंके साथ चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानके अंतसमयमें होनेवाले रत्नत्रयका कार्यकारणभाव विचार करनेके लिये प्रस्ताव प्राप्त नहीं है, जिससे कि चौदहवेंके अन्त्यसमयवर्ती उस चारित्र या रत्नत्रयकी दूसरे आदि समयोंमें होनेवाली उन सिद्ध पर्यायोंके उत्पन्न करनेमें असमर्थताका प्रसंग दिया जावे। तब तो कैसा कार्यकारणभाव है? सो सुनो! पहिले क्षणकी सिद्ध पर्यायके साथ रत्नत्रयका कार्यकारणभाव है। और वह रत्नत्रय उस पहिली सिद्धपर्यायको उत्पन्न करनेमें समर्थ ही है। इस कारण यह उपर्युक्त आपका कुचोद्य करना प्रशंसनीय नहीं कहा जासकता है। यदि ऐसा

न स्वीकारकर अन्य प्रकार माना जावे अर्थात् कार्यकी पहिली पर्यायको ही पैदा करनेवाला कारण न मानाजावे और पूर्ण कार्यकी सन्तनको पैदा करनेवाला कारण माना जावे तो अग्निरूपी कारण पहिले समयकी धूमकी पर्यायको पैदा करता हुआ भी धूमके उत्पन्न करनेमें समर्थ क्यों कहा जाता है ! सर्व ही उत्तरवर्ती धूमपर्यायोंको तो अग्नि पैदा नहीं करती है। पहिले क्षणकी धूम पर्यायसे उत्पन्न हुयी दूसरे समयकी पर्याय और दूसरे समयकी धूमपर्यायसे उत्पन्न हुयी तीसरे आदि समयकी धूमपर्यायके पैदा करनेमें जब अग्निकी सामर्थ्य नहीं है तो इस कारण पहिले समयकी धूमपर्यायको पैदा करनेमें भी उस अग्निकी सामर्थ्य न हो सकनेका प्रसंग आवेगा और तब तो कोई भी कारण किसी भी कार्यका समर्थ कारण न बन सकेगा, और असमर्थ कारणसे तो कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं है। इस प्रकार यह विचारी कार्यकारणता कहां ठहर सकेगी ! तुम ही बताओ। इससे सिद्ध होता है कि विवक्षित समयके कारणका अव्यवहित उत्तरवर्ती एक समयकी पर्यायरूप कार्यके साथ कार्यकारणभाव है। दीपशलाका तो पहिले समयकी दीपकलिकाको उत्पन्न कर चरितार्थ होजाती है, और आगे आगे होनेवाली कलिकायें उन पहिली पहिली कलिकाओंसे उत्पन्न होती रहती हैं। उनमें दीपशलाकाकी आवश्यकता नहीं है।

कालान्तरस्थायिनोऽग्नेः स्वकारणादुत्पन्नो धूमः कालान्तरस्थायी स्कन्ध एक एवेति स तस्य कारणं प्रतीयते तथा व्यवहारादन्यथा तदभावादिति चेत्, तर्हि सयोगकेवलिरत्नत्रयमयोगिकेवलिचरमसमयपर्यन्तमेकमेव तदनन्तरभाविनः सिद्धत्वपर्यायस्यानन्तस्यैकस्य कारणमित्यायातम्। तच्च नानिष्टम्। व्यवहारनयानुरोधस्तथेष्टत्वात्। निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्ति रत्नत्रयमिति निरवद्यमेतत्तत्त्वविदामाभासते।

पूर्व पक्षकार कह रहा है कि जहां घण्टोंसे ही लकडीकी अग्नि जल रही है और लकडियोंमें कुछ गीलापन होनेसे धुआं उठ रहा है, ऐसी दशामें घण्टोंतक रहनेवाली अग्निकी स्थूल पर्याय उत्पन्न समयसे लेकर बुझनेके समय तक एक ही है। इसी प्रकार धूमकी रेखा भी न टूटती हुयी यहांसे वहांतक एक धुआंका स्कन्ध है। इस कारण देर तक ठहरनेवाले अग्निरूप अपने कारणसे उत्पन्न हुआ धुआं भी बहुत कालतक ठहरनेवाला एक ही पौद्गलिक पिण्ड है। अतः वह कालांतरतक ठहरी हुयी अग्नि देरतक ठहरे हुए धूम अवयवीका कारण प्रतीत हो रही है। वैसा ही संसारमें बालकसे लेकर वृद्धोंतकमें व्यवहार हो रहा है—अन्यथा यानी यदि कारणकी स्थूलपर्यायोंका कार्यकी स्थूलपर्यायोंके साथ कार्यकारणभाव नहीं माना जावेगा तो लोकप्रसिद्ध सब व्यवहार रुक जावेंगे। उनका अभाव हो जावेगा। पहिले दिनके पैदा हुए बच्चेका जनक भी बाप कहलाता है और वही उस बच्चेके युवा, वृद्ध होने तक भी वह बाप

कहा जाता है। आमका वृक्ष छोटी अमियांको उत्पन्न करता है। किंतु बडे आम्रफलको भी वही वृक्ष अमियांको बढाते बढाते पैदा कर देता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि इस प्रकार कहोगे, तब तो प्रकृतमें भी तेरहवें गुणस्थानके सयोगकेवलीका क्षायिक रत्नत्रय और अयोगकेवलीके अंतिम समय पर्यंत रहनेवाला विशेष स्वभावरूप सहकारी कारणोंसे परिपूर्ण हुआ वह रत्नत्रय एक ही है और ऐसे ही उस चौदहवेंके अंतिम रत्नत्रयसे होनेवाली प्रथमसमयकी सिद्धपर्याय और उस पर्यायके पश्चात् उत्तरोत्तर अनंतकालतक होनेवाली सदृश अनंतानंत सिद्धपर्यायें भी एकपिण्ड हैं। अतः वह एक ही रत्नत्रय अनंतकालतक होनेवाली सिद्ध पर्यायोंका कारण है। इस प्रकार कार्य-कारणभाव प्रकृतमें भी आ गया। वह हम स्याद्वादियोंको अनिष्ट नहीं है। व्यवहार नयकी प्रधानताकी विवक्षा होनेपर तदनुसार वैसा स्थूल कार्यकारणभाव हम इष्ट कर लेते हैं। हां! निश्चय नयका अवलम्ब करनेपर तो जिस रत्नत्रयके अव्यवहित उत्तर कालमें पहिली मोक्षपर्याय होगी वही मुख्यरूपसे मोक्षका कारण कहा जावेगा। चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली महाराजके अंतिम समयमें रहनेवाला रत्नत्रय उक्त प्रकारसे मोक्षका निर्दोषरूपसे कारण निर्णीत हुआ। यह बात तत्त्वपरीक्षक विद्वानोंको बिना खटकाके झलक रही है। भावार्थ—निश्चय नयसे अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याय कारण है और उत्तर एक समयमें होनेवाला परिणाम कार्य है। इस नयसे गर्भ स्थितिके आदि समयके पुत्रका उत्पन्न करनेवाला जनक पिता है। उसके आगे नौ महीनेकी गर्भावस्था या बाल, कुमार आदि अवस्थाओंका जनक पिता नहीं हो सकता है। पहिली पहिली पर्यायें ही खाद्य, पेय, पोषक आदि सामग्रीसे सहित होकर उन अवस्थाओंकी जनक हैं। किंतु व्यवहार नयसे पूर्व समयमें होनेवाली बहुत देर तककी स्थूलपर्याय उत्तरकालवर्ती देर तक रहनेवाले कार्यकी जनक है। इस व्यवहारनयसे पिता बूढे हो चुके पुत्रका भी बाप कहा जावेगा। प्रायः लोकोपयोगी कार्य इसी नयसे साध्य हो रहे हैं। बिजली, दीप-कलिका आदि कार्योंको हम क्षणिक समझते हैं। वे भी अनेक समयोंतक सदृश-परिणाम लेती हुयीं कुछ देरतक ठहरनेवालीं स्थूल पर्यायें हैं। ऋण लेना देना, गुरुशिष्यभाव, पतिव्रतापन, गेहूंकी रोटी, मिट्टीसे घडा आदि कार्य इस व्यवहार नयकी प्रधानता ही से बनते हैं। इस प्रकार निर्दोष कार्यकारणभावकी व्यवस्था है।

ततो मोहक्षयोपेतः पुमानुद्भूतकेवलः।
विशिष्टकारणं साक्षादशरीरत्वहेतुना ॥ ९३ ॥
रत्नत्रितयरूपेणायोगकेवलिनोंऽतिमे।
क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चितान्नयात् ॥ ९४ ॥
व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत्प्रागेव कारणम्।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं तत्त्ववेदिनाम् ॥ ९५ ॥

इसलिये मानना पडता है कि मोहनीय कर्मके क्षयसे युक्त होरहा और प्रगट हो गया है केवलज्ञान जिसके ऐसा आत्मा अपने चारित्रके विशेष स्वभावसे सहित होकर अव्यवहित उत्तर-कालमें मोक्षका प्रधान कारण है। वह अयोगकेवली महाराजका आत्मा ही चौदहवेंके अन्त समयमें स्थूल सूक्ष्म शरीरोंसे रहित हो जानापनरूप मोक्षके कारण पूर्णरत्नत्रयरूपसे परिणमन करता है। यह बात निश्चयनयसे बाधारहित होकर सिद्ध हो चुकी। यह और व्यवहारनयका आश्रय लेकर तो पहिला ही यह तेरहवें गुणस्थानका यह रत्नत्रय अनंतकालतककी मोक्षका कारण है। अथवा चौदहवेंका रत्नत्रय अनंत सिद्धपर्यायोंका कारण है, जोकि पर्यायें भविष्यमें होनेवालीं हैं। यह बात प्रामाणीकपनेसे सिद्ध हो चुकी है। अतः तत्त्वोंको जाननेवाले विद्वानोंको अधिक विवाद करनेसे विश्राम लेना चाहिये। इस विषयमें विवाद करनेसे कुछ लाभ न निकलेगा। बहुत अच्छा विचार होकर कार्यकारणभावका निर्णय हो चुका है। सारके निकलचुकनेपर खलका कुचलना व्यर्थ है।

संसारकारणत्रित्वासिद्धेर्निर्वाणकारणे।
त्रित्वं नैवोपपद्येतेत्यचोद्यं न्यायदर्शिनः ॥ ९६ ॥
आद्यसूत्रस्य सामर्थ्याद्भवहेतोस्त्रयात्मनः।
सूचितस्य प्रमाणेन बाधनानवतारतः ॥ ९७ ॥

यहां नैयायिककी दूसरे प्रकारसे शंका है कि मोक्षसे विपरीतता रखनेवाले संसारके कारणों को तीनपना जब असिद्ध है तो मोक्षके कारणमें भी तीनपना सिद्ध नहीं हो सकता है। जब कि संसारका कारण अकेला मिथ्याज्ञान है या मिथ्याज्ञान और मोहजाल ये दो हैं, ऐसी दशामें मोक्षके कारण भी एक या दो होने चाहिये। ज्वरको उत्पन्न करनेवाला यदि पित्तदोष है तो औषधि भी केवल पित्तदोषको शमन करनेवाली होनी चाहिये। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका न्यायसे देखनेवाले नैयायिकको यह कुचोद्य नहीं करना चाहिये। क्योंकि आदिके सूत्रमें मोक्षका कारण तीनको बतलाया है। अतः बिना कहे हुए अर्थापत्तिकी सामर्थ्यसे ही इस बातकी सूचना होजाती है कि संसारके कारण भी तीन स्वरूप हैं। इस सूचनाको बाधा देनेवाला कोई भी प्रमाण उतरता नहीं है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्याद्यसूत्रसामर्थ्यात्, मिथ्यादर्शनज्ञान-चारित्राणि संसारमार्ग इति सिद्धेः सिद्धमेव संसारकारणत्रित्वं बाधकप्रमाणाभावात्ततो न संसारकारणत्रित्वासिद्धेर्निर्वाणकारणत्रित्वानुपपत्तिचोदना कस्यचिन्न्यायदर्शितामावेदयति.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों समुदित होकर मोक्षके मार्ग हैं। इस पहिले सूत्रकी सामर्थ्यसे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन संसारके मार्ग हैं, यह

विना कहे सिद्ध हो ही जाता है। अतः बाधक प्रमाणोंके न होनेसे संसारके कारणोंको तीनपना प्रसिद्ध ही है। इस ही कारण किन्हीं नैयायिकोंका यह कटाक्ष करना कि संसारके कारणोंमें जब तीनपना सिद्ध नहीं है तो मोक्षके कारणोंका भी तीनपना सिद्ध न होगा, यह उन नैयायिकोंके न्यायपूर्वक देखनेपनको नहीं कहरहा है। वे केवल नाममात्रके नैयायिक हैं। न्यायको जाननेवाले या न्यायपूर्वक क्रियाको करनेवाले ऐसे अर्थसे नैयायिक नहीं हैं।

विपर्ययमात्रमेव विपर्ययावैराग्यमात्रमेव वा संसारकारणमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेर्न संसारकारणत्रित्वस्य वाधाऽस्ति तथाहि—

अकेला विपर्ययज्ञान ही अथवा विपर्ययज्ञान और रागभाव ये दो ही संसारके कारण हैं, इसकी आप नैयायिक व्यवस्था नहीं कर सकते हैं। अतः संसारके कारणोंको तीनपना माननेकी कोई बाधा नहीं है। मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों ही संसारके कारण हैं। इसी बातको स्पष्टकर दिखलाते हैं।

मौलो हेतुर्भवस्येष्टो येषां तावद्विपर्ययः।
तेषामुद्भूतबोधस्य घटते न भवस्थितिः॥ ९८॥

जिन नैयायिक, सांख्य और वैशेषिकोंके मतमें संसारका सब कारणोंके आदिमें होनेवाला मूलकारण विपर्यय–ज्ञान माना गया है, उन वादियोंके यहां तत्त्वज्ञानके प्रकट हो जानेपर उस जीवकी संसारमें स्थिति होना न बन सकेगा। क्योंकि तत्त्वज्ञानसे विपर्यय ज्ञानका नाश होकर उत्तर क्षणमें ही मोक्ष हो जावेगी। अतः तत्त्वोंका उपदेश देनेके लिये योगीका संसारमें ठहरना न हो सकेगा।

अतस्मिंस्तद्ग्रहो विपर्ययः, स दोषस्य रागादेर्हेतुः, तद्भावे भावात्तदभावेऽभावात्। सोऽप्यदृष्टस्याशुद्धकर्मसंज्ञितस्य, तदपि जन्मनस्तद्दुःखस्यानेकविधस्येति मौलो भवस्य हेतुर्विपर्यय एव येषामभिमतस्तेषां तावदुद्भूततत्त्वज्ञानस्य योगिनः कथमिह भवे स्थितिर्घटते कारणाभावे कार्योत्पत्तिविरोधात्।

जो तद्रूप नहीं है, उसमें तद्रूपपनेका ज्ञान करलेना विपर्ययज्ञान है। जैसे कि लेजुमें सांपका ज्ञान या चांदीमें सीपका ज्ञान। वैसे ही शरीर, धन पुत्र, कलत्र आदिमें मैं और मेरा इस ज्ञानको विपर्यय कहते हैं। वह विपर्यय ज्ञान राग, द्वेष, अज्ञान, आदि दोषोंका कारण है। क्योंकि उस विपर्ययके होनेपर राग आदिक दोष होते हैं और उसके न होनेपर नहीं होते हैं। यह अन्वयव्यतिरेक घट जाता है। और वे राग आदिक दोष भी अशुद्धकर्म हैं नाम जिनके, ऐसे पुण्यपापरूप अदृष्टके कारण हैं। और वह पुण्यपापकर्म भी जन्म लेनेका कारण है। और वह

जन्मलेना अनेक प्रकारके शारीरिक, मानसिक, दुःखोंका कारण है। इस प्रकार संसारका जडरूप मूलकारण विपर्ययज्ञान ही है। उस ही से अन्य कारणोंकी शाखायें चलती हैं। " दुःखजन्म प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः " ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार जिन नैयायिक आदि वादियोंने माना है, उनके यहां पहिले यह बतलाओ कि तत्त्वज्ञानके उत्पन्न होनेपर भला योगीका इस संसारमें ठहरना कैसे बनेगा ? कारणके न रहनेपर कार्यकी उत्पत्ति होनेका विरोध है, अर्थात् शरीर, आयु, जन्म धारण करना, आदि सबका मूलकारण विपर्ययज्ञान था। जब तत्त्वज्ञान द्वारा विपर्ययका जडसे नाश हो गया तो फिर भला संसारमें ठहरना कैसे होगा ? कारण नहीं है तो कार्य किस बलसे पैदा होगा ! कहिये।

संसारे तिष्ठतस्तस्य यदि कश्चिद्विपर्ययः ।
सम्भाव्यते तदा किन्न दोषादिस्तन्निबन्धनः ॥ ९९ ॥

संसारमें ठहरते हुए उस योगीके यदि कोई न कोई विपर्ययज्ञान सम्भावित किया जावेगा तो उस योगीके विपर्ययको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले दोष, पुण्य पाप, जन्म लेना, दुःख भोगना, आदि कार्य भी क्यों नहीं माने जावेंगे ?। समर्थ कारण अपने नियत कार्यको अवश्य उत्पन्न करेगा।

समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्याप्यशेषतोऽनागतविपर्ययस्यानुत्पत्तिर्न पुनः पूर्वभवोपात्तस्य पूर्वाधर्मनिबंधनस्य ततोऽस्य भवस्थितिर्घटत एवेति सम्भावनायां, तद्विपर्ययनिबंधनो दोषस्तद्दोषनिबंधनं चादृष्टं, तददृष्टनिमित्तं च जन्म, तज्जन्मनिमित्तं च दुःखमनेकप्रकारं किन्न सम्भाव्यते ?

नैयायिक कहते हैं कि तत्त्वज्ञानके भले प्रकार उत्पन्न हो जानेपर भविष्यमें आनेवाले विपर्ययोंकी उत्पत्ति होना पूर्ण रूपसे रुक गया है, किंतु फिर पूर्वजन्मोंमें ग्रहण किये हुए पहिले अधर्मोंको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले विपर्ययोंका उत्पाद होना नहीं रुका है, वे तो फल देकर झरेंगे। विना फल दिये सञ्चित कर्म नहीं नष्ट होते हैं। अतः उस पूर्व अदृष्ट नामक कारणके द्वारा उत्पन्न किये गये विपर्यय ज्ञानोंका उपभोग करते हुए इस योगीका संसारमें कुछ दिन तक ठहरना बन ही जाता है। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंके प्रत्युत्तरकी सम्भावना होनेपर हम कहते हैं कि उस विपर्ययको कारण मानकर योगीके राग आदिक दोष अवश्य पैदा हो जावेंगे और उस दोषको कारण मानकर पुण्य, पाप भी उत्पन्न होगा और पुण्य, पापके निमित्तसे जन्म तथा जन्मके निमित्तसे अनेक प्रकारके दुःख उस योगीके क्यों नहीं सम्भवते हैं ? अर्थात् ये कार्य भी तत्त्वज्ञानीके हो जावेंगे। ऐसी दुःखित, दूषित, अवस्थामें भला योगी समीचीन उपदेश कैसे देगा ? आप ही विचारो।

न हि पूर्वोपात्तो विपर्यासस्तिष्ठति न पुनस्तन्निबन्धनः पूर्वोपात्त एव दोषादिरिति प्रमाणमस्ति तत्स्थितेरेव प्रमाणतः सिद्धेः।

पहिले जन्ममें ग्रहण किया हुआ मिथ्या अभिनिवेश तो योगीके ठहरा रहे और उसको कारण मानकर पहिले जन्ममें धारासे उत्पन्न हुए ही दोष, पाप, दुःख, आदि फिर न होवें, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। उस विपर्यासकी स्थितिसे ही दोष, जन्म, आदिका होना प्रमाणसे सिद्ध होता है। कारण है तो कार्य होगा ही, अतः अकेले मिथ्याज्ञानसे संसारकी व्यवस्था और अकेले तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

तथा सति कुतो ज्ञानी वीतदोषः पुमान्परः।
तत्त्वोपदेशसन्तानहेतुः स्याद्भवदादिषु ॥ १०० ॥

वैसा होनेपर तत्त्वज्ञानीके भी विपर्यय और दोषोंकी जब सम्भावना है तो दोषोंसे रहित होकर उत्कृष्ट, तत्त्वज्ञानी, पुरुष भला तत्त्वोंके उपदेशकी आजतक संतान बने रहनेका कारण आप नैयायिक, वैशेषिक आदिकोंमें कैसे बनेगा ? बताओ। इसका आप विचार कीजिये। हां! सदैव अज्ञका उपदेश आप लोगोंमें प्रवर्तता रहेगा।

पूर्वोपात्तदोषादिस्थितौ च तत्त्वोपदेशसम्प्रदायाविच्छेदहेतोर्भवदादिषु विनयेषु सर्वज्ञस्यापि परमपुरुषस्य कुतो वीतदोषत्वं येनाज्ञोपदेशविप्रलम्भनशंकिभिस्तदुक्तप्रतिपत्तये प्रेक्षावद्भिर्भवद्भिः स एव मृग्यते।

तत्त्वज्ञानीके पूर्व जन्मोंमें ग्रहण किये गये राग, द्वेष, आदि दोष और पाप, दुःख आदिकी स्थिति रहनेपर तत्त्वोपदेशकी आप लोगोंमें आम्नायके न टूटनेके कारण माने गये उस परमपुरुष सर्वज्ञको भी दोषोंसे रहितपना भला कैसे सिद्ध होगा ? बताओ। जिस सर्वज्ञकी आप नैयायिक, वैशेषिक आदिक विनीत होकर भक्ति करते हैं, जिससे कि विचारक विद्वानों करके उसी सर्वज्ञका अन्वेषण किया जाय। यदि आपके माने हुए सर्वज्ञ परमपुरुषमें निर्दोषपना सिद्ध होगया होता, तब तो विचारशील बुद्धिवाले आप लोगोंके द्वारा वह सर्वज्ञ ही उसके कहे हुए तत्त्वोंका विश्वास करनेके लिये ढूंढा जाता। किंतु जिन विचारशीलोंको अज्ञ, सदोष, कल्पित, सर्वज्ञके आज्ञापित उपदेशमें धोखा होजानेकी शंका होरही है, उनके द्वारा उस सर्वज्ञको ढूंढनेकी आवश्यकता न होगी। कोई भी विचारशील वादी सदोष और भ्रांतिज्ञान करानेवाले पुरुषको तत्त्वोपदेशकी आम्नायके न टूटनेमें कारण नहीं मानता है। भावार्थ—सदोष ज्ञानीसे समीचीन तत्त्वोंके उपदेशकी सन्तान नहीं चल सकती है।

यदि पुनर्न योगिनः पूर्वोपात्तो विपर्ययोऽस्ति नापि दोषस्तस्य क्षणिकत्वेन स्वकार्यमदृष्टं निर्वर्त्य निवृत्तेः, किं तर्ह्यदृष्टमेव तत्कृतमास्ते तस्याक्षणिकत्वादन्त्येनैव कार्येण विरोधित्वात्तत्कार्यस्य च जन्मफलानुभवनस्योपभोगेनैव निवृत्तेस्ततः पूर्वं तस्यावस्थितिरिति मतं, तदा तत्त्वज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तस्मिन्नेव जन्मनि विपर्ययो न स्यात्पूर्वजन्मन्येव तस्य निवृत्तत्वात्, तद्वद्दोषोपीत्यापतितं, तत्कृताद्दृष्टस्यैव स्थितेः न चैतद्युक्तं, प्रतीतिविरोधात्।

फिर यदि आप यों कहेंगे कि तत्त्वोंको जाननेवाले योगी पुरुषके पहिले जन्ममें ग्रहण किया हुआ विपर्ययज्ञान नहीं है और न उनके कोई राग आदिक दोष भी हैं। क्योंकि विपर्यय और दोष तो आत्माके विशेष गुण हैं। विभु द्रव्योंके प्रत्यक्ष करने योग्य ज्ञान, सुख, दुःख आदिक विशेष गुण क्षणिक होते हैं। "योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्त्तियोग्यविभुविशेषगुणनाश्यत्वनियमात्" इससे वे दो क्षण ठहरकर तीसरे क्षणमें नष्ट हो जाते हैं। अतः वे अपने कार्य पुण्य, पाप, को पैदा करके शीघ्र ही निवृत्त हो जाते हैं, तब तो शेष क्या रह जाता है? इसका उत्तर यह है कि उनका किया हुआ पुण्यपाप ही आत्मामें विद्यमान रहता है। क्योंकि उस पुण्य, पाप गुणको क्षणिक नहीं माना गया है। वे प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं। पहिले सञ्चित किये हुए पुण्यपापोंका अपने अंतिम कार्यके साथ विरोध है। भावार्थ—पुण्य पाप अपना कार्य कुछ दिनोंतक या देरतक करते करते जब अंतका कार्य कर चुकते हैं, उस अंतिम कार्यसे उन पुण्य पापोंका नाश हो जाता है। अतः योगीके भी पूर्वसंचित कर्मोंसे उत्पन्न हुए जन्म लेकर फल भोगनारूप उपभोगों करके ही उस पुण्यपापकी निवृत्ति हो सकेगी। अतः तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी जबतक वर्तमान मनुष्य जन्म रहता है, तबतक उससे पहिले कालमें योगीकी स्थिति बनी रहती है। और वे निर्दोष सर्वज्ञ शरीरवचनधारी होकर विनय करनेवाले जीवोंके लिये तत्त्वोपदेश करते हैं। इस प्रकार तुम्हारा मंतव्य है, तब तो हम जैन कहते हैं कि तब तो तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिसे पहिले उस ग्रहीत जन्ममें ही विपर्यय ज्ञान न रह सकेगा। क्योंकि वह तो पूर्वजन्ममें ही निवृत्त हो चुका है और वैसे ही उस जन्ममें राग आदिक दोष भी नहीं बनेंगे, यह बात आपके कहनेसे आपडती है। आप तो उस जन्ममें केवल पूर्वजन्मके उन विपर्यय और रागसे किये गये अदृष्टकी ही स्थिति मानते हैं। किंतु यह आपका मानना तो युक्त नहीं है। पण्डिताईके पहिले मूर्खता अवश्य है। तत्त्वज्ञानसे पहिले भी विपर्यय, राग, आदि दोषोंको न स्वीकार करना यह प्रतीतियोंसे विरुद्ध है। किसी निर्णीत किये गये कार्यकारणभावका, व्यक्तिकी अपेक्षासे, भंग नहीं होता है। सेठके घरकी आग ठण्डी हो और दरिद्रके घरकी आग गरम होवे, ऐसा नहीं है। सूर्य तथा चन्द्रमाकी घाम और चांदनी जैसे राजाके महलोंमें है, वैसी ही निर्धनोंकी झोंपडियोंमें है। चाहे कोई भी परमपूज्य व्यक्ति क्यों न हो तत्त्वज्ञानके पहिले उसके दोष और विपर्यय अवश्य विद्यमान रहेंगे। क्योंकि

आत्मामें उनका कारण बैठा हुआ है कार्यकारणभावमें पक्षपात नहीं चलता है। कारण अवश्य कार्योंको उत्पन्न करेगा आप नैयायिकोंके यहां बिना फल दिये कर्म झडना नहीं माना गया है।

यदि पुनः पूर्वजन्मविपर्ययाद्दोषस्ततोप्यधर्मस्तस्मादिह जन्मनि मिथ्याज्ञानं ततोऽपरो दोषस्ततोप्यधर्मस्तस्मादपरं मिथ्याज्ञानमिति तावदस्य संतानेन प्रवृत्तिर्यावत्तत्त्वज्ञानं साक्षादुत्पद्यते इति मतं, तदा तत्त्वज्ञानकालेऽपि तत्पूर्वानन्तरविपर्यासाद्दोषोत्पत्तिस्ततोप्यधर्मतस्तोऽन्यो विपर्यय इति कुतस्तत्त्वज्ञानादनागतविपर्ययादिनिवृत्तिः ?।

फिर भी यदि आप यों मानें कि पहिले जन्मके मिथ्याज्ञानसे राग, द्वेष, उत्पन्न होंगे और उन दोषोंसे आत्मामें पाप पैदा होगा। उस पापसे इस जन्ममें फिर मिथ्याज्ञान होगा। उस मिथ्याज्ञानसे दूसरा दोष, उससे भी पाप, फिर उस पापसे भी तीसरा मिथ्याज्ञान इस प्रकार तद्भवमोक्षगामीके भी तबतक संतानरूपसे मिथ्याज्ञान आदिकी प्रवृत्ति होती रहेगी, जबतक कि योगीके साक्षात् प्रत्यक्ष करनेवाला तत्त्वोंका ज्ञान उत्पन्न होवेगा, अर्थात् जबतक तत्त्वोंका ज्ञान न होगा, तबतक धारा चलेगी। पीछे संतान रुक जावेगी। आप नैयायिक ऐसा मानेंगे, तब तो तत्त्वज्ञानके समयमें भी कार्यकारणभावसे चले आये उस अव्यवहित पूर्ववर्ती विपर्ययज्ञानसे दोषोंकी उत्पत्ति होगी और उन दोषोंसे भी अधर्म उत्पन्न होगा और उस अधर्मसे फिर एक निराला विपर्ययज्ञान पैदा होगा। इस प्रकारकी धारा अनंतकालतक चलती रहेगी। आप बिना फल दिये हुए पापका नाश मानते नहीं है। कारण है तो कार्य अवश्य होगा। भला ऐसी दशामें तत्त्वोंके ज्ञानसे भविष्यमें होनेवाले मिथ्याज्ञान, दोष, पुण्य, पाप, पुनः जन्म लेना आदि अनेक प्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति कैसे हो सकेगी ? आप नैयायिक ही इसका उत्तर दो।

वितथाग्रहरागादिप्रादुर्भावनशक्तिभृत्।
मौलो विपर्ययो नान्त्य इति केचित्प्रपेदिरे ॥ १०१ ॥

कोई कोई नैयायिक यों समझे हुए हैं कि पहिला मूलभूत जडका विपर्ययज्ञान तो अतत्में तत्का झूंठा ज्ञान कराना हठ, राग, पाप, दुःख, जन्मलेना आदि शाखारूप कार्योंके प्रकट करानेवाली शक्तिको धारण करता है। किंतु अंतमें होनेवाला विपर्ययज्ञान तो दोष, पाप, आदिको उत्पन्न नहीं करा सकता है। भावार्थ—कुदेवको देव समझना, अतत्त्वको तत्त्व समझना आदि चलाकर किये गये विपर्यास तो राग, पाप, पुनर्जन्म आदिके कारण हैं, किंतु अंतका फलरूप विपर्यय ज्ञान फिर राग आदिकी संततिको नहीं चलाता है, जैसे कि जैनोंको भी द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्मकी धाराका प्रवाह अंतमें तोडना पडता है। इस प्रकार कोई समझ बैठे हैं।

मौल एव विपर्ययो वितथाग्रहरागादिप्रादुर्भावनशक्तिबिभ्राणो मिथ्याभिनिवेशात्मकं दोषं जनयति, स चाधर्ममधर्मश्च जन्म तच्च दुःखात्मकं संसारं, न पुनरन्त्यः

क्रमादपकृष्यमाणतज्जननशक्तिकविपर्ययादुत्पन्नस्तज्जननशक्तिरहितोऽपि यतस्तत्त्वज्ञानकाले मिथ्याभिनिवेशात्मकदोषोत्पत्तिस्ततोऽप्यधर्मादिरुत्पद्येतेति केचित्संप्रतिपन्नाः।

मूलमें उत्पन्न हुआ विपर्यय ज्ञान ही झूंठे अभिनिवेश, राग, पाप, आदिके उत्पन्न करानेकी शक्तिको धारण करता हुआ मिथ्या हठ करना, रागद्वेष करना रूप दोषोंको उत्पन्न कराता है और वह दोष अधर्मको पैदा करता है। अधर्म जन्मको और वह जन्म लेना तो अनेक दुःख स्वरूप संसारको पैदा करा देता है। किन्तु शक्तिहीन होरहा अन्तका विपर्ययज्ञान फिर दोष आदिककी धाराको नहीं चलाता है। क्योंकि क्रमसे कमती कमती हो रही है उन दोष आदिकको जन्म करानेकी शक्ति जिनकी, ऐसे विपर्ययज्ञानोंसे कुछ धाराके पश्चात् अन्तमें ऐसा विपर्यय भी पैदा होता है कि उन दोष विपर्ययज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे सर्वथा रहित है। अर्थात् जैसे कि हम गोली या डेला फेंकते हैं अथवा कुलाल चाकको घुमाता है। यहां वेगके द्वारा फिकना और घूमनारूप क्रियाओंकी धारा चलती है। किन्तु अंतका वेग क्रियाको पैदा नहीं करता है। वहींपर डेला गिरजाता है और चाक थमजाता है। अतः सिद्ध होता है कि अंतका विपर्यय पुनः धाराको चलानेकी शक्तियोंसे रहित है। अतः पुनः दोष आदिकी धारा तत्त्वज्ञानीके नहीं चलेगी। जिससे कि आप जैनलोग तत्त्वज्ञानके समयमें भी झूंठे आग्रहरूप दोषोंकी उत्पत्ति और उससे भी अधर्म तथा उस अधर्मसे जन्म आदि उत्पन्न होंगे, इस प्रकारका आपादन कर सकें। ऐसा समझकर कोई नैयायिक विश्वास कर बैठे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि:—

तेषां प्रसिद्ध एवायं भवहेतुस्त्रयात्मकः।
शक्तित्रयात्मतापाये भवहेतुत्वहानितः॥ १०२॥

उन नैयायिकोंके यहां तो यह बडी अच्छी तरह प्रमाणोंसे सिद्ध हो गया कि संसारका कारण भी मिथ्यादर्शन-आदि तीनरूप ही है। तीन सामर्थ्य स्वरूपपना न मानने पर तो अकेले विपर्ययमें संसारके कारणपनेकी हानि हो जावेगी।

य एव विपर्ययो मिथ्याभिनिवेशरागाद्युत्पादनशक्तिः स एव भवहेतुर्नान्य इति वदतां प्रसिद्धो मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मको भवहेतुर्मिथ्याभिनिवेशशक्तेरेव मिथ्यादर्शनत्वान्मिथ्यार्थग्रहणस्य स्वयं विपर्ययस्य मिथ्याज्ञानत्वाद्रागादिप्रादुर्भवनसामर्थ्यस्य मिथ्याचारित्रत्वात्।

जो ही विपर्यास ज्ञान झूंठा आग्रह, रागभाव, आदिकोंके उत्पन्न करानेकी शक्तिको रखता है, वही मिथ्याज्ञान संसारका कारण है। दूसरा अंतमें होनेवाला मिथ्याज्ञान तो संसारका कारण नहीं है। इस प्रकार कहनेवाले नैयायिक, वैशेषिकोंके मतमें भी यह प्रमाणसे सिद्ध हो चुका कि

संसारका कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप है। क्योंकि विपर्यासमें लगी हुयी मिथ्या अभिनिवेशरूप शक्तिको ही मिथ्यादर्शनपना है तथा झूंठे अर्थोंको हठसहित जानलेना स्वयं विपर्ययरूप तो मिथ्याज्ञान है ही, और विपर्ययमें विद्यमान राग, द्वेष, आदिकको प्रगट करानेकी शक्तिको मिथ्याचारित्र कहना चाहिये। इसप्रकार अभेदको ग्रहण करनेवाली द्रव्यदृष्टिसे तीन शक्तियुक्त मिथ्याज्ञान ही मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप है। तथा च मोक्ष और संसारका मार्ग तीन संख्यावाला सिद्ध हुआ।

ततो मिथ्याग्रहावृत्तशक्तियुक्तो विपर्ययः।
मिथ्यार्थग्रहणाकारो मिथ्यात्वादिभिदोदितः॥ १०३॥

उस कारण झूंठा अन्वविश्वास, झूंठा जानना और झूंठी क्रिया करना इन तीन शक्तियोंसे या मिथ्या, अभिनिवेश और मिथ्याचारित्र इन दो शक्तियोंसे सहित होरहा विपर्ययज्ञान ही मिथ्या अतत्वरूप अर्थोंको ग्रहण करनेका उल्लेख करता हुआ पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे मिथ्यात्व आदि यानी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन भेदोंसे कहा जाता है।

न हि नाममात्रे विवादः स्याद्वादिनोऽस्ति क्वचिदेकत्रार्थे नानानामकरणस्याविरोधात्। तदर्थे तु न विवादोऽस्ति मिथ्यात्वादिभेदेन विपर्ययस्य शक्तित्रयात्मकस्येरणात्।

अकेले शब्दके भेद हो जानेसे केवल नाममें स्याद्वादी लोग विवाद नहीं करते हैं। क्योंकि किसी एक अर्थमें भी अनेक भिन्न भिन्न प्रकारके नाम कर लेनेका कोई विरोध नहीं है। एक पदार्थका कतिपय नामोंसे वाचन हो जाता है। किन्तु उसके वाच्य अर्थमें कोई झगडा नहीं है। प्रकृतमें तीन सामर्थ्योंसे तदात्मक होरहे विपर्ययको नैयायिकोंके द्वारा मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके भेदसे ही निरूपण किया गया है। वस्त्र और अलंकारोंसे सहित देवदत्तका कहना और पृथक्रूपसे वस्त्र, अलंकार और देवदत्त इन तीनोंका कहना एक ही प्रयोजनको रखता है। अत्यन्त सूक्ष्म अन्तरका इस प्रकरणमें विचार नहीं है। अतः प्रेरणा अनुसार तीनको संसारका मार्गपना नैयायिकोंने इष्टकर लिया समझना चाहिये।

तथा विपर्ययज्ञानासंयमात्मा विबुध्यताम्।
भवहेतुरतत्त्वार्थश्रद्धाशक्तिस्त्रयात्मकः॥ १०४॥

जिस प्रकार केवल मिथ्याज्ञानको संसारका कारण कहनेवालोंको अर्थापत्तिके द्वारा प्रेरित होकर तीन प्रकारसे संसारका मार्ग मानना पडता है, वैसे ही विपर्ययज्ञान और असंयम रूप दो को संसारका मार्ग माननेवालोंके द्वारा भी संसारका कारण अतत्त्व अर्थोंकी श्रद्धारूप शक्तियुक्त दो को कारण माननेसे तीन शक्तिस्वरूप ही संसारका कारण माना गया समझ लेना चाहिये।

यावेव विपर्ययासंयमौ वितथार्थश्रद्धानशक्तियुतौ मौलौ तावेव भवसंतानप्रादुर्भावन-समर्थौ नान्त्यौ प्रक्षीणशक्तिकाविति ब्रुवाणानामपि भवहेतुः त्रयात्मकस्तथैव प्रत्येतव्यो विशेषाभावात् इत्यविवादेन संसारकारणत्रित्वसिद्धेर्न संसारकारणत्रित्वानुपपत्तिः।

जो ही विपर्यय और असंयम (अवैराग्य) झूठे अर्थोंके श्रद्धान करनेकी शक्तिसे सहित होते हुए मूलकारण संसारके माने गये हैं, वे दोनों ही जब मिथ्याश्रद्धानकी शक्तिसे युक्त होंगे तब तो संसारकी संतानको भविष्यमें उत्पन्न करानेके लिये समर्थ हैं। किंतु जब उनकी शक्ति क्रमसे घटती घटती सर्वथा नष्ट हो जावेगी, तब अंतके विपर्यय और अवैराग्य पुनः संसार दुःख पाप आदिकी धाराको नहीं चलावेंगे। इस प्रकार कहनेवाले बौद्धोंको भी संसारका कारण उस ही प्रकारसे तीन स्वरूप निर्णय कर लेना चाहिये। क्योंकि मिथ्याश्रद्धान-युक्त दो को और मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनको संसारका कारण कहनेमें कोई अंतर नहीं है। शाकसे पूरी, कचौडीको खाना तथा शाक, पूरी, कचौडी इन तीनको खाना ये दोनों एक ही बात हैं। इस प्रकार झगडा करनेके विना ही संसारके कारणोंको तीनपना सिद्ध हो जाता है। इस कारण मोक्ष-मार्गके समान संसारकारणको भी तीनपना असिद्ध नहीं है।

युक्तितश्च भवहेतोस्त्रयात्मकत्वं साधयन्नाह;—

युक्तियोंसे भी संसारके कारणोंको तीनस्वरूपपनेका साधन कराते हुए ग्रंथकार कहते हैं।

मिथ्यादृगादिहेतुः स्यात्संसारस्तदपक्षये।
क्षीयमाणत्वतो वातविकारादिजरोगवत् ॥ १०५ ॥

संसार (पक्ष) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन हेतुओंका कार्य होना चाहिये (साध्य)। क्योंकि उन मिथ्यादर्शन आदिके क्रम क्रमसे क्षय होनेपर संसार भी क्रम क्रमसे क्षीण होता जारहा देखा जाता है (हेतु)। जैसे कि वात, पित्त, कफके विकारों आदिसे उत्पन्न हुए रोग अपने निदानोंके क्षय हो जानेसे क्षीण हो जाते हैं (अन्वयदृष्टांत)।

यो यदपक्षये क्षीयमाणः स तद्धेतुर्यथा वातविकाराद्यपक्षीयमाणो वातविकारादिजो रोगः मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रापक्षये क्षीयमाणश्च संसार इति। अत्र न तावदयं वाद्यसिद्धो हेतुः मिथ्यादर्शनस्यापक्षयेऽसंयतसम्यग्दृष्टेरनन्तसंसारस्य क्षीयमाणत्वसिद्धेः संख्यातभव-मात्रतया तस्य संसारस्थितेः।

यह बनी हुयी व्याप्ति है कि जिसके क्रमसे क्षय होनेपर जो क्षयको प्राप्त होता जाता है, वह उसका कारण समझा जाता है। जैसे कि वायुके विकार, पित्तका प्रकोप आदि कारणोंके

क्षय होजानेसे बिगडे हुए वात या पित्तके प्रकोपसे उत्पन्न हुए पीडा, ज्वर, श्लेष्म, आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्रके पूर्णरीत्या क्षय हो जानेपर संसार नष्ट होता हुआ देखा जाता है। इस कारण वे तीन संसारके कारण हैं। यह पांच अवयववाला अनुमान है। पहिले यह देखना है कि इस अनुमानमें दिया गया मिथ्यादर्शन आदिके क्षय होनेपर संसारका क्षय होते जानारूप हेतु हम जैन सिद्धान्ती–वादीको असिद्ध नहीं है। स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार मिथ्यादर्शनका चौथे गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टिजीवके उपशम, क्षय, या क्षयोपशमस्वरूप नाश हो जानेपर अनन्तकालतक होनेवाले संसारका क्षय हो जाना सिद्ध हो जाता है। जिसे एक बार सम्यग्दर्शन हो गया है, वह अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परिवर्तन कालतक संसारमें ठहरेगा। पश्चात् अवश्य मुक्तिको प्राप्त करेगा। अतः उसकी केवल संख्यात भवोंको धारण करनेरूपसे ही संसारमें स्थिति है। अर्थात्–अनन्तानन्त भवोंकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात, या छोटा अनन्तके केवल अंगुलिओंपर गिननेके समान संख्यात ही समझने चाहिये। अधिकसूक्ष्म बातोंको नहीं समझनेवाले प्रतिवादिओंके सन्मुख मोटी मोटी बातें कह दीजाती हैं। अन्यथा एक झगडा निर्णीत नहीं हुआ, तबतक दूसरा तीसरा और खडा हो जाय। कुतर्किओंको समझाना नितान्त कठिन है। अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव तो अधिकसे अधिक चार भवोंमें अवश्य संसारका नाश कर देता है। अतः संसारका काल अत्यन्त न्यून हो जानेसे हेतु पक्षमें रहजाता है। असिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

तत एव मिथ्याज्ञानस्यापक्षये सम्यग्ज्ञानिनः संसारस्य क्षीयमाणत्वं सिद्धम्।

उस ही कारणसे चौथे गुणस्थानमें मिथ्याज्ञानके विघट जानेपर सम्यग्ज्ञानवाले जीवके संसारका क्षयकी तरफ उन्मुख होनापन सिद्ध है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं। अतः सम्यग्ज्ञानी जीव भी जिनदृष्ट संख्यात जन्मोंसे अधिक संसारमें नहीं ठहरता है। अपूर्वकरण अवस्थाके मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिदशासे ही कर्मोंकी असंख्यगुणी निर्जरा होना प्रारंभ हो जाता है।

सम्यक्चारित्रवतस्तु मिथ्याचारित्रस्यापक्षये तद्भवमात्रसंसारसिद्धेर्मोक्षसम्प्राप्तेः सिद्धमेव संसारस्य क्षीयमाणत्वम्।

तथा सम्यक्चारित्रवाले जीवके तो मिथ्याचारित्रके सर्वथा क्षय हो जानेपर केवल उसी जन्मका संसार शेष रहगया सिद्ध है। क्षायिक चारित्रके हो जानेपर उसी जन्ममें मोक्षकी समीचीन प्राप्ति होजाती है। अतः संसारका क्षय हो जाना यहांपर अच्छी तरहसे घट गया। इस कारण स्याद्वादियोंका हेतु सिद्ध है। तीन गुणोंसे तीन दोष नष्ट हो जाते हैं और संसारका क्षय होना क्रमसे चालू होकर पूर्णताको प्राप्त हो जाता है।

न चैतदागममात्रगम्यमेव यतोऽयं हेतुरागमाश्रयः स्यात् तद्ग्राहकानुमानसद्भावात्। तथा हि—

यह बात केवल जैनोंके शास्त्रोंमें श्रद्धा रखनेवाले आज्ञाप्रधानियोंको ही समझने योग्य है। परीक्षक लोग ऐसे संख्यात जन्ममें मोक्ष जानेकी बातोंपर विश्वास नहीं करते हैं, यह नहीं समझ बैठना, जिससे कि हमारा हेतु कोरे आगमकी बातें कहनेवाला होनेसे आगमाश्रय दोषसे दूषित हो जावे। युक्तियोंसे सम्वाद होते होते यदि अपने अपने माने हुए आगमोंकी बात कह दी जाय और यदि उसको हेतुसे पुष्ट न किया जावे तो आगमाश्रय दोष हो जाता है। किंतु हमारे उस हेतुका अनुग्रह करनेवाला दूसरा अनुमान प्रमाण विद्यमान है। अतः आगमाश्रय दोष नहीं है। उसी अनुमानको प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं। दत्तावधान होकर सुनिये।

मिथ्यादर्शनाद्यपक्षये क्षीयमाणः संसारः साक्षात्परम्परया वा दुःखफलत्वाद्विषमविषभक्षणातिभोजनादिवत्, यथैव हि साक्षाद्दुःखफलं विषमविषभक्षणं, परम्परयातिभोजनादि, तन्मिथ्याभिनिवेशाद्यपक्षये तत्त्वज्ञानवतः क्षीयते ततो निवृत्तेः, तथा संसारोऽपि हीनस्थानपरिग्रहस्य दुःखफलस्य संसारत्वव्यवस्थापनत्वात् न च किञ्चित्साक्षात्परंपरया वा दुःखफलं मिथ्याज्ञानाद्यपक्षयेऽप्यदृश्यमाणं दृष्टं येन हेतोर्व्यभिचारः स्यात्।

संसार (पक्ष) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इनके उपशम, क्षयोपशम और क्षयरूप नाश होनेपर क्षयको प्राप्त हो रहा है (साध्य) क्योंकि चतुर्गतियोंमें जन्म, मरण करना रूप संसार अव्यवहित उत्तरकालमें या परंपरासे दुःखरूप फलको उत्पन्न करनेका बीज है। (हेतु) जैसे कि अत्यंत भयङ्कर हालाहलका भक्षण करलेना या प्राणापहारी शस्त्रोंसे कट, भिद, जाना तथा अधिक भोजन कर लेना अथवा अति परिश्रम करना आदिका फल दुःख भोगना है। (दृष्टांत) अर्थात् जैसे ही बडे विषके भक्षणसे अतिशीघ्र ही घबडाना, विकल हो जाना, पीडा होना, और अंतमें बुरी तरहसे मौत हो जाना, ये दुःखरूपी फल प्राप्त होते हैं। या बाण, गोली और तलवारके लगनेसे अव्यवहित कालमें मृत्युपर्यंत अनेक कष्टरूप फल शीघ्र ही भोगने पडते हैं। तथा भूंखसे कहीं अधिक भोजन करनेपर या शक्तिसे अधिक परिश्रम आदि करनेपर कुछ देर पीछे ज्वर, शरीरपीडा, आदि रोगोंका स्थान बनकर कुछ दिन बादतक परम्परासे जीवको दुःखरूप फल भोगने पडते हैं, यानी उस समय दुःख नहीं भी प्रतीत होय किंतु कालांतरमें वे तीव्र दुःखके कारण हैं। किंतु इन दुःख देनेवाले हालाहल, अतिभोजन आदिका समीचीन ज्ञान, श्रद्धान हो जानेसे इनका कोई आचरण नहीं करता है अर्थात् विषभक्षण आदि दुःख देनेवाली क्रियाओंका क्षय हो जाता है। दृष्टांतमें हेतु रह गया, साध्य भी रह गया। जो कोई आत्मघाती क्रोधके वश विषको खा लेता है या कोई लोलुप, प्राणी मोदक आदिको अधिक खा लेता है, उसके मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान हैं। अतः विष खानेका या अधिक खानेका उसके क्षीयमाणपना भी नहीं है, वैसे ही उन मिथ्यादर्शन, कुज्ञान और कुचारित्रकी हानि होते होते तत्त्वज्ञानी

जीवके संसार क्षयको प्राप्त हो जाता है। उन विषमक्षण आदि दोषोंसे जैसे तत्त्वज्ञानीकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही उसके संसारका भी क्रमसे क्षय होना सिद्ध हो जाता है। अनेक प्रकारके दुःख भोगना है फल जिसका, ऐसे निकृष्टस्थान शरीरका ग्रहण कर लेना ही संसार है। भावार्थ— विद्वानोंने सम्पूर्ण दुःखोंके मूलभूत शरीरग्रहणको ही संसार हो जानेकी व्यवस्था की है। अव्यवहित रूपसे अथवा परम्परासे दुःखरूप फलको उत्पन्न करनेवाला ऐसा कोई भी कारण नहीं देखा गया है, जो कि मिथ्यादर्शन आदिके शनैः क्षय होनेपर क्रम क्रमसे क्षयको प्राप्त होनेवाला न होवे, जिससे कि हमारे दुःखफलत्व हेतुका व्यभिचार हो जावे। अर्थात् हेतु व्यभिचार दोषसे रहित है। ज्ञानी जीव जिसको दुःख फल देनेवाला समझ लेता है, उसके कारणोंका नाश करता हुआ उसको भी शीघ्र नष्ट कर देता है।

गण्डपाटनादिकं दृष्टमिति चेत् न, तस्य बुद्धिपूर्वं चिकित्सेत्यनुमन्यमानस्य सुखफलत्वेनाभिप्रेतस्य दुःखफलत्वासिद्धेः, क्षिप्रकरणीयागदुरिपूर्वस्य दुःखफलस्यापि पूर्वोपात्तमिथ्यादर्शनादिकृतकर्मफलत्वेन तस्य मिथ्यादर्शनाद्यनपक्षयेऽक्षीयमाणत्वसिद्धेः।

यदि कोई यों आक्षेप करे कि दूषित फोडे में चीरा लगवाना, पीडा देनेवाले दांतको निकवाना, गल जानेपर अंगुलीका कटवाना आदिक दुःख फलवाले कारण देखे गये हैं। किंतु वहां साध्य नहीं है अर्थात् ज्ञानी, श्रद्धानी जीव भी घावमें चीरा लगवाना आदि क्रियाओंका आचरण करते हैं। यहां विषमक्षण आदि क्रियाके क्षय होजानेके समान क्षय होजाना साध्य नहीं रहा। अतः जैनोंका हेतु व्यभिचारी हुआ। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि घाव चीरने आदिमें दुःखफलत्व नहीं है। किंतु उसका फल भविष्यमें सुख होना है। अतः हिताहितको परखने वालेकी बुद्धिपूर्वक चिकित्सा है ऐसा माननेवाले जीवके फोडा चिरवाने आदिमें सुखरूप फलकी प्राप्ति होना अभीष्ट है। उसमें दुःखरूप फल देनापन असिद्ध है। हेतुके न रहनेपर साध्यके न रहनेसे व्यभिचार दोष नहीं होता है। हां! छोटे बच्चे पशु आदि जीवोंके बुद्धिपूर्वक चिकित्साका विचार न होनेपर फोडा खोंसडालने, खाज खुजाने आदिमें दुःखरूपी फलको देनेवालापन हेतु रहजाता है। वह पहिले जन्ममें ग्रहण किये मिथ्यात्व आदिसे किये गये कर्मोंका फल है। अतः उस दुःखरूप फलको मिथ्यादर्शन आदिके नहीं क्षय होजानेपर क्रमसे नहीं क्षीण होनापन सिद्ध है। भावार्थ— बच्चे आदिकोंके मिथ्यादर्शन आदिको हेतु मानकर दुःख भोगना फल सिद्ध है। यहां साध्यके न रहनेपर हेतुका रहना नहीं बनता है। अतः हेतुमें कोई दोष नहीं है। मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञानके क्षय होनेपर जहां दुःख फलको पैदा करनेवालेपनका ज्ञान है, वह तत्त्वज्ञानीके अवश्य नष्ट होजावेगा। बालक या पशुको फोडे चीरने आदिमें दुःख फलत्वका ज्ञान तो है। किंतु उनके मिथ्याश्रद्धा, ज्ञानका क्षय नहीं हुआ है। अतः मिथ्यादर्शनके क्षय न होनेसे उनको दुःख देनेवाले कारणका क्षय नहीं होता है। मिथ्या अध्यवसायके क्षय होनेपर तत्त्वज्ञानीको जिस क्रियामें दुःख

फलत्व दीखता है, वह कारण अवश्य क्षयको प्राप्त होजाता है, जैसे कि विषभक्षण, अतिभोजन, आदि क्रियाएं विचारशील पुरुषोंके क्षयको प्राप्त होजाती हैं।

कायक्लेशादिरूपेण तपसा व्यभिचार इत्यपि न मन्तव्यं, तपसः प्रशमसुखफलत्वेन दुःखफलत्वासिद्धेः तदा संवेद्यमानदुःखस्य पूर्वोपार्जितकर्मफलत्वात् तपःफलत्वासिद्धेः।

पुनः कोई दोष उठावे कि आप जैनोंके दुःखफलत्व हेतुका कायक्लेश, केशलुंचन, आतपन-योग, उपवास आदि दुःखफलको उत्पन्न करनेवाले इन तपःस्वरूप कारणसे व्यभिचार होगा। क्योंकि केशलुंचन आदि क्रियाओंमें दुःखरूपी फलका जनकपना (हेतु) है। किन्तु मिथ्यादर्शन आदिके अपक्षय होनेपर क्षीयमाणपना (साध्य) नहीं है। प्रत्युत मिथ्यादर्शन आदिके न्यून होनेपर विचार शाली मुनिमहाराज कायक्लेश आदि क्रियाओंको बढाते जाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि कृपण होरहे आत्माके गुणोंका विकास करनेके लिये कायक्लेश, उपवास आदि किये जाते हैं। इन क्रियाओंके करनेसे साधुओंको शान्तिसुखरूपी फल प्राप्त होता है। अतः दुःख फलपना असिद्ध है। इन क्रियाओंका फल दुःख भोगना नहीं है। अन्यथा चलाकर स्वयं प्रेरणासे ये क्रियाएं क्यों की जाती? अर्थात् जैसे कि सेवाधर्मका पालन करनेवाले परोपकारी पुरुषको स्वयंक्लेश उठाते हुए दूसरोंके दुःख, पीडा, आदिको मेटनेसे विलक्षण अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। मुनिमहाराजकी वैयावृत्य करनेसे भक्त श्रावक आनन्दित होजाता है। वैसे ही स्वात्मकर्तव्यमें दुःख प्रतीत नहीं होता है। आजीविका या पारितोषिककी अभिलाषासे सेवावृत्ति करना शूद्रकर्म है। किन्तु परोपकारके लिये सेवाधर्म पालना आत्मीय धर्म है। परोपकारी पुरुषको या आत्मोपकारी तपस्वीको आत्मीयकर्तव्यके अनुसार शरीरको क्लेश करनेवाली क्रियाओंमें दुःखका अनुभव नहीं होता है। दुःखको दुःख समझकर समता भावोंसे सह लेना जघन्य मार्ग है और दुःखको सुख समझकर सहना मध्यममार्ग है। किंतु उस दुःखका ज्ञान (वेदन) ही न होना उत्तम मार्ग है। सुकुमाल मुनीश्वरने शृगालीके द्वारा भक्षण किये जानेपर भी उस दुःखका वेदन नहीं किया था। अन्यथा उनको उपशम श्रेणी नहीं हो सकती थी। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन इन तीन पाण्डव मुनीश्वरोंने घोर उपसर्ग सहते हुए भी उधर लक्ष्य नहीं दिया था, तभी तो क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था। दुःख, पीडा, आदिकी ओर उपयोग लगानेसे और उसमें स्मृतिसमन्वाहार करनेसे ही दुःखका वेदन होता है। गर्भिणी स्त्रीको पुत्रके उत्पन्न करने, पोषण और मलमूत्रके धोने आदिमें थोडा क्लेश नहीं है किंतु महान् क्लेश है। उसको क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदिकी वेदनायें सहनी पडती है। बच्चेके बीमार हो जानेपर मूंखसे कम खाना, उपवास करना, रसोंका त्यागकरना आदि भी पालन करने पडते हैं। फिर भी गर्भिणीको उन क्रियाओंसे आभिमानिक सुखकी कल्पना करके अत्यधिक सुख प्राप्त होता है। अनेक वन्ध्या स्त्रियें उक्त दुःखोंको सहनेके लिये तरसती रहती हैं। व्यापारी, किसान आदिको भी अनेक दुःख

सहने पडते हैं। वे धन, धान्यके उपार्जनका लक्ष्य कर मध्यमें आये दुःखोंको अज्ञातके समान भोग लेते हैं। इससे सिद्ध है कि दुःख होनेपर भी उत्तम उत्तम साध्यकी ओर लक्ष्य होनेसे दुःखका वेदन नहीं होता है तथा झूंठे सङ्कल्प विकल्प करनेवाले, ठलुआ, चिन्ताशील, मनुष्योंको दुःख न होनेपर भी अनेक सम्भावित दुःख सताते रहते हैं। अतः दुःखवेदन करनेका इष्ट अनिष्टकल्पनासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। दुःख होना और दुःखका अनुभव करना दो बातें हैं। उन मुनि महाराजोंको कायक्लेश, परीषह आदिसे होनेवाले दुःखोंसे उलटा अनुपम शान्ति सुख प्राप्त होता है। इसलिये वहां दुःख फलत्व हेतुके न रहनेसे व्यभिचार दोष नहीं है। यदि किसी समय छठे गुणस्थानवर्ती मुनि महाराजके व्यथाजन्य दुःखवेदन (अनुभव) भी होजावे तो वह उस समय भोगा जारहा दुःख पूर्वजन्ममें इकट्ठे किये गये दुष्कर्मोंका फल है। उस दुःखको कायक्लेश, उपवास, आदिरूप तपस्याका फलपना असिद्ध है। अतः हमारा पूर्वोक्त दुःखफलत्व हेतु निर्दोष है। भावार्थ—कायक्लेश, आदि तपके कार्यमें दुःखफलत्व नहीं रहता है, जिससे कि तपःक्रियाको ही क्षय कर देनेका तत्त्वज्ञानीके प्रसंग आता। जैसे विषभक्षण नहीं किया जाता है, वैसे तपः भी न किया जाता। आभिमानिक सुखको करनेवाले अनेक दुःखोंको भी जन सुख कह देते हैं तो फिर आत्मशुद्धि या मोक्षमार्गमें संलग्न करनेवाले तपश्चरणको तो दुःखहेतु कैसे भी नहीं कहा जासकता है।

मिथ्यादर्शनाद्यपक्षये क्षीयमाणश्च न स्यात्, इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वमपि न साधनस्य शंकनीयं, सम्यग्दर्शनोत्पत्तावसंयतसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादर्शनस्यापक्षये मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेस्तत्पूर्वकमिथ्याचारित्राभावाच्चन्निबन्धनसंसारस्यापक्षयप्रसिद्धेः, अन्यथा मिथ्यादर्शनादित्रयापक्षयेपि तदपक्षयाघटनात्।

साक्षात् अथवा परम्परासे दुःखफलको देनेवालापना हेतु रहजावे और मिथ्यादर्शन आदिके यथाक्रमसे क्षय होनेपर क्षयको प्राप्त होरहा संसार न होवे अर्थात् हेतु रहे और साध्य न रहपावे, इस प्रकार हेतुके अप्रयोजक होजानेसे हेतुकी विपक्षसे व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। अतः जैनोंका हेतु संदिग्धव्यभिचारी है, यह भी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होजानेपर चतुर्थ गुणस्थानवाले असंयत सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यादर्शनका ह्रास होजाते सन्ते मिथ्याज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होपाती है। अतः उन मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको पूर्ववर्ती कारण मानकर होनेवाले मिथ्याचारित्रका भी अभाव होगया है। इस कारण उन तीन कारणोंसे उत्पन्न हुए संसारका भी ह्रास होना प्रसिद्ध है। जब कारण ही न रहा तो कार्य कहांसे हो सकेगा। अग्निके दूर होजानेपर उष्णता भी नष्ट होजाती है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारोंसे माना जाता तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीनकी हानि होते हुए भी उस संसारका क्रम ह्रास होता नहीं बन सकता था। अतः हमारे हेतुमें अनुकूल तर्क है। जैसे कि धूम होवे और वह्नि न होवे, ऐसा आपादन करनेपर कार्यकारणभावके भंग हो जानेका डर है, वैसे ही यहां

मिथ्यादर्शन आदि तीनके साथ संसारका कार्यकारणभाव होना ही हेतुकी प्रयोजकता है। धीरे धीरे नाश होते होते पूरे नाशके लिये अभिमुख हो जाना अपक्षयका अर्थ है।

न च सम्यग्दृष्टेर्मिथ्याचारित्राभावात्संयतत्वमेव स्यान्न पुनः कदाचिदसंयतत्वमित्यारेका युक्ता, चारित्रमोहोदये सति सम्यक्चारित्रस्यानुपपत्तेरसंयतत्वोपपत्तेः। कात्स्न्यतो देशतो वा न संयमो नापि मिथ्यासंयम इति व्याहतमपि न भवति, मिथ्यागमपूर्वकस्य संयमस्य पञ्चाग्निसाधनादेर्मिथ्यासंयमत्वात् सम्यगागमपूर्वकस्य सम्यक्संयमत्वात्। ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वोदयासत्त्वेऽपि प्रवर्तमानस्य हिंसादेरसंयमत्वात्।

यदि कोई यों आशङ्का उठावे कि जैनोंके वर्तमान कथनानुसार सम्यग्दृष्टि जीवके चौथे गुणस्थानमें मिथ्याचारित्रके न रहनेसे संयमीपना भी हो जावे। फिर कभी भी चौथे गुणस्थानवालेको असंयतपना नहीं होना चाहिये। जब मिथ्याचारित्र न रहा तो महाव्रतोंका धारण, समितियोंका पालन, कषायोंका निग्रह, मन, वचन, कायकी उच्छृंखल प्रवृत्तियोंका त्याग, और इंद्रियोंका जयरूप संयमभाव हो जाना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसीका शंका करना युक्त नहीं है। क्योंकि चौथे, पांचमे गुणस्थानमें चारित्रगुण (संयम) का मोहन करनेवाले अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणका उदय हो रहा है। ऐसा होनेपर सम्यक्चारित्र गुण नहीं बन सकता है। अतः चौथेमें इंद्रिय-संयम और प्राण-संयमरूप विरति न होनेसे असंयतपना बन जाना सिद्ध है और पांचवेंमें सांकल्पिक त्रसवधका त्याग हो जानेसे तथा स्थावरवधका त्याग न होनेसे देशसंयतपना है। जबतक प्रत्याख्यानावरणका ग्यारहवीं प्रतिमामें भी मन्दतम उदय है, तबतक संयमभाव नहीं है। अतः चौथे गुणस्थानमें छट्ठेके समान पूर्णरूपसे संयम नहीं है और पांचवेंके समान एकदेशसे भी संयम नहीं है तथा पहिले गुणस्थानके समान मिथ्यासंयम भी नहीं है। इस प्रकार इन तीनोंका निषेध करनेसे व्याघात दोष भी नहीं होता है। भावार्थ—जैसे कोई कहे कि वह विशेष व्यक्ति पुरुष भी नहीं है और स्त्री भी नहीं है। यहां परिशेषसे वह जीव तीसरा नपुंसकवेदी माना जाता है। ऐसे ही संयम, देशसंयम और मिथ्यासंयम ये तीन ही अवस्थाएं होती तो दोके निषेध करनेपर तीसरेका विधान अवश्य हो जाता। युगपत् तीनोंका निषेध कर ही नहीं सकते थे। जैसे यह अमुक पदार्थ जड भी नहीं है। चेतन भी नहीं है। इस प्रकार दोनोंका निषेध करना अशक्य है। किंतु जैसे यह विवक्षित संसारी जीव देव नहीं, नारकी नहीं, तिर्यञ्च नहीं है। इन तीनके निषेध करनेपर भी चौथा भेद मनुष्य रूप है, वैसे ही इन तीनों संयमोंसे रहित चौथी अवस्था असंयम है। जो कि चौथे गुणस्थानमें है अथवा जैसे मिथ्यादर्शनभाव पहिले गुणस्थानमें है, सम्यक्त्व चोथेमें है, मिला हुआ सम्यग्मिथ्यात्वभाव तीसरेमें है। किंतु इन तीनोंसे अतिरिक्त अनुभव अव्यक्त मिथ्यात्व अवस्था दूसरे सासादन गुणस्थानमें है। वैसे ही पूर्णसंयम, देशसंयम और मिथ्यासंयमसे भिन्न मानी गयी चौथी असंयमरूप अवस्था चौथे गुणस्थानमें है। झूठे खोटे शास्त्रोंके

अभ्यासपूर्वक कुमेषी, कुलिंगी, जिन संयमोंको पालते हैं वे मिथ्यासंयम हैं। जैसे कि चारों दिशाओंमें आग जलाकर ऊपरसे सूर्य किरणों द्वारा संतप्त होकर पंच अग्नि तप करना, वृक्षपर उलटे लटक जाना, जीवित ही गंगामें प्रवाहित हो जाना, नख, केश बढाना आदि तो मिथ्याचारित्र हैं। और समीचीन सर्वज्ञोक्त आगमका अभ्यास कर उसके अनुसार अट्ठाईस मूलगुणोंका धारण करना, अन्तरङ्ग तपोंको बढाना आदि जैन ऋषियोंके समीचीन संयम है। तथा मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीका उदय न होनेपर भी प्रवृत्ति करनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टिके हिंसा करने, झूंठ बोलने, आदिकी परिणति असंयमभाव है। यहां प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, गर्हा, निन्दा, अमूढदृष्टिता, वात्सल्य आदि गुण विद्यमान हैं। यह असंयम पहिले दोनों सम्यक् और मिथ्यासंयमोंसे भिन्न है।

न चासंयमाद्भेदेन मिथ्यासंयमस्योपदेशाभावाभेद एवेति युक्तं, तस्य बालतपःशब्देनोपदिष्टत्वात् ततः कथञ्चिद्भेदसिद्धेः।

किसीका आक्षेप है कि जीवके पांच भावोंमें औदयिक असंयत भावसे भिन्न होकर मिथ्यासंयमका कहीं उपदेश नहीं है। इस कारण मिथ्याचारित्र और असंयमका अभेद ही मानना चाहिये। फिर चौथेमें या तो मिथ्याचारित्रको मानो या संयमीपनको स्वीकार करो। ग्रंथकार कहते हैं कि यह किसीका कहना युक्त नहीं है। क्योंकि असंयमसे भिन्न माने गये उस मिथ्याचारित्रका दूसरे स्थलोंपर छठे अध्यायमें बालतपः शब्दसे उपदेश किया है। उस कारण मिथ्याचारित्र और असंयममें किसी अपेक्षासे भेद ही सिद्ध है। दुःख, सुख, अदुःख, नोदुःख, अथवा संसार, असंसार, नोसंसार, त्रितयव्यपेत, ये अवस्थायें न्यारी न्यारी हैं।

न हि चारित्रमोहोदयमात्राद्धेवच्चारित्रं दर्शनचारित्रमोहोदयजनितादचारित्राद-भिन्नमेवेति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः। मिथ्यादृष्ट्यसंयमस्य नियमेन मिथ्याज्ञानपूर्वकत्वप्रसिद्धेः, सम्यग्दृष्टेरसंयमस्य मिथ्यादर्शनज्ञानपूर्वकत्वविरोधात्, विरुद्धकारणपूर्वकतयापि भेदाभावे सिद्धांतविरोधात्।

चौथे गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयके संबन्धसे रहित होकर केवल चारित्रमोहनीयके उदयसे होता हुआ स्वरूपाचरण चारित्र तो पहिले गुणस्थानमें दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे पैदा हुए मिथ्याचारित्रसे अभिन्न ही है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं होना चाहिये। यानी कैसे भी उक्त बातको सिद्ध नहीं कर सकते है। अन्यथा सभी स्थानोंपर कारणोंका भिन्न होना कार्यके भेदको सिद्ध न कर सकेगा। जिस चौथे गुणस्थानके अचारित्र (स्वरूपाचरण) भावमें केवल चारित्रमोहनीयका उदय है और पहिले गुणस्थानके अचारित्र (मिथ्याचारित्र) में दर्शनमोहनीयसहित चारित्रमोहनीयका उदय है। ये दोनों भला एक कैसे हो सकते हैं?। मिथ्यादृष्टीका असंयम नियमसे मिथ्याज्ञानपूर्वक प्रसिद्ध हो रहा है और सम्यग्दृष्टिके असंयमको

मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न होनेपनका विरोध है । ये दोनों दोष चौथेमें नहीं हैं । अतः दोनों एक नहीं हैं । विरुद्ध कारणोंके पूर्ववर्ती होनेपर भी उत्तर समयमें उत्पन्न हुए कार्योंका यदि भेद होना न माना जावेगा तो सभी वादियोंको अपने सिद्धान्तसे विरोध हो जावेगा । क्योंकि सभी परीक्षकोंने भिन्न भिन्न कारणोंके द्वारा न्यारे न्यारे कार्योंकी उत्पत्ति होना इष्ट किया है । अतः पहिलेका असंयम भाव और चौथेका असंयमभाव न्यारा है । ज्ञानमें भी कुज्ञानसे अज्ञानभाव भिन्न है । कुज्ञान दूसरे गुणस्थानतक है जब कि अज्ञान भाव बारहवें तक है।

कथमेवं मिथ्यात्वादित्रयं संसारकारणं साधयतः सिद्धान्तविरोधो न भवेदिति चेन्न, चारित्रमोहोदयेऽचारित्रहेतौ सत्युत्पद्यमानयोरसंयममिथ्यासंयमयोरेकत्वेन विवक्षितत्वाच्चतुष्टयकारणत्वासिद्धेः संसरणस्य तत एवाविरतिशब्देनासंयमसामान्यवाचिना बंधहेतोरसंयमस्योपदेशघटनात् ।

यहां किसीका तर्क है कि मिथ्यादृष्टिका असंयम और असंयत सम्यग्दृष्टिका असंयम जब न्यारा है तो संसारके कारण चार हुए । फिर इस प्रकार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीनको ही संसारका कारणपना साधते हुए जैनोंको अपने सिद्धांतसे विरोध क्यों न होगा ? बतलाइये ? कारण कि चौथा असंयमभाव संसारका कारण स्वयं न्यारा माना जारहा है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि उन दोनों भावोंका अन्तरंग कारण चारित्रमोहनीय है । उस कर्मके उदय होनेपर उत्पन्न होरहे अचारित्र और मिथ्याचारित्रकी एकरूपपनेसे विवक्षा पैदा होचुकी है । अतः संसारके कारणोंको चारपना सिद्ध नहीं है । इस ही कारणसे तो मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगको बंधका हेतु बताते हुए आचार्य महाराजका सामान्यरूपसे कहनेवाले अविरति शब्दसे दोनों प्रकारके असंयमोंका उपदेश देना संघटित होजाता है । भावार्थ—सम्यक्चारित्र न होनेकी अपेक्षासे दोनों असंयम एक हैं । किंतु नञ्का अर्थ पर्युदास और प्रसज्य करनेपर दर्शन मोहनीयके उदयसे सहित अचारित्रको मिथ्याचारित्र कहते हैं और दर्शन मोहनीयके उदय न होनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणके उदयसे होनेवाले असंयमको अचारित्र कहदेते हैं ।

सम्यग्दृष्टेरपि कस्यचिद्विषभक्षणादिजनितदुःखफलस्य हीनस्थानपरिग्रहस्य संसारस्य दर्शनान्मिथ्यादर्शनज्ञानयोरपक्षये क्षीयमाणत्वाभावान्न कथञ्चिद्दुःखफलत्वं मिथ्यादर्शनज्ञानापक्षये क्षीयमाणत्वेन व्याप्तमिति चेन्न, तस्याप्यनागतानन्तानन्तसंसारस्य प्रक्षयसिद्धेः साध्यान्तःपातित्वेन व्यभिचारस्य तेनासम्भवात् ।

आक्षेपक कहता है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टिजीवको भी विषके भक्षणसे या युद्धमें शस्त्राघात होजानेसे तथा श्रेणिक राजाका स्वयं अपघात करलेने आदिसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके

दुःख हैं फल जिसके, ऐसा हीनस्थान नारकशरीर आदिका ग्रहण करनारूप संसार होना देखा जाता है। यहां मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानके क्षय होनेपर भी संसारका क्षीयमाणपना (साध्य) नहीं रहा है। अतः व्यभिचार होजानेसे दुःखफलत्व हेतुकी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानके अपक्षय होनेपर क्षीयमाणत्वरूप साध्यके साथ व्याप्ति (अविनाभाव होना) कैसे भी सिद्ध नहीं हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उस सम्यग्दृष्टिके भी भविष्यमें होनेवाले अनन्तानन्त निकृष्ट स्थानोंमें जन्म मरणोंको धारण करना रूप संसारका प्रक्षय होना सिद्ध है। सम्यग्दृष्टि जीव भले ही शस्त्राघात या आत्मघातसे कतिपय निकृष्ट शरीरोंको धारण करलेवें, फिर भी विषभक्षण, आत्मघात, आदिका क्षय होकर संसारका ह्रास होते हुए संख्यात भवों में उसकी मोक्ष होना अनिवार्य है। श्रेणिक तो तीसरे भवसे ही मोक्ष प्राप्त करेंगे। अतः आपका दिया हुआ व्यभिचारका स्थल हमारे प्रतिज्ञावाक्यके अंतरंगमें प्रविष्ट होरहा है। अर्थात् वह भी साध्यकोटिमें पडा है। हेतुके रहजानेसे किसी अपराधी सम्यग्दृष्टिके संसारमें भी क्षीयमाणपना रहजाता है। अतः उससे व्यभिचारका होना असम्भव है। पक्ष और पक्षसममें व्यभिचार दोष उठाना अन्याय है। अभिप्रायको नहीं समझपानेका सूचक है।

निदर्शनं परप्रसिध्या विषमविषभक्षणातिभोजनादिकमुक्तं, तत्र परस्य साध्यव्याप्तसाधने विवादाभावात्। न हि विषमविषभक्षणेऽतिभोजनादौ वा दुःखफलत्वमसिद्धं, नापि नाचरणीयमेतत्सुखार्थिनेति सत्यज्ञानोत्पत्तौ तत्संसर्गलक्षणसंसारस्यापक्षयोपि सिद्धस्तावता च तस्य दृष्टान्तताप्रसिद्धेरविवाद एव।

हमने अपने पूर्व अनुमानमें जो तीक्ष्ण विषका खाना या भूखसे अति अधिक खाना आदि दृष्टांत दिये हैं, वे दूसरे प्रतिवादीके घरकी प्रसिद्धिके अनुसार कहे हैं। प्रतिवादीके यहां शीघ्र दुःखरूपी फलको देनेवाले विषभक्षणमें मिथ्याश्रद्धान आदिके नष्ट होनेपर क्षीययाणपना है तथा परम्परासे दुःख देनेवाले अधिक भोजनमें भी क्षीयमाणपना देखा जाता है अर्थात् दुःखरूप फलको देनेवाले विषभक्षण आदि कर्म तत्त्वज्ञानीके नष्ट हो जाते हैं। वे इन क्रियाओंको नहीं करते हैं। वैसे ही संसार भी तत्त्वज्ञानीका न्यून हो जाता है। नैयायिक आदि भी अधिक भोजन या बावले कुत्तेके काटने आदिमें परम्परासे होनेवाले दुःखफलत्व हेतुकी क्षीयमाणत्व साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध करनेमें विवाद नहीं करते हैं। प्रतिकूल विषके भक्षणमें अथवा अधिक भोजन, शीतबाधा आदिसे पीडित होनेमें दुःखफलपना असिद्ध नहीं है और सुखके अभिलाषी ज्ञानी जीवको ये विषभक्षण आदि आचरण नहीं करना चाहिए। यह साध्य भी असिद्ध नहीं है। यानी दृष्टांतमें रह जाता है। समीचीन हितकारी ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर कोई जीव भयंकर विषको नहीं खाता है। और न अधिक भोजन करता है। शीत उष्णकी बाधाओंसे भी बचा रहता है। अतः तत्त्वज्ञानीके जैसे इस उपद्रवोंका क्षय हो जाता है, वैसे ही मिथ्याज्ञानका नाश होकर सत्यज्ञानके उत्पन्न

होनेपर निकृष्ट स्थानोंमें जन्म मरण कर दुःख भोगना या सकल दुःखोंके निदान उस सूक्ष्म स्थूल शरीरका संबंध हो जानारूप, संसारका ह्रास होना भी सिद्ध हो जाता है। उतनेसे ही हेतु और साध्यके आधार हो जानेके कारण उन विषभक्षण आदिको दृष्टान्तपना प्रसिद्ध है। अतः वादी प्रतिवादियोंको कहे हुए निदर्शनमें कोई विवाद ही नहीं है। और प्रतिज्ञावाक्यमें भी कोई झगडा नहीं रहा।

तदेवमनुमितानुमानान्मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वं भवस्य सिध्यतीति न विपर्यय मात्र हेतुको विपर्ययावैराग्यहेतुको वा भवो विभाव्यते।

उस कारण इस प्रकार अनुमित किये गये अनुमानसे संसारके कारण मिथ्यादर्शन आदिक ये तीन सिद्ध हो जाते हैं। भावार्थ—इस दूसरे अनुमानसे मिथ्यादर्शन आदिके क्षय होनेपर संसारका क्षीयमाणपना सिद्ध किया गया है और इस दूसरे अनुमानसे जान लिये गये मिथ्यादर्शन आदिके क्षय होनेपर क्षीयमाणपना साध्यरूप हेतुसे संसाररूपी पक्षमें मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन हेतुओंकी कार्यता पहिले अनुमानसे कारिका द्वारा सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार मिथ्यादर्शनादि इस वार्तिकका प्रमेय सिद्ध हो जाता है। अतः केवल विपर्ययज्ञानको या विपर्यय और तृष्णा दोको हेतु मानकर उत्पन्न होनेवाला संसार है, यह नहीं विचारना चाहिये। किंतु संसारके कारण मिथ्यादर्शन आदि तीन हैं।

तद्विपक्षस्य निर्वाणकारणस्य त्रयात्मता।
प्रसिद्धैवमतो युक्ता सूत्रकारोपदेशना ॥ १०६ ॥

जब संसारके कारण तीन सिद्ध हो गये तो उस संसारके प्रतिपक्षी होरहे मोक्षके कारणको भी तीन स्वरूपपना उक्त प्रकारसे प्रसिद्ध हो ही गया। इस कारण तत्त्वार्थसूत्रको रचनेवाले उमास्वामी महाराजका मोक्षके कारण तीनका उपदेश देना युक्तियोंसे भरा हुआ है।

मिथ्यादर्शनादीनां भवहेतूनां त्रयाणां प्रमाणतः स्थितानां निवृत्तिः प्रतिपक्षभूतानि सम्यग्दर्शनादीनि त्रीण्यपेक्षते अन्यतमापाये तदनुपपत्तेः।

आचार्य विद्यानंद स्वामीजी अनुमान बनाते हैं कि संसारके कारण मिथ्यादर्शन, ज्ञान, और चारित्र इन तीनकी प्रमाणोंसे स्थिति हो चुकी है। इन तीनोंकी निवृत्ति होना (पक्ष) अपनेसे प्रतिपक्षरूप तीन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रोंकी अपेक्षा करती है (साध्य) क्योंकि तीन प्रतिपक्षियोंमेंसे किसी एकके भी न होनेपर वह मिथ्यादर्शन आदि तीनोंकी निवृत्ति होना न बन सकेगा (हेतु)। इस अनुमानसे आदि सूत्रके प्रमेयको पुष्ट कर दिया है।

शक्तित्रयात्मकस्य वा भवहेतोरेकस्य विनिवर्तनं प्रतिपक्षभूतशक्तित्रयात्मकमेकमंतरेण नोपपद्यत इति युक्ता सूत्रकारस्य त्रयात्मकमोक्षमार्गोपदेशना।

अथवा दूसरा अनुमान यह है कि संसारके कारण कहे गये मिथ्याभिनिवेश, अर्थोंको झूंठा जानना तथा राग द्वेष, अब्रह्म आदि इन तीन शक्तिस्वरूप एक विपर्ययकी ठीक निवृत्ति होना (पक्ष) अपने विघातकस्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीन शक्तिरूप एक रत्नत्रयात्मक आत्मद्रव्यके विना नहीं बन सकता है (साध्य) संसार कारणोंकी सर्वथा निवृत्ति होनेसे (हेतु) इस प्रकार दो अनुमानोंसे सूत्रकारका तीनरूप मोक्षमार्गका उपदेश देना युक्त है ।

तत्र यदा संसारनिवृत्तिरेव मोक्षस्तदा कारणविरुद्धोपलब्धिरियं, नास्ति क्वचिज्जीवे संसारः परमसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसद्भावादिति ।

उस अनुमानके प्रकरणमें जब संसारकी निवृत्तिको ही मोक्ष माना जावे, तब तो यह निषेधका साधक कारण विरुद्धोपलब्धिरूप हेतु है कि किसी विवक्षित एक जीवमें (पक्ष) संसार विद्यमान नहीं है (साध्य) क्योंकि उत्कृष्ट श्रेणीके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वहां विद्यमान हैं (हेतु) । इस अनुमानमें संसारका अभाव साध्य है । निषेध करने योग्य संसारके कारण मिथ्यादर्शन आदि तीन हैं । उनके विरुद्ध सम्यग्दर्शन आदि तीनकी उपलब्धि हो रही है, अतः यह कारण विरुद्धोपलब्धि हेतु है। प्रतिषेध्यके जो कारण उनके विरुद्धोंकी उपलब्धि होना है।

यदा तु संसारनिवृत्तिकार्यं मोक्षस्तदा कारणकारणविरुद्धोपलब्धिः, कस्यचिदात्मनो नास्ति दुःखमशेषं मुख्यसम्यग्दर्शनादिसद्भावादिति निश्चीयते, सकलदुःखाभावस्यात्यन्तिकसुखस्वभावत्वात्तस्य च संसारनिवृत्तिफलत्वात् ।

किंतु जब मोक्ष संसारकी निवृत्तिका कार्य माना जाता है, तब तो यह हेतु कारणकारण विरुद्धोपलब्धिरूप है कि किसी न किसी आत्माके सम्पूर्ण दुःख नहीं हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उस आत्मामें प्रधानरूपसे सम्यग्दर्शन आदि तीन गुण विद्यमान हैं (हेतु) यहां दुःखोंका अभाव साध्य है, दुःख प्रतिषेध्य है । दुःखका कारण संसार है और उसके कारण मिथ्यादर्शन आदि हैं । उनसे विरुद्ध सम्यग्दर्शन आदिकी उपलब्धि हो रही है । यों प्रकृत हेतु कारणकारणविरुद्धोपलब्धि रूप निश्चित किया जाता है । सम्पूर्ण दुःखोंके अभावको आत्यन्तिक सुख स्वभावपना है और वह आत्माका अनंत कालतक सुखस्वभाव हो जाना संसारकी निवृत्तिका फल है । नैयायिकोंका माना गया दुःखध्वंसरूप मोक्ष हमको अभीष्ट नहीं है। दुःखाभाव अनंतसुखस्वरूप है । अभाव वस्तुस्वरूप है। वैशेषिकोंका माना गया तुच्छ अभाव कुछ नहीं हैं ।

यदा मोक्षः क्वचिद्विधीयते तदा कारणोपलब्धिरियं, क्वचिन्मोक्षोऽवश्यंभावी सम्यग्दर्शनादियोगात् इति न कथमपि सूत्रमिदमयुक्तयात्मकं, आगमात्मकत्वं तु निरूपितमेवं सत्यलं प्रपंचेन ।

तथा जब किसी आत्मामें सीधा मोक्षका विधान किया जावेगा, तब तो यह विधिसाधक *कारणोपलब्धि हेतु है कि किसी आत्मामें मोक्ष अवश्य होनेवाला है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उसमें* सम्यग्दर्शन आदि गुणोंका संबंध होगया है (हेतु)। वहां मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन आदि हैं। अतः छत्र हेतुसे छायाकी सिद्धिके समान कारण हेतुसे मोक्षकी सिद्धि होजाती है। मोक्षके सम्यग्दर्शन आदि कारक हेतु हैं और ज्ञापक हेतु भी हैं। इस प्रकार कैसे भी उमास्वामी महाराजका यह सूत्र अयुक्तिरूप नहीं है। भावार्थ—अनेक हेतुओंसे सिद्ध होकर युक्तियोंसे परिपूर्ण हैं। और यह पहिला सूत्र सर्वज्ञोक्त आगम स्वरूप तो है ही। इस बातका हम पहिले प्रकरणमें निरूपण करचुके हैं। ऐसे भले प्रकार सूत्रकी सिद्धि होजानेपर अब विस्तारका व्यर्थ ताण्डव बढानेसे विश्राम लेना चाहिये। कुछ अधिक प्रयोजन सिद्ध न होगा।

बन्धप्रत्ययपाञ्चध्यसूत्रं न च विरुध्यते।
प्रमादादित्रयस्यान्तर्भावात्सामान्यतोऽयमे ॥ १०७ ॥

जब कि आप जैनबंधु संसार और मोक्षके कारण तीन मानते हैं तो आठवें अध्यायमें कहे जानेवाले बन्धके कारणोंको पांच प्रकारका कहनेवाले सूत्रसे विरोध हो जावेगा, सो नहीं समझना। क्योंकि बंधके कारणोंको कहनेवाले सूत्रमें पडे हुए प्रमाद, कषाय और योग तीनोंका सामान्यरूपसे अचारित्रमें अन्तर्भाव हो जावेगा। इस कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन ही संसारके कारण सिद्ध हुए।

त्रयात्मकमोक्षकारणसूत्रसामर्थ्यात्त्रयात्मकसंसारकारणसिद्धौ युक्त्यनुग्रहाभिधाने बंधप्रत्ययपंचविधत्वं 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव' इति सूत्रनिर्दिष्टं न विरुध्यत एव, प्रमादादित्रयस्य सामान्यतोऽचारित्रेऽन्तर्भावात्।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तीनोंकी एकता—स्वरूप मोक्षके कारणको निरूपण करनेवाले सूत्रकी सामर्थ्यसे तीनस्वरूप ही संसारके कारणोंकी सिद्धिमें युक्तियोंकी सहायताका कथन करनेपर मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बंधके कारण हैं। इस प्रकार सूत्रमें कहे गये बंधके कारणोंका पांच प्रकारपना विरुद्ध नहीं ही होता है। क्योंकि प्रमाद आदि तीन यानी प्रमाद, कषाय और योगका सामान्यपनेसे अचारित्रमें गर्भ हो जाता है। अर्थात् जैसे पहिले गुणस्थानका अचारित्र और चौथेका अचारित्र अंतरंग कारणकी अपेक्षासे एक ही है। वैसे ही चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाले प्रमाद और कषाय भी एक प्रकारसे अचारित्र हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उदय न होनेसे यद्यपि अचारित्रभाव नहीं है। फिर भी चारित्रकी पूर्णता जब चौदहवें गुणस्थानमें मानी गयी है। इस अपेक्षासे चारित्रकी विशेष स्वभावोंसे त्रुटिका अचारित्रमें अंतर्भाव हो जाता है। योग भी एक प्रकारका अचारित्र है।

विशेषतश्च त्रयस्याचारित्रेऽन्तर्भावने को दोष इति चेत्;—

यहां किसीकी शंका है कि आप जैनोंने प्रमाद आदि तीनको सामान्यपनेसे अचारित्रमें गर्भित किया। क्यों जी! और विशेषरूपसे तीनोंका अचारित्रमें अन्तर्भाव करनेपर क्या दोष आता है? बतलाइये! ऐसी आशंका होनेपर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं।

विशेषतः पुनस्तस्याचारित्रांतःप्रवेशने।
प्रमत्तसंयतादीनामष्टानां स्यादसंयमः॥ १०८॥
तथा च सति सिद्धांतव्याघातः संयतत्वतः।
मोहद्वादशकध्वंसात्तेषामयमहानितः॥ १०९॥

यदि फिर विशेषरूपसे उन तीनोंका अचारित्रके भीतर प्रवेश किया जावेगा तो छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतको आदि लेकर तेरहवें गुणस्थानी सयोगकेवली पर्यन्त आठ संयमियोंके असंयमी बन जानेका प्रसंग हो जायगा, और वैसा होनेपर जैनसिद्धांतका व्याघात होता है। क्योंकि जैनसिद्धांतमें उक्त आठोंको संयमी कहा गया है। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकी चौकडी इन मोहनीय कर्मकी बारह प्रकृतियोंके क्षयोपशम, उपशम, और क्षयरूप ह्रास हो जानेके कारण उन आठोंको असंयमीपनकी हानि है। भावार्थ—ये आठों ही संयमी माने गये हैं। प्रमाद, कषाय और योगोंको सामान्यपनेके समान यदि विशेषरूपसे भी अचारित्र माना जाता तो ये आठों असंयमी बन जावेंगे। इस प्रकार जैनसिद्धांतका तत्त्व बिगडता है।

नन्वेवं सामान्यतोऽप्यचारित्रे प्रमादादित्रयस्यांतर्भावात्कथं सिद्धांतव्याघातो न स्यात्? प्रमत्तसंयतात्पूर्वेषामेव सामान्यतो वा तत्रांतर्भाववचनात्, प्रमत्तसंयतादीनां तु सयोगकेवल्यन्तानामष्टानामपि मोहद्वादशकस्य क्षयोपशमादुपशमाद्वा सकलमोहस्य क्षयाद्वा संयतत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा संयतासंयतत्वप्रसंगात्, सामान्यतोऽसंयतस्यापि तेषु भावादिति केचित्।

ऐसा सिद्ध करनेपर भी फिर कोई इस प्रकार शंका करते हैं कि प्रमाद आदि तीनका अचारित्रमें सामान्यपनेसे भी अन्तर्भाव करनेसे क्यों नहीं सिद्धांतका व्याघात होगा? जब कि आप जैन आठों गुणस्थानोंमें मोहनीयकी बारह प्रकृतियोंका ह्रास मानते हैं तो सामान्यरूपसे भी उन आठोंमें अचारित्र नहीं रहना चाहिए। जैनसिद्धान्तमें तो जहां भी अचारित्र नहीं रहना माना है वहां दोनों प्रकारसे माना है। प्रमत्तसंयतनामक छठे गुणस्थानसे पहिलेके प्रथमसे लेकर पांचवें गुणस्थान तक पांचों हीका दोनों सामान्य और विशेषरूपसे अचारित्रमें अंतर्भाव कहा है।

छठेसे लेकर तेरहवें तक तो अचारित्रमें गर्भ नहीं कहा है। प्रमत्तसंयतको आदि लेकर सयोगकेवली पर्यंत आठों भी गुणस्थानवालोंको संयमीपना प्रसिद्ध है। इनमें चारित्रमोहनीयकी पहिली बारह प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे छटे, सातवेंमें संयमीपन है। एक अपेक्षासे दशवेंतक भी चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम है। क्योंकि वहां देशघातियोंका उदय रहता है। और उपशमश्रेणीके आठवें, नौवें, दशवेंमें और मुख्यरूपसे ग्यारहवेंमें सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका उपशम होजानेसे संयमीपना है तथा क्षपकश्रेणीके आठवें, नौवें, दशवें और प्रधानरूपसे बारहवेंमें सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका क्षय होजानेसे मुनिमहाराजोंको संयमीपना प्रसिद्ध है। यदि ऐसा न माना जाकर दूसरे प्रकार माना जावेगा अर्थात् आप वादी जैनोंके कथनानुसार आठ गुणस्थानोंमें सामान्यरूपसे अचारित्र भाव भी मानलिया जावेगा तो पांचवें गुणस्थानके समान ये आठों भी गुणस्थान असंयत होजावेंगे। क्योंकि असंयमभावके लक्षण आपके कहे अनुसार सामान्यपनेसे असंयमभाव भी उनमें विद्यमान है। इस प्रकार कोई श्वेतपटानुयायी कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि:—

तेऽप्येवं पर्यनुयोज्याः कथं भवतां चतुःप्रत्ययो बन्धः सिद्धान्तविरुद्धो न भवेत्तत्र तस्य सूत्रितत्वात् इति।

उनके ऊपर भी इस प्रकार कटाक्षरूप प्रश्न उठाने चाहिये कि आपके यहां मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग इस प्रकार बंधके चार कारण माननेपर सिद्धांतविरोध क्यों नहीं होगा। क्योंकि आपके उस सिद्धांतमें बंधके चार कारणोंको सूचन करनेवाला वह सूत्र कहा गया है। भावार्थ—शंकाकारको भी प्रमादका अचारित्रमें गर्भ करना आवश्यक होगा।

प्रमादानां कषायेष्वन्तर्भावादिति चेत्, सामान्यतो विशेषतो वा तत्र तेषामन्तर्भावः स्यात्? न तावदुत्तरः पक्षो निद्रायाः प्रमादविशेषस्वभावायाः कषायेष्वन्तर्भावयितुमशक्यत्वात् तस्या दर्शनावरणविशेषत्वात्।

यदि आप श्वेतांबर प्रमादोंका कषायोंमें अन्तर्भाव करोगे तो इसपर हम पूंछते हैं कि उन प्रमादोंका आप उन कषायोंमें सामान्यरूपसे अंतर्भाव करेंगे या विशेषरूपसे अन्तर्भाव होगा? बताओ! इन दोनों पक्षोंमें दूसरा पक्ष लेना तो ठीक नहीं है। क्योंकि निद्रा भी पंद्रह प्रमादोंमेंसे चौदहवीं विशेष प्रमादरूप है। उसका कषायोंमें अंतर्भाव करना शक्य नहीं है। क्योंकि निद्राका कषायोंको उत्पन्न करनेवाले चारित्रमोहनीय कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह निद्रा तो दर्शनावरण कर्मकी एक विशेष प्रकृति है या उस प्रकृतिके उदय होनेपर होजानेवाला आत्माका विभाव है।

प्रमादसामान्यस्य कषायेष्वन्तर्भाव इति चेत् न, अप्रमत्तादीनां सूक्ष्मसांपरायिकान्तानां प्रमत्तत्वप्रसंगात्, प्रमादैकदेशस्यैव कषायस्य निद्रायाश्च तत्र सद्भावात् सर्वप्रमादा-

नामभावान्न प्रमत्तत्वप्रसक्तिरिति चेत्, तर्हि प्रमादादित्रयास्याचारित्रेऽन्तर्भावेऽपि प्रमत्तसंयतादीनामष्टानामसंयतत्वं मा प्रापत्।

हम विशेष विशेष प्रमादोंका कषायोंमें अंतर्भाव नहीं करते हैं किंतु प्रथमपक्षके अनुसार प्रमादसामान्यका कषायोंमें गर्भ करते हैं। इस प्रकार शंकाकारका कहना भी तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि सातवें गुणस्थानवाले अप्रमत्तको आदि लेकर सूक्ष्मसांपरायिक गुणस्थान पर्यंतके मुनियोंको प्रमत्तपनेका प्रसंग होगा, क्योंकि कषायके उदयके तारतम्यसे होनेवाले सातवें, आठवें, नौवे और दशवें गुणस्थानमें पंद्रह प्रमादोंके ही एकदेशरूप कषायोंका और निद्राका उन चारों गुणस्थानोंमें उदय विद्यमान है। अतः ये चारों गुणस्थान छठवेंके समान प्रमत्त होजावेंगे। यदि आप फिर यों कहें कि सातवें आदि चार गुणस्थानोंमें विकथा, कषाय, इंद्रिय, निद्रा और स्नेह ये सम्पूर्ण प्रमाद तो नहीं हैं। अतः चार गुणस्थानोंको प्रमत्तपनेका प्रसंग नहीं आता है। तब ऐसा कहनेपर तो हम दिगम्बर जैन भी कहते हैं कि प्रमाद आदि यानी प्रमाद, कषाय, योग तीनोंका सामान्यरूपसे अचारित्रमें गर्भ होजानेपर भी छठवेंसे लेकर तेरहवें तकके आठ संयमियोंको असंयमीपना इसी प्रकार नहीं प्राप्त होओ। फिर आप शंकाकारने हमारे ऊपर व्यर्थ आठोंको असंयमी होनेका विना विचारे कटाक्ष क्यों किया था? उसको आप लौटा लीजिये।

तथाहि—पञ्चदशसु प्रमादव्यक्तिषु वर्तमानस्य प्रमादसामान्यस्य कषायेष्वन्तर्भावेऽपि न सर्वा व्यक्तयस्तत्रान्तर्भवन्ति विकथेन्द्रियाणामप्रमत्तादिष्वभावात्, कषायप्रणयनिद्राणामेव संभवात्, इति न तेषां प्रमत्तत्वम्। तथा मोहद्वादशकोदयकालभाविषु तत्क्षयोपशमकालभाविषु च प्रमादकषाययोगविशेषेषु वर्तमानस्य प्रमादकषाययोगसामान्यस्याचारित्रेऽन्तर्भावेऽपि न प्रमत्तादीनामसंयतत्वम्।

इसी बातको अधिक स्पष्ट कर आचार्य महाराज दिखलाते हैं कि आप शंकाकार पंद्रह प्रमादविशेषोंमें विद्यमान होरहे ऐसे प्रमादसामान्यका कषायोंमें अन्तर्भाव करते हुए भी यह मानते हैं कि सम्पूर्ण पंद्रह भी प्रमाद व्यक्तिरूपसे उस कषायमें गर्भित नहीं होते हैं। क्योंकि चार विकथा और पांच इंद्रिय ये नौ प्रमाद अप्रमत्त आदि चार गुणस्थानोंमें विद्यमान नहीं हैं। चार सञ्ज्वलन कषाय, स्नेह और निद्रा ये छह प्रमाद ही वहां सम्भवते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रमादोंके न रहनेसे उन सातवें आदि चारोंको जैसे आप प्रमत्त नहीं मानते हैं, वैसे ही हम भी कहते हैं कि मोहनीय कर्मकी बारह प्रकृतियोंके उदयके समय होनेवाले पहिले दूसरे गुणस्थानके प्रमाद, कषाय, योग, व्यक्तियोंमें जो ही प्रमाद, कषाय, योग, सामान्य विद्यमान हैं, मोहनीयकी बारह प्रकृतियोंके क्षयोपशमके समय होनेवाले चौथे, पांचवें, छठे और निरतिशय सातवें गुणस्थानोंमें रहनेवाले प्रमाद, कषाय, योग, व्यक्तियोंमें भी वही सामान्य विद्यमान है। अतः सामान्यरूपसे प्रमाद, कषाय

लोगोंका अपरिणत कर देने पर भी ज्ञान आदि आठोंको असंयमीपना प्राप्त न होगा जो आपने तर्क दी है वही यहां भी लागू हो जाती है। तुम्हारी सपिल्ली और मेरा, सुंदर, मनोज्ञ, चहरासाई रुपैया है, यह पक्षपात आपको नहीं चलाना चाहिये।

स्यान्मतं, प्रमादादिसामान्यस्यासंयतेषु संयतेषु च सद्भावादसंयमे संयमे चांतर्भावो युक्तो न पुनरसंयम एव, अन्यथा वृक्षत्वस्य न्यग्रोधेऽन्तर्व्यापिनोऽपि न्यग्रोधेष्वेवांतर्भावप्रसक्तेरिति।

सम्भव है कि आप शंकाकारका यह भी मत होवे कि प्रमाद, कषाय और योग इन तीन सामान्योंका पहिलेके चार असंयत गुणस्थानोंमें तो सद्भाव है ही तथा अब संयमियोंमें भी उनको देखिये कि प्रमाद सामान्यका देशसंयत पांचवें और छठवें संयमी गुणस्थानमें सद्भाव है तथा कषाय छठेसे दशवें गुणस्थान तकके संयमियोंमें विद्यमान है। एवं योग छठेसे लेकर तेरहवें तकके संयमियोंमें पाया जाता है। इस प्रकार सामान्यरूपसे प्रमाद आदि तीन तो संयत और असंयत दोनों प्रकारके जीवोंमें पाये जाते हैं। तब ऐसी दशामें प्रमाद आदिका चारित्र और अचारित्र दोनोंमें अन्तर्भाव करना युक्त था। अकेले अचारित्रमें ही उनको गर्भित करना अनुचित है। यदि ऐसा न मानकर आप जैन दूसरे प्रकारसे मानोगे यानी अनेकोंमें रहनेवाले सामान्य धर्मको एक ही विशेषव्यक्तिमें गर्भित कर लोगे तो निम्ब, वट, आम्र, जम्बू, धव, खदिर पेडोंमें रहनेवाला वृक्षत्व सामान्य विचारा वटवृक्षके भीतर भी व्यापक होकर विद्यमान है। अतः उस अनेकोंमें रहनेवाले वृक्षत्व सामान्यका भी अकेले वटवृक्षमें ही गर्भित करनेका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् वड ही वृक्ष कहा जावेगा। निम्ब, जामुन, आदि पेड न कहे जा सकेंगे, इस प्रकार शंकाकारका कहना है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि:—

तदसत्, विवक्षितापरिज्ञानात्। प्रमादादित्रयमसंयमे च यस्यान्तर्भावीति तस्य तन्नियतत्वात्तत्रान्तर्भावो विवक्षितः, प्रमादानामप्रमत्तादिष्वभावात् कषायाणामकषायेष्वसम्भवात्, योगानामयोगेऽनवस्थानादिति तेषां संयमे नान्तर्भावो विवक्षितः।

वह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे कहनेके अभिप्रायको आपने समझा नहीं है। जिस जैनके यहां प्रमाद, कषाय और योग ये तीनों असंयममें गर्भित हो जाते हैं उसके मतमें वे तीनों ही असंयममें तो नियमसे विद्यमान हैं। इस कारण उस असंयममें गर्भित करना हमको विवक्षित है। बंधके कारणोंमें कहे गये मिथ्यादर्शन आदि पांचके पूर्व पूर्व कारणके रहनेपर उत्तरवर्ती कारण अवश्य रहते हैं। मिथ्यादर्शनको कारण मानकर जहां बंध हो रहा है, वहां शेष चारों भी विद्यमान हैं तथा मिथ्यादर्शनकी व्युच्छित्ति होनेपर दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानमें अविरति निमित्तसे बंध हो रहा है, वहां शेष तीन कारण भी विद्यमान हैं। एवं पांचवें छठवेंमें प्रमाद हेतुसे बंध होनेपर कषाय

योगोंका अचारित्रमें गर्भ होते हुए भी प्रमत्त आदि आठोंको असंयमीपना प्राप्त न होगा जो आपने कही है वही यहां भी लागू हो जाती है। तुम्हारी सपिल्ली और मेरा, सुंदर, मनोज्ञ, चहरासाई रुपैया है, यह पक्षपात आपको नहीं चलाना चाहिये।

स्यान्मतं, प्रमादादिसामान्यस्यासंयतेषु संयतेषु च सद्भावादसंयमे संयमे चांतर्भावो युक्तो न पुनरसंयम एव, अन्यथा वृक्षत्वस्य न्यग्रोधेऽन्तर्व्यापिनोऽपि न्यग्रोधेष्वेवांतर्भावप्रसक्तेरिति।

सम्भव है कि आप शंकाकारका यह भी मत होवे कि प्रमाद, कषाय और योग इन तीन सामान्योंका पहिलेके चार असंयत गुणस्थानोंमें तो सद्भाव है ही तथा अब संयमियोंमें भी उनको देखिये कि प्रमाद सामान्यका देशसंयत पांचवें और छठवें संयमी गुणस्थानमें सद्भाव है तथा कषाय छठेसे दशवें गुणस्थान तकके संयमियोंमें विद्यमान है। एवं योग छठेसे लेकर तेरहवें तकके संयमियोंमें पाया जाता है। इस प्रकार सामान्यरूपसे प्रमाद आदि तीन तो संयत और असंयत दोनों प्रकारके जीवोंमें पाये जाते हैं। तब ऐसी दशामें प्रमाद आदिका चारित्र और अचारित्र दोनोंमें अन्तर्भाव करना युक्त था। अकेले अचारित्रमें ही उनको गर्भित करना अनुचित है। यदि ऐसा न मानकर आप जैन दूसरे प्रकारसे मानोगे यानी अनेकोंमें रहनेवाले सामान्य धर्मको एक ही विशेषव्यक्तिमें गर्भित कर लोगे तो निम्ब, वट, आम्र, जम्बू, धव, खदिर पेडोंमें रहनेवाला वृक्षत्व सामान्य विचारा वटवृक्षके भीतर भी व्यापक होकर विद्यमान है। अतः उस अनेकोंमें रहनेवाले वृक्षत्व सामान्यका भी अकेले वटवृक्षमें ही गर्भित करनेका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् वड ही वृक्ष कहा जावेगा। निम्ब, जामुन, आदि पेड न कहे जा सकेंगे, इस प्रकार शंकाकारका कहना है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि:—

तदसत्, विवक्षितापरिज्ञानात्। प्रमादादित्रयमसंयमे च यस्यान्तर्भावीति तस्य तन्नियतत्वात्तत्रान्तर्भावो विवक्षितः, प्रमादानामप्रमत्तादिष्वभावात् कषायाणामकषायेष्वसम्भवात्, योगानामयोगेऽनवस्थानादिति तेषां संयमे नान्तर्भावो विवक्षितः।

वह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे कहनेके अभिप्रायको आपने समझा नहीं है। जिस जैनके यहां प्रमाद, कषाय और योग ये तीनों असंयममें गर्भित हो जाते हैं उसके मतमें वे तीनों ही असंयममें तो नियमसे विद्यमान हैं। इस कारण उस असंयममें गर्भित करना हमको विवक्षित है। बंधके कारणोंमें कहे गये मिथ्यादर्शन आदि पांचके पूर्व पूर्व कारणके रहनेपर उत्तरवर्ती कारण अवश्य रहते हैं। मिथ्यादर्शनको कारण मानकर जहां बंध हो रहा है, वहां शेष चारों भी विद्यमान हैं तथा मिथ्यादर्शनकी व्युच्छित्ति होनेपर दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानमें अविरति निमित्तसे बंध हो रहा है, वहां शेष तीन कारण भी विद्यमान हैं। एवं पांचवें छठवेंमें प्रमाद हेतुसे बंध होनेपर कषाय

और योग भी कारण हो रहे हैं और सञ्ज्वलन कषायके उदयसे सातवें, आठवें, नौवे, दशवें गुणस्थानमें बंध हो रहा है। वहां नौ योग भी बंधके कारण हैं। ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें केवल योगसे ही एक समयकी स्थितिवाले सातावेदनीयका ही बंध होता है। इस कारण प्रमाद आदि तीनका असंयम भावमें गर्भित करना ठीक है। क्योंकि असंयममें वे पूर्णरूपसे रह जाते हैं, किंतु संयमी गुणस्थानोंमें प्रमाद आदि तीन पूरे तौरसे नहीं व्यापते हैं। प्रमादोंका अप्रमत्तको आदि लेकर आगेके गुणस्थानोंमें अभाव है तथा सञ्ज्वलनके मंद, मंदतर, मंदतम, और सूक्ष्म लोभके उदय होनेपर होनेवाली कषायोंका, कषायोंसे रहित होरहे ग्यारहवें आदिमें सम्भव नहीं है और तेरहवें तक बंधके कारण होरहे योगोंकी योगरहित चौदहवें गुणस्थानमें स्थिति नहीं है। इस कारण उन प्रमाद, कषाय और योगोंका संयममें अंतर्भाव करना हमको विवक्षित नहीं है। जिसको आप शङ्काकार समझ नहीं पाये हैं।

प्रतिनियतविशेषापेक्षया तु तेषामसंयमेऽनन्तर्भावात् पञ्चविध एव बंधहेतुः मोहद्वादशकक्षयोपशमसहभाविनां प्रमादकषाययोगानां विशिष्टानामसंयतेष्वभावात्कषायोपशमक्षयभाविनां च प्रमत्तकषायसंयमेष्वव्यभावात् सर्वेषां स्वानुरूपबंधहेतुत्वाप्रतीघातात्।

हां! उन उन छठे आदि प्रत्येक गुणस्थानोंमें नियत हुए विशेष विशेष रूपसे होनेवाले प्रमाद, कषाय, और योगविशेषोंकी अपेक्षा होनेपर तो उन प्रमाद आदिकोंका हम असंयममें गर्भ नहीं करते हैं। क्योंकि वे असंयतोंमें पाये नहीं जाते हैं। इस कारण तीन प्रकार न मानकर बंधके हेतु पांच प्रकारके ही इष्ट हैं। जहां बंधके पांच हेतु बतलाये हैं, वहां मिथ्यात्वके उदय होनेपर उत्तरवर्ती कारण भले ही रह जावें फिर भी मिथ्यादर्शन ही प्रधान है। अविरति शब्दसे अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे होनेवाले भाव ही लिये गये हैं। प्रमाद पदसे सञ्ज्वलन कषायके तीव्र उदय होनेपर होनेवाले पंद्रह प्रमाद पकडे गये हैं। अविरत जीवोंके अनंतानुबंधी आदि तीन चौकडीके उदयके साथ होनेवाले प्रमादोंकी यहां विवक्षा नहीं है। इसी प्रकार सञ्ज्वलनके अतीव मंद उदय होनेपर कषाय हेतुवाला बंध होता है। योगोंमेंसे पंद्रहों भी योगोंसे बंध होता है। किंतु ग्यारहवें बारहवेंमें सम्भावित हुए नौ और तेरहवें गुणस्थानमें सात योगोंसे होनेवाले बंधकी विवक्षा है। अतः विशेषप्रमाद आदिकी विवक्षा होनेपर वे असंयतोंमें कैसे भी गर्भित नहीं होते हैं। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चतुष्टय यों बारह चारित्रमोहनीय प्रकृतियोंके क्षयोपशमके साथ होनेवाले छठे आदि गुणस्थानवर्ती विशेष विशेष प्रमाद, कषाय और योगोंका पहिले असंयतके चार गुणस्थानोंमें सर्वथा अभाव है। क्योंकि पहिले दूसरे गुणस्थानोंमें मोहनीयकी बारह प्रकृतियोंके उदय होनेपर साथ रहनेवाले प्रमाद कषाय और योग हैं तथा तीसरे, चौथेमें मोहनीयकी उनमेंसे आठ प्रकृतियोंके उदयके साथ ही प्रमाद आदि तीन हैं। शुभ प्रमाद आदिकोंका असंयतोंमें समावेश नहीं है और चारित्रमोहनीयकी अप्रत्याख्यानावरण आदि इक्कीस

प्रकृतियोंके उपशमन या क्षपण होनेपर होनेवाले कषाय और योगोंका आठवेंसे लेकर दशवें तकके संयमिमों में भाव है। हां, तथा पूर्ववर्ती छठे प्रमादी या सातवें कषाय युक्त संयमिओं में भी अभाव है। पहिले पांचों में तो सुलभतासे अभाव है। यह अपिका अर्थ है। उपशम या क्षय हो चुकनेपर होनेवाले योगोंका छठवेंसे लेकर दशवें तक अभाव है। निर्णय यह है कि सर्व ही जीवोंके अपने अपने अनुकूल पडनेवाले बंधके कारणोंका अविरोध है। भावार्थ—जितने बंधके कारण या उनके भेद प्रभेद जिन संयमी या असंयमी गुणस्थानो में सम्भव हैं, विना किसी प्रतिरोधके उन गुणस्थानों में उन उन कारणोंकी सत्ता माननी चाहिये। इस कारण बंधके कारण उन विशेष नियतहेतुओंकी अपेक्षासे पांच प्रकार ही सिद्धान्तित किये हैं। इस नयकी उक्तिसे प्रमाद आदिका हम अचारित्रमें गर्भ नहीं करते हैं। विशेष, यह कि बारह कषायोंका क्षयोपशम इसका अभिप्राय यह है कि अनन्तानुबन्धी आदि तीनों चौकडिओंका उदयाभावी क्षय, भविष्यमें उदय आनेवालिओंका उपशम और देशघाती संज्वलनका उदय होवें। यद्यपि अनन्तानुबन्धीका उदय तो सम्यक्त्व होजानेपर ही टूटचुका है। फिर भी चारित्रमें उसका उपशम आवश्यक है। संज्वलनको मिलाकर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन बारहको लेनेमें भी कोई विरोध नहीं है। किंतु ऐसी दशामें नौ नोकषायोंका छोडना खटकता है।

नन्वेवं पञ्चधा बन्धहेतौ सति विशेषतः।
प्राप्तो निर्वाणमार्गोऽपि तावद्धा तन्निवर्तकः ॥ ११० ॥

यहां किसीकी शंका है कि इस प्रकार विशेषरूपसे बन्धके कारणोंको पांच प्रकार सिद्ध होनेपर उस बन्धकी निवृत्ति करनेवाला मोक्षका मार्ग भी उतनी ही संख्यावाला पांच प्रकारका होना न्यायसे प्राप्त है। फिर आपने मोक्षका मार्ग तीन प्रकारका कैसे कहा है? उत्तर दीजिये।

यथा त्रिविधे बन्धहेतौ त्रिविधो मार्गस्तथा पञ्चविधे बन्धकारणे पञ्चविधो मोक्षहेतुर्वक्तव्यः, त्रिभिर्मोक्षकारणैः पञ्चविधबन्धकारणस्य निवर्तयितुमशक्तेः, अन्यथा त्रयाणां पञ्चानां वा बन्धहेतूनामेकेनैव मोक्षहेतुना निवर्तनसिद्धेर्मोक्षकारणत्रैविध्यवचनमप्ययुक्तिकमनुपज्येतेति कश्चित्।

जैसे कि बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्रके भेदसे तीन प्रकार होजानेपर मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीन प्रकार कहा है, वैसे ही बन्धके कारण जब पांच प्रकारके आपने सिद्ध करदिये हैं तो मोक्षके हेतु भी पांच प्रकारके कहने चाहिये। क्योंकि मोक्षके तीन कारणोंसे बंधके पांच प्रकार कारणोंकी निवृत्ति हो नहीं सकती है। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे अर्थात् तीनसे भी पांचों की निवृत्ति होना

मानलोगे तो तीनों या पांचों बंधके कारणोंकी मोक्षके एक ही तत्त्वज्ञानस्वरूप कारणसे निवृत्ति सिद्ध हो जावेगी। फिर मोक्षके कारणोंको तीन प्रकारका कहना भी जैनोंका युक्तियोंसे रहित है। यह प्रसंग हो जावेगा। इस प्रकार कोई शंकाकार कहता है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि—

तदेतदनुकूलं नः सामर्थ्यात् समुपागतम्।
बन्धप्रत्ययसूत्रस्य पाञ्चध्यं मोक्षवर्त्मनः॥ १११॥

इस प्रकार यह शंका तो हमको अनुकूल पडती है। इसका हमको खण्डन नहीं करना है। बन्धके पांच कारणोंका निरूपण भी सूत्रकारने ही किया है, अतः बन्धके पांच कारणोंको कहनेवाले सूत्रकी सामर्थ्यसे ही यह बात अच्छी तरह प्राप्त हो जाती है कि मोक्षका मार्ग भी पांच प्रकारका है, इसमें सन्देह नहीं। यहां किसी नयसे तीन प्रकारका कह दिया है।

" सम्यग्दर्शनाविरत्यप्रमादाकषायायोगा मोक्षहेतव " इति पंचविधबन्धहेतूपदेशसामर्थ्याल्लभ्यत एव मोक्षहेतोः पंचविधत्वं, ततो न तदापादनं प्रतिकूलमस्माकं।

बन्धके पांच प्रकार हेतुओंके उपदेशकी सामर्थ्यसे मोक्षके कारणको पांच प्रकारपना इसी न्यायसे प्राप्त हो ही जाता है कि सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये पांच मोक्षके कारण हैं। इन एक एक कारणसे बन्धके एक एक कारणकी निवृत्ति हो जाती है। अतः शंकाकारका वह आपादन करना हमें प्रतिकूल नहीं है, प्रत्युत इष्ट है। निर्णय यह है कि विवक्षासे पदार्थोंकी सिद्धि होती है। जैनियोंकी नयचक्रव्यवस्थाको समझ लेनेपर उक्त प्रक्रिया बन जाती है। जिन उमास्वामी महाराजने मोक्षके कारण तीन माने हैं, उनहीके अभिप्रायानुसार बन्धके कारण तीन माने जा रहे हैं और उन आचार्य हीने बन्धके कारण पांच कहे हैं। अतः मोक्षके कारण भी पांच मानना उनको अभीष्ट प्रतीत होता है। यह नयप्रक्रियाकी योजनासे सुसंगत हो जाता है, जो कि हम प्रायः कह चुके हैं।

सम्यग्ज्ञानमोक्षहेतोरसंग्रहः स्यादेवमिति चेन्न, तस्य सद्दर्शनेऽन्तर्भावात् मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनेऽन्तर्भाववत्। तस्य तत्रानन्तर्भावे वा षोढा मोक्षकारणं बन्धकारणं चाभिमतमेव विरोधाभावादित्युच्यते।

आक्षेप है कि इस प्रकार पांच प्रकारके मोक्ष हेतुओंके मानने पर मोक्षके कारणोंमें अन्य दार्शनिकों द्वारा भी आवश्यकरूपसे माने गये सम्यग्ज्ञानका संग्रह नहीं हो पाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तो आचुके हैं। किन्तु प्रधानकारण कहे गये ज्ञानका संग्रह नहीं हो पाया है जिसको कि आप जैन भी मानते हैं। ऐसी अधिक संख्याके निरूपण करनेसे हानिके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं है जहां कि मूल ही छूट जाता हो। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि इस प्रकार

कहोगे सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनमें उस सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव हो जाता है। बन्धके पांच कारणोंका निरूपण करते समय भी संसारका प्रधानकारण मिथ्याज्ञान ही छूट गया है। अतः गाढसख्यके वश मिथ्याज्ञानका जैसे मिथ्यादर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञानका सम्यग्दर्शनमें अन्तर्भाव करलेते हैं। अथवा यदि स्वतन्त्र गुण होनेके कारण उस सम्यग्दर्शनमें उस सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव नहीं करना चाहते हो तो मोक्षका कारण छह प्रकारका हो जायगा और इसी प्रकार मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान विभावोंके स्वतन्त्र होनेपर बन्धका कारण भी छह प्रकारका ही समझा जायेगा। यह बात भी सूत्रकारको अभीष्ट ही है। क्योंकि ग्रंथकार किसी प्रकारका विरोध न होनेके कारण तीनके समान पांच, छह, प्रकारका भी मोक्षकारण इष्ट करते हैं। इसी बातको वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

सम्यग्बोधस्य सद्दृष्टावन्तर्भावात्त्वदर्शने।
मिथ्याज्ञानवदेवास्य भेदे षोढोभयं मतम् ॥ ११२ ॥

मिथ्यादर्शनमें मिथ्याज्ञानके अन्तर्भाव करनेके समान सम्यग्दर्शनमें सम्यग्ज्ञानका यदि गर्भ करोगे तो बंध और मोक्षके कारण पांच प्रकार ही हैं। यदि इन दोनोंका भेद मानोगे तो बंध और मोक्षके कारण दोनों ही छह प्रकारके इष्ट हैं। यही विवक्षाके अधीन होकर आचार्योंका मंतव्य है। श्रीकुंदकुंदाचार्यने तो चैतन्यरूपसे अभेद होनेके कारण तीनों गुणोंको एक मानकर मोक्षका कारण एक ही माना है। और निश्चय नयसे मोक्ष और मोक्षके कारणको भी एक ही कर दिया है, यह कथन भी अविरुद्ध है। तत्त्वज्ञानीके अभिप्रायरूप नयको समझ लीजिये।

तत्र कुतो भवन् भवेत्यन्तं बंधः केन निवर्त्यते, येन पंचविधो मोक्षमार्गः स्यादित्यर्धायते—

उस प्रकरणमें आप जैन यह बतलाइये कि आपके मतके अनुसार संसारमें किस कारणसे अधिक धाराप्रवाहरूप होता हुआ बंध और किस कारणसे वह निवृत्त होजाता है? जिससे कि बंधके समान मोक्षमार्ग भी पांच प्रकारका माना जाय ऐसी प्रतिवादीकी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं।

तत्र मिथ्यादृशो बन्धः सम्यग्दृष्ट्या निवर्त्यते।
कुचारित्राद्विरत्यैव प्रमादादप्रमादतः ॥ ११३ ॥
कषायादकषायेण योगाच्चायोगतः क्रमात्।
तेनायोगगुणान्मुक्तेः पूर्वं सिद्धा जिनस्थितिः ॥ ११४ ॥

उस बंध मोक्षके प्रकरणमें मिथ्यादर्शन नामक विभावके निमित्तसे होता हुआ बंध तो सम्यग्दर्शन स्वभावसे निवृत्त होजाता है। और अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायके उदय होनेपर उत्पन्न हुए कुचारित्रसे होता हुआ बंध इंद्रिय संयम और प्राणसंयमरूप विरति करके ही नष्ट होजाता है। तथा संज्वलनके तीव्र उदय होनेपर होनेवाले प्रमादोंसे होता हुआ बंध सातवेंमें अप्रमाद होनेसे दूर होजाता है। एवं संज्वलन कषायके मन्द उदयोंसे होता हुआ बंध भी चारित्र मोहका उपशम या क्षयरूप अकषाय भावसे ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें दूर हो जाता है। अन्तमें योगसे होनेवाला बन्ध चौदहवें गुणस्थानकी अयोगअवस्थासे ध्वस्त कर दिया जाता है। इस प्रकार क्रमसे पांच बंध हेतुओंके भेद प्रभेदोंसे होनेवाले बन्धोंकी पहिलेमें सोलह, दूसरेमें पचीस, चौथेमें दस, पांचवेमें चार, छठवेंमें छह, सातवेंमें एक, आठवेंमें छत्तीस, नौवेंमें पांच, दसवेंमें सोलह और तेरहवें गुणस्थानमें एक इस प्रकार बंध योग्य १२० कर्मोंकी बंध व्युच्छित्ति होनेका नियम है। अतः अयोग गुणस्थानसे पीछे होनेवाली मुक्तिके पहिले तेरहवें गुणस्थान और चौदहवें गुणस्थानके कालमें जिनेंद्रदेवका संसारमें स्थित रहना सिद्ध हो जाता है।

मिथ्यादर्शनाद्भवन् बंधः दर्शनेन निवर्त्यते, तस्य तन्निदानविरोधित्वात्। मिथ्याज्ञानाद्भवन् बंधः सत्यज्ञानेन निवर्त्यत इत्यप्यनेनोक्तं, मिथ्याचारित्राद्भवन्सच्चारित्रेण, प्रमादाद्भवन्नप्रमादेन, कषायाद्भवन्नकषायेण, योगाद्भवन्नयोगेन स निवर्त्यत इत्ययोगगुणानन्तरं मोक्षस्याविर्भावात्सयोगायोगगुणस्थानयोर्भगवदर्हतः स्थितिरपि प्रसिद्धा भवति।

बंधके पांच कारणोंमें पडे हुए मिथ्यादर्शनसे हो रहा बंध झट सम्यग्दर्शनसे निवृत्त कर दिया जाता है। क्योंकि वह सम्यग्दर्शन तो बन्धके आदि कारण माने गये उस मिथ्यात्वका विरोधी है। इस कथनकी सामर्थ्यसे यह भी कह दिया गया है कि मिथ्याज्ञानसे हो रहे बंधका सम्यग्ज्ञानसे निवर्त्तन हो जाता है। तथा मिथ्याचारित्रसे होता हुआ बंध सम्यक्चारित्रसे नष्ट कर दिया जाता है। एवं प्रमादसे होता हुआ छह प्रकृतियोंका बंध अप्रमादसे नष्ट कर दिया जाता है। और कषायोंसे होनेवाला बंध अकषायभावसे तथा योगसे होता हुआ सातावेदनीयका वह बंध अयोगभावसे ध्वस्त कर दिया जाता है। इस प्रकार आत्माके स्वाभाविक परिणाम कहे गये अयोग गुणस्थानके अन्तमें होनेवाली मुक्तिके प्रगट हो जानेसे पहिले तेरहवें सयोग और चौदहवें अयोग गुणस्थान दोनोंमें भगवान् श्री अर्हन्तदेवकी उपदेश देनेके लिये यहां स्थिति भी प्रसिद्ध हो जाती है। उस अधिकसे अधिक कुछ अन्तर्मुहूर्त्त अधिक आठ वर्ष कमती एककोटि पूर्व वर्ष तक सर्वज्ञ भगवान् भव्यजीवोंके लिये तत्त्वोंका उपदेश देते हैं और कमसे कम तेरहवें गुणस्थानमें कतिपय अन्तर्मुहूर्त्त ठहरकर तत्त्वार्थोंका उपदेश देते हुए पञ्च लघु अक्षर प्रमाण अयोग गुणस्थानके अनंतर कालमें मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं।

सामग्री यावती यस्य जनिका सम्प्रतीयते ।
तावती नातिवर्त्यैव मोक्षस्यापीति केचन ॥ ११५ ॥

पुनः कोई बोले कि जिस कार्यको उत्पन्न करनेवाली जितनी कारणसमुदायरूप सामग्री अच्छी तरह देखी जारही है, वह कार्य उतनी सामग्रीका उल्लंघन कथमपि नहीं कर सकता है अर्थात् उतने सम्पूर्ण कारणोंके मिलनेपर ही विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति हो सकेगी। मोक्षरूप कार्यके लिये भी सम्यग्दर्शन आदि तथा चारित्रगुणके स्वभावोंको विकसित करनेके लिये आवश्यक कहा जारहा तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानमें अवस्थानकाल जैसे अपेक्षित है, वैसे ही सञ्चित कर्मोंका फलोपभोग होना भी हम नैयायिक और सांख्योंके मतमें माना गया है, इस प्रकार कोई कहरहे हैं। इसकी व्याख्या यों है कि—

यस्य यावती सामग्री जनिका दृष्टा तस्य तावत्येव प्रत्येया, यथा यवबीजादिसामग्री यवाङ्कुरस्य, तथा सम्यग्ज्ञानादिसामग्री मोक्षस्य जनिका सम्प्रतीयते, ततो नैव सातिवर्तनीया, मिथ्याज्ञानादिसामग्री च बन्धस्य जनिकेति मोक्षबन्धकारणसंख्यानियमः, विपर्ययादेव बन्धो ज्ञानादेव मोक्ष इति नेष्यत एव, परस्यापि सञ्चितकर्मफलोपभोगादेरभीष्टत्वादिति केचित् ।

जिस कार्यको उपादान कारण, सहकारी कारण, उदासीन कारण, प्रेरक कारण और अवलम्ब कारणोंकी समुदायरूप जितनी सामग्री उत्पन्न करती हुयी देखी गयी है, उस कार्यके लिये उतनी ही सामग्रीकी अपेक्षा करना आवश्यक समझना चाहिये। उस सामग्रीकी अपेक्षा न कर केवल एक दो कारणसे ही होता हुआ कार्य नहीं देखा गया है। इस कलंक कार्यकारणभावका कोई भी शक्ति परिवर्तन नहीं करसकती है। जैसे कि जौका बीज, मिट्टी, पानी, मन्दवायु, इत्यादि कारणोंके समुदायरूप सामग्रीसे जौका अङ्कुर उत्पन्न होजाता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान, फलोपभोग, दीक्षा, काल आदि कारणकूट भी मोक्षरूपकार्यके जनक अच्छे प्रकारसे निर्णीत होरहे हैं। इस कारणसे मोक्षरूपी कार्य उस अपनी सामग्रीका उल्लंघन नहीं कर सकता है। और मिथ्याज्ञान, दोष, पापक्रिया करना, निषिद्ध आचरण करना, नित्य, नैमित्तिक कर्मोंको न करना आदि कारणसमुदाय बंधके जनक है। इस प्रकार मोक्ष और बंधके कारणोंकी संख्याका नियम होरहा है। कोई पोल नहीं है। अकेले विपर्ययज्ञानसे ही बंध होजाना और केवल तत्त्वज्ञानसे ही मोक्ष होजाना यह हम इष्ट नहीं करते हैं। दूसरे हम लोगोंके यहां भी पहिले एकत्रित किये हुए कर्मोंके फलोपभोग, तपस्या, वैराग्य, आदि कारणसमुदायसे ही मोक्ष होना अच्छा इष्ट किया है। इस प्रकार कोई कापिल और वैशेषिक कहरहे हैं। इनका अभिप्राय यही है कि जब आप जैनोंको भी सामग्री

मानना तो आवश्यक ही है, तो फिर अकेले तत्त्वज्ञानको ही मोक्ष और विपर्ययको ही संसारका कारण क्यों न मानलिया जाय।

एतेषामप्यनेकान्ताश्रयणे श्रेयसी मतिः।
नान्यथा सर्वथैकान्ते बन्धहेत्वाद्ययोगतः॥ ११६॥
नित्यत्वैकान्तपक्षे हि परिणामनिवृत्तितः।
नात्मा बन्धादिहेतुः स्यात् क्षणप्रक्षयिचित्तवत्॥ ११७॥

ग्रंथकार समझाते हैं कि इन लोगोंका उक्त कथन ठीक है, किंतु अनेकांत मतका आश्रय लेनेपर ही उनका पूर्वोक्त मन्तव्य कल्याणकारी हो सकता है। अन्यथा नहीं। क्योंकि सर्वथा एकांत मतका अवलम्ब लेनेपर बंध, बंधका हेतु, मोक्ष, मोक्षका कारण, आदि अवस्था नहीं हो सकती है। कोई युक्ति काम नहीं देती है। देखो, जो ही आत्मा पहिले मिथ्यादृष्टि था, सम्यग्दर्शन पर्यायके उत्पन्न हो जानेपर वही सम्यग्दृष्टि बन जाता है। यहां आत्मा कथञ्चित् नित्य है और उसकी पर्यायें मिथ्यादर्शन आदि तो बदलती रहनेके कारण कथञ्चित् अनित्य हैं।

यदि आप सांख्य या वैशेषिक आत्माको एकांतरूपसे नित्य होना माननेका पक्ष ग्रहण करेंगे तो अवश्य आत्मामें पर्यायें होनेकी निवृत्ति हो जावेगी। अतः वह आत्मा बंध बंधके कारण, मोक्षकारण, और मोक्षरूप आदि पर्यायोंका कारण न बन सकेगा, जैसे कि बौद्धोंसे माना गया एक ही क्षणमें समूल चूल नष्ट होनेवाला विज्ञानस्वरूप आत्मा विचारा बंधका हेतु नहीं होने पावा है और सर्वथा क्षणिक माने गये आत्माकी अष्टाङ्ग कारणोंसे मोक्ष भी नहीं हो सकती है।

परिणामस्याभावे नात्मनि क्रमयोगपद्ये तयोस्तेन व्याप्तत्वात्। पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणो हि परिणामो न पूर्वोत्तरक्षणविनाशोत्पादमात्रं स्थितिमात्रं वा प्रतीत्यभावात्। स च क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकतया संप्रतीयते। बहिरन्तश्च बाधकाभावान्नापारमार्थिको यतः स्वयं निवर्त्तमानः क्रमयौगपद्ये न निवर्तयेत्। ते च निवर्तमाने अर्थक्रियासामान्यं निवर्तयतस्ताभ्यां तस्य व्याप्तत्वात्। अर्थक्रियासामान्यं तु यत्र निरतिशयात्मनि न सम्भवति तत्र बंधमोक्षाद्यर्थक्रियाविशेषः कथं सम्भाव्यते। येनायं तदुपादानहेतुः स्यात्, निरन्वयक्षणिकचित्तस्यापि तदुपादानत्वप्रसङ्गात्।

आत्मामें परिणाम होनेका अभाव माननेपर कुछ अर्थ, व्यंजन पर्यायोंका क्रमसे होनापन और कितनी ही गुणरूप सहभावी पर्यायोंका एक कालमें होनापन ये नहीं बन सकते हैं। क्योंकि क्रम और यौगपद्य वे उस परिणाम करके व्याप्त हो रहे हैं अर्थात् परिणाम होना व्यापक है और उसके

क्रम, यौगपद्य, व्याप्य हैं। पूर्व स्वभावोंका त्याग करना और उत्तर कालवर्ती स्वभावोंका ग्रहण करना तथा स्थूलपर्याय या अन्वयरूपसे ध्रुव रहना सही परिणामका नियत लक्षण है। बौद्धोंका माना गया केवल पूर्वक्षणवर्ती स्वभावोंका अन्वयसहित नाश हो जाना और उत्तर समयवर्ती सर्वथा नवीन ही पर्यायोंकी उत्पत्ति होना परिणाम नहीं है। अथवा सांख्योंका माना गया केवल तीनों कालमें स्थित रहना ही परिणाम नहीं है। क्योंकि प्रामाणिक परीक्षकोंको बौद्ध और कापिलोंके मंतव्यानुसार प्रतीति नहीं हो रही है। किंतु वह हमारा माना हुआ तीन लक्षणवाला परिणाम ही क्रम और यौगपद्यका व्यापक हो करके भली रीतिसे जाना जा रहा है। घट, पट, दाल, शाक आदि बहिरंग पदार्थोंमें और आत्मा, ज्ञान, सुख आदिक अंतरंग पदार्थोंमें तीन लक्षणवाला ही परिणाम बाधक प्रमाणोंसे रहित होकर जाना जा रहा है। वह परिणाम होना वस्तुके विवर्तरूप स्वभावोंपर अवलम्बित है। अतः अवास्तविक नहीं है, जिससे कि सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मान लिये गये कल्पित पदार्थसे वह व्यापक परिणाम स्वयं निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्य क्रम और यौगपद्यकी निवृत्ति न कर लेवे। भावार्थ—व्यापक परिणामके न रहनेपर सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आत्मामें व्याप्यस्वरूप क्रमिक भाव और युगपत् भाव भी नहीं रहते हैं और जब एकांत पक्षोंमें क्रम तथा यौगपद्य निवृत्त हो जाते हैं तो वे निवृत्त होते हुए सामान्यरूपसे अर्थक्रियाको भी निवृत्त करा देते हैं। क्योंकि उन क्रम और यौगपद्यसे वह सामान्य अर्थक्रिया होना व्याप्त है। व्यापकके निवृत्त हो जानेसे व्याप्य भी निवृत्त हो जाता है। जहां मनुष्य नहीं, वहां ब्राह्मण कहांसे आया ?। और अनेक स्वभावोंसे विवर्त्त करनारूप चमत्कारोंसे रहित जिस कूटस्थ या क्षणिक आत्मामें सामान्य रूपसे अर्थक्रिया करना ही नहीं सम्भवता है तो उस अपरिणामी आत्मामें बंधना, छूटना, बंधका कारण मिथ्याज्ञानरूप हो जाना और मोक्षका कारण तत्त्वज्ञानरूप हो जाना आदि विशेष अर्थक्रियाएं भला कैसे सम्भवित हो सकती हैं ? जिससे कि यह आत्मा उन बंध आदिकोंका समवायिकारण बन सके। यदि आप सांख्य या नैयायिक पूर्व अतिशयोंको न छोडनेवाले और उत्तरमें अनेक चमत्कारोंको न धारण करनेवाले कूटस्थ नित्य आत्माको भी बंध, मोक्ष आदिका उपादानकारण मानेंगे तो बौद्धोंके माने गये अन्वयरहित क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले निरन्वय क्षणिक विज्ञानरूप आत्माको भी बन्ध, मोक्ष, आदिका उपादान कारणपना हो जानेका प्रसंग आवेगा, जो कि आप लोगोंको अनिष्ट पडेगा। क्योंकि नित्य आत्मवादी तो बौद्धोंका साभिमान खंडन करते हैं।

न चात्मनो गुणो भिन्नस्तदसम्बन्धतः सदा।
तत्सम्बन्धे कदाचित्तु तस्य नैकान्तनित्यता ॥ ११८ ॥
गुणासम्बन्धरूपेण नाशद्गुणयुतात्मना।
प्रादुर्भावाच्चिदादित्वस्थानात्यात्मत्वसिद्धितः ॥ ११९ ॥

सांख्य और बौद्धोंके एकान्तपक्षोंका विचार करके अब वैशेषिकोंके नित्य आत्माका विचार करते हैं कि आत्मासे सर्वथा भिन्न पडा हुआ गुण उस आत्माका नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उस गुणके साथ आत्माका सब कालोंमें सम्बन्ध नहीं है। जैसे कि कालपरमाणुके साथ रूपगुणका कभी सम्बन्ध नहीं है। अतः कालपरमाणुका रूपगुण नहीं माना जाता है। यदि आप वैशेषिक ज्ञान आदि गुणोंके साथ उस आत्माका कभी कभी समवाय सम्बन्ध होना मानोगे, तब तो उस आत्माके एकान्तरूपसे नित्यपनेकी क्षति हो जावेगी। कारण कि पहिलेके गुणोंसे नहीं सम्बन्ध रखनेवाले स्वरूपसे आत्माका नाश हुआ और गुणसमवायी स्वभावसे आत्माका प्रादुर्भाव हुआ तथा चैतन्य, आत्मत्व, द्रव्यत्व आदि धर्मोंसे आत्मद्रव्यकी स्थिति रही। इस हेतुसे आत्माका उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन स्वभावोंसे तदात्मकपना सिद्ध हुआ। एकान्त रूपसे आत्माकी नित्यता न रही। एक बात यह भी है वैशेषिकोंने समवायको नित्य सम्बन्ध मान रक्खा है। अतः कदाचित् सम्बन्ध माननेकी बात कच्ची है।

नापरिणाम्यात्मा तस्येच्छाद्वेषादिपरिणामेनात्यन्तभिन्नेन परिणामित्वात्। धर्मोधर्मोत्पत्त्याख्या बन्धसमवायिकारणत्वोपपत्तेरिति न मन्तव्यं, स्वतोऽत्यन्तभिन्नेन परिणामेन कस्यचित्परिणामित्वासम्भवात्, अन्यथा रूपादिपरिणामेनात्माकाशादेः परिणामित्वप्रसंगात्। ततोऽपरिणाम्येवात्मेति न बन्धादेः समवायिकारणम्।

वैशेषिक कहते हैं कि कापिलोंके समान हमारा आत्मा सर्वथा अपरिणामी नहीं है। परिणाम जिसमें रहते हैं, उसको परिणामी कहते हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, ज्ञान आदि चौदह गुणरूप सर्वथा भिन्न होरहे परिणामों करके वह आत्मा परिणामी है। और पुण्य पापकी उत्पत्ति है नाम जिसका ऐसे बन्धका समवायी कारणपना भी आत्माके युक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है। अतः कापिलोंके ऊपर दिये गये दूषणोंका हमारे मतमें प्रसंग नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह वैशेषिकोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अपनेसे सर्वथा भिन्न माने गये परिणामों करके किसी भी द्रव्यको परिणामीपना नहीं सम्भवता है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार मानोगे अर्थात् सर्वथा भिन्न परिणामसे भी चाहे किसीको परिणामी कह दोगे, तब तो रूप, रस आदि परिणामोंसे पुद्गलके समान आत्मा, आकाश, काल, मन इन द्रव्योंको भी परिणामी होजानेका प्रसंग आता है। यानी सर्वथा भिन्न ज्ञानका परिणामी पुद्गल और रूपका परिणामी आकाश हो जायगा। जैसे स्वस्वामिसम्बन्ध विना सर्व प्रकार भिन्न रुपयोंसे यदि कोई धनवान् बनजाये तो कोई भिखारी कोषके रुपयोंसे लक्षाधिपति बन जावेगा। इस कारणसे सिद्ध हुआ कि आत्मा भिन्न माने गये परिणामोंसे परिणामी नहीं है। अतः वह बन्ध और बन्धके कारण मिथ्याज्ञानका तथा मोक्ष और मोक्षके कारण तत्त्वज्ञानका उपादान कारण नहीं हो सकता है।

नाप्यात्मान्तःकरणसंयोगोऽसमवायिकारणं, प्रागदृष्टं वा तद्गुणो निमित्तकारणं, तस्य ततो भिन्नस्य सर्वदा तेनासम्बन्धात्। कदाचित्तत्सम्बन्धे वा नित्यैकान्तहानिप्रसंगात्, स्वगुणासम्बन्धरूपेण नाशाद्गुणसम्बन्धरूपेणोत्पादाच्चेतनत्वादिना स्थितेस्तत्त्रयात्मकत्वसिद्धेः।

तथा वैशेषिक समवायीकारणमें रहनेवाले कारणको असमवायि कारण कहते हैं। आत्मामें रहनेवाला आत्मा और मनका संयोग है वह अदृष्टोंकी उत्पत्तिरूप बंधकी या मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञानोंकी उत्पत्तिमें असमवायीकारण माना गया है, सो भी नहीं हो सकता है। क्योंकि जब आत्मा समवायीकारण ही सिद्ध नहीं हुआ तो समवायी कारणमें रहनेवाले गुण कर्मोंको असमवायी कारणपना माना गया कैसे भी सिद्ध नहीं हो सकता है। और बंधरूप संसारकी उत्पत्तिमें वैशेषिकोंने आत्माके विशेषगुण पहिलेके पुण्य पापोंको बंधका निमित्तकारण माना है। सो भी नहीं बन पाता है। क्योंकि आत्मासे सर्वथा भिन्न उस पुण्यपापका उस आत्माके साथ सभी कालोंमें संबंध नहीं है। यदि किसी कालमें आत्माके गुणोंका उस आत्मासे संबंध मानोगे तो आत्माके एकांतरूपसे नित्यपनेकी हानि हो जावेगी। कारण कि जबतक आत्मामें विवक्षितगुण उत्पन्न नहीं हैं, उस समय आत्मामें गुणोंसे असम्बन्ध करना स्वभाव है। जब विवक्षित गुण उत्पन्न हो जाते हैं। तब उस समय गुणोंसे असम्बन्ध होना रूप अपने पहिले स्वभाव करके आत्माका नाश हुआ और नवीन गुणोंका सम्बन्धरूप स्वभाव करके आत्माका उत्पाद हुआ। तथा चेतनपना, आत्मपना, सत्पना, आदि धर्मोंसे आत्मा स्थित रहा। इस कारण उस आत्माको तीन लक्षणस्वरूप परिणामीपना सिद्ध होता है। प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों लक्षण विद्यमान हैं। इन तीनोंका विस्तार यों है कि स्वकीय द्रव्यत्व गुण द्वारा स्वभावसे परिणमन करते हुए द्रव्यमें कारणान्तरोंकी नहीं अपेक्षा करके उत्पाद आदि तीन सामान्यरूपसे सर्वदा होते रहते हैं। हां, विशेषरूपसे किसी धर्मकी उत्पत्ति आदिमें अन्य हेतुओंका व्यापार भी इष्ट किया है। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पत्ति होनेका इच्छुक ही आत्मा नष्ट होता है। क्योंकि पहिली दुःखरूप पर्यायका नाश होकर अपने अनेक स्वभावोंमें स्थिर रहनेवाला आत्मा ही उत्तरकालमें अपनेसे अभिन्न होरहीं सुख आदि पर्यायोंको पैदा करता है तथा नाशशील आत्मा ही स्थित रहता है, जो किसी प्रकार भी नाशको प्राप्त नहीं होता है। वह घोडेके सींग समान स्थिर भी नहीं है। एवं स्थितशील पदार्थ ही उत्पन्न होता है उस कारण प्रत्येक वस्तुमें एक ही कालमें तीनों लक्षण पाये जाते हैं, तथा स्थितिरूप भाव उत्पन्न और विनष्ट होता है तथा विनाश ही स्वभाव स्थित रहता है और उत्पन्न होता है एवं उत्पाद स्वभाव ही नष्ट और स्थिर होता है। इस प्रकार स्थिति आदि स्वभावोंमें भी त्रिलक्षणता है। द्रव्य और पर्याय स्वरूपवस्तुमें अभेद होनेसे त्रिलक्षणता माननेपर कोई अनवस्था दोष नहीं है। तथा स्थितिस्वभाव ही भविष्यमें स्थित रहेगा, उत्पन्न होगा, विनशेगा और स्थितस्वभाव ही स्थिर रहचुका है, उत्पन्न होचुका है, नष्ट होचुका है, एवं विनाश स्वभाव ही ठहरेगा, उत्पन्न होगा, नशेगा और स्थित रहचुका है, उत्पन्न

होचुका है, नष्ट होचुका है। तथा उत्पत्तिस्वभाव ही उत्पन्न होगा, विनशेगा, ठहरेगा और उत्पन्न होचुका, नष्ट होचुका, स्थित रहचुका है। इन स्थिति आदिक रूप वस्तु अनादिसे अनन्त कालतक विराम लिये विना परिणमन कररहा है। ऐसे ही आत्मा स्थित है, स्थित रहचुका है, स्थित रहेगा, विनश रहा है, नष्ट होचुका, नशेगा और उत्पन्न होरहा है। उत्पन्न होचुका, उत्पन्न होवेगा। इस प्रकार तीनों कालकी अपेक्षासे इन नौ भङ्गोंके प्रत्येकके नौ भेदोंकी अपेक्षासे इक्यासी भेदवाली वस्तु होजाती है। ऐसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके तीनों काल और परस्परके सांकर्यसे त्रिलक्षणताके अनेक भेद प्रभेद होजाते हैं। वस्तुकी सत्ता अनन्तपर्यायोंसे युक्त है। इसका विशेष विवरण श्री अष्टसहस्री ग्रंथमें देखलेना। एक पुरुष वर्तमानमें सत्यव्रती है। पहिले नहीं था और आगे भी सत्य बोलनेवाला नहीं रहेगा तथा दूसरा पुरुष पहिले सत्यव्रती था, अब भी है और आगे नहीं रहेगा तथा तीसरा पुरुष पहिले सत्यव्रती नहीं था, किंतु अब है और आगे भी रहेगा। चौथा पुरुष तीनों कालमें सत्यव्रती है। इन चारों पुरुषोंमें वर्तमानमें सत्य बोलना बराबर है, किंतु भूत भविष्यत्, के रहित, सहित, परिणामोंसे वर्तमानके सत्यव्रतमें आनुषंगिक दोष और गुण आजाते हैं। अतः वर्तमानके व्रत पालनेमें भी सूक्ष्मतासे चारों पुरुषोंमें भेद है। कारण कि आत्मा अन्वितद्रव्य है। पहिले पीछेके स्वभावके अनुसार संस्कारोंको तथा स्वकीय गुणोंके अधिकारोंको लेता, देता, छोडता, रहता है। तदनुसार उसमें अनेक खोटे खरे अतिशय उत्पन्न होजाते हैं। इसी प्रकार एक मनुष्य वर्तमानमें सत्यव्रती है और ब्रह्मचारी भी है। किंतु वह पहिले ब्रह्मचारी नहीं था और आगे भी नहीं रहेगा, दूसरा सत्यव्रती पहिले ब्रह्मचारी था और अब भी है, किंतु आगे न रहेगा। तीसरा सत्य बोलनेवाला वर्तमानमें ब्रह्मचारी है, आगे भी रहेगा किंतु पहिले ब्रह्मचारी नहीं था। चौथा सत्यव्रती तीनों कालोंमें ब्रह्मचारी है। यहां दूसरे ब्रह्मचर्यके रहित सहितपनेसे या कालकी त्रिगुणतासे सत्यव्रतके सूक्ष्म अंशोंमें भेद माना जाता है। ऐसे ही अचौर्य गुणके साथ भी लगा लेना। यदि इन गुणोंकी मनः वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना तथा कालकी अपेक्षासे प्रस्तार-विधि की जावेगी तो करोडों भेद प्रभेद होजावेंगे। ये भेद कोरे कल्पित नहीं हैं। किंतु वस्तुके स्वाभाविक परिणामोंकी भित्ति पर अवलम्बित हैं। सीता, अंजना, गुणमाला, द्रोपदी, विशल्या आदि स्त्रियोंके समान ब्रह्मचारिणी स्त्रियां अनेक हुयी हैं। किंतु अन्य अनेक गुणोंके साथ त्रियोगसे त्रिकालमें अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन विशेषरूपसे इनका प्रशंसनीय है। पुरुषोंमें अनेक ब्रह्मचारी पुरुष हुए हैं। किन्तु वारिषेण या चरमशरीरी कामदेव सुदर्शन सेठ आदिके समान नहीं। विरोधी कारण सामग्रीके मिलने-पर अखण्ड ब्रह्मचर्य रक्षित रखना इनका प्रशंसनीय कार्य कहा है। तीर्थंकर महाराजके ब्रह्मचर्यकी तो अचिन्त्य महिमा है। रूप, धन विद्या, प्रभुता, और सन्तानके अन्योन्य अनुगुणसहित, रहितपनेसे तथा संकर व्यतिकरपनेसे लौकिक पुरुषोंके परिणाम न्यारे न्यारे होजाते हैं। एवं चोरी, व्यभिचार, हिंसकपन आदि दोषोंमें भी लगा लेना। ये सब स्वभाव आत्माके अनेक भावोंके अनेक प्रकारसे त्रिलक्षणात्मक होनेसे ही उत्पन्न होजाते हैं।

एतेनात्मनो भिन्नो गुणः सत्त्वरजस्तमोरूपो बन्धादिहेतुरित्येतत्प्रतिव्यूढं, तेन तस्य शश्वदसम्बन्धेन तद्धेतुत्वानुपपत्तेः। कदाचित्सम्बन्धे त्वात्मकत्वसिद्धेरविशेषात्।

इस पूर्वोक्त वैशेषिकके मतका खण्डन कर देनेसे सांख्योंके इस सिद्धांतका भी निरास हो जाता है कि आत्मासे सर्वथा भिन्न मानी गयी प्रकृतिके सत्व गुण, रजोगुण, और तमोगुणरूप भाव आत्माके बंध तथा मोक्ष आदिके कारण हैं। सांख्योंने उन सत्वरजस्तमो गुणोंका उस आत्माके साथ सदासे ही संबंध होना नहीं इष्ट किया है। पुरुषको जलकमलपत्रके समान सर्वथा निर्लेप माना है। ऐसी दशामें वे भिन्न पडे हुए गुण विचारे आकाशके समान आत्माके उस बंध, मोक्ष, होनेमें कारण नहीं सिद्ध हो सकते हैं। यदि किसी समय तीन गुणोंका आत्मासे संबंध होना मान लोगे तो तीन स्वभावपना आत्मामें विना अन्तरके सिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—स्याद्वादिओंके सिद्धांत अनुसार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे तीन स्वरूपपना जैसे आत्मामें सिद्ध होगा, वैसे ही तीनपनेको धारण करते हुए सत्वरजस्तमके स्वरूप भी बन जावेंगे। तभी बंध, मोक्ष, आदि व्यवस्था हो सकेगी। अन्यथा कोई उपाय आपके पास नहीं है।

यद्विनश्यति तद्रूपं प्रार्दुभवति तत्र यत्।
तदेवानित्यमात्मा तु तद्भिन्नो नित्य इत्यपि ॥ १२० ॥
न युक्तं नश्वरोत्पित्सुरूपाधिकरणात्मना।
कादाचित्कत्वतस्तस्य नित्यत्वैकान्तहानितः ॥ १२१ ॥

यहां नित्य आत्मावादी कहते हैं कि उस आत्मामें जो गुण या धर्म उत्पन्न होता है, वही अनित्य है। आत्मा तो उन गुण और स्वभावोंसे सर्वथा भिन्न है। अतः उसका बालाग्रमात्र भी न्यून, अधिक, नहीं होने पाता है। इस कारण आत्मा अक्षुण्णरूपसे कूटस्थ नित्य बना रहता है ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार प्रतिवादियोंका कहना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि नाश स्वभाव और उत्पत्ति स्वभाववाले गुण या धर्मोंके आधार स्वरूपपने करके उस आत्माको भी कभी कभी होनापन है। अतः आपके मतमें उस आत्माके नित्यताके एकांतपक्षकी हानि हो जाती है। भावार्थ—भले ही आत्मामें घटकी इच्छा नष्ट हो और पटकी उत्पन्न हो अथवा रजतका ज्ञान नष्ट होवे और सुवर्णका ज्ञान होवे, किंतु ऐसी दशामें भी जो आत्मा पहिले समयमें घटकी इच्छा और रजतके ज्ञानका अधिकरण था, दूसरे समयमें आत्मा उस अधिकरणपन स्वभावसे नष्ट हो जाता है तथा पटकी इच्छा और सुवर्ण ज्ञानके अधिकरण स्वभावसे नवीन उत्पन्न हो जाता है। अतः आत्मा भी कथञ्चित् उत्पाद विनाशोंसे सहित है। अन्यथा जैसे पूर्वमें था वैसा ही बना रहना चाहिये। कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये था। रोगीसे नीरोग होना, मूर्खसे पण्डित बन जाना, ये सब क्या है ?।

कदाचिन्नश्वरस्वभावाधिकरणं कदाचिदुत्पित्सुधर्माधिकरणमात्मा नित्यैकांतरूप इति ब्रुवन्न स्वस्थः, कादाचित्कानेकधर्माश्रयत्वस्यानित्यत्वात् ।

जो नैयायिक आत्माको कभी तो नाश होनेवाले गुण, स्वभावोंका अधिकरण मानता है और कभी उत्पन्न होनेवाले धर्मोंका अधिकरण स्वीकार करता है, फिर भी उस आत्माको एकांत-रूपसे कूटस्थ नित्य कहे ही जाता है। इस प्रकार बोलनेवाले वैशेषिक, सांख्य या नैयायिक मालूम पडते हैं कि वे आपेमें नहीं हैं। जो जन बातकोप या ग्रहावेशसे ग्रसित है, वह उन्मत्त ही युक्ति-रहित पूर्वापरविरुद्ध बातोंको कहा करता है। प्रकृत आत्मामें कभी कभी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले अनेक धर्मोंका आश्रयपन है। अनित्य आधेयोंके आधारसे अभिन्न भी अनित्य है तथा कभी कभी होनेवाला अधिकरणपन तो आत्मासे अभिन्न है। इस हेतुसे भी आत्मा अनित्य सिद्ध होता है। जैसे कि हरे रूप और खट्टे रसको धारण करनेवाला आम्र फल पीछे पीला रूप और मीठे रसका आधार होनेसे अनित्य माना जाता है।

नानाधर्माश्रयत्वस्य गौणत्वादात्मनः सदा ।
स्थास्नुतेति न साधीयः सत्यासत्यात्मताभिदः ॥ १२२ ॥

नित्य आत्मवादी कहते हैं कि आगे पीछेके नष्ट, पैदा होनेवाले अनेक धर्मोंका अधिकरणपना आत्माका आरोपित गौण धर्म है। फटे कुर्त्ताके उतारनेसे और नये कुर्त्ताके पहिननेसे देवदत्त नहीं बदल जाता है। एक रुपया चला गया, दूसरा रुपया आगया, एतावता जिनदत्तमें विपरिणाम नहीं होजाता है। अतः अपनेसे भिन्न होरहे धर्मोंकी अधिकरणता आत्मामें एक कल्पना किया गया गौण धर्म है, बहिर्भूत गौणधर्मसे आत्मा अनित्य नहीं बन जाता है। अतः सर्वदा आत्माको स्थितिस्वभाववाला ही हम कहते हैं। हम उन्मत्त नहीं है। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार कहना बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि सर्वदा स्थित रहनेवाले आत्मत्व, महापरिमाण, अजसंयोग, आदि धर्मोंको आप मुख्यरूप करके आत्मामें सत्यरूपसे विद्यमान मानते हैं और घटज्ञान, रजतकी इच्छा आदिकी अधिकरणतारूप धर्मोंको गौण रूपसे मानते हुए वास्तवमें असत्य मानते हैं। फिर भी सत्य और असत्य स्वरूपपने करके आत्माका भेद सिद्ध होता है। अतः आत्मा अनित्य सिद्ध हुआ।

सत्यासत्यस्वभावत्वाभ्यामात्मनो भेदः सम्भवतीत्ययुक्तं, विरुद्धधर्माध्यासलक्षणत्वाद्भेदस्यान्यथात्मानात्मनोरपि भेदाभावप्रसंगात् ।

यदि आत्माको नित्य माननेवाले फिर भी यों कहेंगे कि सत्य स्वभाव होने और असत्य-स्वभाव हो जानेसे आत्माका भेद है यानी वे सत्य और असत्य स्वभाव भी आत्मासे भिन्न हैं।

अतः उन स्वभावोंमें ही भेद सम्भवता है। आत्मा तो कूटस्थ नित्य एक है। उनका यह कहना भी युक्तिशून्य है। क्योंकि भेदका लक्षण विरुद्ध धर्मोंसे आक्रांत हो जाना ही है, ऐसा न मानकर यदि अन्यथा मानोगे यानी अधिकरणसे अधिकरणपन स्वभावको न्यारा मान लिया जावेगा तब तो आत्मा और अनात्माके भेद न होनेका प्रसंग हो जावेगा। अर्थात् आत्मामें ज्ञान, सुख आदिकी अधिकरणता है और जड पृथ्वी आदिमें रूप रस आदिकी अधिकरणता है। तभी तो जड और चेतनमें भेद माना जाता है। ऐसा माने विना जड, चेतनका भेद भी उठ जावेगा। अतः आत्मा भी भिन्न स्वभावशाली होकर अनित्य है।

असत्यात्मकतासत्त्वे सत्त्वे सत्यात्मतात्मनः।
सिद्धं सदसदात्मत्वमन्यथा वस्तुताक्षतिः ॥ १२३ ॥

वास्तव नहीं विद्यमान किंतु गौणरूपसे आरोपित किये गये असत् स्वरूप धर्मोंकी अपेक्षासे आत्माको असत् मानोगे और सर्वदा विद्यमान रहनेवाले सत्य स्वरूप स्वभावोंकी अपेक्षासे आत्माको सर्वदा सत् मानोगे तब तो आत्माको सत् और असत्स्वरूपपना सिद्ध हो जाता है। अन्यथा आत्माको वस्तुपनेकी ही क्षति हो जावेगी। भावार्थ—सत् असत् धर्मात्मक वस्तु होती है। स्व-चतुष्टयकी अपेक्षासे पदार्थ सत् है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असत् है। अन्यथा खरविषाणके समान शून्यपने या साङ्कर्य हो जानेका प्रसंग होगा।

नानाधर्माश्रयत्वं गौणमसदेव मुख्यं स्थायि तु सदिति तत्त्वतो जीवस्यैकरूपत्व-मयुक्तं सदसत्स्वभावत्वाभ्यामनेकरूपत्वसिद्धेः। यदि पुनरात्मनो मुख्यस्वभावेनेवोपचरित-स्वभावेनापि सत्त्वमुररीक्रियते तदा तस्याशेषपररूपेण सत्त्वप्रसक्तेरात्मत्वेनैव व्यवस्था-नुपपत्तिः सत्तामात्रवत्सकलार्थस्वभावत्वात्। तस्योपचरितस्वभावेनैव मुख्यस्वभावेनाप्यसत्त्वे कथमवस्तुत्वं न स्यात्? सकलस्वभावशून्यत्वात् खरशृंगवत्।

आत्मामें नाना धर्मोंका आश्रयपना गौण आरोपित धर्म है। अतः असत् ही है तथा आत्मत्व आदि मुख्यधर्म तो सर्वदा टिकाऊ हैं। अतः सत्स्वरूप हैं। वास्तवमें विचारा जावे तो जीव अपने स्थायी धर्मोंसे एक सत् रूप ही है, असत् अंश उसमें सर्वथा नहीं है। अतः असत्रूपजीव किञ्चित् भी नहीं है। यह किसी नैयायिकका कहना अयुक्त है। क्योंकि सत् और असत् दोनों स्वभाव होनेसे जीव अनेक-धर्मस्वरूप सिद्ध हो चुका है। यदि जीवको सर्व प्रकारसे सद्रूप ही माना जावेगा तो मुख्य स्वभावोंसे जैसे जीवका सद्रूपपना है, वैसे ही गौण कल्पित स्वभावों करके भी सत् रूपपना स्वीकार किया जावेगा, तब तो उस जीवको सम्पूर्ण जडपना, रसवान्पना, गंधवान्पना आदि दूसरोंके स्वभावों करके भी सत्रूपपनेका प्रसंग आवेगा। अतः वह जीव उन जड, पृथ्वी,

आकाश, स्वरूप बन जावेगा। तथा च पृथ्वीपने आदिको टालकर जीवकी आत्मपने करके ही व्यवस्था होना न बन सकेगी। सब जड और चेतन पदार्थोंका सांकर्य हो जावेगा। केवल (शुद्ध) सत्ताके समान सम्पूर्ण पदार्थ सभी पदार्थोंके स्वभाववाले हो जावेंगे। यह बडी भारी अव्यवस्था होगी। ब्रह्माद्वैत छा जावेगा। पातिव्रत्य, अचौर्य धर्म नष्ट हो जावेंगे। बच्चा अपनी माकी गोदको प्राप्त न कर सकेगा। चोर, डांकू, व्यभिचारियोंको दण्ड न मिल सकेगा। अधिक कहनेसे क्या लाभ है। उक्त दोषके परिहारके लिये आप नैयायियोंको परिशेषमें यही मानना पडेगा कि अपने स्वभावों करके पदार्थ सद्रूप हैं और अन्यके स्वभावोंकरके वस्तु असत्रूप है। तथा आप नैयायिक यदि उपचरित स्वभावकरके वस्तु जैसे असत्रूप है, वैसे ही मुख्य अपने स्वभावोंकरके भी उसको असत्रूप मानोगे तो उसको अवस्तुपना क्यों नहीं होगा ? क्योंकि परकीय स्वभावोंसे शून्य तो वस्तु थी ही और अब आपने स्वकीय मुख्य स्वभावोंसे भी रहित मान लिया है। ऐसी दशामें सम्पूर्ण स्वभावोंसे शून्य होजानेके कारण गधेके सींग समान वह अवस्तु, असत्रूप, शून्य क्यों नहीं हो जावेगी ? आप कुछ न कह सकेंगे, न कर सकेंगे।

ये त्वाहुः उपचरिता एवात्मनः स्वभावभेदा न पुनर्वास्तवास्तेषां ततो भेदे तत्स्वभावानुपपत्तेः। अर्थान्तरस्वभावत्वेन सम्बन्धात्तत्स्वभावत्वेऽप्येकेन स्वभावेन तेन तस्य तैः सम्बन्धे सर्वेषामेकरूपतापत्तिः, नानास्वभावैः सम्बन्धेऽनवस्थानं तेषामप्यन्यैः स्वभावैः सम्बन्धात्।

यहां जो नित्य आत्मवादी ऐसा लम्बा चौडा कथन करते हैं कि आत्माके भिन्न भिन्न वे अनेक स्वभाव कल्पना किये गये ही हैं। वास्तविक नहीं है। क्योंकि उन अनेक स्वभावोंको उस एक आत्मासे भेद माननेपर उनमें उस आत्माका स्वभावपना नहीं सिद्ध होता है। जैसे कि ज्ञानसे सर्वथा भिन्न माने गये गंध, रूप आदि गुण ज्ञानके स्वभाव नहीं होते हैं। यदि आप जैन आत्माके उन भिन्न स्वभावोंका अन्य भिन्न स्वभावपने करके संबंध होजानेसे आत्माके उनको स्वभावपना मानोगे तो हम नैयायिक कहते हैं कि एक उस स्वभाव करके आत्माका उन स्वभावोंके साथ संबंध माना जावेगा, तब तो उन सर्व ही स्वभावोंको एक होजानेका प्रसंग होगा। हाथके जिस प्रयत्नसे एक अंगुली नमें उसी प्रयत्नसे दूसरी अंगुली नम जाय तो समझ लो कि वे अंगुली दो नहीं, किंतु एक ही है। यदि वे अंगुली दो हो तो निश्चय है कि दूसरा प्रयत्न कार्यको कर रहा है, एक नहीं। पेडा, गुड, चना, सुपारीको क्रमसे खानेपर यदि जबडेका उतना ही पुरुषार्थ लगा है तो समझ लो कि आपने एक ही चीज खाई है चार नहीं। और भिन्न भिन्न नाना स्वभावोंसे यदि उन भिन्न स्वभावोंके साथ आत्माका संबन्ध माना जावेगा तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि उन स्वभावोंके साथ संबन्ध करनेके लिये भी पुनः

तीसरे चौथे पांचवे आदि अनेक स्वभावों करके सम्बन्ध मानने पडेंगे और उन तीसरों आदिके सम्बन्धार्थ चौथे आदि अनेक स्वभाव मानने पडेंगे। पत्र (कागज) के समान गोंदका भी दूसरे गोंदसे चिपकना मानोगे तो आकांक्षा शान्त न होनेसे अनवस्था दोष हो जाता है। उन आगे आगेवाले स्वभावोंका भी अन्य अन्य चौथे, पांचमें, आदि स्वभावोंकरके सम्बन्ध होनेसे कहीं अवस्थान (रुकना) नहीं होपाता है।

मुख्यस्वभावानामुपचरितैः स्वभावैस्तावद्भिरात्मनोऽसम्बन्धे नानाकार्यकरणं नानाप्रतिभासविषयत्वं चात्मनः किमुपचरितैरेव नानास्वभावैर्न स्यात्, येन मुख्यस्वभावकल्पनं सफलमनुमन्येमहि।

अभी नित्य आत्मवादी ही कह रहे हैं कि यदि जैन लोग अनवस्थाके निवारणार्थ उन अनेक मुख्यस्वभावोंका उतनी संख्यावाले मुख्य स्वभावोंसे आत्माके साथ संबंध होना न मानेंगे, किंतु नापी गयी उतनी संख्यावाले उपचरित स्वभावोंसे ही उन मुख्य स्वभावोंका आत्मामें संबंध न होते हुए भी " ये आत्माके मुख्यस्वभाव हैं " इस प्रकारकी नियत व्यवस्था कर दी जावेगी। ऐसी दशामें आकांक्षायें न बढनेसे अनवस्था दोषका तो वारण हो गया। किंतु जैनोंका उन अनेक मुख्यस्वभावोंका मानना व्यर्थ पडेगा। जैसे मुख्यस्वभावोंको धारण करनेके लिये पुनः आत्मामें दूसरे मुख्यस्वभाव नहीं माने जाते हैं किंतु कल्पित स्वभावोंसे ही वे मुख्यस्वभाव आत्माके नियमित कर दिये जाते हैं। यदि कल्पितस्वभाव मुख्यस्वभावोंको आत्मामें नियमित करनेकी व्यवस्था कर देते हैं तो वैसे ही उन कल्पित होरहे अनेक स्वभावों करके ही आत्माके मुख्य स्वभावोंसे होनेवाले अनेक कार्योंको करना और अनेक ज्ञानोंका विषय हो जानारूप कार्य भी क्यों नहीं हो जावेंगे? जिससे कि जैनोंके मुख्य स्वभावोंकी कल्पना करनेको हम लोग सफल विचारपूर्वक समझें। भावार्थ—जैनोंके द्वारा वास्तविक स्वभावोंकी कल्पना करना व्यर्थ ही पडा।

नानास्वभावानामात्मनोनर्थान्तरत्वे तु स्वभावा एव नात्मा कश्चिदेको भिन्नेभ्योनर्थान्तरस्यैकत्वायोगात्, आत्मैव वा न केचित्स्वभावाः स्युः, यतो नोपचरितस्वभावव्यवस्थात्मनो न भवेत्।

अभी वे ही कह रहे हैं कि आत्माके अनेक स्वभावोंको जैन लोग यदि आत्मासे अभिन्न मानेंगे तब तो वे अनेक स्वभाव ही मानने चाहिये। एक आत्मा द्रव्य कोई भी न माना जावे, क्या क्षति है?। भिन्न अनेक स्वभावोंसे जो अभिन्न है, वह एक हो भी नहीं सकता है। भला ऐसा कौन विचारशील है जो भिन्न अनेक स्वभावोंसे एक आत्माको अभिन्न कह देवे!। तथा दूसरी बात यह है कि स्वभावोंको आत्मासे अभिन्न माननेपर आत्मा ही एक मान लिया जावे, दूसरे कोई अनेक स्वभाव न माने जावें जिससे कि मुख्यस्वभावोंके समान आत्माके उपचरित स्वभाव भी

नहीं हैं। यह व्यवस्था नहीं होती। भावार्थ—आत्मामें न मुख्यस्वभाव हैं और उपचरित स्वभाव ही हैं। किंतु आत्मा सम्पूर्णस्वभावोंसे रहित होकर निःस्वभावरूप है। कूटस्थनित्य है।

कथञ्चिद्भेदाभेदपक्षेऽपि स्वभावानामात्मनोऽनवस्थानं तस्य निवारयितुमशक्तेः। परमार्थतः कस्यचिदेकस्य नानास्वभावस्य मेचकज्ञानस्य ग्राह्याकारवेदनस्य वा सामान्य-विशेषादेर्वा प्रमाणबलादव्यवस्थानात्तेन व्यभिचारासम्भवादिति।

अभीतक कूटस्थ आत्मवादी ही कह रहे हैं कि जैन लोग आत्माके साथ उसके अनेक स्वभावोंका कथञ्चित् भेद और कथञ्चिद् अभेद पक्षको यदि स्वीकार करेंगे तो भी अनेक स्वभावोंका आत्मामें अवस्थान नहीं हो सकेगा। क्योंकि भेद पक्षके अंशमें अन्य स्वभावोंकी कल्पना करते करते अनवस्थान हो जावेगा। जैन लोग उसका वारण नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि अनेकान्त पक्षमें संशय, विरोध, वैयधिकरण्य, सङ्कर व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, और अभाव ये आठ दोष आते हैं। अतः एक आत्माके अनेक स्वभावोंकी व्यवस्था करना अनेकान्त मतमें अशक्य है। यदि जैन लोग दूसरे दार्शनिकोंके स्वीकृत तत्त्वोंको दृष्टान्त मानकर अपने कथञ्चित् भेद, अभेदकी पुष्टि करेंगे, सो भी न हो सकेगी। क्योंकि हम सांख्य उन दृष्टान्तोंकी प्रमाणोंके द्वारा व्यवस्थिति होना नहीं मानते हैं। चित्राद्वैतवादी बौद्धोंने नीलाकार, पीताकार, हरिताकार आदिक अनेक आकारोंवाला एक चित्रज्ञान माना है। वह एक होकर अनेक स्वभाववाला है। किन्तु वे इसकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं कर सके हैं। क्योंकि उनका अशक्यविवेचनत्व हेतु हेत्वाभास है। इसका विचार आप जैनोंने ही पहिले प्रकरणमें कर दिया है। तथा एक ज्ञानमें ग्राह्य अंश ग्राहक अंश और संवित्ति अंश ये तीन अंश मानना भी प्रमाणसिद्ध नहीं हैं। एवं नैयायिकोंने व्यापक सत्ता जातिको परसामान्य माना है और पृथिवीत्व, घटत्व आदिको विशेषरूपसे व्याप्य अपरसामान्य कहा है। किन्तु मध्यवर्ती द्रव्यत्व, गुणत्वको सामान्यका विशेष माना है। घटत्व, पटत्वको विशेष (व्याप्य) सामान्य कहा जावे तो द्रव्यत्व व्यापक सामान्यके और घटत्व, पटत्व विशेष सामान्यके मंझले पृथिवीत्व, जलत्व आदिको भी सामन्यका विशेष माना है। भावार्थ—द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जैसे सामान्य होकर भी विशेषरूप हैं, वैसे ही कथञ्चित् भेदाभेदको हम जैन मानलेते हैं। सो यह भी दृष्टान्त प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि जातियोंके पक्षमें नैयायियोंका मन्तव्य वैसा ही निर्बल है। ऐसे ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणस्वरूप एक प्रकृतितत्त्व या नर्त्तकी आदि दृष्टान्तोंसे भी तुम्हारे अनेकांतकी सिद्धि नहीं होसकती है। अतः एक आत्माके नाना स्वभावोंसे रहित सिद्ध करनेके लिये दिये गये हमारे मुख्यरूपसे एकत्व हेतुका उन अनेक स्वभावरूप एक मेचकज्ञान (चित्रज्ञान) आदिसे व्याभिचार होना कैसे भी नहीं सम्भव है। इस प्रकार यहांतक कूटस्थ आत्मवादी कहचुके, अब आचार्य महाराज कहते हैं कि—

तेप्यनेनैव प्रतिक्षिप्ताः, स्वयमिष्टानिष्टस्वभावाभ्यां सदसत्त्वस्वभावसिद्धेरप्रतिबंधात्। न च कस्यचिदुपचरिते सदसत्त्वे तत्त्वतोनुभयत्वस्य प्रसक्तेः। तच्चायुक्तं, सर्वथा व्याघातात्।

इस प्रकार आत्माको सर्वथा नित्य कहनेवाले वे भी हमारे पूर्वोक्त कथनके द्वारा ही तिरस्कृत (खण्डित) कर दिये जाते हैं। क्योंकि अपने लिये स्वयं इष्ट माने गये स्वभाव करके आत्माको सत्स्वभाव माना जावेगा और अपने लिये अनिष्ट कहे गये स्वभावके द्वारा उसी आत्माके असत्-पनेकी सिद्धि की जावेगी तो एक आत्मामें सत् और असत् ऐसे दो स्वभावोंकी सिद्धि होनेका कोई प्रतिबंध नहीं हैं। अन्यथा कूटस्थवादी अपनी आत्माको ही सिद्ध न कर पावेंगे। किसी वस्तुके केवल उपचारसे माने गये सत्त्व और असत्व स्वभाव कुछ कार्यकारी नहीं होते हैं। यदि मुख्यरूपसे सत्त्व और असत्व न माने जावेंगे तो वस्तुमें यथार्थरूपसे अनुभयपनेका प्रसंग आता है और वह तो अयुक्त है। कोरा अनुभयपना तो खरविषाण आदि असत् पदार्थोंमें माना गया है। वस्तुमें सत् और असत्का निषेध कर सर्वथा अनुभयपना आप सिद्ध नहीं कर सकते हैं; क्योंकि इसमें व्याघात दोष है जिस समय सत् स्वभावका निषेध करने बैठोगे, उसी समय असत् स्वभावका विधान हो जावेगा और जिसी समय असत् स्वभावका निषेध किया जावेगा, उसी क्षणमें सत् स्वभावके विधिकी उपस्थिति हो जावेगी। युगपत दोनों स्वभावोंका निषेध कभी नहीं हो सकता है। जो चुप है, वह चिल्लाकर अपने मौनव्रतका बखान नहीं करता है और जो हल्ला करके अपने मौनी-पनेका ढिंढोरा पीट रहा है, वह उस समय चुप नहीं है। चुप रहकर मौन व्रतको चिल्लाकर कहना एक समयमें बन नहीं सकता है। इस प्रकार सर्वथा अनुभयपक्ष माननेमें यह व्याघात दोष आता है।

कथञ्चिदनुभयत्वं तु वस्तुनो नोभयस्वभावतां विरुणद्धि, कथं वानुभयरूपतया तत्त्वं तदन्यरूपतया चातत्त्वमिति ब्रुवाणः कस्यचिदुभयरूपतां प्रतिक्षिपेत्।

हां! यदि आप किसी अपेक्षासे सत्, असत्का निषेध करनारूप अनुभय पक्ष लेंगे, तब तो वह कथञ्चित् अनुभयपना वस्तुके उभय स्वभावपनेका विरोध नहीं करता है, जैसे सर्वथा सत्का सर्वथा असत्से विरोध है। किंतु कथञ्चित्स्वरूप सत्का कथञ्चित् पररूप असत्से विरोध नहीं है। ऐसे ही सर्वथा अनुभयका सर्वथा उभयसे विरोध है, किंतु कथञ्चित अनुभयपनेका कथ-ञ्चित् उभयपनेसे विरोध नहीं है। दूसरी बात यह है कि जो कूटस्थवादी सत् असत् स्वभावोंसे रहित अनुभयरूपपनेसे आत्मतत्त्वको मानरहा है, वह भी अनुभय स्वभावसे तत्त्वपना और उससे अन्य उभय, सत्त्व, आदि स्वभावोंसे आत्माको अतत्त्वपना अवश्य कहरहा है। ऐसा कहनेवाला किसी भी वस्तुकी उभयरूपताका भला कैसे खण्डन करसकता है? क्योंकि स्वयं उसने उभयरूप-ताको अपनी गोदमें ले रखा है।

न सन्नाप्यसन्नोभयं नानुभयमन्यद्वा वस्तु, किं तर्हि ? वस्त्वेव सकलोपाधिरहितत्वात्तथा वक्तुमशक्तेरवाच्यमेवेति चेत्, कथं वस्त्वित्युच्यते ? सकलोपाधिरहितमवाच्यं वा ? वस्त्वादिशब्दानामपि तत्राप्रवृत्तेः ।

यहां कोई एकांतरूपसे वस्तुको अवक्तव्य कहनेवाला बौद्ध अपना मत यों कह रहा है कि वस्तु सत्रूप भी नहीं है और असत्रूप भी नहीं है तथा सत् असत्का उभयरूप भी नहीं है। एवं सत् असत् दोनोंका युगपत् निषेधरूप अनुभय स्वरूप भी नहीं हैं अथवा अन्य धर्म या धर्मीरूप भी नहीं हैं। तब तो कैसी ? क्या वस्तु है ? इसपर हम बौद्धोंका यह कहना है कि वह वस्तु वस्तु ही है। संपूर्ण विशेषण और स्वभावोंसे रहित होनेके कारण जिस तिस प्रकारसे वस्तुको कहनेके लिये कोई समर्थ नहीं है। वस्तु किसी शब्दके द्वारा नहीं कही जाती है। कोई भी शब्द वस्तुको स्पर्श नहीं करता है, अतः वस्तु अवाच्य ही है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम जैन पूंछते हैं कि वस्तु सर्वथा ही अवाच्य है तो "वस्तु" इस शब्दके द्वारा भी वह कैसे कही जा सकेगी ? और वह सम्पूर्ण स्वभावोंसे रहित है। अवाच्य है, आदि इन विशेषणोंका प्रयोग भी वस्तुमें कैसे लागू होगा ? बताओ। तथा अवाच्य इस शब्दसे भी वस्तुका निरूपण कैसे कर सकोगे ? क्योंकि सर्वथा अवाच्य माननेपर तो वस्तु, अवाच्य, स्वभावरहित, सत् नहीं, उभय नहीं है, आदि शब्दोंकी भी प्रवृत्ति होना वहां वस्तुमें नहीं घटित होता है।

सत्यामपि वचनागोचरतायामात्मादितत्त्वस्योपलभ्यताभ्युपेया। सा च स्वरूपेणास्ति न पररूपेणेति सदसदात्मकत्वमायातं तस्य तथोपलभ्यत्वात्। न च सदसत्त्वादिधर्मैरप्यनुपलभ्यं वस्त्विति शक्यं प्रत्येतुं खरशृंगादेरपि वस्तुत्वप्रसंगात्।

आत्मा, स्वलक्षण, विज्ञान, आदि तत्त्वोंको वचनोंके द्वारा अवाच्य माननेपर भी वे जानने योग्य स्वभाववाले हैं, यह तो बौद्धोंको अवश्य ही मानना चाहिये। अन्यथा उनका जगत्में सद्भाव ही न हो सकेगा। ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेयोंकी व्यवस्था होना सब ही ने इष्ट की है। ऐसी प्रमेय हो जानेकी दशामें आत्मा आदि तत्त्व अपने अपने स्वभावोंसे ही जाने जावेंगे। ज्ञानको बहिरंग स्वलक्षण रूपसे नहीं जाना जा सकता है। और ऐसा निर्णय हो जानेपर वह आत्मा आदि तत्त्वोंकी जाने—गयेपनकी योग्यता अपने स्वरूपसे हैं और दूसरे पदार्थोंके स्वरूपसे नहीं है। इस प्रकार आपके मंतव्यसे भी सदात्मक और असदात्मक तत्त्व मानना आया। क्योंकि उन आत्मा आदि तत्त्वोंका तिस ही प्रकारसे जानागयापन सिद्ध होता है। सत्त्व, असत्त्व, उभय और अनुभय तथा अन्य स्वकीय स्वभावोंसे भी जो जानने योग्य नहीं है, वह वस्तु है। ऐसा भी नहीं प्रतीत किया जा सकता है। क्योंकि सम्पूर्ण धर्मोंसे रहितको भी यदि वस्तु समझ लिया जावेगा तो खरविषाण, बंध्यापुत्र, आदिको भी वस्तुपना निर्णीत किये जानेका प्रसंग होगा। जो कि बौद्धोंको इष्ट नहीं है।

धर्मधर्मिरूपतयानुपलभ्यं स्वरूपेणोपलभ्यं वस्त्विति चेत्, यथोपलभ्यं तथा सत् यथा चानुपलभ्यं तथा तदसदिति। तदेवं सदसदात्मकत्वं सुदूरमप्यनुसृत्य तस्य प्रतिक्षेप्तुमशक्तेः। ततः सदसत्त्वस्वभावौ पारमार्थिकौ क्वचिदिच्छताऽनन्तस्वभावाः प्रतीयमानास्तथात्मनोभ्युपगन्तव्याः।

बौद्ध कहते हैं कि धर्म और धर्मी तथा कार्य और कारण एवं आधार आधेय इत्यादि स्वभावों करके वस्तु नहीं देखी जाती है। देखने योग्य भी नहीं है। हां! अपने स्वलक्षण स्वरूपसे तो वह वस्तु जानने योग्य है ही। अतः जैनोंका दिया दोष हमारे ऊपर लागू नहीं होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तब तो बलात्कारसे उनको अनेकांतकी शरण लेनी पड़ी। क्योंकि जिस स्वरूप करके जिस ढंगसे वस्तु उपलभ्य है, उस प्रकारसे वह सत्रूप है और जिन परकीय स्वभावोंकरके वस्तु नहीं जानी जा रही है, उन प्रकारोंसे वह असत्रूप है। इस प्रकार दोनों बातें सिद्ध हो गयी। इस कारण बहुत दूर भी जाकर बिलम्बसे आप बौद्धोंको इस प्रकार स्याद्वादमतका अनुसरण करना पड़ा। उस वस्तुके सदात्मक और असदात्मकपनाका आप खण्डन नहीं कर सकते हैं। इस कारणसे किसी भी स्वलक्षण या ज्ञानमें सत् और असत् स्वभावोंको वस्तुभूत मानना चाहते हो तो आत्माके उसी प्रकार प्रमाणोंसे भले प्रकार जाने जा रहे अनन्त स्वभाव भी वस्तुभूत स्वीकार कर लेने चाहिए। विना स्वभावोंके वस्तु ठहर ही नहीं सकती है। वस्तुत्व भी तो एक स्वभाव ही है। वैसे ही आत्माके आत्मत्व, ज्ञान, इच्छा, क्रोध, अस्तित्व, अवाच्यत्व, ज्ञेयत्व, बद्धत्व, मुक्तत्व, कर्तृत्व, भोक्तापन, बालत्व, कुमारत्व आदि अनंत स्वभाव हैं।

तेषां च क्रमतो विनाशोत्पादौ तस्यैवेति सिद्धं त्र्यात्मकत्वमात्मनो गुणासम्बन्धेतररूपाभ्यां नाशोत्पादध्रुवव्यवस्थानादात्मत्वेन ध्रौव्यत्वसिद्धेः।

तथा आत्मामें प्रतिक्षण अनेक स्वभावोंका उत्पाद होता है और अनेक स्वभावोंका नाश होता रहता है। उन स्वभावोंका क्रमसे उत्पाद और विनाश होना उस आत्माका ही किसी अपेक्षासे उत्पाद विनाश होजाना है। क्योंकि वे स्वभाव आत्मासे कथञ्चित् अभिन्न है। इस कारण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीन आत्माके तदात्मक धर्म सिद्ध हो जाते हैं। पहिले प्रकरणका संकोच करते हैं कि आत्मामें सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके उत्पन्न हो जानेपर पहिली गुणोंसे असम्बन्धित अवस्थाका नाश हुआ तथा नवीन गुणोंके संबंधीपने इस दूसरे स्वरूपसे आत्माका उत्पाद हुआ और चैतन्यस्वरूप आत्मापने करके ध्रुवपना सिद्ध है। यही आत्मामें त्रिलक्षणपना व्यवस्थित हो रहा है।

ततोपि विभ्यता नात्मनो भिन्नेन गुणेन सम्बन्धोभिमन्तव्यो न चासंबद्धस्तस्यैव गुणो व्यवस्थापयितुं शक्यो, यतः "सम्बन्धादिति हेतुः स्यादि"ति सूक्तं नित्यैकांते नात्मा हि बंधमोक्षादिकार्यस्य कारणमित्यनवस्थानात्।

यदि कूटस्थ नित्य आत्माको कहनेवाले वादी आत्माको अनित्य हो जानेके प्रसंगकी आपत्तिकी कल्पना कर आत्माके उस त्रिलक्षणपनेसे भी डरते हैं, तो वे नैयायिक, वैशेषिक विचारे आत्मासे सर्वथा भिन्न माने गये गुणके साथ आत्माका सम्बन्ध होना कैसे भी नहीं स्वीकार कर सकते हैं। जो गुण आत्मासे सर्वथा भिन्न पडा हुआ है, वह असंबद्ध गुण उस आत्माका ही है, यह व्यवस्था भी तो नहीं की जा सकती है, जिससे कि समवाय संबंध हो जानेसे वे गुण विवक्षित आत्माके नियत कर दिये जाते हैं। इस प्रकार उनका पूर्वोक्त हेतु मान लिया जाता। क्योंकि समवायसंबंध तो ज्ञानको आकाशमें जोड देनेके लिये भी वैसा ही है। वह तो एक ही है। इस कारण हम जैनोंने पहिले एक सौ सत्रहवीं कारिकामें बहुत अच्छा कहा था कि कूटस्थ नित्यका एकांत पक्ष लेनेपर आत्मा बंध, मोक्ष, तत्त्वज्ञान, दीक्षा आदि कार्योंका कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारसे अनवस्था हो जाती है। भिन्न कहे गये गुणोंका समवायसंबंध और भिन्न माने गये समवायका भिन्न हो रहा स्वरूपसंबंध आदि संबंध कल्पना करते करते अनवस्था है और त्रिलक्षण माने विना आपके कूटस्थ नित्य स्वीकार किये गये आत्माकी अवस्थिति (सिद्धि) भी नहीं हो सकती है।

क्षणक्षयेऽपि नैवास्ति कार्यकारणताञ्जसा।
कस्यचित्कचिदत्यन्ताव्यापारादचलात्मवत्॥ १२४॥

कूटस्थ नित्यके समान एक क्षणमें ही नष्ट होनेवाले आत्मामें भी निर्दोष रूपसे झट कार्यकारण भाव नहीं बनता है। क्योंकि एक ही क्षणमें नष्ट होनेवाले किसी भी पदार्थका किसी भी एक कार्य में व्यापार करना अत्यन्त असम्भव है। पहिले क्षणमें आत्मलाभकर दूसरे क्षणमें ही कोई कारण किसी कार्यमें सहायता करता है। किन्तु जो आत्मलाभ करते ही मृत्युके मुखमें पहुंच जाता है, उसको कार्य करनेका अवसर कहां! अतः कूटस्थ निश्चल नित्य कारणसे विपरिणाम होनेके विना जैसे अर्थक्रिया नहीं होने पाती है, वैसे ही क्षणिक कारण भी किसी अर्थक्रियाको नहीं कर सकता है।

क्षणिकाः सर्वे संस्काराः स्थिराणां कुतः क्रियेति निर्व्यापारतायां क्षणक्षयैकान्ते भूतिरेव क्रियाकारकव्यवहारभागिति ब्रुवाणः कथमचलात्मनि निर्व्यापारेपि सर्वथा भूतिरेव क्रियाकारकव्यवहारमनुसरतीति प्रतिक्षिपेत्।

बौद्ध कहता है कि रूपस्कंध, वेदनास्कंध, विज्ञानस्कंध, संज्ञास्कंध और संस्कारस्कंध ये सबके सब संस्कार क्षणिक हैं। भला जो कूटस्थ स्थिर हैं, उनके अर्थक्रिया कैसे हो सकती है! इस प्रकार अनेक, समुदाय, साधारणता, मरकर उत्पन्न होना, प्रत्यभिज्ञान कराना, अन्वित करना आदि व्यापारोंसे रहित होनेपर भी सर्वथा निरन्वय क्षणिकके एकांतपक्षमें उत्पन्न होना ही क्रिया है

और क्षणिक पदार्थको उसका कारण कह लो ! इसके अतिरिक्त वास्तविक कार्यकारणभाव कोई पदार्थ नहीं है । असत् पदार्थकी उत्पत्ति होजाना ही क्रिया, कारकके लौकिक व्यवहारको धारण करती है, इस प्रकार कहनेवाला बौद्ध उन सांख्योंके माने गये " सर्व व्यापारोंसे रहित कूटस्थ आत्मामें भी सर्व प्रकारोंसे विद्यमान रहनारूप भूति ही क्रियाकारकव्यवहारका अनुसरण करती है " इस सांख्य सिद्धांतका कैसे खण्डन कर सकेगा? बताओ तो सही। भावार्थ—आप दोनों ही मुख्यरूपसे तो कार्यकारणभाव मानते नहीं है । केवल व्यवहारसे असत् की उत्पत्ति और सत्का विद्यमान रहना रूप भूतिको पकडे हुए हैं। ऐसी दशामें कल्पित किये गये कार्यकारणभावसे आप दोनोंके यहां बंध, मोक्ष आदि व्यवस्था नहीं बनसकती है ।

अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः ।
स तद्धेतुरिति न्यायस्तदेकान्ते न सम्भवी ॥ १२५ ॥

जो कार्य जिस कारणके अन्वयव्यतिरेकभावसे अनुकूल आचरण करता हुआ देखा गया है, वह कार्य उस कारणसे जन्य है। इस प्रकार प्रमाणोंके द्वारा परीक्षित किया गया न्याययुक्त कार्य-कारणभाव उनके एकांतपक्षोंमें नहीं सम्भव है। क्योंकि जो परिणामी और कालांतरस्थायी होगा, वही अन्वयव्यतिरेकको धारण कर सकता है । कूटस्थ नित्य या क्षणिक पदार्थ नहीं ।

नित्यैकान्ते नास्ति कार्यकारणभावोऽन्वयव्यतिरेकाभावात्, न हि कस्यचिन्नित्यस्य सद्भावोऽन्वयः सर्वनित्यान्वयप्रसंगात् । प्रकृतनित्यसद्भाव इव तदन्यनित्यसद्भावेऽपि भावात्, सर्वथाविशेषाभावात् ।

पदार्थोंके नित्यत्वका एकांत हठ मान लेनेपर कार्यकारणभाव नहीं बनता है। क्योंकि कार्य-कारणभावका व्यापक अन्वयव्यतिरेक वहां नहीं है । व्यापकके अभावमें व्याप्य नहीं ठहर सकता है। कार्यके होते समय किसी भी एक नित्यकारणका वहां विद्यमान रहना ही अन्वय नहीं है। यों तो सभी नित्य पदार्थोंके साथ उस कार्यका अन्वय बन बैठेगा। ज्ञान कार्यके होनेपर जैसे आत्मा नित्य कारणका पहिलेसे विद्यमान रहना है, वैसे ही आकाश, परमाणु, काल, आदिका भी सद्भाव है। अतः प्रकरणमें पडे हुए नित्य आत्माके सद्भाव होनेपर जैसे ज्ञानका होना माना जाता है वैसे ही उस आत्मासे अन्य माने गये आकाश आदि नित्य पदार्थोंके होनेपर भी ज्ञान कार्यका होना माना जावे । आकाश, काल आदिसे आत्मारूप कारणमें सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है ।

नापि व्यतिरेकः शाश्वतस्य तदसम्भवात्। देशव्यतिरेकः सम्भवतीति चेत्, न, तस्य व्यतिरेकत्वेन नियमयितुमशक्तेः, । प्रकृतदेशे विवक्षितासर्वगतनित्यव्यतिरेकवदविव-क्षितासर्वगतनित्यव्यतिरेकस्यापि सिद्धेः तथापि कस्यचिदन्वयव्यतिरेकसिद्धौ सर्वनित्या-न्वयव्यतिरेकसिद्धिप्रसंगात्, किं कस्य कार्यं स्यात् ?।

और सर्वथा नित्य माने गये पदार्थका कार्यके साथ व्यतिरेक भी नहीं बन सकता है। क्योंकि सर्वदा रहनेवाले कारणका " जब कारण नहीं हैं तब कार्य नहीं है " ऐसा वह व्यतिरेक बनना सम्भव नहीं है। यदि आप यों कहें कि नित्य पदार्थोंका कालव्यतिरेक न सही, किन्तु देशव्यतिरेक तो भले प्रकार बन जावेगा अर्थात् जिस देशमें नित्य कारण नहीं हैं, उस देशमें उसका कार्य भी उत्पन्न नहीं होपाता है, यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि वास्तवमें विचारा जावे तो काल व्यतिरेकको ही व्यतिरेकपना है। उस देशव्यतिरेकको व्यतिरेकपनेकरके नियम करना नहीं हो सकता है। कुलाल या दण्ड जिस देशमें रहते हैं, उसी देशमें घट उत्पन्न नहीं होता है। कोरिया जहां बैठा है, उसी स्थानपर कपडा नहीं बुना जारहा है। दूसरी बात यह है कि आपके मतानुसार माने गये आत्मा, आकाश आदि व्यापक द्रव्योंका देशव्यतिरेक बनता भी नहीं है। यदि अव्यापक द्रव्योंका देशव्यतिरेक बनाओगे तो प्रकरणमें पडे हुए कार्यदेशमें विवक्षाको प्राप्त हुए किसी अव्यापक नित्य द्रव्यका जैसे देशव्यतिरेक बनाया जा रहा है, वैसे ही विवक्षामें नहीं पडे हुए दूसरे अव्यापक नित्य पदार्थका भी देशव्यतिरेक सिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—जैसे पार्थिव परमाणुओंके न रहनेसे घट नहीं बनता है वैसे यों भी कह सकते हैं कि जलीय परमाणु या मनके न रहनेसे घट नहीं बना है। इसका नियम कौन करेगा कि घटका पृथ्वी परमाणुओंके साथ देशव्यतिरेक है, जलीयपरमाणु, तैजसपरमाणु, मन, आदिके साथ नहीं है। जो पदार्थ वहां कार्यदेशमें नहीं है उन सबका अभाव वहां एकसा पडा हुआ है। तैसा होनेपर भी किसी एक विवक्षित नित्य कारणके साथ ही प्रकृत कार्यका मनमाना अन्वयव्यतिरेकभाव सिद्ध करोगे तो सर्व ही नित्य पदार्थोंके साथ अन्वयव्यतिरेक भावकी सिद्धि हो जानेका प्रसंग होगा। कहो जी! ऐसी दशामें कौन किस कारणका कार्य हो सकेगा! अव्यवस्था हो जावेगी। उस कार्यके कारणोंका निर्णय न हो सकेगा।

ततोऽचलात्मनोन्वयव्यतिरेकौ निवर्तमानौ स्वव्याप्यां कार्यकारणतां निवर्तयतः तदुक्तं—" अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः, स भावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान्न सम्भवः " इति, न चायं न्यायस्तत्र सम्भवतीति नित्ये यदि कार्यकारणताप्रतिक्षेपस्तदा क्षणिकेपि तदसम्भवस्याविशेषात्।

उस कारणसे सिद्ध होता है कि कूटस्थ नित्य आत्मासे अन्वयव्यतिरेक दोनों निवृत्त होते हुए अपने व्याप्य होरहे कार्यकारणभावको भी निवृत्त कर देते हैं। सो ही इस प्रकार अन्यत्र कहा है कि जो कार्य जिस कारणका अन्वयव्यतिरेक रूपसे अनुसरण करता हुआ देखा गया है, वह पदार्थ उस कार्यका उस रूपसे कारण हो जाता है। इस कारण जो सर्वथा भिन्न है अर्थात् अपने कतिपय स्वभावोंसे कार्यरूप परिणत या सहायक नहीं होता है, उस कारणसे उस कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। किंतु यह अन्वयव्यतिरेकरूप न्याय वहां सर्वथा नित्यमें नहीं सम्भवता है। इस कारण यदि कूटस्थनित्यमें कार्यकारणभावका बौद्ध लोग खण्डन करते हैं, तब तो उनके एकांत रूपसे

माने गये क्षणिक पदार्थमें भी अन्वयव्यतिरेक न होनेसे उस कार्यकारणभावका नहीं हो सकना एकसा है। भावार्थ—क्षणिक और नित्यमें कार्य न कर सकनेकी अपेक्षासे कोई अन्तर नहीं है।

तत्र हेतावसत्येव कार्योत्पादेन्वयः कुतः।
व्यतिरेकश्च संवृत्या तौ चेत् किं पारमार्थिकम् ॥ १२६ ॥

बौद्धोंके माने गये क्षणिक एकांतमें तो पूर्वक्षणवर्ती हेतुके न रहनेपर ही कार्यका उत्पाद होना माना गया है। भला ऐसी दशामें अन्वय कैसे बनेगा? हेतुके होनेपर कार्यके होनेको अन्वय कहते हैं। किंतु बौद्धोंने हेतुके नाश होनेपर कार्य होना माना है यह तो अन्वय बनानेका ढंग नहीं है। और बौद्धोंके यहां व्यतिरेक भी नहीं बन सकता है। क्योंकि कार्यकालमें असंख्य अभाव पड़े हुए हैं। न जाने किसके अभाव होनेसे वर्तमानमें कार्य नहीं हो रहा है। यदि वास्तविक रूपसे कार्यकारणभाव न मानकर कल्पितव्यवहारसे उन अन्वयव्यतिरेकोंको मानोगे तब तो आपके यहां वास्तविक पदार्थ क्या हो सकेगा? बताओ। अर्थात् जिसके यहां वस्तुभूत कार्यकारणभाव नहीं माना गया है, उसके यहां कोई पदार्थ ठीक न बनेगा। स्याद्वाद सिद्धांतमें सर्व पदार्थोंको परिणामी माना है। अतः सभी अर्थ कार्य और कारण हैं, किंतु नैयायिक या वैशेषिकोंने भी सभी पदार्थोंमेंसे किन्हींको कारणतावच्छेदक धर्मोंसे अवच्छिन्न स्वरूपसे और कितनोंको कार्यतावच्छेदक धर्मोंसे अवच्छिन्न होते हुए ही सत् पदार्थ माना है। किंतु बौद्धोंके यहां वस्तुभूत पदार्थोंकी व्यवस्था नहीं बन पाती है।

न हि क्षणक्षयैकांते सत्येव कारणे कार्यस्योत्पादः सम्भवति, कार्यकारणयोरेककालानुषंगात्। कारणस्यैकस्मिन् क्षणे जातस्य कार्यकालेऽपि सत्त्वे क्षणभंगभंगप्रसंगाच्च। सर्वथा तु विनष्टे कारणे कार्यस्योत्पादे कथमन्वयो नाम चिरतरविनष्टान्वयवत्। तत एव व्यतिरेकाभावः कारणाभावे कार्यस्याभावाभावात्।

एक क्षणमें पैदा होकर दूसरे क्षणमें पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार क्षणिकपनेके एकान्तमें कारणके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होना यह अन्वय नहीं सम्भव है। क्योंकि यों तो पहिले पीछे होनेवाले कारण और कार्योंको एक ही कालमें रहनेका प्रसंग आता है और यदि पहिले एक समयमें उत्पन्न हो चुके कारणको उत्तरवर्ती कार्यके समयमें भी विद्यमान मानोगे तो आपके क्षणिकपनेके सिद्धान्तका भंग होजानेका प्रसङ्ग आजावेगा। यदि क्षणिकत्वकी रक्षा करोगे तब तो सभी प्रकारसे कारणके नष्ट हो जानेपर कार्यका उत्पाद माना गया। ऐसी अवस्थामें भला अन्वय कैसे बन सकेगा? बताओ?। जैसे कि बहुतकाल पहिले नष्ट हो चुके पदार्थके साथ वर्तमान कार्यका अन्वय नहीं बनता है, वैसे एक क्षण पूर्वमें नष्ट होगये कारणके साथ भी अन्वय न बनेगा। दूसरे आपके यहां उस ही कारणसे व्यतिरेक भी नहीं बनता है। क्योंकि कारणके अभाव होनेपर कार्यका अभाव होजाना नहीं होता है। प्रत्युत कारणके नष्ट हो जानेपर ही तुम्हारे यहां कार्य होना माना जाता है।

स्यान्यतं, स्वकाले सति कारणे कार्यस्य स्वसमये प्रादुर्भावोऽन्वयो असति वाऽभवनं व्यतिरेको न पुनः कारणकाले तस्य भवनमन्वयोऽन्यदात्वभवनं व्यतिरेकः। सर्वथाप्यभिन्नदेशयोः कार्यकारणभावोपगमे कुतोऽग्निधूमादीनां कार्यकारणभावो ? भिन्नदेशतयोपलम्भात्। भिन्नदेशयोस्तु कार्यकारणभावे भिन्नकालयोः स कथं प्रतिक्षिप्यते येनान्वयव्यतिरेकौ तादृशौ न स्याताम्।

सम्भवतः बौद्धोंका यह मत भी होवे कि अन्वयव्यतिरेक भावके लिये कार्य और कारणका समानदेश तथा समानकाल होनेका कोई नियम नहीं है। कारणका अपने कालमें रहना होनेपर कार्यका अपने उचित कालमें प्रकट होजाना तो अन्वय है और अपने कालमें कारणके न होनेपर कार्यका स्वकीय कालमें नहीं पैदा होना ही व्यतिरेक है। किन्तु फिर कारणके समयमें उस कार्यका होना यह अन्वय नहीं है तथा जिस समय कारण नहीं है, उस समय कार्य भी नहीं उपज रहा है, वह व्यतिरेक भाव भी नहीं है। इसी प्रकार कारणके देशमें कार्यका होना और जिस देशमें कारण नहीं है, वहां कार्य न होना, यह अभिन्नदेशता भी कार्यकारणभावमें उपयोगी नहीं है। सर्व ही प्रकारसे अभिन्नदेशवालोंका यदि कार्यकारणभाव स्वीकार किया जावेगा तो अग्नि और धूम तथा कुलाल और घटका कार्यकारणभाव कैसे हो सकेगा ! क्योंकि अग्नि तो चूल्हेमें है और धुएंकी पंक्ति गृहके ऊपर दीखती है। ऐसे ही कुलाल और घटके देशमें भी एक हाथका अन्तर है। यों भिन्न भिन्न देशोंमें वर्तरहे पदार्थोंमें कार्यकारणभाव दीख रहा है। कहीं कहीं तो कार्यकारणभावमें असंख्य योजनोंका अन्तर पडजाना आप जैनोंने भी माना है। दूरवर्ती सूर्य कमलोंको विकसित करता है। कहां भगवान्का जन्म और कहां देवोंके स्थानोंमें सिंहनाद घण्टा बजना तथा नारकियोंको भी थोडी देरतक दुःखवेदन न होना। एवं यहां बैठे हुए जीवोंका पुण्यपाप न जाने कहां कहां अनेक पदार्थोंमें परिणाम करा रहा है। इस कारण भिन्न देशपनेसे भी कार्यकारणभाव देखा जाता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न देशवाले पदार्थोंका भी यदि कार्यकारणभाव स्वीकार किया जावेगा तो भिन्न भिन्न कालवाले पदार्थोंका कार्यकारणभाव होना आप जैन कैसे खण्डित करते हैं। जिससे कि क्षणिक माने गये भिन्न कालवाले पदार्थोंमें वैसे अन्वय व्यतिरेक न बने। भावार्थ—भिन्न कालवालोंके भी अन्वय व्यतिरेक बननेमें कोई क्षति नहीं है।

कारणत्वेनानभिमतेऽप्यर्थे स्वकाले सति कस्यचित्स्वकाले भवनमसति वाऽभवनमन्वयो व्यतिरेकश्च स्यादित्यपि न मन्तव्यमन्यत्र समानत्वात्। कारणत्वेनानभिमतेर्थे स्वदेशे सति सर्वस्य स्वदेशे भवनमन्वयो असति वाऽभवनं व्यतिरेक इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। स्वयोग्यताविशेषात्कयोश्चिदेवार्थयोर्भिन्नदेशयोरन्वयव्यतिरेकनियमात्कार्यकारणनियमपरिकल्पनायां भिन्नकालयोरपि स किं न भवेत्तत एव सर्वथा विशेषाभावात्।

अभी तक बौद्धोंका ही मत चल रहा है। कारणपनेसे नहीं भी स्वीकार किये गये अर्थके अपने कालमें होनेपर चाहे किसी भी कार्यका अपने कालमें हो जाना और उस तटस्थ कारणके न होनेपर न होना, ऐसा अन्वय और व्यतिरेक भी बन बैठेगा। तब तो चाहे कोई भी चाहे जिस किसीका कारण बन जावेगा। कोई व्यवस्था न रहेगी। इस प्रकार जैनोंकी ओरसे किया गया कटाक्ष भी नहीं माना जावेगा। क्योंकि आप जैनोंके माने हुए उस दूसरे देशव्यतिरेकमें भी यही अव्यवस्था समानरूपसे होगी। कार्यकारणभावमें भिन्नदेशवृत्तिका मानना तो आपको आवश्यक है ही। तब हम भी यह कह सकते हैं कि कारणपने करके नहीं माने गये पदार्थके अपने देशमें रहनेपर सर्व ही कार्योंका अपने अपने देशमें उत्पन्न होना अन्वय है और अनिच्छित कारणके न होनेपर विवक्षित कार्योंका वहां न होना व्यतिरेक है। तथा च भिन्न भिन्न कालवाले कार्यकारणोंमें अन्वयव्यतिरेक बनाने पर हमारे ऊपर चाहे जिस तटस्थ पदार्थको कारणपना प्राप्त हो जावेगा, यह आप जैन अतिप्रसङ्ग देते हैं। उसी प्रकार भिन्न भिन्न देशवाले कार्यकारणोंमें अन्वय व्यतिरेक बनानेपर आपके ऊपर भी हम सौगत यह अतिप्रसंग दोष कह सकते हैं कि चाहे जिस किसी भी भिन्न देशमें पडा हुआ उदासीन पदार्थ जिस किसी भी कार्यका कारण बन बैठेगा। यदि आप जैन परिशेषमें यह कल्पना करेंगे कि कोई कोई ही कारण, कार्यरूप अर्थ दोनों भिन्नदेशवाले भी होकर अपनी अपनी विशेष योग्यताके बलसे अन्वय व्यतिरेक नियमके अनुसार कार्यकारणभावके नियमको धारण करते हैं, सभी भिन्न देशवालोंको या चाहे जिस किसीको कारणपनेकी योग्यता नहीं है, तब तो हम बौद्धोंके यहां भी उस ही कारण भिन्न भिन्न कालवाले किन्हीं ही विवक्षित पदार्थोंका अन्वय व्यतिरेक हो जानेसे कार्यकारणभावका वह नियम क्यों न हो जावे ?। भिन्न कालवाले चाहे जिस किसीके साथ कार्यकारणभाव नहीं है। योग्यके ही साथ है। आपके भिन्न भिन्न देशवालोंमें कार्यकारणभाव माननेसे हमारे भिन्न कालवालोंका कार्यकारणभाव मानना सभी प्रकारोंसे एकसा है। कोई अन्तर नहीं है।

तदेतदप्यविचारितरम्यम्। तन्मते योग्यताप्रतिनियमस्य विचार्यमाणस्यायोगात्। योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः, शालिबीजाङ्कुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेपि शालिबीजस्यैव शाल्यङ्कुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवाङ्कुरजनने न शालिबीजस्येति कथ्यते।

अब आचार्य कहते हैं कि वहांसे लेकर यहां तक बौद्धोंका यह सब कहना भी विचार न करनेतक ऊपरसे सुंदर दीखता है। किंतु विचार करनेपर तो वह ढीला पोला निस्सार जचेगा। क्योंकि स्याद्वादियोंके मतमें योग्यता पदार्थोंकी परिस्थितिके अनुसार स्वात्मभूत परिणति मानी गयी है। अतः वस्तुभूत योग्यताके विशेषसे तो विवक्षित पदार्थोंमें ही कार्यकारणभाव बन जाता है। किंतु

बौद्धोंके मतमें ठीक ठीक विचार करनेपर विवक्षित कार्यकारणोंमें नियमित योग्यता नहीं बन सकती है। क्योंकि बौद्ध लोग अपने तत्त्व कहे गये स्वलक्षणोंको औपाधिक स्वभावोंसे रहित मानते हैं। कार्यकारणभाव व्यवहारसे ही माना गया है, वास्तविक नहीं। इसका विशेष विवरण यों है कि कार्यकारणभावके प्रकरणमें योग्यताका अर्थ कारणकी कार्यको पैदा करनेकी शक्ति और कार्यकी कारणसे जन्यपनेकी शक्ति ही है। उस योग्यताका प्रत्येक विवक्षित कार्य कारणोंमें नियम करना यही कहा जाता है कि धानके बीज और धानके अंकुरोंमें भिन्न भिन्न समयवृत्तिपनेकी समानताके होनेपर भी साठी चांवलके बीजकी ही धानके अंकुरको पैदा करनेमें शक्ति है। किंतु जौके बीजकी धानके अंकुर पैदा करनेमें शक्ति नहीं है। तथा उस जौके बीजकी जौके अंकुर पैदा करनेमें शक्ति है। हां, धानका बीज जौके अंकुरको नहीं उत्पन्न कर सकता है। यही योग्यता कही जाती है।

तत्र कुतस्तच्छक्तेस्तादृशः प्रतिनियमः ? स्वभावत इति चेन्न, अप्रत्यक्षत्वात्। परोक्षस्य शक्तिप्रतिनियमस्य पर्यनुयुज्यमानतायां स्वभावैरुत्तरस्यासम्भवात्, अन्यथा सर्वस्य विजयित्वप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षप्रतीत एव चार्थे पर्यनुयोगे स्वभावैरुत्तरस्य स्वयमभिधानात्।

वहां कार्य, कारण, के प्रकरणमें ऊपर कही गयी उस योग्यतारूप शक्तिका वैसा प्रत्येकमें नियम आप कैसे कर सकेंगे ? बतलाइये। यदि आप बौद्ध लोग पदार्थोंके स्वभावसे ही योग्यताका नियम करना मानेंगे अर्थात् अग्निका कार्य दाह करना है और सूर्यका कार्य घाम करना है। जल ठण्ड को करता है, यह शक्तियोंका प्रतिनियम उन उन पदार्थोंके स्वभावसे होजाता है। अग्नि दाह क्यों करती है ? इसका उत्तर उसका स्वभाव ही है, यही मिलेगा। सो आपका यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि असर्वज्ञोंको शक्तियोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है। परोक्ष शक्तियोंके प्रत्येक विवक्षित पदार्थमें नियम करनेका जब हम "क्यों करता है ?" यह प्रश्नरूप चोद्य उठावेंगे, उस समय आप बौद्धोंकी ओरसे पदार्थोंके स्वभावों करके उत्तर देना असम्भव है। अन्यथा यानी इसके प्रतिकूल प्रत्यक्ष न करने योग्य कार्योंमें भी प्रश्नमालाके उठानेपर स्वभावोंके द्वारा उत्तर देदिया जावेगा, तब तो सभी वादी प्रतिवादियोंको जीत जानेका प्रसङ्ग हो जावेगा, स्वभाव कहकर सभी जीत जावेंगे। अबतक सभी दार्शनिक यही मानते चले आरहे हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा जाने गये ही अर्थमें यदि तर्क उठाया जावे, तब तो वस्तुके स्वभावों करके उत्तर देना समुचित है। किंतु परोक्ष प्रमाणसे अविशद जाने गये पदार्थमें प्रश्न उठानेपर वस्तुस्वभावों करके उत्तर नहीं दिया जाता है। इस बातको आप बौद्धोंने भी स्वयं कहा है। भला जिस पदार्थका प्रत्यक्ष ही नहीं है, वहां यह उत्तर कैसे संतोषजनक हो सकता है कि हम क्या करें यह तो वस्तुका स्वभाव ही है। नैयायिकके दोष देनेपर मीमांसक कह देगा कि शब्दका नित्य होना वस्तुका स्वभाव है और मीमांसकके दोषोत्थानपर नैयायिक कह देगा कि शब्दका अनित्यपन वस्तुस्वभाव है। स्वभाव कहकर जीतनेकी व्यवस्था होजानेपर तो व्यभिचारी मांसभक्षी, चोर आदि भी पूरा लाभ उठालेंगे।

कथमन्यथेदं शोभेत,—" यत्किञ्चिदात्माभिमतं विधाय, निरुत्तरस्तत्र कृतः परेण, वस्तुस्वभावैरिति वाच्यमित्थं, तदुत्तरं स्याद्विजयी समस्तः ॥ १ ॥ प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे, यदि पर्यनुयुज्यते, स्वभावैरुत्तरं वाच्यं, दृष्टे कानुपपन्नता ॥ २ ॥ " इति ।

यदि प्रत्यक्षित कार्यके होनेपर स्वभावोंसे उत्तर देना और परोक्षमें स्वभावों करके उत्तर न देना यह न्याय न मानकर अन्य प्रकारसे मानोगे तो आपका इन दो श्लोकों द्वारा यह कथन कैसे शोभा देगा कि जो कुछ भी सच्चा झूंठा, अपनेको अभीष्ट तत्त्व है, उसका प्रतिवादीके सन्मुख पूर्वपक्ष करके पीछे प्रतिवादीके द्वारा समीचीन दोष उठानेसे यदि वादी वहां निरुत्तर कर दिया जावे तो भी वादी चुप न बैठे, किंतु ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है, ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है, इस प्रकारसे उस प्रतिवादीके दोष उत्थापनका उत्तर देता रहे, ऐसा अन्याय करनेपर तो सब ही वादी विजयी हो जावेंगे ॥ १ ॥ प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा अर्थके निर्णीत होनेपर यदि कोई चोद्य उठावे तो वस्तुस्वभावों करके उत्तर कह देना चाहिये । क्योंकि सभी बालगोपाल तथा परीक्षकोंके द्वारा देखे गये स्वभावमें क्या कभी असिद्धि हो सकती है ? अर्थात् नहीं । तुम ही उन स्वभावोंके अनुसार अपने तर्क या हेतुको सम्हाल लो ! तुम्हारे तर्कके अनुसार वस्तुस्वभाव नहीं बदल सकता है ॥ २ ॥ इस प्रकार आप बौद्धोंने भी परोक्षपदार्थका स्वभावों करके नियम करना नहीं माना है। प्रत्युत परोक्ष होनेपर स्वभावोंके द्वारा उत्तर देनेवालेका " तीसमारखां " के समान विजयी हो जानेका उपहास किया है ।

शालिबीजादेः शाल्यङ्कुरादिकार्यस्य दर्शनात्तज्जननशक्तिरनुमीयत इति चेत्, तस्य तत्कार्यत्वे प्रसिद्धेऽप्रसिद्धेऽपि वा ? प्रथमपक्षेऽपि कुतः शाल्यङ्कुरादेः शालिबीजादिकार्यत्वं सिद्धम् ? न तावदध्यक्षात्तत्र तस्याप्रतिभासनात्, अन्यथा सर्वस्य तथा निश्चयप्रसंगात् ।

सौगत कहते हैं कि शक्तियोंका प्रतिनियम करना प्रत्यक्षसे नहीं किंतु अनुमानसे तो हो जावेगा । लडके लडकी और किसान लोग छोटे छोटे शरावोंमें अन्नको बोकर कुबीज और सुबीजका निर्णय करलेते हैं । धानके बीजरूप कारणसे धानका अंकुररूप कार्य और जौके बीजसे जौका अंकुररूप कार्य होता हुआ देखा जाता है । अतः उनको पैदा करनेवाली शक्तिका उन बीजोंमें अनुमान करलिया जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि उस धान अंकुरको उस धान बीजका कार्यपना प्रसिद्ध होनेपर जनन शक्तिका अनुमान करोगे ? अथवा धान अंकुरको धानबीजका कार्यपना नहीं प्रसिद्ध होते हुए भी कारणशक्तिका अनुमान करलोगे ? बताओ । यहां दूसरापक्ष अप्रसिद्धका तो कथमपि ठीक नहीं है । हां, पहिला पक्ष लेनेपर भी आप यह बतलाइये कि धानके अंकुर और जौके अंकुर आदिको धानबीज और जौ आदिका कार्यपना आपने

कैसे सिद्ध किया है? कहिये। पहिले प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो यह सिद्ध नहीं होसकता है कि धानबीजका कार्य धान अंकुर है। क्योंकि जिस क्यारी में धान, जौ, गेहूं या ज्वार, मका, बाजरा एकसाथ बोदिये गये हैं, वहां गीली मिट्टीके भीतर सब ही बीज छिपगये हैं। ऐसी दशामें किस बीजसे कौनसा अंकुर हुआ, इसका निर्णय करना बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका कार्य नहीं है। यों वहां प्रत्यक्षमें उस कार्यकारणका प्रतिभास नहीं होता है। अन्यथा सभी बाल गोपालोंको या नागरिकोंको उसी प्रकारसे निर्णय हो जाता। ऐसे संशय करनेका प्रसंग पण्डितोंतकको नहीं आना चाहिये था कि यह अंकुर गेहूंका, धानका, या जौका है। किन्तु संशय होता देखा जाता है। अतः प्रत्यक्ष से कारणकी कार्यको उत्पाद करानेवाली शक्तिका और कार्यकी कारणोंसे जन्यत्व शक्तिका नियम करना जैसे नहीं बन सकता है, वैसे ही धान बीजसे ही धान अंकुर कार्य उत्पन्न हुआ है, यह भी लौकिक प्रत्यक्षसे नहीं जाना जा सकता है। एक बात यह है कि यद्यपि कभी कभी चने, जौ, गेहूं, धानमें केवल जलका संयोग होनेपर छोटा अंकुर निकला हुआ दीखता है। किन्तु वह प्रकृतमें अंकुर नहीं माना है। वह तो कुल्ला है। मिट्टीमें बीजके सड गलजानेपर जो बीजका उत्तर परिणाम बडा अंकुर हो जाता है, उसका कार्यकारणभाव यहां अभिप्रेत है। वही भविष्यमें बीज सन्ततिको उपजावेगा। एकेन्द्रिय जीवोंकी संवृत यानी ढकी हुई योनि मानी है।

तद्भावभावाल्लिङ्गात्तत्सिद्धिरिति चेन्न, साध्यसमत्वात्। को हि साध्यमेव साधनत्वेनाभिदधातीत्यन्यत्रास्वस्थात्, तद्भावभाव एव हि तत्कार्यत्वं न ततोन्यत्।

यदि बौद्ध जन उस धान बीजके होनेपर धान अंकुरका होना इस अन्वयरूप हेतुसे अनुमान प्रमाणद्वारा धान अंकुरमें धान बीजका वह कार्यपना प्रसिद्ध करें सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि यह हेतु भी साध्यके समान असिद्ध होनेसे साध्यसम हेत्वाभास है। धानबीजके होनेपर ही धान अंकुर कार्य हुआ है। यही तो हमको साध्य करना है और इसीको आप हेतु बना रहे हैं। ऐसा भला कौन पुरुष है? जो कि साध्यको ही हेतुपने करके कथन करें। अस्वस्थके अतिरिक्त कोई ऐसा पोंगापन नहीं करता है। विचारशील मनुष्य असिद्धको साध्य बनाते हैं और प्रसिद्धको हेतु बनाते हैं। किन्तु जो आपेमें नहीं हैं या कठिनरोगसे पीडित हैं, अज्ञानी हैं, वे ही ऐसी अयुक्त बातोंको कहते हैं। देखो, उस धान बीजके होनेपर धान अंकुरका होना ही तो नियमसे धान बीजका धान अंकुरमें वह कार्यपना है। उससे भिन्न कोई उसकी कार्यता नहीं है।

शालिबीजादिकारणकत्वाच्छाल्यङ्कुरादेस्तत्कार्यत्वं सिद्धमित्यपि तादृगेव। परस्पराश्रितं चैतत्, सिद्धे शालिबीजादिकारणकत्वे शाल्यंकुरादेस्तत्कार्यत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च शालिबीजादिकारणत्वसिद्धिरिति।

धान बीज, जौ, आदिक हैं कारण जिसके ऐसा जो कार्य है वह धानका या जौ आदिका अंकुर है। इस उन बीजरूप कारणोंकी उन अंकुरोंमें कार्यता सिद्ध हो ही जाती है। इस प्रकार

किसीका कहना भी उस पहिलेके समान ही है अर्थात् जिसीका निर्णय करना है, वही नियामक कारण बनाया जा रहा है। दूसरी बात यह और है कि उक्त कथनमें यह परस्पराश्रय दोष भी है कि धान बीज, गेहूं, जौ, आदि हैं कारण जिनके ऐसे धान अंकुर, गेहूं अंकुर, जौ अंकुर हैं, इस प्रकार सिद्ध हो जानेपर तो धान अंकुर आदिको उन बीजोंकी कार्यता सिद्ध होगी और धान आदि बीजोंकी वह कार्यता जब धान आदि अंकुरोंमें सिद्ध हो जावेगी तब धान आदि अंकुरोंके धान आदि बीज कारण हैं, यह बात सिद्ध होगी। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हुआ।

तदनुमानात् प्रत्यक्षप्रतीते तस्य तत्कार्यत्वे समारोपः कस्यचिद्व्यवच्छिद्यत इत्यप्यनेनापास्तं, स्वयमसिद्धात्साधनात् तद्व्यवच्छेदासम्भवात्।

बौद्ध कहते हैं कि वस्तुभूत पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है। उस अनुमान ज्ञान तो केवल संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपको ही दूर करता है। इतने ही अंशसे प्रमाण है। वैसे तो अनुमान निश्चयात्मक है और सामान्यको विषय करनेवाला है। इन हेतुओंसे अप्रमाण होना चाहिये। पदार्थोंमें क्षणिकपना सत्व हेतुसे उत्पन्न हुए अनुमान द्वारा नहीं जाना जाता है। वह वस्तुभूत क्षणिकपना तो पूर्वमें ही निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ज्ञात हो चुका था। किंतु कतिपय जीवोंको पदार्थोंमें कुछ कालतक स्थायीपने या नित्यपनेका मिथ्याज्ञान हो जाता है। अतः उस समारोपके दूर करनेके लिये अनुमानसे क्षणिकत्वका निर्णय करा दिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी उस धान बीजकी कारणता और धान अंकुरमें उस कारणकी कार्यता तो प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ही जान ली जाती है। किंतु किसी अज्ञानीको उस प्रत्यक्षित विषयमें कदाचित् विपरीत समारोप हो जाता है तो पूर्वोक्त अनुमानसे उस समारोपका व्यवच्छेद मात्र कर दिया जाता है। कार्यता और कारणता शक्तियोंका प्रतिभास करना तथा प्रतिनियम करना ये सब प्रत्यक्षके द्वारा ही जान लिये जाते हैं। अतः हम बौद्धोंके कहे हुए पहिले अनुमानमें साध्यसम और अन्योन्याश्रय दोष लागू नहीं हो सकते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार कथन करनेवाले बौद्ध भी हमारे इसी दोषोत्थापनसे निराकृत हो जाते है। क्योंकि जबतक बौद्धोंका हेतु ही स्वयं उन्हें भी सिद्ध नहीं हुआ है तो ऐसे असिद्ध हेतुसे उस समारोपका निराकरण करना असम्भव है।

तदनन्तरं तस्योपलम्भात्तत्कार्यत्वसिद्धिरित्यपि फल्गुप्रायं, शाल्यङ्कुरादेः पूर्वाखिलार्थकार्यत्वप्रसंगात्। शालिबीजाभावे तदनन्तरमनुपलम्भान्न तत्कार्यत्वमिति चेत्, सार्द्रेन्धनाभावेऽङ्गाराद्यवस्थाग्नेरनन्तरं धूमस्यानुपलब्धेरग्निकार्यत्वं माभूत्, सामग्रीकार्यत्वाद्धूमस्य नाग्निमात्रकार्यत्वमिति चेत्, तर्हि सकलार्थसहितशालिबीजादिसामग्रीकार्यत्वं शाल्यङ्कुरादेरस्तु विशेषाभावात्। तथा च न किञ्चित्कस्यचिदकारणमकार्यं वेति सर्वं सर्वस्मादनुमीयेतेति वा कुतश्चित् किञ्चिदिति नानुमानात्कस्यचिच्छक्तिप्रतिनियमसिद्धिर्यतोऽन्वयव्यतिरेकप्रतिनियमः कार्यकारणभावे प्रतिनियमनिबंधनः सिध्येत्।

उस शालि बीजके अव्यवहित उत्तरकालमें वह चावलोंका अंकुर पैदा होता हुआ देखा जाता है। इस अन्वयरूप हेतुसे शालि अंकुरको उस शालिबीजका कार्यपना सिद्ध हो जाता है। यह बौद्धोंका कहना भी बहुभागमें व्यर्थ ही है। क्योंकि यों तो शालि अंकुरके पहिले कालमें रहनेवाले संपूर्ण तटस्थ पदार्थोंको कारणता हो जावेगी। शालिबीजका और गेहूं, जौ, चना, कुलाल, कृषक आदिका भी वही काल है। अतः शालिबीजके समान गेहूं आदिका भी वह शालि अंकुर कार्य बन जावेगा, यह प्रसंग तुम्हारे ऊपर हुआ। यदि आप सौगत धान बीजके न होनेपर गेहूं आदिसे उनके अव्यवहित उत्तर कालमें धान अंकुर पैदा होता हुआ नहीं देखा जाता है, इस व्यतिरेककी सहायतासे उसके कार्यपन न होनेकी सिद्धि करोगे तो गीले ईन्धनके न होनेपर अंगारा, जला हुआ कोयला, और तपे हुए लोहपिण्डकी अग्निके अव्यवहित उत्तरकालमें धूम पैदा हुआ नहीं देखा जाता है, अतः धूम भी अग्निका कार्य न होओ। भावार्थ—कारणके अभाव होनेपर कार्यके न होने मात्रसे कार्यताका यदि निर्णय कर दिया जावे तो अग्निका कार्य धूम न हो सकेगा। क्योंकि अङ्गार कोयलेकी अग्निके रहते हुए भी धूम नहीं हुआ। अग्निके न होनेपर धूमका न होना ऐसा होना चाहिये था। तब कहीं धूमका कारण अग्नि बनती। यदि आप बौद्ध इसका उत्तर यों कहें कि गीला ईंधन, अग्नि, वायु, आदि कारणसमुदायरूप सामग्रीका कार्य धूम है, केवल अग्निका ही कार्य नहीं है। अतः हमारा व्यतिरेक नहीं बिगड सकता है। उस अंगारे या कोयलेकी अग्निके स्थानपर पूरी सामग्रीके न होनेसे धूमका न होना ठीक ही था। आचार्य समझाते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो गेहूं, चना, मिट्टी, खेत, खात, कुलाल, कोरिया, आदि सम्पूर्ण पदार्थोंसे सहित धानबीज या जौ बीज, आदि कारण समुदायरूप सामग्रीका कार्यपना धान अंकुर, जौ अंकुर आदिमें हो जावे कोई अंतर नहीं है तथा तब तो ऐसी अव्यवस्था हो जानेपर न कोई किसीका अकारण होगा और न कोई किसीका अकार्य होगा। क्योंकि आपकी सामग्रीके बडे पेटमें कारणोंके अतिरिक्त अनेक उदासीन थोथे पोले पदार्थ प्रविष्ट हो जावेंगे। जबतक नियत कारणोंका निश्चय नहीं हुआ है, तबतक कार्यके पूर्व कालमें अनेक पदार्थ कारण बननेके लिये सामग्रीमें पतित होरहे हैं। बाप बननेके लिये भला कौन निषेध करेगा। तथा उत्तर समयवर्ती सभी पदार्थ चाहे जिस कारणके कार्य बन जावेंगे। बापकी सम्पत्ति लेनेके लिये और नवजन्म धारण करनेके लिये बेटा बनना भी किसको अनिष्ट है। इस प्रकार पोल चलनेपर तो सब कार्योंमेंसे किसी भी एक कार्यसे सब कारणोंका अनुमान किया जा सकेगा अथवा किसी भी कार्यसे चाहे जिस तटस्थ अकारणका अनुमान किया जा सकेगा। कोई भी व्यवस्था न रहेगी। अंधेर छा जावेगा। अंधेरेसे सूर्यका अनुमान और शीतवायुसे अग्निका भी अनुमान हो जावेगा। इस प्रकार आप बौद्धोंके यहां अनुमानसे भी किसी भी कार्य या कारणकी शक्तियोंका प्रत्येकरूपसे नियम करना सिद्ध नहीं हो पाता है, जिससे कि आपके द्वारा पहिले कहा गया अन्वयव्यतिरेकोंका प्रतिनियम करना कार्यकारणभावमें प्रतिनियमका कारण सिद्ध होता, अर्थात्

आपका माना हुआ अन्वयव्यतिरेक तो कार्यकारणशक्तिरूप योग्यताका नियामक नहीं होसकता है। यहांतक " स्यान्मतं " करके कहे गये बौद्धसिद्धांतके खण्डनप्रकरणका उपसंहार कर दिया है।

तत एव सम्वृत्यान्वयव्यतिरेकौ यथादर्शनं कारणस्य कार्येणानुविधीयते न तु यथातत्त्वमिति चेत्, कथमेवं कार्यकारणभावः पारमार्थिकः ? सोऽपि संवृत्येति चेत्, कुतोऽर्थक्रियाकारित्वं वास्तवम् ? तदपि सांवृतमेवेति चेत्, कथं तल्लक्षणवस्तुतत्त्वमिति न किञ्चित्क्षणक्षयैकान्तवादिनः शाश्वतैकान्तवादिन इव पारमार्थिकं सिध्येत्।

योगाचार बौद्ध कहते हैं कि उस ही कारणसे तो हम वास्तविक अन्वय व्यतिरेकोंको नहीं मानते हैं। केवल व्यवहारसे ही कार्यकारणव्यवस्था है। तात्त्विक व्यवस्थाका अतिक्रमण नहीं कर परमार्थसे न कोई किसीका कारण है, न कोई किसीका कार्य है। जैसा लोकमें देखा जाता है, वैसा कार्यके द्वारा कारणका अन्वय व्यतिरेक लेलिया जाता है। यथार्थरूपसे वस्तु व्यवस्थाके अनुसार अन्वयव्यतिरेक लेना कुछ भी पदार्थ नहीं है। अब ग्रन्थकार समझाते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो संसारमें बालगोपालोंमें भी प्रसिद्ध हो रहा यह कार्यकारणभाव ठीक ठीक वास्तविक कैसे माना जावेगा ? बताओ। क्योंकि आप तो सब स्थानोंपर वस्तु शून्य, कल्पित कोरा व्यवहार मान रहे हैं। ऐसी दशामें तिलसे तैल, मिट्टीसे घडा, अग्निसे धुआं आदि कार्य कारणोंकी व्यवस्था जो हो रही है, वह लुप्त हो जावेगी। यदि आप उस कार्यकारणभावको भी व्यवहारसे मानेंगे यानी वास्तविकरूपसे न मानकर झूंठा कहेंगे तो बतलाइये कि पदार्थोंका अर्थक्रियाकारीपना वस्तुभूत कैसे होगा ?। जलसे स्नान, पान, अवगाहन आदि क्रियाएं होती हैं। घटसे जल धारण आदि क्रियाएं होती हैं, अग्निसे दाह होता है इत्यादि अर्थक्रियाएं तो वास्तविक कार्यकारणभाव मानने पर ही बन सकती हैं। यदि आप उस अर्थक्रिया करनेको भी कोरी व्यावहारिक कल्पना ही कहोगे यानी जलधारण करना, स्नान करना आदि कुछ भी वस्तुभूत ठीक ठीक पदार्थ नहीं हैं, यों तब तो उस अर्थक्रियाकारीपन लक्षणसे वास्तविक तत्त्वोंकी आप सिद्धि कैसे कर सकेंगे ? बतलाइये। इस प्रकार क्षणिकत्वका एकांत कहनेकी टव रखनेवाले बौद्धोंके यहां कुछ भी तत्त्व परमार्थस्वरूप ठीक ठीक सिद्ध नहीं होगा, जैसे कि कूटस्थ नित्यको ही एकांतसे कहनेकी लतवाले कापिलोंके या नित्य आत्मवादी नैयायिकोंके यहां कोई वास्तविक पदार्थ सिद्ध नहीं हो पाता है।

तथा सति न बन्धादिहेतुसिद्धिः कथञ्चन।
सत्यानेकांतवादेन विना क्वचिदिति स्थितम् ॥ १२७ ॥

और उस प्रकार एकांत पक्षके माननेपर बंध, मोक्ष आदिके हेतुओंकी सिद्धि कैसे भी नहीं हो सकती है। सत्यभूत अनेकांतवादके विना किसी भी मतमें बंध, मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बनती है। यह बात यहांतक निर्णीत कर दी गयी है। एक सौ सोलहवीं वार्त्तिकका निगमन हो गया

न सत्योऽनेकान्तवादः प्रतीतिसद्भावेऽपि तस्य विरोधवैयधिकरण्यादिदोषोपद्रुतत्वादिति नानुमन्तव्यम्, सर्वथैकान्त एव विरोधादिदोषावतारात्, सत्येनानेकान्तवादेन विना बन्धादिहेतूनां क्वचिदसिद्धेः ।

जैनोंके द्वारा माना हुआ अनेकांतवाद यथार्थ नहीं है। क्योंकि कतिपय प्रतीतियोंके होते सन्ते भी वह अनेकांत अनेक विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, सङ्कर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दोषोंसे ग्रसित होरहा है । आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार एकांतवादियोंको नितांत नहीं मानना चाहिये। क्योंकि सर्वथा एकांतपक्षमें ही विरोध आदि दोषोंका अवतार होता है। सर्व ही पदार्थ अनेक धर्मोंसे युक्त प्रत्यक्षसे ही जाने जारहे हैं। वहां दोषोंका सम्भव नहीं है। भावार्थ—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पदार्थ सत् हैं, परचतुष्टयसे असत् हैं। यदि एक ही अपेक्षासे सत् असत् दोनों होते तो विरोध दोषोंकी संभावना थी। जो देवदत्त यज्ञदत्तका शत्रु है, वही जिनदत्तका मित्र भी है। देखो, जो धर्म किसीकी अपेक्षासे एक धर्मी में नहीं प्रतीत होते हैं, उनका विरोध मानाजाता है। जैसे ज्ञानका और रूपका या सर्वज्ञता और अल्पज्ञताका विरोध है। किंतु जो दीख रहे हैं, यदि उनका विरोध माना जावेगा तो पदार्थोंका अपने स्वरूपसे ही विरोध हो जावेगा। सहानवस्थान, परस्परपरिहारस्थिति, वध्यघातकभावरूपसे विरोध तीन प्रकारका है। एक स्थानपर एक समय जो नहीं रह सकते हैं, उनका सहानवस्थान विरोध है। जैसे कि शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शका या सह्य पर्वत और विन्ध्यपर्वतका। किंतु सत्त्व और असत्त्व दोनों एक स्थानपर देखे जाते हैं। यहां विरोध कैसा ?। दूसरा विरोध तो पुद्गलमें रूप और रस गुण एक दूसरेसे कथञ्चित् पृथक्भूत होते हुए अपने अपने परिणामोंसे ठहरे हुए हैं। अतः परस्परपरिहारस्थिति लक्षण है। विरोध तो एक धर्मी में विद्यमान होरहे ही अनेक धर्मोंका होसकता है। जैसे कि बदनमें दो आंखोंका, या हाथमें अंगुलियोंका। अतः यह विरोध भी अनेकांतका बिगाड करनेवाला नहीं है। तीसरा वध्यघातकभाव विरोध भी नौला और सर्प तथा गौ और व्याघ्रमें देखा जाता है। किंतु ऋद्धिधारी मुनिमहाराज या भगवान्के समवसरणमें जातिविरोधी जीव बडे प्रेमसे एक स्थानपर बैठे रहते हैं। अब भी पशुशिक्षक लोग सिंह और गायको एक स्थानपर बैठा हुआ बतला देते हैं। किंतु अंतर इतना है कि मुनियोंके निकट विरोधी जीवोंमें अत्यंत मित्रता हो जाती है। गौके थनोंको सिंहशिशु पीता है और सिंहिनीके दूधको बछडा चोंखता है। जिन पदार्थोंको लोगोंने विरोध कल्पित कर रखा है, उनमें भी कुछमें तो सत्य है। किंतु बहुभागोंमें असत्य है। अग्नि दाहको करती है। किंतु दाहको शांत भी करती है। अग्निसे भुरसे हुए को जल सींचनेसे हानि होती है और अग्निसे सेक करनेपर लाभ होता है। विषकी चिकित्सा विष है, यानी एक विषकी गर्मीको दूसरे प्रतिपक्षी विषकी गर्मी चाट जाती है। उष्णज्वरके दूर करनेके लिए उष्ण प्रकृतिवाली औषधियां सफल होती हैं। एवं एवं जल भी कहीं अग्निका कार्य कर देता है। जमाये हुए

तुषाररूप पानी (बर्फ) की प्रकृति अति उष्ण है। संतप्त तैलमें जल डालनेसे अग्निज्वाला प्रगट हो जाती है, तथा पूर्वमें उदय होनेवाला सूर्य पश्चिममें भी उदय हो जाता है। जब कि पूर्व, पश्चिम दिशाओंका नियम करना भ्रमण करते हुए सूर्यके उदय और अस्त होनेके अधीन है तो हमारे लिये जो पूर्व है, वह दूसरे पूर्वविदेहवालोंके लिये पश्चिम बन बैठता है। ऐसे ही जो हमारे लिए पश्चिम है, वह पश्चिम–विदेह वालोंकेलिये पूर्व दिशा है। तभी तो जम्बूद्वीपमें चारों ओरके क्षेत्रोंसे सुमेरु पर्वत उत्तर दिशामें ही रहता हुआ माना गया है। एक जातिका पत्थर है, जो पानीमें तैर जाता है, एक लकडी भी ऐसी होती है, जो पानीमें डूब जाती है। " डूबते को तिनकेका सहारा अच्छा " इस परिभाषाके अनुसार भी काम होता है और उसके विरुद्धसी दीख रही " ओस चाटनेसे प्यास नहीं बुझती है "। यह परिभाषा भी अर्थ क्रियायें करा रही हैं। तथैव " बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख " ये लौकिक न्यायके साथ साथ " बिना रोये मा भी दूध नहीं पिलाती " यह न्याय भी प्रयोजनोंको साध रहा है। इन युक्तियोंसे सिद्ध होता है कि अनेकांतमतमें कोई विरोध दोष नहीं है। दूसरा दोष वैयधिकरण्य भी स्याद्वादियोंके ऊपर लागू नहीं हो सकता है। निषध पर्वतका अधिकरण न्यारा है और नील पर्वतका अधिकरण भिन्न है। ऐसी विभिन्न अधिकरणताको वैयधिकरण्य कहते हैं। किंतु वस्तुमें जहां ही सत्पना है, वहीं असत्त्व है। जहां नित्यत्व है, वही अनित्यत्व है। दस औषधियोंको घोंटकर बनी हुयी गोलीके छोटेसे टुकडेमें भी दसों औषधियोंका रस विद्यमान है। संयोग संबंधसे विद्यमान रहनेवाले आतप, वायु, धूल, कार्मण स्कंध, जीवद्रव्य, कालाणु, आदि पदार्थ एक स्थानमें जब अव्याहत रूपसे रह जाता है तो द्रव्यमें तादात्म्य संबंधसे अनेक स्वभाव तो बडी प्रसन्नतासे रह जावेंगे। अतः भिन्न भिन्न स्वभावोंका एक द्रव्यमें विभिन्न अधिकरणपना दोष नहीं लगता है। तीसरा संशय दोष जब हो सकता था, यदि चलायमान प्रतिपत्ति होती किंतु दोनों धर्म एक धर्मीमें निर्णीत रूपसे जाने जारहे हैं तो संशय दोषका अवसर कहां ? अग्नि जल आदिक अपने अनेक स्वभावों करके दाह, पाक, सेचन, विध्यापन आदि क्रियाएं कर रहे हैं वैसे ही सत्त्व आदि भी अपने योग्य अर्थ क्रियाओंको करते हैं। क्या संशयापन्न स्वभावोंसे कोई अर्थक्रिया होती है ? यानी नहीं। भाव और अभावसे समानाधिकरण्य रखता हुआ धर्मोंके नियामक अवच्छेदकोंका परस्परमें मिल जाना संकर है, सो अनेकांतमें नहीं सम्भव है। क्योंकि अस्तित्वका नियामक स्वचतुष्टय स्वरूप तो दूसरे नास्तित्वके नियामक धर्मसे एकम एक नहीं हो जाता है। पांचवां दोष व्यतिकर भी यहां नहीं है। विषयोंका परस्परमें बदलकर चले जानेको व्यतिकर कहते हैं। सो यहां टंकोत्कीर्ण न्यायसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य या अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म और उनके व्यवस्थापक स्वभाव सभी अपने अंश उपांशोंमें ही प्रतिष्ठित रहते हैं। परिवर्तन नहीं होता है। छठवां दोष अनवस्था भी अनेकांतमें नहीं आता है। सत् धर्ममें पुनः दूसरे सत् असत् माने जावें और उस सत्में फिर तीसरे सत् असत्

मानें जावे यों करते करते आकांक्षा क्षय नहीं होते हुये अनवस्था हो सकती थी। किंतु ऐसा नहीं है। एक ही सत्पन सब धर्मोंमें और पूरे धर्मीमें ओतप्रोत होकर व्याप रहा है। यदि किसी धर्ममें सत् असत्का पुनः प्रश्न उठ बैठे तो दूसरी सप्तभङ्गी भी बनाली जाती है। दस, बीस जिज्ञासाओंके पीछे आकांक्षा शांत हो जावेगी। काम करनेवाली अनवस्थाको गुण मान लिया गया है। सातवां दोष अप्रतिपत्ति है। किसी भी धर्मका ठीक ठीक निर्णय न होनेसे सामान्य जन द्विविधामें पड जाते हैं और पदार्थको नहीं जान पाते हैं। यह अप्रतिपत्ति है। किंतु अनेक धर्मोंका वस्तुमें पशु पक्षियों तकको ज्ञान हो रहा है। फिर अप्रतिपत्ति कैसी ?। आठवां दोष अभाव है। जिसका ज्ञान नहीं हुआ, उसका बडी सरलतासे और मीठेपनसे निषेध कर देना ही अभाव है। किंतु अनेक स्वभावोंका और पदार्थोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ज्ञान हो रहा है। अतः सत्य अनेकांतका अभाव नहीं कह सकते हो। इस प्रकार संक्षेपसे आठ दोषोंका वारण किया गया है। हमको एकांत वादियोंकी बुद्धिपर बडा आश्चर्य होता है। कारण कि सर्वत्र फैले हुए प्रसिद्ध अनेकांतका वे अपलाप कररहे हैं। कोई अनेकांतको छल कहता है। कोई बाग्जाल बतलाता है। और कोई संशयवाद आदि। अब विचारिये कि एक ही देवदत्त किसीका पुत्र, किसीका पिता, किसीका मामा और किसीका भानजा आदि धर्मोंको धारण कररहा है। वादीके द्वारा बोला गया हेतु अपने पक्षका साधक है और प्रतिपक्षीके पक्षका बाधक है। पक्ष या सपक्षमें सद्धेतु रहता है और वही विपक्षमें नहीं रहता है। आदि अनेक दृष्टांत अनेकांतसे भरे पडे हुए हैं। व्यवहारकी सत्यताको लेकर जिज्ञासाके अनुरूप प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें विरोधरहित अनेक धर्मोंके न्यास करनेको सप्तभङ्गी कहते हैं। सत्त्व, नित्यत्व, एकत्व भेद, वक्तव्यत्व, लघुत्व, अल्पत्व आदि अनेक धर्मोंकी सप्तभंगियां होजाती हैं। जैसे कि द्रव्यकी अपेक्षासे रूपगुण नित्य है (१)। पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है (२)। क्रमसे कहनेपर रूपगुण नित्यानित्य है (३)। एक ही समयमें एक साथ दोनों धर्मोंको कह नहीं सकते हैं, क्योंकि स्वाभाविक योग्यताके वश वृद्धव्यवहारके द्वारा संकेतग्रहणपूर्वक बोला गया शब्द एक समयमें एक ही अर्थको कह सकता है। इंद्र भी वस्तुके स्वभावोंका परिवर्तन नहीं करा सकता है। अतः अवक्तव्य है (४)। नित्य होकर भी अवक्तव्य है (५)। अनित्य अंशोंसे परिपूर्ण होता हुआ भी रूपगुण अवक्तव्य है (६)। नित्य अनित्यपन दोनोंसे घिरा हुआ भी अवक्तव्य है (७)। इस प्रकार विवक्षा होनेपर सातभंग हो जाते हैं। सप्तभङ्गीके कल्पित धर्म व्यावहारिक सत्य हैं। इनमें छह हानियां और वृद्धियां नहीं होती हैं। इन कल्पित धर्मोंके अतिरिक्त अनुजीवी प्रतिजीवी गुण तथा अर्थपर्याय व्यञ्जनपर्यायें और अविभाग प्रतिच्छेद उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये सभी धर्म अनेकांतोंमें गर्भित हैं। यहांपर अन्त माने स्वभावका है। सभी वस्तुओंके गुण पर्याय आदि स्वभाव हैं। जो गुण हैं, वे स्वभाव अवश्य हैं। किंतु जो स्वभाव हैं, वे गुण होवें नहीं भी होवें। तहां अनुजीवी गुण तो प्रतिक्षण परिणमन करते हैं। अनुजीवी गुणोंकी पर्यायोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें एक समय

१२ हानिवृद्धिओंमेंसे एक हानि या वृद्धि होगी। शेष ग्यारह आगे पीछे समयोंमें होगी। किसी किसी गुणकी पर्यायोंके अविभागी अंशोंकी तो आठ या चार ही हानिवृद्धियां होती हैं। अनुजीवी-गुणोंके अतिरिक्त अन्य धर्म तो स्वभावसे ही विद्यमान रहते हैं। पर्याय शक्तियां भी स्थूलपर्याय पर्यंत परिणमन करती हुयी मानी गयी हैं। इस प्रकार संक्षेपसे अनेकांतवादका व्याख्यान किया है। परमार्थभूत अनेकांतवादके बिना बंध और मोक्ष आदिके हेतुओंकी किसी भी मतमें सिद्धि नहीं हो पाती है, यह यहां समझाना है।

सत्यमद्वयमेवेदं स्वसम्वेदनमित्यसत्।
तद्व्यवस्थापकाभावात्पुरुषाद्वैततत्त्ववत् ॥ १२८ ॥

यहां सम्वेदनाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं कि ठीक है, बंध, मोक्ष तथा उनके हेतु मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान आदि भले ही सिद्ध न होवे, हमारी कोई क्षति नहीं है। तभी तो हम स्वयं अपनेको ही वेदन करनेवाला यह अकेला शुद्धज्ञानरूप ही है, ऐसा तत्त्व मानते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् निरंश संवेदनस्वरूप है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अद्वैतवादियोंका कहना भी अयोग्य है प्रशंसा योग्य नहीं है। क्योंकि अकेले उस शुद्ध ज्ञानकी व्यवस्था करनेवाला कोई प्रबलप्रमाण आपके पास नहीं है। जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादी अपने नित्य ब्रह्मतत्त्वकी व्यवस्था नहीं कर सकते हैं।

न हि कुतश्चित्प्रमाणादद्वैतं संवेदनं व्यवतिष्ठते, ब्रह्माद्वैतवत्। प्रमाणप्रमेययोर्द्वैतप्रसंगात्, प्रत्यक्षतस्तद्व्यवस्थापनेनाद्वैतविरोधः इति चेन्न, अन्यतः प्रत्यक्षस्य भेदप्रसिद्धेः अनेनानुमानादुपनिषद्वाक्याद्वा तद्व्यवस्थापने द्वैतप्रसंगः कथितः।

बौद्धोंके माने गये अकेले संवेदनका अद्वैततत्त्व किसी भी प्रमाणसे व्यवस्थित नहीं हो पाता है, जैसे कि वेदान्तियोंका ब्रह्माद्वैत पदार्थ नहीं सिद्ध होता है। यदि अद्वैतकी प्रमाणसे सिद्धि करोगे तो अद्वैत प्रमेय हुआ। इस प्रकार एक तो उसका साधक प्रमाण और, दूसरा अद्वैत प्रमेय, इन दो तत्त्वोंके होजानेसे द्वैत हो जानेका प्रसंग होगा। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि हम प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही उस प्रत्यक्षरूप अद्वैतकी व्यवस्था करा देवेंगे, तब तो अद्वैतका विरोध न होगा, यानी द्वैतका प्रसंग न हो सकेगा। ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य प्रमाणोंसे प्रत्यक्षके भेद प्रसिद्ध हो रहे हैं। या दूसरे अनेक प्रत्यक्ष ही भेदोंको सिद्ध कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष और परब्रह्म या संवेदनाद्वैत एकम एक नहीं है। अतः ज्ञान और ज्ञेयकी अपेक्षासे द्वैतका प्रसंग आपके ऊपर लागू रहेगा। इस निरूपणसे यह भी कह दिया गया कि अनुमानसे अथवा वेद उपनिषद्के वाक्यसे उस अद्वैतकी व्यवस्था होना माननेपर भी द्वैतका प्रसंग होता है। अर्थात् ग्राम, उद्यान (बाग) पर्वत, देवदत्त आदि सर्व पदार्थ (पक्ष) ब्रह्मस्वरूप प्रतिभासके अंतरङ्ग होकर तद्रूप हैं (साध्य) क्योंकि वे सब प्रतिभास हो रहे हैं (हेतु) जैसे कि प्रतिभासका

स्वरूप, (दृष्टांत) इस अनुमानसे ब्रह्माद्वैतकी और संपूर्ण पदार्थ (पक्ष) क्षणिक विज्ञान संवेदनरूप हैं (साध्य) क्योंकि वे अपने आप जाने जारहे हैं या प्रकाश रहे हैं (हेतु) जैसे कि सुख सम्वेदन, (उदाहरण) इस अनुमानसे संवेदनाद्वैतकी सिद्धि करनेपर, साध्य और हेतुकी अपेक्षासे द्वैतपनेका प्रसंग हो ही जाता है। तथा " एकमेवाद्वयं ब्रह्म नो नाना " " सर्वं ब्रह्ममयं " " एक आत्मा सर्वभूतेषु गूढः " " ब्रह्मणि निष्णातः " " परब्रह्मणि लयं व्रजेत् " आदि वेदवाक्य या आगमवाक्योंसे अद्वैतकी सिद्धि करनेपर भी वाच्यवाचकपने करके द्वैतका प्रसंग होता है।

न च स्वतः स्थितिस्तस्य ग्राह्यग्राहकतेक्षणात्।
सर्वदा नापि तद्भ्रान्तिः सत्यसंवित्त्यसम्भवात् ॥ १२९ ॥

तथा उस संवेदनाद्वैतकी अपने आप सिद्धि होजाती है, यह बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जगत्में सदा ग्राह्यग्राहकभाव देखा जारहा है। ज्ञान ग्राहक पदार्थ है। उससे जानने योग्य पदार्थ ग्राह्य है। यों तो द्वैत ही हुआ। उस ग्राह्यग्राहकभावपनेके द्वारा जानना भ्रांतिरूप है, यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि ग्राह्यग्राहकके विना तो सत्यप्रमितिका होना ही असम्भव है। ज्ञानका सत्यपना तो ठीक विषयको ग्रहण करनेसे ही निर्णीत किया जाता है।

न सम्वेदनाद्वैतं प्रत्यक्षान्तरादनुमानाद्वा स्थाप्यते स्वतस्तस्य स्थितेरिति न साधीयः सर्वथा ग्राह्यग्राहकाकाराक्रान्तस्य सम्वेदनस्यानुभवनात्, स्वरूपस्य स्वतो गतेरिति वक्तुमशक्तेः, संविदि ग्राह्यग्राहकाकारस्यानुभवनं भ्रान्तमिति न वाच्यं, तद्रहितस्य सत्यस्य संवित्त्यभावात्, सर्वदावभासमानस्य सर्वत्र सर्वेषां भ्रान्तत्वायोगात्।

बौद्ध कहते हैं कि हम अपने संवेदनके अद्वैतको अन्य प्रत्यक्षोंसे अथवा अनुमान प्रमाणोंसे या आगम वाक्योंसे स्थापित नहीं करते हैं। किंतु उस शुद्ध अद्वैतकी तो अपने आपसे ही स्थिति होरही है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार कहना बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि सदा ही ग्राह्य आकार और ग्राहकाकारोंसे वेष्ठित हुए ही संवेदनका सब जीवोंको अनुभव होरहा है। अतः ग्राह्य ग्राहक अंशोंसे रहित माने गये संवेदनके स्वरूपकी अपनेसे ही ज्ञप्ति होजाती है, यह कभी नहीं कह सकते हो। दीपक और सूर्यमें स्वयं अपना ही प्रकाश करनेपर प्रकाश्यत्व और प्रकाशकत्व ये दोनों धर्म विद्यमान हैं। तभी तो प्रकाशनक्रिया होसकी है। यदि बौद्ध यह कहें कि ज्ञानमें ग्राह्य आकार और ग्राहक आकारके अनुभव करनेकी मनुष्योंको भ्रांति होरही है। समीचीन ज्ञान होनेपर वे आकार कपूर की तरह उड जाते हैं और शुद्धज्ञान रहजाता है। यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उन ग्राह्य ग्राहक अंशोंसे रहित होकर समीचीन प्रमाणकी ज्ञप्ति ही नहीं हो सकती है। जैसे कि कोई अच्छा व्यापारिक स्थान ग्राह्य और ग्राहकोंसे रीता नहीं है। कोई दर्शन या अनध्यवसायके समान बालुकामय प्रदेश भले ही ग्राह्य ग्राहकोंसे रिक्त (खाली) हो, किंतु

प्रमाणात्मकज्ञान तो स्व और अर्थरूपग्राह्यके ग्राहक ही देखे जाते हैं। जो पदार्थ सदा सर्व स्थानोंमें सर्व ही व्यक्तियोंके द्वारा ठीक ठीक जाना जारहा है, उसको भ्रांत नहीं कह सकते हैं। अन्यथा सभी सम्यग्ज्ञान भ्रांत होजावेंगे। दूसरोंका खण्डन करते करते अपने इष्ट की भी क्षति हो जावेगी।

यथैवाराविभ्रान्तौ पुरुषाद्वैतसत्यता।
तत्सत्यत्वे च तद्भ्रान्तिरित्यन्योन्यसमाश्रयः ॥ १३० ॥
तथा वेद्यादिविभ्रान्तौ वेदकाद्वैतसत्यता।
तत्सत्यत्वे च तद्भ्रान्तिरित्यन्योन्यसमाश्रयः ॥ १३१ ॥

घट, पट, देवदत्त, जिनदत्त, सूर्य, चंद्रमा आदि भिन्न पर्यायें भ्रांत हैं। एक ब्रह्म ही सत्य है। ऐसा कहनेवाले ब्रह्मवादियोंके ऊपर संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध यह अन्योन्याश्रय दोष ठीक उठाते हैं कि घट, पट, आदि अनेक भिन्न पर्यायोंका भ्रांन्तपना सिद्ध होनेपर तो ब्रह्माद्वैतका सचापन सिद्ध हो और उस ब्रह्माद्वैतका सचापन सिद्ध होनेपर उन घट, पट आदि अनेक भिन्न पर्यायोंका भ्रांतपना सिद्ध होवे। जैसे ही यह अन्योन्याश्रय दोष ब्रह्मवादियोंके ऊपर उठाया जाता है वैसे ही आपके ऊपर भी यों परस्पराश्रय दोष अच्छे ढंगसे लागू है। या वे ब्रह्माद्वैतवादी भी तुमसे कह सकते हैं कि वेद्य अंश, वेदक अंश, प्रमाणत्व अंश, घट, पट आदि अनेक भिन्न पदार्थोंके भ्रांतरूप सिद्ध होनेपर तो संवेदनाद्वैतका सचापन सिद्ध होवे। और उस अकेले संवेदनाद्वैतकी सचाई सिद्ध होनेपर उन वेद्य आदि भिन्न तत्त्वोंकी भ्रांति होना सिद्ध होवे। दोनों अद्वैतोंमें इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष समान है।

कथमयं पुरुषाद्वैतं निरस्य ज्ञानाद्वैतं व्यवस्थापयेत्।

यह बिचारा बौद्ध पुरुषाद्वैतका खण्डन करके अपने ज्ञानाद्वैतकी व्यवस्था कैसे करा सकेगा? बताओ। क्योंकि दूसरेके खण्डनमें जो युक्ति दी जा रही है, वही युक्ति इस पर भी लागू हो जाती है। "काने! कानेको पलान, मियां आप ही ते जान" यह लौकिकन्याय दोनोंपर एकसा घट जाता है। एक मियां साहिबके यहां एक काना घोडा था। उसका सईस भी काना था। इस पर यह बलिहारी थी कि वे मियां भी एकाक्ष थे। एक दिन मियांजीने निरादरके साथ नौकरको घोडा सजानेके लिये आज्ञा दी कि ओ काने (नौकर) काने (घोडा) को पलान। तब नौकरने भी कटाक्षसहित उत्तर दिया कि मियांजी! आप अपनेको समझ लीजिये। ऐसे स्थलोंपर दोनों ओरसे दोनोंमें ही समान दोष आ जाते हैं। समाधान भी एकसा पडता है।

स्यान्मतं, न वेद्याद्याकारस्य भ्रान्तता संविन्मात्रस्य सत्यत्वात्साध्यते किं त्वनुमानाच्चतो नेतरेतराश्रयः इति तदयुक्तं, लिंगाभावात्।

बौद्धोंका यह भी मंतव्य होवे कि वेद्य आकार, वेदनाकार और संवित्ति आकार आदिको भ्रांतपना हम केवल संवेदन (अद्वैत) की सत्यतासे सिद्ध नहीं करते है। किंतु वेद्य आदिकी भ्रांतताको अनुमानसे सिद्ध करते हैं। तिस कारण अन्योन्याश्रय दोष हमारे ऊपर लागू नहीं हो पाता है। इस प्रकार बौद्धोंका वह कहना युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि आपके पास कोई समीचीन हेतु नहीं है। जिससे कि अनुमान द्वारा वेद्य आदि आकारोंको भ्रांतपना सिद्ध कर डालो।

विवादगोचरो वेद्याद्याकारो भ्रान्तभासजः।
अथ स्वप्नादिपर्यायाकारवद्यदि वृत्तयः ॥ १३२ ॥
विभ्रान्त्या भेदमापन्नो विच्छेदो विभ्रमात्मकः।
विच्छेदत्वाद्यथा स्वप्नविच्छेद इति सिध्यतु ॥ १३३ ॥

इसके अनन्तर बौद्ध अपना कथन प्रारम्भ करते हैं कि विवादमें विषय पडा हुआ वेद्य अंश आदिका भेद या देशभेद, आकारभेद ये सब भिन्न भिन्न आकार (पक्ष) भ्रांत ज्ञानसे उत्पन्न हुए हैं (साध्य) भिन्न भिन्न ग्राह्य आदि आकारपना होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्न, मूर्च्छित, या मत्त अवस्थामें अनेक भिन्न भिन्न ग्राह्य आकारवाले भ्रांतज्ञान हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकारसे तुम बौद्ध अब अनुमानकी प्रवृत्तियां करोगे तो यह भी अनुमान सिद्ध हो जावे कि विपर्यय या भ्रांतज्ञानसे भेदको प्राप्त हुआ अर्थात् सच्चे प्रमाणस्वरूप विशेष स्वसंवेदन ज्ञानका क्षण क्षणमें बदलते हुए बीचमें व्यवधान होना भी (पक्ष) विभ्रम स्वरूप है (साध्य) विच्छेद होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्नका विच्छेद (अन्वयदृष्टांत)। इस अनुमानसे विच्छेदको भी भ्रमपना सिद्ध हो जाओ, जो कि बौद्धोंको अनिष्ट है। बौद्ध जन संवेदनको मानते हुए भी संवेदनके क्षण क्षणके परिणामोंमें बीचमें विच्छेद पड जाना इष्ट करते हैं। तभी तो उनका क्षणिकत्व बन सकेगा। यदि न्यारे न्यारे विच्छेदोंका होना भी भ्रांत हो जावेगा तो ज्ञान नित्य, एक, अन्वयी, हो जावेगा। इससे तो ब्रह्मवादियोंकी पुष्टि होवेगी।

न हि स्वप्नादिदशायां ग्राह्याकारत्वं भ्रान्तत्वेन व्याप्तं दृष्टं न पुनर्विच्छेदत्वमिति शक्यं वक्तुं प्रतीतिविरोधात्।

बौद्ध लोग एकान्तरूपसे विशेषतत्त्वको मानते हैं। उनके यहां सामान्य पदार्थ वस्तुभूत नहीं माना गया है। पहिले क्षणका परिणाम उत्तरक्षणके परिणामसे न्यारा है। एक ही आत्मामें हुआ देवदत्तका ज्ञान यज्ञदत्तज्ञानसे विभिन्न है। व्यक्तियोंकी और कालकी अपेक्षासे सब परिणामोंमें व्यवधान करनेवाला विच्छेद माना गया है। संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध सोती हुयी या मत्त, मूर्च्छित आदि अवस्थामें होनेवाले ज्ञानोंके ग्राह्य अंश और ग्राहक अंशोंको भ्रमरूप समझते हैं। और इस

दृष्टान्तमें ग्राह्य आकारोंकी भ्रान्तपनेके साथ व्याप्तिको ग्रहणकर जागते हुए स्वस्थ अवस्थाके ज्ञानोंमें भी प्रतीत होरहे ग्राह्यग्राहक अंशोंको भ्रांतपना सिद्ध कर देते हैं। किन्तु हम कहते हैं कि स्वप्न आदि अवस्थाके ज्ञान परिणामोंमें पाये जारहे भिन्न भिन्न विच्छेदका जानना भी तो भ्रमरूप है। यह नहीं कह सकते हो कि स्वप्नदशाके ज्ञान आकार तो भ्रमरूप होवें और उनके बीच बीचमें पडा हुआ विच्छेद होना फिर भ्रमरूप न होवे। ऐसा कहनेपर तो आप बौद्धोंको प्रतीतियोंसे विरोध होगा। अतः स्वप्नज्ञानके विच्छेदको भ्रमरूप निदर्शन करके परमार्थभूत संवेदनाद्वैतके परिणामोंमें पडे हुए विच्छेदका भ्रमपना सिद्ध होजावेगा, अर्थात् संवेदनाद्वैतके क्षणक्षणमें होनेवाले विशिष्ट परिणाम अनेक न बन सकेंगे। क्योंकि उन परिणामोंका अन्तरालवर्ती विच्छेदन माना जावेगा तो संवेदनाद्वैत नित्य हो जावेगा। तथा विशेषको ही एकान्तरूपसे माननेवाले बौद्धोंको सामान्य माननेका भी प्रसंग आता है।

तदुभयस्य भ्रान्तत्वसिद्धौ किमनिष्टमिति चेत् ?।

बौद्ध कहते हैं कि ग्राह्य आकार और ज्ञानसम्बन्धी संतानियोंके बीच बीचमें पडा हुआ विच्छेद वे दोनों ही यदि भ्रांत सिद्ध होजावेंगे तो हमको क्या अनिष्ट प्राप्त होगा ? निरंश संवेदनसे जितने झगडे दूर होजावें, वही अच्छा है। अर्थात् दोनोंको भ्रांत हो जानेदो ! हमको कोई आपत्ति नहीं है। ऐसा बौद्धोंके कहनेपर आचार्य महाराज सुझाते हैं कि—

नित्यं सर्वगतं ब्रह्म निराकारमनंशकम्।
कालदेशादिविच्छेदभ्रांतत्वेऽकलयद्द्वयम् ॥ १३४ ॥

द्वैत पदार्थोंका निरूपण नहीं करता हुआ संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध यदि कालके मध्यवर्ती व्यवधापकोंका व्यवच्छेद होना, और भिन्न भिन्न देशोंका मध्यमें पडे हुए अंतरालरूप विच्छेदका होना या विशिष्ट आकारोंके स्थापन करनेके लिये ज्ञानमें माने गये आकारोंके मध्यवर्ती विच्छेद होना, आदि इनको भ्रांतरूप कहेंगे तो वह संवेदनाद्वैत बिचारा परमब्रह्मके समान नित्य, सर्व-व्यापक, निराकार और निरंश बन जावेगा, जो कि आपको अनिष्ट है। अथवा संवेदनकी सिद्धि करते हुये ब्रह्माद्वैत सिद्ध हो जावेगा। कालविच्छेद, देशविच्छेद, आकारव्यवधान, अंशभेदका खण्डन कर देनेसे नित्य, व्यापक, निराकार निरंश ब्रह्म अवश्य सिद्ध हो जावेगा।

कालविच्छेदस्य भ्रांतत्वे नित्यं, देशविच्छेदस्य सर्वगतमाकारस्य निराकारमंश। विच्छेदस्य निरंशं, ब्रह्म सिद्धं क्षणिकाद्वैतं प्रतिक्षिपतीति कथमनिष्टं सौगतस्य न स्यात्।

यदि ज्ञानमें भिन्न समयके ज्ञान परिणामोंका व्यवधान करनेवाले कालविच्छेदको भ्रांत होना मानोगे तो आपका संवेदन नित्य हो जावेगा। क्योंकि कालका विच्छेद ही तो उसके क्षणिक अनित्यको बनाये हुए था। किंतु आपने उसको भ्रांत मान लिया, तब तो ज्ञान नित्य हो ही जावेगा। ऐसे ही

भिन्न भिन्न देशोंकी विशेषताको करनेवाले देशविच्छेदको आप भ्रांत मानेंगे तो वह संवेदन सर्व-व्यापक बन जावेगा। क्योंकि आकाशके एक एक प्रदेशमें पडा ज्ञानका एक एक परमाणु आपने एक-देशवृत्ति अव्यापक माना है। किंतु देशका अंतराल यदि टूट जावेगा तो बंधके टूट जानेपर तालाबके समान ज्ञान व्यापक हो जावेगा, जैसे कि महास्कंध वर्गणाएं जगत्भरमें व्यापक है। इसी प्रकार आकारोंके विशेषोंको भ्रांतरूप मानलोगे तो संवेदन निराकार होजावेगा। किंतु आपने ज्ञानको साकार माना है। ज्ञानकी साकारता ही आपके मतमें प्रमाणताका प्राण है। तथा न्यारे न्यारे ज्ञान परमाणुओंके अंशोंमें पडे हुए अंशविच्छेदोंको यदि भ्रांत कहोगे तो संवेदन निरंश होजावेगा। किंतु आपने ज्ञानोंको स्वकीय स्वकीय शुद्ध अंशोंसे सांश माना है। अतः विच्छेदोंके भ्रांतपने होजानेसे ब्रह्मवादियोंका मत सिद्ध हुआ जाता है। क्योंकि ब्रह्मवादी अपने ब्रह्म तत्त्वको नित्य, व्यापक, निराकार और निरंश मानते हैं। अतः परमब्रह्मकी सिद्धि होजाना ही आपके माने हुए क्षणिक संवेदनाद्वैतका खण्डन करदेती है। इस प्रकार बौद्धोंको क्यों नहीं अनिष्ट होगा ?। अर्थात् संवेदनाद्वैतको तो सिद्ध करने बैठे, किंतु उसके सर्वथा विपरीत ब्रह्माद्वैत सिद्ध होगया। यही तो बडा भारी अनिष्ट है। व्यर्थका गौरव आलापनेसे कोई कार्य नहीं चलता है।

नित्यादिरूपसंवित्तेरभावात्तदसम्भवे।
परमार्थात्मतावित्तेरभावादेतदप्यसत् ॥ १३५ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि नित्य, व्यापक, निराकार और निरंश आदि स्वरूपवाले ऐसे परब्रह्मकी ज्ञप्ति नहीं होती है। अतः उस ब्रह्मतत्त्वका सिद्ध होना असम्भव है। ऐसा कहनेपर तो हम भी कहदेंगे कि परमार्थस्वरूप क्षणिक अद्वैत संवेदनकी ज्ञप्ति नहीं होरही है। अतः आपका यह संवेदनाद्वैत भी शशविषाणके समान असत् पदार्थ है यानी कुछ भी नहीं है।

न हि नित्यत्वादिस्वभावे परमार्थात्मादिस्वभावे वा संवित्त्यभावं प्रति विशेषोऽस्ति, यतो ब्रह्मणोसत्यत्वे क्षणिकत्वे संवेदनाद्वैतस्यासत्यत्वं न सिध्येत्।

जैसे आप कहते हैं कि नित्य, व्यापक होना आदि स्वभाववाले ब्रह्मकी ज्ञप्तिका कोई उपाय नहीं है, वैसे ही आपके परमार्थभूत, क्षणिक, साकार, परमाणुस्वरूप स्वांश आदि स्वभाववाले संवेदनकी भी किसीको ज्ञप्ति नहीं होरही है। अतः दोनों महाशयोंके अभीष्ट होरहे परमब्रह्म और संवेदनमें समीचीन ज्ञप्ति न होनेकी अपेक्षासे कोई अंतर नहीं है। जिससे कि आप बौद्धके कथनानुसार ब्रह्मतत्त्वका असत्यपना तो सिद्ध होजावे और क्षणिक होते हुए आपके माने हुए संवेदनाद्वैतकी असत्यता सिद्ध न होवे। भावार्थ—हमारी दृष्टिसे दोनों भी असत्य हैं। जो तत्त्व प्रमाणोंसे नहीं जाना जाता है, उसके सत्त्वकी सिद्धि नहीं मानी जाती है।

न नित्यं नाप्यनित्यत्वं सर्वगत्वमसर्वगम् ।
नैकं नानेकमथवा स्वसंवेदनमेव तत् ॥ १३६ ॥
समस्तं तद्वचोन्यस्य तन्नाद्वैतं कथञ्चन ।
स्वेष्टेतरव्यवस्थानप्रतिक्षेपाप्रसिद्धितः ॥ १३७ ॥

पुनः बौद्ध कहते हैं कि संवेदन न तो नित्य है और उसे अनित्यत्व भी नहीं है, तथा वह व्यापक भी नहीं है और अव्यापक भी नहीं है, अथवा वह एक भी नहीं है और न अनेक है। वह जो कुछ है सो स्वसंवेदन ही है। जो कुछ आप लोग इसके कहनेके लिये विशेषण देंगे, वह उन संपूर्ण वचनोंके वाच्यसे रहित ही है। जितने कुछ आप लोगोंके वचन हैं, वे सब कल्पित अन्य पदार्थोंको कहते हैं। संवेदन तो अवाच्य है। आचार्य समझाते हैं कि वह बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो संवेदनाद्वैतकी सिद्धि कैसे भी नहीं हो सकेगी। कारण कि अपने इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था करना और अनिष्ट पक्षका खण्डन करना ये दोनों तो शब्दके विना अद्वैतवादमें कथमपि सिद्ध नहीं हो सकते हैं। ऐसी दशामें आपका सर्व प्रयास करना व्यर्थ जाता है।

स्वेष्टस्य संवेदनाद्वयस्य व्यवस्थानमनिष्टस्य भेदस्य पुरुषाद्वैतादेर्वा प्रतिक्षेपो यतोऽस्य न कथञ्चनापि प्रसिध्यति, ततो नाद्वैतं तत्त्वं बंधहेत्वादिशून्यमास्थातुं युक्तंमनिष्टतत्त्ववत् ।

जिस कारणसे कि इस संवेदनाद्वैतवादी बौद्धके यहां अपनेको इष्ट हो रहे संवेदनाद्वैतकी व्यवस्था करना और अपने अनिष्ट माने गये द्वैतका अथवा पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत तथा चित्राद्वैतका खण्डन करना प्रमाणद्वारा कैसे भी नहीं सिद्ध होता है। इस कारण बौद्धोंसे माना गया अद्वैतरूपी तत्त्व विचारा, बंधके कारण, कार्य और मोक्षके कारण सम्यग्ज्ञान आदि स्वभावोंसे रहित होता हुआ कैसे भी युक्तियोंसे सहित सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि आपको सर्वथा अनिष्ट हो रहे तत्त्वोंकी आपके यहां प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं होती है। जिस दर्शनमें बंध, सम्यग्ज्ञान, आदिकी व्यवस्था नहीं है, उसपर श्रद्धा नहीं करनी चाहिये। अतः एकसौ सत्रहवीं वार्तिकके अनुसार नित्यपक्ष और क्षणिक पक्षमें आत्मा बंध, मोक्ष आदि अर्थक्रियाओंका हेतु नहीं हो पाता है, यह सिद्धांत युक्तियोंसे सिद्ध कर दिया गया है।

नन्वनादिरविद्येयं स्वेष्टेतरविभागकृत् ।
सत्येतरैव दुःपारा तामाश्रित्य परीक्षणा ॥ १३८ ॥
सर्वस्य तत्त्वनिर्णीतेः पूर्वं किं चान्यथा स्थितिः ।
एष प्रलाप एवास्य शून्योपप्लववादिवत् ॥ १३९ ॥

किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र वर्तते ।
सर्वविप्रतिपत्तौ हि क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥ १४० ॥

बौद्ध फिर भी सशंक होकर स्वपक्षका अवधारण कर रहे हैं कि संसारी जीवोंके अनादि कालसे यह अविद्या लगी हुयी है उसका पार पाना अतीव कठिन है। उस अविद्याके द्वारा ही सम्वेदनाद्वैत इष्ट है और पुरुषाद्वैत अनिष्ट है। क्षणिक तत्त्वका मण्डन करना है। नित्य ब्रह्मका खण्डन करना है। एक वादी है, दूसरा प्रतिवादी है, इत्यादि अपनेको इष्ट या अनिष्ट होरहे विभाग किये जा रहे हैं। वास्तवमें वह अविद्या असत्य ही है। किंतु उस अविद्याका आश्रय लेकर तत्त्वोंकी परीक्षा की जाती है, जैसे काटेसे ही कांटेकी जांच करते हैं या कपटसे दूसरेका कपट विचारा जाता है। सम्पूर्ण ही वादी पण्डित तत्त्वोंका निर्णय हो जानेके पहिले कल्पित अविद्याको स्वीकार करते हैं। तथा निर्णय हो चुकनेपर दूसरे प्रकारसे पदार्थोंकी व्यवस्था कर दी जाती है। भावार्थ—हम संवेदनाद्वैतवादी तत्त्वनिर्णयके पहिले प्रमाण, प्रमेय, खण्डन, मण्डन, इष्ट, अनिष्ट आदिकी कल्पनाको अविद्यासे कर लेते हैं। अद्वैतके सिद्ध हो जाने पर पीछेसे सबको त्याग कर शुद्ध संवेदनकी प्रतीति कर लेते हैं। आचार्य बोध कराते हैं कि इस प्रकार इन बौद्धोंका यह कहना भी शून्यवादी और तत्त्वोंका उपप्लव कहनेवालोंके समान प्रलापमात्र ही है। ऐसा कहनेमें सारांश कुछ भी नहीं है। केवल आग्रहभाव ही है। कुछ भी निर्णीत किये गये प्रमाण या हेतु तथा आगमका आश्रय लेकर तो अन्य विवादस्थल पदार्थमें विचार चलाया जाता है। जब कि बौद्धोंको सब ही उपाय और उपेय तत्त्वोंमें विवाद पडा हुआ है अर्थात् किसी भी प्रमाण और प्रमेयका निर्णय नहीं है ऐसी दशामें तत्त्वोंकी परीक्षा करना ही कैसे हो सकता है। कहीं भी विचार नहीं चल सकता है। जिस सम्भ्रांत पुरुषको अग्नि, कसौटी, भारीपन, छेदकी चमक, आदिका ही निर्णय नहीं है वह सुवर्णकी क्या परीक्षा कर सकता है ?। ऐसे ही शून्यवादी और तत्त्वोपप्लववादियोंके समान कतिपय भी प्रमाण और प्रमेयोंका निर्णय न होनेसे सौगतके सम्वेदनाद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कमसे कम प्रमाण, प्रमेय, प्रतिपाद्य, प्रतिपादक, शब्द, हेतु, साध्य आदि तो अवश्य मानने चाहिये।

न हि सर्वं सर्वस्यानिर्णीतमेव विचारात्पूर्वमिति स्वयं निश्चिन्वन् किञ्चिन्निर्णीतमिष्टं प्रतिक्षेप्तुमर्हति विरोधात्।

सभी वादी प्रतिवादियोंको विचार करनेसे पहिले सभी तत्त्व अनिर्णीत ही होते हैं। इस बातको स्वयं निश्चय करता हुआ शून्यवादी या तत्त्वोपप्लववादी कुछ निर्णय किये हुए इष्ट पदार्थको अवश्य इष्ट करता है। सभी प्रकारसे सबका खण्डन करनेके लिये नियुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि विरोध है। अर्थात् जो विचार करनेसे पहिले निर्णय न होना कह रहा है, उस वादीको अन्तरंगमें

कुछ न कुछ तत्त्व तो अभीष्ट है ही। इष्ट तत्त्वको माने विना खण्डन, मण्डन, किस उद्देश्यसे होगा। और शून्यवादी जब विचारसे पहिले तत्त्वोंका निर्णय न होना निश्चयसे जान रहा है तो यह निश्चय ज्ञान ही उसका माना हुआ तत्त्व कहना चाहिये। तत्त्वोंका निर्णय भी तो उसको अभीष्ट है।

तत्रेष्टं यस्य निर्णीतं प्रमाणं तस्य वस्तुतः।
तदन्तरेण निर्णीतेस्तत्रायोगादनिष्टवत् ॥ १४१ ॥

जिसके यहां कुछ भी इष्ट तत्त्वका निर्णय किया गया है, उसके यहां वास्तविक रूपसे कोई प्रमाण अवश्य माना गया है। क्योंकि उस प्रमाणके विना वहां इष्ट पदार्थमें निश्चय करना ही नहीं बनता है। प्रमाणके विना अनिष्ट तत्त्वका निर्णय नहीं होता है। अतः प्रमाण मानना तो अनिवार्य हुआ। यों पांच अवयववाला अनुमान बना दिया गया है।

यथानिष्टे प्रमाणं वास्तवमन्तरेण निर्णीतिर्नोपपद्यते तथा स्वयमिष्टेऽपीति, तत्र निर्णीतिमनुमन्यमानेन तदनुमन्तव्यमेव।

जैसे कि अपनेको नहीं रुचते हुए पदार्थमें वास्तविक प्रमाणको माने विना अनिष्टपनेका निर्णय करना सिद्ध नहीं होता है, वैसे ही स्वयंको अभीष्ट होरहे पदार्थमें भी प्रमाण माने विना निर्णय नहीं होने पाता है। अब उस इष्ट अनिष्ट पदार्थमें निर्णय करनेको विचारपूर्वक स्वीकार करनेवाले अद्वैतवादियों करके वह प्रमाण तो अवश्य स्वीकार करलेना ही चाहिये। बौद्धोंने स्वसंवेदनको माना है। किंतु प्रमाण, प्रमेय, ग्राह्य, ग्राहक, स्वभावोंसे रहित स्वीकार किया है। ऐसे कोरे सम्वेदनसे इष्ट, अनिष्ट पदार्थोंका निर्णय नहीं होसकता है।

तत्स्वसंवेदनं तावद्यद्युपेयेत केनचित्।
संवादकत्वतस्तद्वदक्षलिंगादिवेदनम् ॥ १४२ ॥
प्रमाणान्निश्चितादेव सर्वत्रास्तु परीक्षणम्।
स्वेष्टेतरविभागाय विद्या विद्योपगामिनाम् ॥ १४३ ॥

किसी उपायके द्वारा संवेदनका निर्णय करना यदि आप स्वीकार कर लेंगे और सफल प्रवृत्तिको करानेवाले सम्वादकपनेसे उस स्वसंवेदनको ही प्रमाण सिद्ध करेंगे, तब तो उसीके समान इंद्रियोंसे जन्य प्रत्यक्ष ज्ञानको और हेतुसे जन्य अनुमान ज्ञानको तथा शब्दजन्य आगम ज्ञान आदिको भी प्रमाण स्वीकार करलेना चाहिये। अतः निर्णीत किये हुए प्रमाणसे ही सब स्थानोंपर तत्त्वोंका परीक्षण होवे। यों सम्यग्ज्ञानको स्वीकार करनेवाले वादियोंके यहां प्रमाणरूप विद्या ही अपने इष्ट और अनिष्टपदार्थके विभाग करनेके लिये समर्थ होती है। अविद्या विचारी स्वयं तुच्छ है। वह इष्टनिष्टका विभाग क्या करेगी ? प्रत्युत सत्पदार्थों मेंसे उसी अविद्याका विभाग (दूरीकरण)हो जाता है। अर्थात् वह स्वयं विभक्त हो जाती है।

स्वसंवेदनमपि न स्वेष्टं निर्णीतं येन तस्य संवादकत्वात्तत्त्वतः प्रमाणत्वे तद्वदक्षलिंगादिजनितवेदनस्य प्रमाणत्वसिद्धेर्निश्चितादेव प्रमाणात् सर्वत्र परीक्षणं स्वेष्टेतरविभागाय विद्या प्रवर्तेत तत्त्वोपप्लववादिनः, परपर्यनुयोगमात्रपरत्वादिति कश्चित्। सोऽपि यत्किञ्चनभाषी, परपर्यनुयोगमात्रस्याप्ययोगात्। तथाहि—

पदार्थोंको सर्वथा नहीं मानना, विचारके पीछे पीछे सबको शून्य कहते जाना शून्यवाद है, और विचारसे पहिले व्यवहाररूपसे सत्य मानकर विचार होनेपर सर्व प्रमाण, प्रमेय पदार्थोंका न स्वीकार करना तत्त्वोपप्लववाद है। तत्त्वोपप्लववादीकी ओरसे कोई कहता है कि हम स्वसंवेदनको भी प्रमाणस्वरूपसे इष्ट होनेका निर्णय नहीं करते हैं और अद्वैतवादियोंके मूल स्वसंवेदनको भी नहीं मानते हैं, जिससे कि आप जैन लोग हमको यह कह सकें कि संवादकपनेसे उस स्वसंवेदनको जब वास्तविकरूपसे प्रमाणता मान लोगे तो उसीके समान इंद्रिय, हेतु और शब्दसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ज्ञानोंको भी प्रमाणता सिद्ध हो ही जावेगी और निश्चित प्रमाणके द्वारा ही सब ही स्थलोंपर परीक्षा होकरके अपने इष्ट अनिष्ट तत्त्वोंके विभागके लिये सम्यग्ज्ञान ही प्रवर्तेगा। बंधुवर्य, यह तो आप जैनोंका कहना तब बनता, जब कि हम कोई एक भी तत्त्व मान लेते। किंतु हम तत्त्वोंका समूल चूल अभाव कहनेवाले उपप्लववादी एक तत्त्वको भी इष्ट नहीं करते हैं। हम वितण्डावादी हैं। दूसरेके माने हुए तत्त्वोंमें चोद्य उठाकर उनके खण्डन करनेमें ही हम तत्पर रहते हैं। स्वयं अपनी गांठका मत कुछ भी नहीं रखते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई उपप्लववादीका सहायक कह रहा है। किंतु वह भी जो कुछ यों ही अण्टसण्ट निस्तत्त्व बकवाद करनेकी टेव रखता है। क्योंकि प्रमाणका निर्णय किये विना दूसरे वादियोंके तत्त्वोंपर खण्डन करनेके लिये केवल प्रश्नोंकी भरमार या आक्षेप उठाना भी तो नहीं बन सकेगा। इसी बातको आचार्य महाराज स्पष्ट कर दिखलाते हैं—सुनिये और समझिये।

यस्यापीष्टं न निर्णीतं क्वापि तस्य न संशयः।
तदभावे न युज्यन्ते परपर्यनुयुक्तयः॥ १४४॥

जिसके यहां कोई भी इष्ट तत्त्व निर्णीत नहीं किया गया है, उसको कहीं भी संशय करना नहीं बन सकता है। भूमवनमें उपजकर वहीं पाला गया मनुष्य तो ठूंठ या पुरुषका अथवा चांदी या सीपका संशय नहीं कर पाता है। और जब दूसरेके तत्त्वोंमें कटाक्ष करनेके लिये वह संशय ही यदि न बनेगा तो दूसरे वादियोंके ऊपर कुचोद्योंका निरूपण करना भी तत्त्वोपप्लववादियोंका न बन सकेगा, यह प्रतिपत्ति (खातिर) भण्डार (जमा) रखो।

कथमव्यभिचारित्वं वेदनस्य निश्चीयते ? किमदुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वेन बाधारहितत्वेन प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेति प्रमाणतत्त्वे पर्यनुयोगाः संशयपूर्वकास्तदभावे तदसु-

म्भवात्, किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्यादेः पर्यनुयोगवत् । संशयश्च तत्र कदाचित्कचिन्निर्णयपूर्वकः स्थाण्वादिसंशयवत्। तत्र यस्य क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादिना प्रमाणत्वनिर्णयो नास्त्येव तस्य कथं तत्पूर्वकः संशयः, तदभावे कुतः पर्यनुयोगाः प्रवर्तेरन्निति न परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पतेः सूत्राणि स्युः ।

उपप्लववादी जन अंतरंग बहिरंग प्रमाण, प्रमेय, तत्त्वोंको माननेवाले जैन, मीमांसक, नैयायिक आदिके ऊपर उपाय उपेय तत्त्वोंका खण्डन करनेके लिये इस प्रकार कुचोद्य उठाते हैं कि अव्यभिचारी (मिथ्याज्ञानसे भिन्न) ज्ञानको आप लोग प्रमाण मानते हैं। अब आप जैन, नैयायिक, आदि बतलाइये कि ज्ञानका अव्यभिचारीपन कैसे निश्चय किया जाता है ?। क्या निर्दोष कारणोंके समुदायसे ज्ञान बनाया गया है, इस कारण प्रमाण है ? या बाधाओंसे रहित हैं, अतः मीमांसकोंसे माना गया ज्ञान प्रमाण है ? अथवा जिसको जाने, उसमें प्रवृत्ति करे और उसी ज्ञेयरूपी फलको प्राप्त करे या उस ज्ञानका सहायक दूसरा ज्ञान पैदा करले इस प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे नैयायिक लोग ज्ञानमें प्रमाणता लाते हैं ? बतलाओ। अथवा दूसरे प्रकारोंसे अविसंवादीपन आदिसे बौद्ध लोग ज्ञानमें प्रमाणता लाते हैं ? कहिये। आचार्य समझाते हैं कि उक्त ये सब उपप्लववादियोंके पर्यनुयोग उठाना संशयपूर्वक ही हो सकते हैं। उस संशयके माने विना उक्त वह प्रश्नमालाका उठाना असम्भव है, जैसे कि यह क्या स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष है ? अथवा क्या यह लेजु है या सर्प है ? आदि प्रश्नरूप चोद्य उठाना संशयको माने विना नहीं बनते हैं। जहां कहीं भी किसी पदार्थका अवलंब लेकर किसीको संशय होता है। उस पदार्थमें पहिले कभी न कभी किसी स्वरूपपर निर्णय अवश्य कर लिया गया है, जिस मनुष्यने कहीं भी स्थाणु और पुरुषका तथा सांप और लेजुका ठीक ठीक पूर्वमें निश्चय करलिया है। वही मनुष्य साधारण धर्मोंका प्रत्यक्ष होनेपर और विशेष धर्मोंका प्रत्यक्ष न होनेपर किंतु विशेषधर्मोंका स्मरण होनेपर मिथ्याज्ञानोपशमके वश होकर स्थाणु, पुरुषका या लेजु, सांपका संशय कर बैठता है। उस प्रकरणमें यह कहना है कि जिसको, कहीं भी कभी संशय होगा उसे किसीका पहिले निर्णय अवश्य होना चाहिये, जब कि शून्यवादी किसी भी प्रमाण व्यक्तिमें निर्दोष कारणोंसे जन्यपने और बाधारहितपने आदिसे प्रमाणपनेका निर्णय ही नहीं मानरहा है तो उसे नैयायिक, मीमांसकोंके प्रमाण तत्त्वमें संशय उठानेका क्या अधिकार है ? और पूर्वमें उस कुछ निर्णयको मानकर हुये संशयको उठा भी कैसे सकता है ? उसको तो यही कहते जाना चाहिये कि प्रमाण नहीं हैं। प्रमाण नहीं हैं। विशेष धर्मोंके द्वारा संशय उठाना सामान्य प्रमाणकी स्वीकृतिको और अपनेको इष्ट होरहे विशेष प्रमाणकी स्वीकृतिको अनुमित करा देता है। संशय करनेवालेको संदिग्ध विषयोंका कहीं कभी निर्णय करना आवश्यक है। तभी तो उन विशेषोंका अब संशय करते समय स्मरण होसकता है। जब निर्दोष चक्षुरादि कारणोंसे पैदा होनापन आदि किसी प्रमाणमें नहीं जाना गया तो उसका प्रश्न उठाकर संशय करना कैसे बन-

सकेगा ? और जब वह सशंय नहीं बना तो प्रमाण, प्रमेय वादियोंके ऊपर उपप्लववादियोंकी प्रश्नमाला कैसे चलेगी ? । इस तरह दूसरे आस्तिकोंके द्वारा किये गये प्रमाण, प्रमेय पदार्थोंके खण्डनार्थ बृहस्पतिके सूत्र दूसरे मतोंके ऊपर कुचोद्य करनेमें ही तत्पर नहीं हो सकते हैं। सम्भवतः बृहस्पतिने चार्वाकदर्शनका पोषण कर पीछेसे सर्व तत्त्वोंका उपप्लव स्वीकार किया होय।

ओमिति ब्रुवतः सिद्धं सर्वं सर्वस्य वाञ्छितम्।
क्वचित्पर्यनुयोगस्यासम्भवात्तन्निराकुलम् ॥ १४५ ॥

यदि उपप्लववादी यों कहें कि हमारे यहां प्रमाण, प्रमेय, आदिका निर्णय नहीं है, भले ही संशय मत बनो ! प्रश्नोंकी प्रवृत्ति भी न हो ! बृहस्पति ऋषिके सूत्र भी दूसरोंके ऊपर पर्यनुयोग न कर सकें, इसमें हमारी कोई क्षति नहीं है। हम उक्त आपत्तियोंको सहर्ष स्वीकार करते हैं। तत्त्वोंका उपप्लव हमको इष्ट है, सो विना प्रयासके सिद्ध हो रहा है। अच्छा अवसर है " यस्य देवस्य गन्तव्यं, स देवो गृहमागतः " जिस अतिथिकी सेवाके लिये हम बाहिर जा रहे थे, वे अतिथि हमारे घरपर ही स्वयं सहर्ष आगये हैं। ऐसा कहनेवालोंके प्रति आचार्य महाराज कहते हैं कि यों तो सब ही को अपने अपने अभीष्ट सर्व ही तत्त्व सिद्ध हो जावेंगे। कहीं भी प्रश्न करना नहीं सम्भव होगा। तिस कारण आकुलतारहित होकर सब अपने अपने प्रयोजनकी बातोंको सिद्ध कर लेंगे। भावार्थ—जब कि प्रमाण, प्रमेय, प्रश्न करना, संशय करना आदिकी व्यवस्थायें नहीं मानी जाती हैं तो फिर यों ही पोल चलेगी, चाहे जो कोई भी अपने मनमानी बातको पुष्ट कर लेवेगा।

ततो न शून्यवादवत् तत्त्वोपप्लववादो वादांतरव्युदासेन सिध्येत् तथानेकांततत्त्वस्यैव सिद्धेः।

तिस कारणसे शून्यवादके समान दीखते हुए तत्त्वोंका अपलाप करनेवाला तत्त्वोपप्लववाद भी सिद्ध नहीं हो पाता है, जो कि यह कहता है कि हम तत्त्वोपप्लववादको अङ्गीकार करते हुए अन्य आस्तिकोंके वादोंका खण्डन करते हैं। भावार्थ—शून्यवादी और उपप्लववादी इतर वादोंका खण्डन नहीं कर सकते हैं। और उस प्रकार जैनोंके अनेकांत तत्त्वकी ही सिद्धि होती है। अपने इष्ट उपप्लवकी सिद्धि करना और अन्यवादोंका खण्डन करना यही तो अनेकांत आपने मान लिया। आप अनेकांतसे बच नहीं सकते हैं।

शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थितिः।
स्वयं क्वचिदशून्यस्य स्वीकृतेरनुपप्लुते ॥ १४६ ॥
शून्यतायां हि शून्यत्वं जातुचिन्नोपगम्यते।
तथोपप्लवनं तत्त्वोपप्लवेऽपीतरत्र तत् ॥ १४७ ॥

शून्यवाद और उपप्लववादमें भी किसी वादीका स्थिर रहना अनेकांतके विना नहीं हो सकता है। क्योंकि किसी शून्यतत्त्वमें तो शून्यरहितपना अपने आप स्वीकार करना ही पडेगा। अन्यथा शून्यवादकी सिद्धि ही न हो सकेगी। तथा कहीं न कहीं उपप्लव (विचार करनेपर प्रमेय, प्रमाण आदि तत्त्वोंका उड जाना) तत्त्वमें तो नहीं उड जानापन मानना आवश्यक है। उपप्लवको उपप्लवरहित माननेपर ही इष्टसिद्धि हो सकेगी। अतः शून्यवादियोंके शून्यपनारूप तत्त्वमें शून्यता कभी भी नहीं मानी जा सकती है। वैसे ही तत्त्वोंका उपप्लव माननेपर भी उपप्लवका उपप्लव (प्रलय) हो जाना नहीं माना जावेगा। अतः शून्यपन, अशून्यपन और उपप्लव, अनुपप्लव यों अनेकांतकी शरण लेना ही आप लोगोंको आवश्यक हुआ। शून्यमें अशून्यपनके समान घट, प्रमाण, प्रमेय, आदि अन्य पदार्थोंमें भी वह अशून्यपना है तथा उपप्लवमें अनुपप्लवके समान दूसरे प्रमाण, प्रमेय, आदि पदार्थ भी उपप्लवरहित हैं।

शून्यमपि हि स्वस्वभावेन यदि शून्यं तथा कथमशून्यवादो न भवेत्। न तस्याशून्यत्वेऽनेकान्तादेव शून्यवादप्रवृत्तिः. शून्यस्य निःस्वभावत्वात्। न स्वभावेनाशून्यता नापि परस्वभावेन शून्यता खराविषाणादेरिव तस्य सर्वथा निर्णेतुमशक्तेः कुतोनेकान्तसिद्धिरिति चेत्, तर्हि तत्त्वोपप्लवमात्रमेतदायातं शून्यतत्त्वस्याप्यप्रतिष्ठानात्। न तदपि सिध्यत्यनेकान्तमन्तरेण तत्त्वोपप्लवमात्रेनुपप्लवसिध्देः। तत्राप्युपप्लवे कथमखिलं तत्त्वमनुपप्लुतं न भवेत्?।

शून्यवादीका इष्ट तत्त्व होरहा शून्य भी यदि अपने स्वभाव करके अवश्य शून्य है, तब तो अशून्यवाद क्यों न हो जावेगा ? घटके शून्यपनेसे जैसे अघटपना छा जाता है, वैसे ही शून्यके भी शून्य हो जानेसे अशून्यपना आजावेगा अर्थात् सर्व ही प्रमाणोंसे निर्णीत किये गये पदार्थ सिद्ध हो जावेंगे। और यदि निषेधरूप उस शून्यको अशून्यपना मानोगे, तब शून्यवाद तो बन जावेगा। किन्तु अशून्यपना भी आपके कहनेसे ही सिद्ध हो जावेगा। इस प्रकार अनेकान्तवादसे ही शून्यमतकी प्रवृत्ति हो सकेगी। यहां कोई शून्यवादी कहते हैं कि अशून्य कहते हुए भी अनेकान्तसे शून्य होना हम नहीं मानते हैं। क्योंकि शून्यतत्त्व तो अखिल स्वभावोंसे रहित है। न तो उसको अपने भाव करके अशून्यपना है और न दूसरोंके स्वभावकरके शून्यपना है। जैसे कि गर्दभका सींग या वंध्याका पुत्र आदि अपने आप शून्य हैं। स्वभावसे अस्तित्व और परभावसे नास्तित्व ये धर्म यहां नहीं हैं। सर्व प्रकारसे रीते उस शून्यमें खरविषाण आदिके समान शून्यपन और अशून्यपन धर्मोंका निर्णय भी नहीं किया जा सकता है। उस कारण आप जैनोंके अनेकान्त मतकी सिद्धि हम शून्यवादियोंको क्यों माननी पडेगी ?। भावार्थ—हमलोग अनेकान्तको सिद्ध नहीं मानते हैं। ग्रन्थकार समझाते हैं कि ऐसा पूर्व पक्ष करनेपर तब तो यह केवल तत्त्वोंका उपप्लव करना ही प्राप्त हुआ। तुम्हारे अभीष्ट शून्यतत्त्वकी भी कण्ठोक्त विधिरूपसे प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। यदि आप यों कहें कि तत्त्वोपप्लवकी ही सिद्धि हुयी सही, हम दोनों भाई हैं,

सो आपका वह तत्त्वोपप्लव भी अनेकान्तको माने विना सिद्ध नहीं होपाता है। क्योंकि उपप्लवका तो मात्र अनुपप्लव (नहीं खण्डन करना) रूपसे सिद्ध करना आपको मानना ही पडेगा। यदि उस केवल उपप्लवमें भी उपप्लव मानोगे अर्थात् आस्तिकोंके मन्तव्य खण्डन करनेका भी खण्डन कर दोगे तो सम्पूर्ण तत्त्व अनुपप्लुत क्यों नहीं हो जावेंगे ? भावार्थ—सम्पूर्ण प्रमाण प्रमेय पदार्थ निर्दोषरूपसे सिद्ध हो जावेंगे। झूंठ बोलना यदि झूंठ सिद्ध हो जावे, तो सत्य पदार्थ प्रसिद्ध हो जाता है। शत्रुका शत्रु मित्र हो जाता है।

ननूपप्लवमात्रेऽनुपप्लव इत्ययुक्तं, व्याघाताद्भावे भाववत्। तथोपप्लवो न तत्र साधीयांस्तत एवाभावेऽभाववत्। ततो यथा न सन्नाप्यसन्नभावः सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेः किं तर्ह्यभाव एव, तथा तत्त्वोपप्लवोपि विचारात् कुतश्चिद्यदि सिद्धस्तदा न तत्र केनचिद्रूपेणोपप्लवो नाप्यनुपप्लवो व्याघातात्, किं तर्ह्युपप्लव एवेति नानेकान्तावतार इति चेत्।

यहां उपप्लववादी स्वपक्षका अवधारण करता है कि केवल उपप्लवमें अनुपप्लव मनवाना जैनोंका इस प्रकार आपादन तो युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि इसमें व्याघात दोष है। उपप्लव कहनेपर अनुपप्लव कहना नहीं बनता है। और अनुपप्लव माननेपर उपप्लव कहनेका घात हो जाता है। जैसे कि कोई तुच्छ अभाव माननेपर उसका भाव स्वीकार करें तो उसको वदतो व्याघात दोष लगता है। अभाव माननेपर भाव कहना नहीं बनता है और भाव मानना चाहेगा तो पहिले अभाव कहनेका घात होता है। और उस ही कारणसे केवल उपप्लव माननेपर उसका वहां उपप्लव मानना भी बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि यहां भी व्याघात दोष होता है। जैसे कि अभाव कहनेपर फिर उस अभावमें भी अभाव कहते जानेमें व्याघात दोष है। अर्थात् अभाव कहदेनेपर पुनः उसका अभाव नहीं कहा जाता है। वैसे ही उपप्लव कह देनेपर फिर उसका खण्डन करदेनारूप उपप्लवको हम नहीं मानते हैं। उस कारण जैसे तुच्छ अभावतत्त्व न सद्रूप है और न असत्रूप भी है। क्योंकि तुच्छ अभावको सभी प्रकारोंसे हम और तुम दोनों व्यवस्थापन करनेकेलिये अशक्त हैं। तब तो तुच्छ अभावके विषयमें हम दोनों क्या कहें ? इसका उत्तर यही है कि अभाव अभावरूप ही है। अभावमें अन्य विशेषणोंके देनेपर अनेक आपत्तियां आती हैं। वैसे ही तत्त्वोंका तुच्छ उपप्लव भी विचार करनेसे पीछे यदि किसी कारण सिद्ध होगया तब तो वहां किसी भी स्वभाव करके उपप्लव नहीं है और जब वहां उपप्लव नहीं है तो अनुपप्लव भी नहीं ठहरा। अन्यथा व्याघात दोष हो जावेगा। अर्थात् उपप्लवमें उपप्लव न होनेपर अनुपप्लवका कहना विरुद्ध है। तब तो फिर उपप्लव क्या है ? इसका उत्तर यही है कि उपप्लव उपप्लव ही है। " आप तो आप ही हैं " यह किंवदन्ती यहां घटित हो जाती है। इस प्रकार हमको अनेकान्तवादके अवतार करनेका कोई प्रसंग नहीं है। यदि इस प्रकार तत्त्वोपप्लववादी कहेंगे तो आचार्य महाराज उत्तर देते हैं सावधान होकर श्रवण कीजिये।

तर्हि प्रमाणतत्त्वं नादुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन नापि बाधारहितत्वादिभिः स्वभावैर्व्यवस्थाप्यते व्याघातात्, किं तु प्रमाणं प्रमाणमेव प्रमाणत्वेनैव तस्य व्यवस्थानात्।

तब तो हम जैन भी कहते कि प्रमाण तत्त्वका अव्यभिचारीपना निर्दोष कारणोंके समुदायसे उत्पन्न करने योग्यपनकरके नहीं है और बाधारहितपन तथा प्रवृत्तिकी सामर्थ्य आदि स्वभावोंके द्वारा भी नहीं व्यवस्थित किया गया है। क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है। निश्चयनय करके घटकी घटत्वधर्मसे ही व्यवस्था हो सकती है। कुलालसे जन्यपनेके द्वारा या मिट्टीके विकारपनेके द्वारा नहीं। वैसे ही प्रमाण अदुष्टकारणजन्यरूप नहीं हैं, बाधारहित भी नहीं है। ये तो सब प्रमाणके एकदेशीय धर्म हैं। धर्मधर्मीका कथञ्चित् भेद है। और हम अपने गृहीय निश्चत हेतुओंसे आपके सन्मुख प्रमाण तत्त्वकी सरलतापूर्वक व्यवस्था भी क्यों करें। किन्तु प्रमाण तो प्रमाण ही है। प्रमाणके पूर्ण शरीर माने प्रमाणपनेके द्वारा ही उस प्रमाणकी व्यवस्था हो सकती है। जैसे कि गृहकी किवाड, भींत, चौखट, छत आदिसे एकांगरूप व्यवस्था ठीक नहीं है। किन्तु गृह गृह ही है। उसी प्रकार एवम्भूत नयके द्वारा प्रमाण प्रमाण ही है। कहिये अब आप क्या कहेंगे?।

न हि पृथिवी किमग्नित्वेन व्यवस्थाप्यते जलत्वेन वायुत्वेन वेति पर्यनुयोगो युक्तः, पृथिवीत्वेनैव तस्याः प्रतिष्ठानात्।

अग्निपनेके द्वारा पृथिवीकी व्यवस्था नहीं होपाती है तथा जलपनेके द्वारा और वायुपने करके भी पृथिवी तत्त्वके ऊपर चोद्य उठाना युक्त नहीं है। किन्तु उस पृथिवीकी पृथ्वीपनेके द्वारा ही प्रतिष्ठा होरही है। भावार्थ—खीरका सादृश्य बक (बगुल) पक्षीको और बगुलाका उपमान कौहनीसे हाथको मोडकर पौंचा झुकादेनेसे नहीं होता है। अन्धे मनुष्यके सामने ऐसी क्रिया करनेसे हाथके समान कठोर वह खीर कैसे खायी जाती होगी? ऐसी प्रतारणा सुननी पडती है। क्षीरान्नका वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श तो क्षीरान्नमें ही है। यानी—खीर खीर ही है। वैसे ही अनन्वय अलंकारके अनुसार प्रमाण प्रमाण ही है। जैसे कि आकाश आकाश ही है। आपके उपप्लवके समान प्रमाणतत्त्व भी अपने स्वभावोंमें ही लीन है।

प्रमाणस्वभावा एवादुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादयस्ततो न तैः प्रमाणस्य व्यवस्थापने व्याघात इति चेत्, किमिदानीं पर्यनुयोगेन? तत्स्वबलेन प्रमाणस्य सिद्धत्वात्।

उपप्लववादी कहते हैं कि निर्दोष कारणोंके समुदायसे पैदा होजाने योग्यपन और बाधारहितपन तथा प्रवृत्ति करानेमें समर्थपन आदि ये सब प्रमाणके स्वभाव ही हैं। उस कारण उनके द्वारा प्रमाणतत्त्वकी व्यवस्था करानेमें तो कोई व्याघात नहीं है। क्या अग्निकी उष्णताके द्वारा व्यवस्था करनेमें व्याघात है? कभी नहीं। फिर आप जैनोंने हमारे उपप्लवके समान यह क्यों कहा था कि "बाधारहितपने आदिसे प्रमाणतत्त्वकी व्यवस्था करनेमें व्याघात होता है। अतः प्रमाण प्रमाण ही है", जब व्याघात नहीं है तो उपप्लववादी आप जैन, नैयायिक, मीमांसक आदिके माने गये

प्रमाणतत्त्वमें उक्त धर्मोद्वारा संशयपूर्वक प्रश्नमाला उठाकर विचार करते हुए प्रमाण, प्रमेय, आदि-तत्त्वोंका खण्डन कर देवेंगे। व्याघात नहीं है। आचार्य समझाते हैं कि यदि उपप्लववादी ऐसा कहेंगे तो हम कहते हैं फिर इस समय प्रमाणतत्त्वमें क्यों आक्षेप सहित प्रश्न उठाये जा रहे हैं? क्योंकि आपने प्रमाणतत्त्वको अपने बलबूतेसे स्वकीय स्वभावोंके द्वारा ही सिद्ध हुआ मान लिया है। हमारे परिश्रमके विना ही आपके प्रति प्रमाणतत्त्व सिद्ध होजाता है। फिर उसका खण्डन कैसा?।

स्यान्मतं। न विचारात्प्रमाणस्यादुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादयः स्वभावाः प्रसिद्धाः परोपगममात्रेण तेषां प्रसिद्धेः। संशयावसानालर्नगुलोद्यो दुष्ट इवेति तदप्यसारं, अविचारस्य प्रमाणस्वभावव्यवस्थानप्रतिक्षेपकारिणः स्वयमुपप्लुतत्वात्। तस्यानुपप्लुतत्वे वा कथं सर्वथोपप्लवः?।

पुनः उपप्लववादिओंका यह मन्तव्य होवे कि हमने निर्दोष कारणोंसे पैदा होने योग्यपन प्रमाणका स्वभाव कह दिया। इतनेसे ही आप ले उडे और हमारे सामने विना परिश्रम प्रमाण तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये आपने अपनी कृतकार्यता प्रगट कर दी। किन्तु हमने दूसरे आप लोगोंके केवल स्वीकार करनेसे ही वे निर्दोष समुदित कारकोंसे पैदा होजानापन और बाधारहितपना आदिक स्वभाव प्रमाणके मान लिये हैं। लोकव्यवहारमें प्रसिद्ध बातको थोडी देरके लिये स्वीकार कर लिया जाता है। किन्तु विचार करनेपर वे प्रमाणके स्वभाव अच्छी तरह सिद्ध नहीं होपाते हैं। इस कारण उक्त चार संशयोंको उतारकर प्रमाणतत्त्वमें आप लोगोंके ऊपर हमारा कुचोद्य उठाना युक्त ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार उनका कहना भी साररहित है। क्योंकि विचारते समय आप प्रमाण प्रमेय आदि तत्त्वोंको मान लेते हैं। किन्तु विचारके पीछे अविचारको प्रमाणके प्रवृत्तिसामर्थ्य आदि स्वभावोंकी व्यवस्थाका खण्डन करनेवाला स्वीकार करते हैं। किन्तु वह अविचार भी तो आपने स्वयं उपप्लुत माना है अर्थात् वह अविचार खण्डनीय, शून्यरूप, तुच्छ है। तुच्छपदार्थ किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करता है। यदि आप उस अविचारको न कुछ, तुच्छरूप उपप्लुत न मानेंगे तो सभी प्रकारसे उपप्लव कैसे बना? क्योंकि वस्तुभूत एक अविचारतत्त्व उपप्लवरहित सिद्ध होगया।

यदि पुनरुपप्लुतानुपप्लुतत्वाभ्यामवाच्योऽविचारस्तदा सर्वं प्रमाणप्रमेयतत्त्वं तथास्त्विति न क्वचिदुपप्लुतैकान्तो नाम। यथा चोपप्लवोऽविचारो वा तद्धेतुरुपप्लुतत्वानुपप्लुतत्वाभ्यामवाच्यः स्वरूपेण तु वाच्यः तथा सर्वं तत्त्वमित्यनेकान्तादेवोपप्लुतवादे प्रवृत्तिः, सर्वथैकान्ते तदयोगात्।

यदि आप फिर यों कहें कि विचार करनेके बाद जो अविचार दशा है, वह उपप्लव सहितपने करके भी नहीं कही जाती है और अनुपप्लुत यानी वस्तुपने करके भी नहीं कही जा सकती है। अतः वह अविचार अवाच्य है। तब तो सर्व ही प्रमाण प्रमेयतत्त्व भी वैसे ही हो जावो।

अर्थात् वे वस्तुभूत होते हुये भी शब्दसे न कहे जानेके कारण अवाच्य होवें। जैन सिद्धान्तमें पञ्चाध्यायी ग्रन्थके अनुसार तत्त्वको निर्विकल्पक यानी शब्दयोजनासे रहित माना है। सर्व ही तत्त्व कथंचित् अवाच्य हैं। इस प्रकार कहीं भी उपप्लवका एकान्त कोई नहीं रहा। जैसे कि उपप्लव या अविचार अथवा उन दोनोंके कारण पर्यनुयोग, संशय आदि ये तुम्हारे माने हुये तत्त्व उपप्लव और अनुपप्लवरूप करके नहीं कहे जाते हैं। किन्तु फिर भी अपने स्वरूपसे तो कहे जाते हैं, अतः वाच्य हैं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कह सकते हैं कि उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्व भी अन्य धर्मोंकरके अवाच्य हैं और अपने निश्चित स्वभावों करके वाच्य हैं, इस प्रकार अनेकान्तके प्रतिपादन करनेवाले स्याद्वादसिद्धान्तसे ही आपकी उपप्लववादमें प्रवृत्ति हो सकती है। सभी प्रकारोंसे एकान्त माननेमें वह आपका उपप्लव मानना नहीं बन सकेगा। भावार्थ—उपप्लवको आपने उपप्लुत और अनुपप्लुत मान लिया तथा उपप्लवमें अवाच्यपना और वाच्यपना भी रह गया, यही तो अनेकान्त है। उपप्लववाद, संवेदनाद्वैत और शून्यवाद इन सबकी स्थिति अनेकान्तका सहारा लेनेपर ही हो सकती है। अन्यथा नहीं।

नन्वेवमनेकान्तोऽप्यनेकान्तादेव प्रवर्तेत सोऽप्यन्यस्मादनेकान्तादित्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतानेकान्तसिद्धिः ? सुदूरमप्यनुसृत्यानेकान्तस्यैकान्तात्मवृत्तौ न सर्वस्यानेकान्तात् सिद्धिः। 'प्रमाणार्पणादनेकान्त' इत्यनेकान्तोऽप्यनेकान्तः, कथमवतिष्ठते ? प्रमाणस्यानेकान्तात्मकत्वेनानवस्थानस्य परिहर्तुमशक्तेरेकान्तात्मकत्वे प्रतिज्ञाहानिप्रसक्तेः। नयस्याप्येकान्तात्मकत्वे अयमेव दोषोऽनेकान्तात्मकत्वे सैवानवस्थेति केचित्।

यहां अनेकान्त सिद्धान्तके ऊपर किसीका आक्षेप सहित प्रश्न है कि आप ही बतलाइये! जब सब ही तत्त्वोंकी सिद्धि आप जैन अनेकान्तसे ही होना मानते हैं तो इस प्रकार आपका अनेकांत भी अनेक अस्तिपन, नास्तिपन आदि धर्मोंसे ही प्रवृत्ति करेगा और वह अनेकधर्मरूप अनेकान्त भी पुनः अन्य अनेक धर्मोंको धारण करेगा तथा उस अनेकान्तके मध्यवर्ती धर्मोंकेलिये भी अन्य अनेकान्तोंकी आवश्यकता पडेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होजानेसे आप जैन लोग प्रकरणमें पडे हुए पहिले अनेकान्तकी सिद्धि कैसे कर सकेंगे? बताओ। यों अनेकान्तोंके पीछे चलते चलते बहुत दूर भी जाकर यदि एकान्तसे ही अनेकान्तकी प्रवृत्ति मानोगे तो अनवस्था दोष टल गया, किन्तु सर्वकी अनेकान्तसे सिद्धि होती है, यह आपका सिद्धान्त न रहा। फिर आपने जैनेन्द्र व्याकरणके आदिमें "सिद्धिरनेकान्तात्" यों अधिकारसूत्र बनाकर अनेकान्तसे सिद्धि होनेका घोषण व्यर्थ ही किया। यदि अनवस्थाको दूर करनेके लिये विवक्षाका सहारा लेकर यों कहें कि प्रमाणकी विवक्षासे अनेकान्त माना गया है। अस्तु! यों ही सही। किन्तु इस प्रकार प्रमाणकी अर्पणासे माना गया अनेकान्त भी तो अनेकान्त है। ऐसा श्री समन्तभद्र आचार्यने कहा है। अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" (बृहत्स्वयंभूस्तोत्र) वह कैसे व्यवस्थित होगा?। और प्रमाण भी तो

आपके यहां अनेकान्तरूपसे माना गया है। अतः उस अनेकान्तमें भी अनेकान्तोंके आरोप करनेकी जिज्ञासा बढती जावेगी। इस अनवस्था दोषका भी आप परिहार नहीं कर सकते हैं। अन्योन्याश्रय दोष भी इसके गर्भमें पडा हुआ है। यदि आप प्रमाणको एकान्तस्वरूप मान लेवेंगे तो सबको अनेकान्तरूप माननेकी प्रतिज्ञाकी हानिका प्रसंग होता है। इस प्रकार नयको भी एकान्तस्वरूप (एकधर्म) मानोगे तो भी यही दोष होता है अर्थात् सबको अनेकान्त स्वरूप माननेकी प्रतिज्ञा नष्ट होती है। और यदि नयको अनेकान्तात्मक मान लोगे तो इस प्रकार प्रतिज्ञा हानि दोषका तो वारण हो जावेगा, किन्तु वही अनेकान्तमें अनेकान्त और उसमें भी फिर अनेकधर्म मानते मानते अनवस्था दोष आजाता है। इस प्रकार कोई एकान्तवादी अपने उपप्लवकी तुलन करते हुए कहरहे हैं। अब ग्रन्थकार महोदय समाधान करते हैं कि—

तेऽप्यतिसूक्ष्मेक्षिकान्तरितप्रज्ञाः, प्रकृतानेकान्तसाधनस्यानेकान्तस्य प्रमाणात्मकत्वेन सिद्धत्वादभ्यस्तविषयेऽनवस्थाघनवतताराद्।

उन आक्षेप करनेवाले एकान्तवादियोंकी भी विचारशालिनी बुद्धि अधिक सूक्ष्म पदार्थको देखनेके कारण छिप गयी है अर्थात् जो कुतर्की बालकी खाल निकालते हुए व्यर्थ गहरा विचार करते रहते हैं, वे कुछ दिनमें पोंगा बन जाते हैं। यदि ऐसे ही निस्तत्त्व विचार किये जावें तो संसारके अनेक व्यवहार लुप्त हो जावेंगे। जलसे कोई अंग शुद्ध न हो सकेगा। क्योंकि अशुद्ध अंगपर पहिले डाला हुआ जल भी अशुद्ध ही रहा। इस प्रकार सहस्र बार धोनेपर भी गुह्यअंग शुद्ध नहीं हो सकता है तथा लोटेको एक बार मांजकर कुएमें फांस दिया ऐसा करनेपर कुएका जल लोटेके संसर्गसे अशुद्ध होगया, फिर अशुद्ध लोटेको दुबारा, तिबारा, मांजनेसे क्या प्रयोजन निकला! यही बात हाथ मटियानेमें भी समझ लेना। एवं मुखमें ग्रास रखते ही लार मिल जाती है, थूक दन्तमल भी मिलजाता है, किसी किसी दन्तरोगीके तो मसूडोंसे निकला हुआ रक्त आदि भी मिल जाते हैं। ऐसी दशामें वह भक्ष्यपदार्थ मुखमें जाकर अशुद्ध हो जाता है, तो फिर क्यों लील लिया जाता है, आदि कटाक्षोंसे शिथिलाचारी पुरुष जैसे अपनी विचार बुद्धिको भ्रष्ट करलेते हैं, वैसे ही आक्षेपकर्ताकी बुद्धिमें अन्तर पड गया है। कई वार जलसे धोना ही शुद्धिका कारण है। अन्यथा औषधि भी पेटमें जाकर रोगको दूर न कर सकेगी। कई ग्रासोंको खाकर भी भूख दूर न होगी। किन्तु होती है। अतः जल, अग्नि, भस्म, वायु, काल आदि शोधक पदार्थ माने गये हैं। कूप स्वभावसे शुद्ध है। नदी, तालाब, कूपमें डाल दिया गया मल भी थोडी देर पीछे निर्मल पर्यायको धारण करलेता है। जल सबका शोधक है। भक्ष्यका विचार थालीमें रखे हुए पदार्थोंमें है। अपने मुखमें रखी हुयी लार या थूक अभक्ष्य नहीं हैं। बाहिर निकलनेपर वे अभक्ष्य हो जाते हैं। हां! मुखरोगीको रक्त आदिका बचाव अवश्य करलेना चाहिये। अन्यथा अभक्ष्य भक्षणका दोष लगेगा। अशक्यानुष्ठानमें किसीका वश नहीं है। दोष तो लगेगा ही। प्रकरणमें

पडे हुए अनेकान्तकी सिद्धि अनेकान्तसे है। और प्रमाणस्वरूपपनेसे अनेकान्त सिद्ध है। भावार्थ–प्रमाणसे तत्त्वोंका विचार करनेपर अनेकान्त प्रतीत होता है। जिन विषयोंका बार बार अभ्यास हो चुका है, उनमें अनवस्था अन्योन्याश्रय आदि दोषोंका अवतार नहीं हैं। द्रव्यमें गुण रहते हैं, गुणोंमें पर्याय रहती हैं, पर्यायोंमें अविभाग प्रतिच्छेद रहते हैं। चार पांच कोटी चलकर जिज्ञासा स्वयमेव शान्त हो जाती है। कथञ्चित् भेदाभेदका पक्ष लेनेपर एक धर्म दूसरे धर्मोंसे सहित बन जाते हैं। यहां कोई कारकपक्ष या ज्ञापकपक्ष नहीं है, जिससे कि अनवस्था आदि हो सकें। बालगोपालोंतकको अग्नि, मिट्टी आदिमें अनेक धर्मोंको जाननेका अभ्यास पड रहा है। अनभ्यास दशामें अन्य अभ्यस्त शीतल वायु, पुष्पगन्ध आदिसे जलमें जैसे प्रामाण्य जान लिया जाता है, वैसे ही अनेक धर्मवाले प्रमाणसे अनेकान्तकी सिद्धि हो जाती है।

तथा तदेकांतसाधनस्यैकांतस्य सुनयत्वेन स्वतः प्रसिद्धेर्नानवस्था प्रतिज्ञाहानिर्वा सम्भवतीति निरूपणात्। ततः सूक्तं 'शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विनास्थिति' रिति।

वैसे ही उस एकांतको सिद्ध करनेवाले समीचीन एकांतकी भी अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखने वाले सुनयोंके द्वारा अपने आप भले प्रकार सिद्धि हो जाती है। अर्थात् अर्पित नयसे एकांत हमको इष्ट है। भला एकांत ही न होगा तो अनेकांत कहांसे बन जावेगा!। एक तो हजारों लाखों, आदि सबका पितामह है। अतः अनवस्था दोष और प्रतिज्ञाहानि हमारे ऊपर नहीं सम्भवते हैं। प्रमाण और नयोंकी साधनासे अनेकांत भी अनेकांतस्वरूप है। इसको हम पहिले भी कह चुके हैं। प्रमाण और नय दोनोंमें अनवस्था दोष देनेसे आपने अपने आप ही "नष्टदग्धाश्वरथ" इस न्यायसे अनवस्थाका वारण कर दिया है। क्योंकि अनेकांत अनेक धर्मोंको धारण करता है। तभी तो सुनयोंके द्वारा एकांत प्रसिद्ध हो रहा है और सुनयके द्वारा निरूपण किया गया एकांत भी अनेक धर्मोंके साथ रहते हुए ही बन रहा है। उस कारण हमने एकसौ छ्यालीसवीं वार्तिकमें बहुत अच्छा ही कहा था कि शून्यवाद और उपप्लववादमें अनेकांतकी शरण लिये विना अपनी अपनी स्थिति नहीं हो सकती है। वनमें जाकर प्रसङ्गवश एक नृपके घोडे नष्ट होगये और दूसरेका रथ बिगड (जल) गया। फिर उस रथमें दूसरे रथके घोडोंको जोडकर दोनों राजा सुखपूर्वक नगरमें आगये। यह नष्टदग्धाश्वरथन्याय है।

ग्राह्यग्राहकतैतेन वाध्यबाधकतापि वा।
कार्यकारणतादिर्वा नास्त्येवेति निराकृतम्॥ १४८॥

जो शुद्ध संवेदनाद्वैत वादी ऐसा मान रहे हैं कि न तो कोई ज्ञानका ग्राह्य है और न कोई ग्राह्यका ग्राहक है। न कोई किसीसे बाध्य है और न कोई किसीका बाधक है। तथा च न कोई किसीका कार्य है। और न कोई किसीका कारण है। न कोई किसी शब्दका वाच्य है और न कोई अभिधान किसीका

वाचक है। एवं न कोई किसीका आधार है और न कोई आधेय है। इत्यादि वास्तवमें विचारा जावे तो उक्त ग्राह्यग्राहकभाव आदि कोई सम्बन्ध भी तो नहीं है। कहां मिट्टीका घडा और कहां चेतन ज्ञान तथा कहां घट शब्द, और कहां घडा एवं ऊर्ध्वलोक, अधोलोक (आकाश, पाताल) के अन्तर भी बहुत बडा अन्तर है। एवं इनका सम्बन्धी भी कोई नहीं है। इस प्रकार माननेवाला बौद्ध भी इस कहे हुए अनेकान्तकी सिद्धिसे खण्डित कर दिया गया है। अर्थात् शून्यवाद, उपप्लववादके समान ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि भी अनेकान्तका आश्रय लेनेपर ही हो सकेगी।

ग्राह्यग्राहकबाध्यबाधककार्यकारणवाच्यवाचकभावादिस्वरूपेण नास्ति सम्वेदनं संविन्मात्राकारतया तदनेकान्तोऽभीष्ट एव संवेदनाद्वैतस्य तथैव व्यवस्थितेर्ग्राह्याद्याकाराभावात्सद्वितीयतानुपपत्तेः सर्वथैकान्ताभावस्य सम्यगेकान्तानेकान्ताभ्यां तृतीयतानुपपत्तिवत्। इति न प्रातीतिकं, ग्राह्यग्राहकभावादिनिराकरणस्यैकान्ततोऽसिद्धेः।

बौद्ध कहता है कि ग्रहण करने योग्य, और गृहीतिका करण, या बाधा होने योग्य, और बाधक, तथा करने योग्य, और कारण, एवं जो कहा जावे और जिस शब्दके द्वारा कहा जावे वह शब्द, या आधार और आधेय आदि स्वभावों करके संवेदन नहीं है तथा केवल शुद्ध संवित्तिके आकार करके संवेदन है। इस प्रकार हमको अनेकांत इष्ट ही है। वैसा करनेपर ही अद्वैत संवेदनकी व्यवस्थापूर्वक सिद्धि हो सकेगी। ग्राह्य आदि आकारोंके न होनेसे ही दूसरेसे सहितपनेकी सिद्धि नहीं हो पाती है। भावार्थ—अनेकांतके माननेपर ग्राह्य आदि आकारोंसे रहित होकर अकेला संवेदनाद्वैत सिद्ध हो सकेगा। अनेकांतकी शरण लिये विना ग्राह्यग्राहक आदि अंशोंसे रहित संवेदन शून्यरूप ही हो जावेगा। हमको संवेदनकी अद्वितीयता अक्षुण्ण रखनी है। द्वितीयसे सहितपनेकी सिद्धि नहीं रखनी है। आपके यहां जैसे कि सर्वथा एकांतोंका अभाव समीचीन एकांत और समीचीन अनेकांतसे तीसरा कोई पदार्थ सिद्ध नहीं है। भावार्थ—सर्वथा एकांतोंके अभाव करनेसे आपका अनेकांत बन बैठता है। वैसे ही ग्राह्य आदिके अभावसे हमारा संवेदनाद्वैत बन जावेगा। अब आचार्य कहते हैं कि आपका एकांतसे माना हुआ ऐसा निरंश संवेदन तो प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे नहीं जाना जाता है। अतः असत् है। क्योंकि सर्वथा एकांतरूपसे ग्राह्य ग्राहकभाव कार्यकारणभाव आदिका निराकरण करना भी सिद्ध नहीं हो पाता है।

ग्राह्यग्राहकशून्यत्वं ग्राह्यं तद्ग्राहकस्य चेत्।
ग्राह्यग्राहकभावः स्यादन्यथा तदशून्यता ॥ १४९ ॥

ग्राह्यग्राहक भावसे रहितपनेको यदि उसके ग्रहण करनेवाले ज्ञानका ग्राह्य मानोगे, तब तो ग्राह्यग्राहकभाव ही आगया अर्थात् ग्राह्यग्राहकभावसे रहितपना ग्राह्य, यानी विषय हो गया और उसको जाननेवाला ज्ञान, ग्राहक यानी विषयी हो गया। अन्यथा उस ग्राह्यग्राहक भावसे शून्यपन

(रहितपना) ज्ञानमें नहीं आवेगा, तो भी ग्राह्यग्राहकभाव बन गया। इस प्रकार लेजुमें दोनों ओर फांसे हैं। " सेयमुभयतःपाशा रज्जुः " इस नीतिसे आपको ग्राह्यग्राहकभावका भी ज्ञानमें ग्रहण करना आवश्यक हुआ।

बाध्यबाधकभावोऽपि बाध्यते यदि केनचित्।
बाध्यबाधकभावोऽस्ति नो चेत्कस्य निराकृतिः ॥ १५० ॥

आप बौद्धोंने दूसरा बाध्यबाधकभाव भी संवेदनमें नहीं माना है। वह बाध्यबाधकभाव भी यदि किसीके द्वारा बाधा जावेगा यानी आप उसमें बाधा देंगे, तभी तो उसका खण्डन कर सकेंगे। तब तो बाध्यबाधकभाव सिद्ध ही हो गया। क्योंकि बाध्यबाधकभाव तो बाध्य हो गया। आपने ज्ञानको उससे रहित माना है और शुद्ध ज्ञानका कोई स्वभाव बाधक हो गया। यदि ऐसा न मानोगे तो फिर किस बाध्यबाधकभावका खण्डन करोगे ? बताओ। जब बाध्यबाधकका खण्डन नहीं हुआ तो फिर यों भी बाध्यबाधकभाव सिद्ध हो ही गया। " दोनों हाथ लड्डू हैं " इस कथानकके अनुसार आपको बाध्यबाधकभाव माननेके लिये बाध्य होना पडेगा।

कार्यापाये न वस्तुत्वं संविन्मात्रस्य युज्यते।
कारणस्याप्यये तस्य सर्वदा सर्वथा स्थितिः ॥ १५१ ॥

आप बौद्ध संवेदनमें कार्यकारणभावको भी नहीं मानते हैं। परंतु विचारिये कि कार्यको बनाये विना केवल संवेदनको वस्तुपना ही नहीं युक्त होता है। क्योंकि जो अर्थक्रियाओंको करता है, वही वस्तुभूत अर्थ माना गया है। यदि उस संवेदनका कोई कारण न स्वीकार किया जावेगा तो वह संवेदन सभी प्रकारसे सदा स्थित हो जावेगा। " सदकारणवन्नित्यम् " अर्थात् जिस सत् पदार्थका कोई कारण नहीं है, वह नित्य है। किंतु ऐसा नित्यपना ज्ञानमें आपने इष्ट किया नहीं है। अतः कार्यकारण मानना भी आपका कर्तव्य हुआ। " दोनों अंगुली घीमें हैं " इस नीतिसे हमारा अनेकांतसिद्धांत पुष्ट हुआ।

वाच्यवाचकतापायो वाच्यश्चेत्तद्व्यवस्थितिः।
परावबोधनोपायः को नाम स्यादिहान्यथा ? ॥ १५२ ॥

आप बौद्धोंने अपने संवेदनको वाच्यवाचकपन अंशसे रहित स्वीकार किया है। किंतु शिष्यको या प्रतिवादीको समझानेके लिये वाच्यवाचकसे रहितपना भी शब्दोंसे ही कहा जावेगा। तब तो वाच्यवाचकभावकी व्यवस्था बन गयी। क्योंकि वाच्यवाचकसे रहितपना तो वाच्य हो गया और वादीके द्वारा बोला गया शब्द उसका वाचक हो गया। यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकारसे मानोगे यानी विना कहे ही अपने हृदयकी बातोंको दूसरोंके हृदयमें उतारना चाहोगे तो शब्दके

अतिरिक्त दूसरोंको भले प्रकार समझानेका उपाय और दूसरा यहां क्या हो सकेगा? बताओ। भावार्थ—शब्द ही विशिष्ट पदार्थोंको समझा सकता है। इस प्रकार " बाबा करे तो डर, न करे तो भी डर " इस किंवदंतीके अनुसार वाच्यवाचक भाव भी आपको दोनों प्रकारसे कहना पडा। ऐसे ही आधार आधेयभावका जिस संवेदनमें निषेध किया जावेगा, वह संवेदन आधार बन जावेगा और आधार आधेयभावका निषेध करना आधेय बन जावेगा। इस प्रकार निषेध करनेपर भी आपको वे ही ग्राह्यग्राहकभाव आदि " पोतकाक " (जहाजका कौआ) न्यायसे हृदयमें धारण करने पडेंगे। अनेकांतके झपाटेसे तुम बच नहीं सकते हो।

सोयं तयोः वाच्यवाचकयोः ग्राह्यग्राहकभावादेर्निराकृतिमाचक्षाणस्तद्भावं साधयत्येवान्यथा तदनुपपत्तेः।

सो ऐसा कहनेवाला प्रसिद्ध यह बौद्ध अपने संवेदनमें उन वाच्य और वाचकका तथा ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, आदिके निराकरणको कहता हुआ उन वाच्यवाचक, और ग्राह्यग्राहक, आदि भावोंको सिद्ध करा ही देता है। अन्यथा उनका निषेध करना ही सिद्ध नहीं हो सकता है। सो समझलीजिये।

संवृत्या स्वप्नवत्सर्वं सिद्धमित्यतिविस्मृतम्।
निःशेषार्थक्रियाहेतोः संवृतेर्वस्तुताप्तितः ॥ १५३ ॥
यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्।
साम्वृतं रूपमन्यत्तु संविन्मात्रमवस्तु सत् ॥ १५४ ॥

संवेदनाद्वैतवादी कहते हैं कि हम परमार्थरूपसे ग्राह्यग्राहकभाव आदिका खण्डन करते हैं। किन्तु व्यवहारसे स्वप्नके समान सबको कल्पनासिद्ध मानलेते हैं। आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना अत्यन्त भूलसे भरा हुआ है। क्योंकि संवृत्तिस्वरूप व्यवहार सभी अर्थक्रियाओंका कारण है। अतः व्यवहारको वस्तुपना प्राप्त है। व्यवहारसे जीवकी मनुष्य, देव, तिर्यञ्च आदि अवस्थायें हैं तथा व्यवहारसे ही बालकपन, युवापन, बुढापा आदि दशायें हैं। किन्तु ये सम्पूर्ण व्यावहारिकधर्म वस्तुभूत होते हुए अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं। स्वप्नके समान अलीक (झूंठ मूंठ) नहीं हैं। जो ही तत्व क्रीडन, रमण, आकाङ्क्षण, दाह, पाक आदि व्यवहारकी या केवलज्ञान आदि परमार्थकी अर्थक्रियाओंको करता है, वही वास्तविक सत् पदार्थ कहा जाता है। इससे अन्य जो अर्थक्रियाओंको नहीं करते हुए केवल उपचारसे कल्पितकर लिये गये हैं, वे स्वभाव तो वस्तुरूपसे सत् नहीं हैं। आपका माना गया केवल संवेदनाद्वैत भी अवस्तु है। अतः असत् है अर्थात् वस्तुभूत सत् नहीं है। और जिस कार्यकारणभाव आदिको आप असत् कह रहे हैं, वे परमार्थभूत पदार्थ हैं।

" स्वप्नवत्संवृतेन रूपेण ग्राह्यग्राहकभावाभावो ग्राह्यः वाच्यवाचकभावो वाच्यः कार्यकारणभावोऽपि कार्यो वाच्यवाचकभावो वाच्य " इति ब्रुवाणो विस्मरणशीलः, स्वयमुक्तस्य सांवृतरूपानर्थक्रियाकारित्वस्य विस्मरणात् ।

स्वप्नके समान व्यवहारसे कल्पना किये स्वभाव करके ग्राह्यग्राहक भावका अभाव भी ग्राह्य हो जाता है और वाच्यवाचकभाव भी वाच्य हो जाता है एवं कार्यकारणभाव भी कार्य हो जाता है तथैव वाच्यवाचकभाव भी शब्दोंके द्वारा वाच्य हो जाता है यानी कह दिया जाता है। इस प्रकार जो संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध कह रहा है, उसको अपने कहे हुए वचनोंको भूल जानेकी टेव पडी हुयी है। तभी तो स्वयं अपनेसे कहे जा चुके " कल्पितस्वभाव कभी अर्थक्रियाओंको नहीं करते हैं " इस बातको भूल गया है। भावार्थ—पहिले बौद्धोंने यह कहा था कि व्यवहारसे कल्पित किया हुआ पदार्थ अर्थक्रियाओंको नहीं करता है और अब कहते हैं कि जैसे स्वप्नमें बोल उठना, हर्ष क्षय होना, भयभीत होकर हृदयमें धडकन हो जाना, आदि अर्थक्रियाएं होती हैं, वैसे ही जीवकी कल्पित की गयीं बाल्य युवा, आदि अवस्थाओंमें होनेवाले भावोंसे भी खेलना, उपार्जन करना, श्रृंगार करना, तृष्णा करना, आदि अर्थक्रियायें हो जाती हैं। ऐसे भुरल्ड बुद्ध मनुष्यकी पहिले पीछेकी कौनसी बातपर विश्वास किया जावे ? देखो जी ! स्वप्न अवस्थामें भी जो अर्थक्रियायें होती हैं, वे वस्तुभूत परिणामोंसे होती हैं। वास्तव सिंहसे जैसा भय होता है कल्पितसे भी वैसा ही भय होता है। स्वप्नमें भी कण्ठतालु आदिके व्यापारसे बोलता है। अन्यथा नहीं, इत्यादि मूर्तिपूजामें भी ऐसा ही रहस्य है। कार्यकारणभावका अतिक्रमण नहीं है। स्वप्न, मूर्छित या सन्निपात दशामें जो कार्य होरहे हैं, उनके कारण वस्तुभूत वहां विद्यमान हैं। तुमको ज्ञान न होय तो इसका उत्तरदायित्व कारणोंपर नहीं है। हां, जो स्वप्नमें झूंठी मनःकल्पनायें होरही हैं वे अवश्य निर्विषय हैं, असत्यार्थ हैं। उन झूंठे अर्थोंसे उनके योग्य वास्तविक अर्थक्रिया नहीं हो सकती हैं।

तथा ह्यशेषग्राह्यग्राहकताद्यर्थक्रियानिमित्तं यत्सांवृत्तं रूपं तदेव परमार्थसत् तद्विपरीतं तु संवेदनमात्रमवस्तु सदिति दर्शनांतरमायातम् ।

जैनसिद्धांतमें यह बात बहुत स्पष्ट रूपसे कह दी गयी है कि जो व्यवहारमें मान लिया गया पदार्थ, ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, आदि सम्पूर्ण अर्थक्रियाओंका कारण होरहा है, वह ही वास्तविकरूपसे सत्वस्तु है और उससे विपरीत तो तुम बौद्धोंका माना गया और कुछ भी अर्थक्रियाओंको नहीं करनेवाला वह केवल निरंश संवेदन वस्तुरूप सत् पदार्थ नहीं है। इस प्रकार बौद्धोंको दूसरे स्याद्वादर्शनका स्वीकार करना ही प्राप्त हुआ। अर्थात् अपने इष्ट होरहे संवेदनाद्वैतके आग्रहको छोडकर अनेकांतदर्शनकी शरण लेना अनिवार्य रूपसे आ पडा। व्यवहारतुच्छ नहीं होता है। किंतु वस्तु और वस्तुके अंशोंको छूनेवाला होता है। व्यवहार और निश्चय दोनों भाईचारेके नातेसे वास्तविक परिणामोंको विषय करते हैं।

संवृतं चेत् क नामार्थक्रियाकारि च तन्मतम् ।
हंत सिद्धं कथं सर्वं संवृत्या स्वप्नवत्तव ॥ १५५ ॥

यदि उन बौद्धोंका यह मत होवे कि कल्पना किया हुआ पदार्थ भला कहां ठीक अर्थक्रियाओंको करता है ? जो कुछ आपको अर्थक्रियाएं होती हुयी दीख रही हैं, वे अर्थक्रियाएं तो ठीक ठीक नहीं हैं। किन्तु कल्पित हैं। वस्तुभूत अर्थक्रिया तो शुद्ध ज्ञप्ति होना ही है। फिर हमको भूल जानेकी दबवाला क्यों कहा जाता है ?। इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि हमको तुम बौद्धोंकी बुद्धिपर खेद आता है कि तुमने पहिले यह कैसे कह दिया था कि सम्पूर्ण पदार्थ व्यावहारिक कल्पनासे अर्थक्रिया करते हुए स्वप्नके समान प्रसिद्ध माने गये हैं। जब कि आप कल्पित अर्थक्रिया और उसको करनेवाले झूंठमूंठ अर्थको अवस्तु मानते हैं। फिर आपने उन सबको सिद्ध किया हुआ कैसे कह दिया था ? भावार्थ—ऐसा माननेपर तो तुम व्यवहारसे किसी पदार्थको सिद्ध नहीं कर सकोगे।

ग्राह्यग्राहकभावाद्यर्थक्रियापि सांवृती न पुनः पारमार्थिकी, यतस्तन्निमित्तं सांवृत्तं रूपं परमार्थसत् सिध्येत्। तात्त्विकी त्वर्थक्रिया स्वसंवेदनमात्रं, तदात्मकं संवेदनाद्वैतं कथमवस्तु सन्नाम ? ततोऽर्थक्रियाकारि सांवृतं चेति व्याहतमेतदिति यदि मन्यसे, तदा कथं स्वप्नवत् संवृत्या सर्वं सिद्धमिति ब्रूषे ? तदवस्थत्वाद्व्याघातस्य सांवृतं सिद्धं चेति।

बौद्ध कहते हैं कि ग्राह्यग्राहकभाव, बडबडाना, खेलना, आदि अर्थक्रियाएं भी यों ही कोरी कल्पित हैं, वे फिर कैसे भी वस्तुभूत नहीं हैं। जिससे कि उन अर्थक्रियाओंके कारणभूत व्यावहारिक कल्पित स्वरूपोंको आप जैन वास्तविक सिद्ध कर देवें। सच पूंछो तो बात यह है कि वस्तुको स्पर्श करनेवाली ठीक ठीक अर्थक्रिया तो केवल शुद्धसंवेदनकी ही अपनी ज्ञप्ति होते रहना है। उस ज्ञप्तिरूप क्रियासे तादात्म्यसंबंध रखता हुआ संवेदनाद्वैततत्व भला वस्तु सत् नहीं कैसे हो सकता है ?, अर्थात् संवेदन तो वस्तुस्वरूप करके सत्‌रूप है। इस कारण जो अर्थक्रियाओंको करनेवाला है, वह उपचरित (कल्पित) है। इस नियममें व्याघात दोष है। भावार्थ—जो अर्थक्रियाओंको करेगा, वह परमार्थभूत है। सम्वृति (कल्पित) नहीं है। और जो सांवृत है, वह अर्थक्रियाओंको नहीं करता है। हम बौद्ध इस बातपर जमे हुए हैं। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि तुम बौद्ध ऐसा मान बैठे हो तब तो " स्वप्नके समान सम्पूर्ण तत्व व्यवहार दृष्टिसे सिद्ध हैं " इस बातको कैसे कह सकते हो ! तुम्हारे ऊपर व्याघातदोष वैसाका वैसा ही लागू हो रहा है। जो उपचारसे कल्पित है, वह सिद्ध कैसे ? और जो सिद्ध हो चुका है, वह कोरी कल्पनासे गढा हुआ कैसे हो सकता है ?। इसका उत्तर दीजिये, तभी ऐसे भूलेपनकी टेवका वारण हो सकेगा।

स्वप्नसिद्धं हि नो सिद्धमस्वप्नः कोऽपरोऽन्यथा ।
संतोषकृन्न वै स्वप्नः संतोषं न प्रकल्पते ॥ १५६ ॥
वस्तुन्यपि न संतोषो द्वेषात्तदिति कस्यचित् ।
अवस्तुन्यपि रागात् स्यादित्यस्वप्नोस्त्ववाधितः ॥ १५७ ॥

स्वप्नमें कल्पनासे सिद्ध करलिया गया जो पदार्थ है, वह अवश्य सिद्ध नहीं है । अन्यथा यानी स्वप्नको भी यदि वास्तविक सिद्ध मानलोगे तो दूसरा कौन अस्वप्न पदार्थ सिद्ध हो सकता है ? भावार्थ—जागृत दशाके जाने हुए तत्व भी अन्तर न होनेके कारण स्वप्नसिद्ध हो जावेंगे। यदि बौद्ध यों कहें कि स्वप्न तो संतोष करनेवाला ही नहीं है । किन्तु अस्वप्न यानी जागरण कृत्य सन्तोष कर देता है, यह अंतर है । सो यह भी कल्पना करना अच्छा नहीं है। क्योंकि संतोष करने और न करनेकी अपेक्षासे जागृतदशा और स्वप्न अवस्था समान ही है। कभी कभी किसी किसीको द्वेषवश वस्तुभूत अनिष्ट पदार्थमें भी वह संतोष होना नहीं देखा जाता है । और किसीको राग-वश अवस्तु पदार्थोंमें भी संतोष होना देखा जाता है। इसप्रकार संतोष करने और न करनेके कारण स्वप्न और अस्वप्नकी व्यवस्था नहीं है । अन्यथा कूडा करकट अवस्तु हो जावेगा और भ्रांतज्ञानीके दो चंद्रमा या तमारा रोगवाले पुरुषके तिलला आदि असत् पदार्थ वस्तुभूत हो जावेंगे । एक लोभी ब्राह्मणका स्वप्न देखते समय दक्षिणामें मिली हुयी गायोंको विक्री करते हुए न्यून रुपया मिलनेपर घबडा कर जग जाना और पुनः आंख मींच कर " पांच सौ न सही जो बीस गायोंके चार सौ रुपये देते हो सो ही दे दो " ऐसा कहना, अब तो उस कहनेवाले ब्राह्मणके वे रुपये भी वस्तुभूत बन जावेंगे । क्योंकि थोडी देरके लिये वे संतोषके कारण बन चुके हैं । इस कारण अस्वप्नका निर्दोष लक्षण यही मानना चाहिये कि जो त्रिकालमें उत्तरवर्ती बाधक प्रमाणोंसे रहित है ।

यथा हि स्वप्नसिद्धमसिद्धं तथा संवृत्तिसिद्धमप्यसिद्धमेव, कथमन्यथा स्वप्नसिद्ध-मेव न भवेत्तथा च न कश्चित्ततोऽपरोऽस्वप्नः स्यात् ।

जैसे कि जो स्वप्नमें थोडी देरके लिये सिद्ध मान लिया गया है, वह निश्चय कर असिद्ध ही है, वैसे ही जो असद्भूतव्यवहारसे कल्पितकर प्रसिद्ध मान लिया गया है, वह भी वास्त-विकरूपसे असिद्ध ही है । अन्यथा यानी यदि ऐसा न माना जावेगा तो स्वप्नमें प्रसिद्ध कर लिए गये समुद्र, सिंह, स्त्री, भूत आदि पदार्थ भी वस्तुरूपसे सिद्ध ही क्यों न हो जावेंगे । वैसा होनेपर तो उस स्वप्नसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ यानी जागती हुयी अवस्थाका तत्व अस्वप्नरूप न हो सकेगा । भावार्थ—स्वप्नके तत्व भी जब वास्तविक प्रसिद्ध हो गये तो सोते हुए और जागते हुए पुरुषके द्वारा जाने गये तत्वोंमें कोई अंतर नहीं रहा । तब तो यह किंवदंती घट जावेगी कि

सूरदासजी कैसे सो रहे हो ? इस पर अंधे सूरदासने कहा कि हम सदा ही से सोतेसे दीख रहे हैं। तथा च संवेदनाद्वैत–वादियोंके यहां स्वप्न और अस्वप्न अवस्थायें समान हो गयीं। कोई अंतर न रहा।

संतोषकार्यस्वप्न इति चेन्न, स्वप्नस्यापि सन्तोषकारित्वदर्शनात्, कालांतरे न स्वप्न संतोषकारी इति चेत्, समानमस्वप्ने।

यदि बौद्ध यों कहेंगे कि जो आत्मामें संतोषको कर देता है, ऐसा खाना, पीना, पढना आदि तत्त्व अस्वप्न (जागते हुए के) हैं। सो यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि स्वप्न भी संतोषको करनेवाला देखा जाता है। स्वप्न देखते समय इष्ट प्रिय वस्तुके समागम होनेपर संतोष पैदा होना बराबर देखा जाता है। यदि फिर बौद्ध यों कहें कि स्वप्न कुछ देरके लिए तो संतोष कर देता है, किंतु पीछे कालांतरतक स्थित रहनेवाले संतोषको नहीं करता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि अस्वप्नमें भी यही बात समानरूपसे देखी जाती है। अर्थात् जागते हुए भी खाना, पीना, सूंघना, सुनना आदि क्रियाओंको करनेवाले पदार्थोंसे थोडी देरके लिए आनंद उत्पन्न हो जाता है। पीछे उस संतोषका नाम भी नहीं रहता है। तभी तो भोग्य और उपभोग्य पदार्थोंका पुनः पुनः सेवन किया जाता है।

सर्वेषां सर्वत्र सन्तोषकारी न स्वप्न इति चेत्, तादृगस्वप्नेऽपि।

यदि बौद्ध यों कहें कि सर्व जीवोंको सर्व स्थानोंपर संतोष करनेवाला स्वप्न नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि वैसा होना तो अस्वप्नमें भी देखा जाता है। भावार्थ—जागते हुए भी रोगी मनुष्यको खाने पीनेमें आनंद नहीं आता है। वृद्ध पुरुषको तरुणी विष समान होजाती है। समुद्रके कडुए पानीमें रहनेवाली मछलीको कुएंके मीठे पानीमें संतोष नहीं है। अहिफेन (अफीम) के कीडेको मीठी मिश्रीमें रख देनेसे आनन्द प्राप्त नहीं होता है।

कस्यचित्कचित्कदाचित्सन्तोषहेतोरस्वप्नत्वे तु न कश्चित्स्वप्नो नाम।

किसी भी जीवको किसी न किसी स्थानपर किसी समयमें भी जो पदार्थ संतोषका कारण है, वह अस्वप्न है, यदि आप बौद्ध ऐसा कहेंगे, ऐसा होनेपर तो कोई भी स्वप्न नहीं होसकता है। खुर्राटा लेते हुए स्वप्न देखनेवाले जीवके भी थोडासा संतोषका कारण बन रहा है। अतः वह भी जागृत अवस्थाका कार्य हो जावेगा। इस कारण आप बौद्धोंके पास स्वप्न और अस्वप्नके निर्णय करनेकी कोई परिभाषा नहीं है।

न च सन्तोषहेतुत्वेन वस्तुत्वं व्याप्तं, क्वचित्कस्यचिद् द्वेषात् सन्तोषाभावेऽपि वस्तुत्वसिद्धेः। नापि वस्तुत्वेन सन्तोषहेतुत्वमवस्तुन्यपि कल्पनारूढे रागात् कस्यचित्सन्तोषदर्शनात्। ततः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकोऽस्वप्नोऽस्तु।

संतोषके हेतुपनेसे वस्तुपना व्याप्त नहीं है। अर्थात्—जो संतोषका कारण है, वही वस्तुभूत है। ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। क्योंकि किसी किसी जीवके किसी पदार्थमें द्वेष होजानेसे संतोष उत्पन्न नहीं होपाता है। फिर भी उस पदार्थको वस्तुपना सिद्ध है। क्या कूडा कांटा वस्तुभूत नहीं है ? रोग, दारिद्र्य, मृत्यु, किसीको संतोषके कारण नहीं हैं। फिर भी वे वस्तुभूत हैं। नरक, निगोद, भी वास्तविक पदार्थ सिद्ध हैं। और यह भी कोई व्याप्ति सिद्ध नहीं है कि जो जो वस्तुभूत है, वही संतोषका कारण है। क्योंकि अवस्तुभूतको भी कल्पनामें आरूढ रखकर रागसे किसी व्यक्तिको संतोष हो रहा देखा जाता है। मिट्टीके खिलौनोंसे बच्चोंको मुख्य वस्तुके समान संतोष हो जाता है। श्मश्रुनवनीतको भविष्यके विवाह, लडका होना आदिकी कल्पनासे आनंद उत्पन्न हुआ था। आकाश, पातालके कुलावे मिलानेके समान अण्ट सण्ट गढ लिये गये उपन्यासोंके अवस्तुरूप तत्त्वको पढकर मनुष्योंको हर्ष होता है। हंसी, ठट्ठा आदिमें तो बहुभाग असत्य पदार्थ ही होते हैं। मनुष्यको मनुष्य कहनेसे किसीको भी हंसी नहीं आती है। अतः अवस्तुभूत कल्पित पदार्थ भी अंतरंगमें रागबुद्धि हो जानेसे हर्षके कारण बन जाते हैं। इस कारणसे सिद्ध होता है कि जिस पदार्थकी विद्यमानतामें बाधक प्रमाणोंके असम्भव होनेका निश्चय है, वही अस्वप्न पदार्थ होवे। परिशेषसे यह निकल गया कि जिस पदार्थकी सत्ताका निषेध करनेवाला बाधक प्रमाण विद्यमान है, वह स्वप्नज्ञानका विषय है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धांतके अनुसार आपको निर्णय कर लेना चाहिये।

बाध्यमानः पुनः स्वप्नो नान्यथा तद्विदेक्ष्यते।
स्वतःक्वचिदबाध्यत्वनिश्चयः परतोऽपि वा ॥ १५८ ॥
कारणद्वयसामर्थ्यात्सम्भवन्ननुभूयते।
परस्पराश्रयं तत्रानवस्थां च प्रतिक्षिपेत् ॥ १५९ ॥

जिस प्रमेयमें बाधक प्रमाणोंके असम्भवका निश्चय है, वह अस्वप्न है अर्थात् सत्य है। और फिर जो ज्ञेय पदार्थ फिर बाधक प्रमाणोंसे बाधित किया जारहा है, अर्थात् असत्य है। अन्य दूसरे प्रकारोंसे उन स्वप्न और अस्वप्नोंमें भेद नहीं देखा जाता है। अबाधितपन और बाधितपन जानलेना कोई कठिन नहीं है। किसी किसी प्रमाण ज्ञानमें स्वयं अपने आप ही अबाध्यपनेका निश्चय हो जाता है और किसी किसी प्रमाणज्ञानमें दूसरी अर्थक्रियाओं अथवा अनुमान या प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे भी बाधारहितपनेका निश्चय हो जाता है। अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणोंकी सामर्थ्यसे ज्ञानमें सम्भव होता हुआ अबाधितपनेका निश्चय होना अनुभवमें आ रहा है। अभ्यासदशाके जलज्ञानमें बाधा रहितपना या प्रमाणपना अपने आप प्रतीत हो जाता है। हां, अनभ्यास दशामें शीतवायु, फूलोंकी गंध, आदिसे जलज्ञानके अबाधितपनेका निर्णय हो जाता है। या स्नान, पान,

अवगाहन, आदि क्रियाओंसे पहिले ज्ञानका अबाध्यपना जान लिया जाता है। यदि शीत वायुके स्पर्शन प्रत्यक्षके या फूलोंकी गंधके घ्राणजप्रत्यक्षके अबाधितपने हीमें संशय हो जावे, उस तीसरे ज्ञानसे इनका अबाधितपना निर्णीत कर लिया जावेगा, जिसका कि अबाधितपना स्वयं निर्णीत हो चुका है। अतः वहां दूसरोंसे अबाधितपना निर्णय करनेमें अनवस्था नहीं है। क्योंकि प्रमाण-ज्ञानके पैदा करनेवालोंको तीसरी, चौथी, कोटीमें स्वयं अबाधित ज्ञान मिल जाता है। ऐसा कोई ठलुआ नहीं बैठा है जो कि निश्चयके लिये व्यर्थ ही संदिग्ध ज्ञानोंको उठाता फिरे। तथा स्नान, पान, अवगाहन, आदि क्रियाओंसे जलज्ञानमें अबाधितपना जाना जावे और स्नान आदिकके ज्ञानमें जलज्ञानसे अबाधितपना जाना जावे, इसप्रकार वहां अन्योन्याश्रयदोष देना भी ठीक नहीं है। क्योंकि उत्तरकालमें होनेवाली अर्थक्रियाओंसे पूर्वकालके ज्ञानका अबाधितपना जाना जा रहा है। उन अर्थक्रियाओंमें भी यदि संशय हो जावे तो उन क्रियाओंमें अबाधितपना अन्य संवादकोंसे निर्णीत कर लिया जाता है। और जब ज्ञानोंमें अबाधितपनेके निश्चय हो रहे हैं, तब वे कार्य ही अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोषोंका खण्डन कर देते हैं। फिर कार्य होते हुए भी व्यर्थ अनवस्था आदिक दोषोंका उठाना अपने आप ही अपनेको ठगना है।

बाधारहितोऽस्वप्नो बाध्यमानस्तु स्वप्न इति तयोर्भेदोन्वीक्ष्यते, नान्यथा।

जो बाधाओंसे रहित है, वह अस्वप्न है और जो बाध्यमान है, वह तो स्वप्न है। इस प्रकार उन दोनोंमें भेद भली रीतिसे देखा जा रहा है। दूसरे प्रकारोंसे उनका भेद नहीं हो सकता है। अतः संवेदनाद्वैतवादियोंको अनेकांत मतानुसार ही संवृत्तिपना और वास्तविकपना स्वीकार करना पडा, अन्यथा व्याघात दोष होगा।

ननु चास्वप्नज्ञानस्याबाध्यत्वं यदि अत एव निश्चीयते तदेतरेतराश्रयः, सत्यबाध्यत्वनिश्चये संवेदनस्यास्वप्नकृन्निश्चयस्तस्मिन् सत्यबाध्यत्वनिश्चय इति परतोऽस्वप्नवेदनात्तस्याबाध्यत्वनिश्चये तस्याप्यबाध्यत्वनिश्चयोन्यस्मादस्वप्नवेदनादित्यनवस्थानान्न कस्यचिदबाध्यत्वनिश्चय इति केचित्। तदयुक्तं। क्वचित्स्वतः क्वचित्परतः संवेदनस्याबाध्यत्वनिश्चयेऽन्योन्याश्रयानवस्थानवतारात्।

यहां स्वपक्षका अवधारण करते हुये कोई अबाधितपनेके निश्चयमें जैनोंके ऊपर दोष उठा रहे हैं कि जागृत अवस्थामें होनेवाले अस्वप्नज्ञानके अबाधितपनेका यदि इस ही अस्वप्न संवेदनपनेसे निश्चय किया जावेगा तब तो अन्योन्याश्रय दोष है। कैसे कि—संवेदनको अबाधितपनेका निश्चय होनेपर तो अस्वप्नमें किये गयेपनका निश्चय होवे और उस अस्वप्नमें किये गयेपनका निश्चय हो जानेपर अबाधितपनेका निश्चय होवे, इस प्रकार परस्पराश्रय दोष हुआ। यदि प्रकरणमें पडे हुए उस अस्वप्न वेदनके अबाध्यपनेका दूसरे अस्वप्नवेदनसे निश्चय करोगे तो उसके भी अबाधितपनेका

निश्चय अन्य तीसरे अस्वप्नज्ञानसे होगा और उस तीसरेका भी अबाधितपना न्यारे चौथे अस्वप्न ज्ञानसे निर्णीत जाना जावेगा। जबतक ज्ञानोंमें अबाधितपना न जाना जावेगा तबतक वह ज्ञान निश्चायक नहीं हो सकता है। अतः आकांक्षा बढती जावेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जानेसे किसी भी ज्ञानके अबाधितपनेका निश्चय नहीं हो सकेगा। इस प्रकार जैनियोंके ऊपर दो दोष आते हैं। ऐसा कोई कह रहे हैं। अब ग्रंथकार कहते हैं कि सो उन ज्ञानाद्वैतवादियोंका वह कहना युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि जो समीचीन कार्य होते हुए देखे जा रहे हैं वहां अनवस्था आदि दोष कैसे भी लागू नहीं होते हैं। किसी आत्मामें तो ज्ञानके अबाधितपनेका निश्चय स्वतः हो रहा है और कहीं स्वयं निर्णीत अबाधितपनेवाले दूसरोंसे ज्ञानमें अबाधितपना जाना जा रहा है। ऐसी दशामें अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष नहीं उतरते हैं। जिसमें ये दोनों दोष आ रहे हैं, वह कार्य हो ही नहीं सकता है और जहां कार्य सम्पादन हो रहा है, वहांसे ये दोनों दोष अपना मुंह मोड लेते हैं। या तो दोषोंका बीज ही मिट जाता है या वे दोष गुणरूप हो जाते हैं। कार्य सफल हो गया। दोष देनेवाले व्यर्थ बकते रहो, कोई क्षति नहीं पडती है। प्रकृतमें तो उन दोषोंकी सम्भावना ही नहीं है।

न च क्वचित्स्वतस्तन्निश्चये सर्वत्र स्वतो निश्चयः परतोऽपि वा क्वचिन्निर्णीतौ सर्वत्र परत एव निर्णीतिरिति चोद्यमनवद्यं हेतुद्वयनियमान्नियमसिद्धेः।

कहीं अभ्यस्त दशामें अपने आप ही स्वसामग्रीसे ज्ञानके अबाधितपनेका निश्चय हो जानेपर तो सभी अभ्यास और अनभ्यास स्थलोंमें ज्ञानके अबाध्यत्वका अपने आपसे निश्चय हो जावेगा, ऐसा कुतर्क करना अच्छा नहीं है। यों तो दीपक और सूर्यके अपने आप प्रकाशित होनेके समान घट, पट आदिको भी अपने आप प्रकाशित होना बन जावे। अग्नि जैसे स्वभावसे उष्ण है, वैसे जल भी स्वभावसे उष्ण हो जावे। किंतु ऐसा नहीं होता है। अतः वह चोद्य उठाना प्रशस्त नहीं है। तथा अनभ्यस्तदशामें भी दूसरे कारणोंसे किसी किसी ज्ञानमें अबाधितपनेका निर्णय हो जानेपर सभी अभ्यास, अनभ्यास स्थलोंमें परसे ही अबाधितपना परिज्ञात किया जावेगा, यह भी कुतर्क निर्दोष नहीं है। यों तो बैलगाडी दूसरे बैलोंसे चलायी जाती है तो बैल भी अन्य तीसरे बैलोंसे चलाये जाने चाहिये। घट दूसरे दीपकसे प्रकाशित होता है तो दीपक भी अन्य दीपकसे प्रकाशित होना चाहिये। किन्तु इसके विपरीत कोई पदार्थ तो स्वतः और अन्य पदार्थ दूसरोंसे परिणामी होते हुए देखे जाते हैं। यों अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणोंके नियमसे सभी पदार्थोंके न्यारे न्यारे प्रकारके परिणामोंके होनेका नियम सिद्ध है। अतः आकाश नीरूप है तो पर्वत भी रूपरहित हो जावे। और यदि पर्वत स्पर्शवान् है तो आकाश भी स्पर्शयुक्त हो जाओ, ऐसे प्रत्यवस्थान उठाना ठीक नहीं है। अपने अपने उभय कारणोंसे पदार्थोंके स्वभाव नियत हैं। "स्वभावोऽतर्कगोचरः" है।

स्वतस्तन्निश्चये हि बहिरंगो हेतुरभ्यासादिः, परतोऽनभ्यासादिः अंतरंगस्तु तदावरणक्षयोपशमविशेषः संप्रतीयते।

जब ज्ञानमें उस अबाधितपनेका अपने आपसे निश्चय हो रहा है तब बहिरंग कारण तो अभ्यास, प्रकरणसुलभता, आदि हैं। और अंतरंग कारण उस निश्चयको रोकनेवाले ज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशम, बुद्धिचातुर्य, कुशलता, आदि हैं। तथा अनभ्यास दशामें दूसरोंसे ज्ञानमें जब अबाधितपना जाना जाता है, वहां बहिरंग दूसरा पदार्थ, अनभ्यास, स्थूलदृष्टि होना, भोलापन, अवान्तर विशेष धर्मोंका निर्णय न कर सकना, आदि हैं। और अंतरंग कारण ज्ञानावरण कर्मका साधारण क्षयोपशमविशेष, स्थूल बुद्धिपना, आदि। भले प्रकार जाने जा रहे हैं, अपने परिचित ऊंचे नीचे सोपान (जीना, नसैनी) परसे अभ्यासवश अंधेरेमें भी मनुष्य चढ उतर जाता है, और अनभ्यास दशामें सीधे, चिकने, जीने परसे चढना उतरना भी कठिन हो जाता है। बालक भी अपने परिचित पोखरामें आंख मींचकर घुस जाता है। किंतु अपरिचित स्थलोंमें दक्ष भी सशंक हो जाता है।

तदनेन स्वप्नस्य बाध्यमानत्वनिश्चयेप्यन्योन्याश्रयानवस्थाप्रतिक्षेपः प्रदर्शित, इति स्वप्नसिद्धमसिद्धमेव, तद्वत्संवृतिसिद्धमपीति न तदाश्रयं परीक्षणं नाम।

जैसे दोषोंका निराकरण करके अस्वप्न ज्ञानके अबाधितपनेका स्वतः और परतः निश्चय हो जाता है, उस ही प्रकार इस उक्त कथन करके स्वप्नके बाध्यमानपनेके निश्चय करनेमें भी अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोषोंका खण्डन कर दिखाया जा चुका है। अर्थात् ज्ञानमें स्वप्नपनेका निश्चय कब होवे, जब कि उसमें बाधितपना जान लिया जावे और बाधितपना कब जाना जावे, जब कि स्वप्नपना जाना लिया जावे। यह अन्योन्याश्रय हुआ। और अन्य ज्ञानोंसे स्वप्नको बाधितपनेका निश्चय किया जावेगा तो उस अन्यको तीसरे, चौथे, आदिसे बाधितपना जाना जावेगा। इस प्रकार अनवस्था होती है। किंतु ये दोनों दोष अनेकांत मतमें नहीं होते हैं। क्योंकि एक चंद्रमें द्विचंद्रज्ञान, शुक्तिमें चांदीका ज्ञान आदिको अभ्यास दशामें अपने आप और अनभ्यास दशामें दूसरोंसे बाधितपना जाना जा रहा है। यहां भी अंतरंग और बहिरंग कारणोंसे भिन्न २ प्रकारके ज्ञानोंका बाधितपना निर्णीत किया जा रहा है, इसमें कोई संशय नहीं है। इस प्रकार स्वप्नसिद्ध जो पदार्थ है वह असिद्ध ही है। उस हीके समान झूंठे व्यवहारसे कल्पना कर थोडी देरके लिये सिद्ध कर लिया गया पदार्थ भी असिद्ध ही है। इस कारण उस असिद्ध पदार्थका आश्रय करके आप संवेदनाद्वैतवादी कैसे भी परीक्षण नहीं कर सकते हैं। अतः १३८ वीं कारिकामें कल्पित की हुई अनादिकालकी अविद्याके द्वारा परीक्षा करनेका उपक्रम करना प्रशस्त नहीं हुआ। झूंठी कसौटी या कल्पित अग्निसे स्वर्णकी परीक्षा नहीं हो सकती है।

ततो न निश्चितान्मानाद्विना तत्त्वपरीक्षणं ।
ज्ञाने येनाद्वये शून्येन्यत्र वा तत्प्रतन्यते ॥ १६० ॥
प्रमाणासंभवाद्यत्र वस्तुमात्रमसंभवि ।
मिथ्यैकांतेषु का तत्र बंधहेत्वादिसंकथा ॥ १६१ ॥

तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि निश्चित किये गये प्रमाणके विना तत्त्वोंकी परीक्षा करना नहीं बनता है, जिससे कि संवेदनाद्वैतमें अथवा शून्यवादमें या और भी अन्य उपप्लववाद, ब्रह्माद्वैत, आदि सम्प्रदायोंमें उस तत्त्वपरीक्षा करनेका विस्तार हो सके। भावार्थ—जो प्रमाणतत्त्वको ही नहीं मानते हैं वे दूसरोंके तत्त्वोंकी लम्बी, चौडी, परीक्षा क्या करेंगे ? तथा जिन झूंठे एकांत वादोंमें प्रमाणतत्त्वके न होनेसे सभी वस्तुएं असंभव हो रही हैं, उन अवस्तुभूत झूंठे एकान्तोंमें बन्ध, मोक्ष, बन्धके कारण, मोक्षके कारण, आदिकी भले प्रकार पर्यालोचना करना भला क्या हो सकता है ? अर्थात् ब्रह्मवाद या शून्यवाद आदि एकान्तोंमें प्रमाणतत्त्वको माने विना परीक्षा करना, विचार करना, शास्त्रार्थ करना और निर्णय करना, नहीं बन सकते हैं। घृत, मेवा, शक्कर, दुग्ध, अन्नके विना कुशल रसोइया भी मोदक आदि अनेक स्वाद्य व्यञ्जनोंको नहीं बना सकता है। संसार भरमें सम्पूर्ण तत्त्वोंकी व्यवस्थाके दादागुरु प्रमाण ही है। उसको स्वीकार किये विना कोई भी कार्य या विचार नहीं सम्पादित होता है।

प्रमाणनिष्ठा हि वस्तुव्यवस्था तन्निष्ठा बन्धहेत्वादिवार्ता, न च सर्वथैकान्ते प्रमाणं संभवतीति वीक्ष्यते * ।

वस्तुओंकी व्यवस्था करना निश्चयकर प्रमाणके आधीन होकर स्थित है। और जब जीव, पुद्गल, आदि वस्तुएं व्यवस्थित हो जावेंगी, तब उनके आश्रित होकर बन्ध, बन्धके कारण आदि तत्त्वोंकी श्रद्धापूर्वक चर्चा करना व्यवस्थित होगा। किन्तु सर्वथा एकान्तपक्षमें प्रमाणतत्त्व नहीं सम्भवता है, ऐसा देखा जारहा है। अर्थात् प्रमाण नहीं तो वस्तुएं नहीं और जब वस्तुएं ही नहीं है तो बन्ध मिथ्याज्ञान, तत्त्वज्ञान आदिकी कथा करना भी असंभव है। इसको आगे भी स्पष्ट कहा जावेगा।

स्याद्वादिनामतो युक्तं यस्य यावत्प्रतीयते ।
कारणं तस्य तावत्स्यादिति वक्तुमसंशयम् ॥ १६२ ॥

* " वक्ष्यते " पाठ अच्छा दीखता है।

इस प्रकार प्रमाणसे वस्तुभूत पदार्थोंको माननेवाले स्याद्वादियोंके मतमें बन्ध, बन्धके कारण, मोक्ष, मोक्षके कारण इनकी व्यवस्था करना युक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है। जिस कार्यके जितने भी कारण प्रतीत हो रहे हैं, वह कार्य उतने भर कारणोंसे उत्पन्न होवेगा। इस प्रकार संशय रहित होकर हम स्याद्वादी कह सकते हैं। यहां पहिले सूत्रका व्याख्यान समाप्त करते हुए प्रकरणका संकोच करते हैं कि जितने बन्धके कारण हैं, उतने ही मोक्षके कारण हैं। न तो अधिक हैं और न कमती ही हैं। एक सौ पन्द्रहवीं वार्त्तिकका यही निगमन है। सूत्रकारके मतानुसार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इनका त्रय बन्धका कारण है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनका त्रय मोक्षका कारण है। सूत्रका शब्दबोधप्रणालीसे वाक्यार्थबोध करनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित होता हुआ सम्यक्चारित्र ही मोक्षका कारण है, यह भी ध्वनित होता है। इसलिये मोक्षके कारणोंमें प्रधानपना चारित्रकी पूर्णताको प्राप्त है। ऐसा कहनेमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रतीत्याश्रयणे सम्यक्चारित्रं दर्शनविशुद्धिविजृम्भितं प्रवृद्धेद्धबोधमधिरूढमनेकाकारं सकलकर्मनिर्दहनसमर्थं यथोदितमोक्षलक्ष्मीसम्पादननिमित्तमसाधारणं, साधारणं तु कालादिसम्पदिति निर्बाधमनुमन्यध्वं, प्रमाणनयैस्तत्त्वाधिगमसिद्धेः।

प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतियोंका सहारा लेकर कार्यकारणभावका निर्णय किया जाता है। प्रकरणमें भी मोक्षरूप कार्यका कारणपना इस प्रकार आप लोग मानो कि सम्यग्दर्शनकी क्षायिकपने या परम अवगाढपनेकी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होरहा, और अनन्तानन्त पदार्थोंका उल्लेख (विकल्प) कर जाननेवाले बढे हुए दैदीप्यमान केवलज्ञानपर अधिकार करके आरूढ होनेवाला ऐसा सम्यक्चारित्रगुण ही सम्पूर्ण कर्मोंके समूल दग्ध करनेमें समर्थ है और वही चारित्र आम्नायके अनुसार पहिले सूत्रमें कही हुयी उस मोक्षरूपी लक्ष्मीके प्राप्त करानेका असाधारण होकर साक्षात् कारण है। भावार्थ—मोक्षका असाधारण कारण तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त पूर्ण होरहा सम्यक्चारित्र ही है। किंतु सुषम दुःषम या दुःषमसुषम यानी तीसरा या चौथा काल, कर्मभूमिक्षेत्र, मनुष्यपर्याय, दीक्षा लेना, आदि सामग्रीरूप सम्पत्ति तो साधारण कारण हैं। इन मोक्षके कारणोंकी उक्त इतने ग्रंथद्वारा बाधारहित होकर प्रमाणोंसे परीक्षा कर ली गयी है। सो ही स्वहितैषी एकांत वादियोंको अनुकूल मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। प्रमाण और नयोंके द्वारा तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होना सिद्ध है। अन्य कोई भी उपाय नहीं है। भावार्थ—लोकमें पदार्थोंके परिज्ञानमें प्रमाण और नय विकल्पोंका ही आश्रय लिया जाता है। अथवा पदार्थोंका सम्यग्ज्ञान सकलादेश व विकलादेशके विना अन्य प्रकारसे हो ही नहीं सकता है। इसलिए तत्वपरीक्षकोंको प्रमाण नय विकल्पोंसे सिद्ध तत्वोंको अंगीकार करना ही पडता है।

नानानेकात्मतीव्रं सुनयनयनयुतं तन्न दुर्नीतिमानं ।
तत्त्वश्रद्धानशुध्यध्युषिततनु बृहद्बोधधामाधिरूढम् ॥
चञ्चच्चारित्रचक्रं प्रचुरपरिचरच्चण्डकर्मारिसेनां ।
सातुं साक्षात्समर्थं घटयतु सुधियां सिद्धसाम्राज्यलक्ष्मीम् ॥ १ ॥

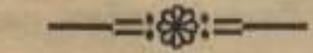
प्रथम सूत्रका भाष्य समाप्त करते हुए श्रीविद्यानंद आचार्य सूत्रके वाच्यार्थ अनुसार भव्य जीवोंको आशीर्वाद देते हैं कि दैदीप्यमान चारित्रगुणरूपी चक्र बुद्धिमान् भव्य जीवोंको सिद्ध पदवीका प्राप्त हो जानारूप मोक्षसाम्राज्यके चक्रवर्तीपनेकी लक्ष्मीको मिलावे कैसा है, वह चारित्ररूपी चक्र ? अनेक और एक हैं आत्माके हितरूप पदार्थ जिसमें। तथा भेद और अभेदको जाननेवाली नयोंके प्राप्त करनेसे युक्त हो रहा है। फिर कैसा है, वह चारित्रचक्र खोटे नय और खोटे ज्ञानकी जहां सम्भावना नहीं है। पुनः कैसा है वह चारित्र चक्र ? तत्त्वोंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी शुद्धिसे आक्रांत हो रहा है शरीर जिसका, तथा बढे हुए केवलज्ञानरूपी तेजके समूह पर अधिकार जमाकर स्थित हो रहा है। फिर भी कैसा है चारित्र गुण कि अत्यंत अधिक और आत्माके चारों और फैले हुए प्रचण्ड शक्तिवाले कर्मरूप शत्रुओंकी सेनाको अव्यवहित उत्तरकालमें नष्ट करनेके लिये समर्थ है। इस श्लोकमें दिये गये चारित्रगुणके विशेषण रूपकके अनुसार चक्ररत्नमें भी घट जाते हैं। जैसे कि सहस्रदेवोंसे रक्षित किया गया चक्रवर्तीका चक्ररत्न चक्रवर्तीपनकी लक्ष्मीको प्राप्त करा देता है, वैसे ही चारित्ररत्न मोक्षलक्ष्मीको मिला देता है। चक्रवर्तीका चक्र भी अनेक और एक आलीय और आत्माका हित करनेवाला है। राज–नीतिके अनुसार ले जाना, चलना, चलाना आदिसे युक्त है। उसमें अनेक अर हैं। चक्रके सामने किसी भी राजाकी खोटी नीति और गर्व नहीं चलता है। चक्रवर्ती अपने चक्रपर पूरी श्रद्धा रखता है। चक्रका स्वच्छ वर्ण है। उसमें बडा भारी तेज है। वह चक्र क्रोधी शत्रुओंकी सेनाको अतिशीघ्र नष्ट कर देता है। इस प्रकार ग्रंथके मध्यमें और पहिले सूत्र संबंधी व्याख्यानके अंतमें मङ्गलाचरण करते हुये आचार्य महाराज प्रकृतसूत्रको कार्यमें परिणति करानेकी भावना करते हैं।

इति तत्त्वार्थ–श्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् ।

इसप्रकार श्री महर्षि विद्यानंद स्वामिके द्वारा विरचित
तत्वार्थ–श्लोकवार्तिकालंकार नामके महान् ग्रंथमें
पहिले अध्यायका पहिला आन्हिक
समाप्त हुआ



प्रथम सूत्रका सारांश



पहिले सूत्रके उत्तर व्याख्यानस्वरूप वार्तिकों और विवरणके प्रकरणोंकी सामान्यरूपसे सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका निर्दोष लक्षण करके मोक्ष और मार्गका स्वरूप बतलाया है। लोकमें प्रसिद्ध होरहे पटना, दिल्ली, आगरा आदि नगरोंतक पहुंचनेके लिये बनाये गये सीधे चौडे मार्ग (सडक, चौडा दगडा आदि) उपमेय हैं और मोक्षमार्ग उपमान है। मोक्षमार्ग पूर्णरूपसे निष्कण्टक और निर्दोष है। उसके एकदेश सदृश होनेके कारण सडकोंको भी मार्गपनेका व्यवहार करलिया जाता है। समुद्र, आकाश, आदि अप्रसिद्ध पदार्थ भी प्रसिद्ध पदार्थोंके उपमान होजाते हैं। संसारमें महिमाका आदर है। परिणाम और परिणामीके भेदकी विवक्षा होनेपर दर्शन ज्ञान आदि शब्दोंको व्याकरण द्वारा करण, कर्त्ता और भावमें सिद्ध कर दिया है। शक्ति वास्तविक पदार्थ है। शक्तिमान्से शक्ति अभिन्न रहती है। नैयायिकोंसे मानी गयी सहकारी कारणोंका निकट आजानारूप शक्ति नहीं है। वह शक्ति द्रव्य, गुण, कर्म या इनका संबंधस्वरूप भी नहीं है। वैशेषिकोंसे माने गये अयुतसिद्ध पदार्थोंका समवाय और युतसिद्ध पदार्थोंका संयोग ठीक नहीं बनता है। शक्ति और शक्तिमान्का कथञ्चित् तादात्म्य संबंध है। ज्ञानको सर्वथा परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंका खण्डन कर ज्ञानका स्वतः यानी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ज्ञान करना सिद्ध किया है। लब्धिरूप भाव इंद्रियां साधारण संसारी जीवोंके प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय नहीं हैं। अतः परोक्ष हैं। चारित्र शब्दको सिद्ध करके कारकोंकी व्यवस्थाको विवक्षाके अधीन स्थित किया है। विवक्षा और अविवक्षाका संबंध वास्तविक रूपोंसे है, अर्थके कल्पित रुपोंसे नही। इस स्थानपर बौद्ध और नैयायिकोंके आग्रहका खण्डन कर वस्तुको अनेक कारकपना व्यवस्थित कर दिया है। सम्पूर्ण वस्तुएं सांश हैं। एक परमाणुमें भी स्वभाव गुण और पर्यायोंकी अपेक्षासे अनेक कारकपना है। परमाणु है (कर्ता) परमाणुको हम अनुमानसे जानते हैं (कर्म) परमाणुके द्वारा एक आकाशका प्रदेश घेर लिया है (करण)। परमाणुके लिये द्यणुकका विभाग होता है (सम्प्रदान)। परमाणुसे स्कंध उत्पन्न होता है (अपादान)। परमाणुका द्वितीय परमाणुके साथ संबंध है। (संबंध)। परमाणुमें रूप, रस, आदि गुण और स्निग्ध आदि पर्यायें हैं (अधिकरण)। हे परमाणो ! तुम अनंत शक्तियोंको धारण करते हो (सम्बोधन)। परमाणुके अनेक धर्म उसके अंश ही हैं। जो अंशोंसे रहित है, वह अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है। इसके आगे सम्यग्दर्शनकी पूज्यताको बतलाते हुए द्वन्द्व समासमें पहिले दर्शनका प्रयोग करना सिद्ध किया है। ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनसे ही आती है। पीछे भले ही वह ज्ञान अनेक पुरुषार्थोंको सिद्ध करा देवे। यहां ज्ञानकी महत्ताको सिद्ध करनेवाली अनेक शङ्काओंका निवारण करते हुए अंतमें यही सिद्धांत

किया है कि प्रकृष्ट दर्शन यानी क्षायिकसम्यक्त्व और प्रकृष्टज्ञान यानी केवलज्ञानकी अपेक्षासे पूर्ववर्ती होकर क्षायिकसम्यक्त्वको पूज्यता है। क्षायिक सम्यक्त्वके होनेपर ही क्षायिकज्ञान हो सकता है। भविष्यमें होनेवाले अनेक भवोंका ध्वंस क्षायिक सम्यग्दर्शनसे हो जाता है वैसे ही पूर्ण ज्ञान भी पूर्णचारित्रसे प्रथम हो जाता है। चौदहवें गुणस्थानके अंतमें होनेवाले व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यानके होनेपर ही पूर्णचारित्र कहलाता है। सम्यक् शब्दको तीनों गुणोंमें लगा देना चाहिये। इसका विशेष प्रयोजन है। सूत्रकार उमास्वामी महाराजने विशेष कारणोंकी अपेक्षासे ही मोक्षके तीन कारणोंका वर्णन किया है। मोक्षके सामान्य कारण तो और भी हैं। विशेष कारण ये रत्नत्रय ही हैं। अतः पहिले उद्देश्य दलमें एवकार लगाना अच्छा है। चार आराधनाओंमें गिनाया गया तप भी चारित्ररूप है। तेरहवें गुणस्थानके आदिमें रत्नत्रयके पूर्ण हो जानेपर भी सहकारी कारणोंके न होनेसे मोक्ष नहीं होने पाती है। किसी कार्यके कारणोंका नियम कर देनेपर भी शक्तिविशेष और विशिष्ट कालकी अपेक्षा रही आती है वह चारित्रकी विशेष शक्ति अयोगी गुणस्थानके अंत समयमें पूर्ण होती है। नैयायिकोंकी मोक्षमार्ग प्रक्रिया प्रशस्त नहीं है। सञ्चित कर्मोंका उपभोग करके ही नाश माननेका एकांत अच्छा नहीं है। सांख्य और बौद्धोंकी मोक्षमार्गप्रक्रिया भी समीचीन नहीं है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्र, गुण कथञ्चित् भिन्न भिन्न हैं। इनमें सर्वथा अभेद नहीं है। इनके लक्षण और कार्य न्यारे न्यारे हैं। पहिले गुणोंके होनेपर उत्तरके गुण भाज्य होते हैं। उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति होनेपर पूर्वपर्यायका कथंचित् नाश होजाना इष्ट है। तीनों गुणोंके परिणामोंकी धारायें पृथक् पृथक् चलती हैं। इन गुणोंकी कभी विभावरूप और कभी स्वभावरूप तथा कभी सदृश स्वभावरूप पर्यायें होती रहती हैं। एक गुणकी पर्यायोंका दूसरा गुण उपादान कारण नहीं हो सकता है। पूर्वस्वभावोंका त्याग, उत्तर-स्वभावोंका ग्रहण और स्थूलपनेसे ध्रुव रहनेको परिणाम कहते हैं। कूटस्थ पदार्थ असत् हैं। उपादान कारणके होनेपर भी सहकारी कारणोंके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होने पाती है। जैसे कि बारहवें गुणस्थानके आदिमें मोहनीय कर्मका क्षय होचुका है। किंतु शेष दो, और चौदह घातियोंके नाश करनेकी शक्ति बारहवेंके उपान्त्य और अन्तिममें ही होती है। वैसे ही बचे हुए नाम आदि कर्मोंके ध्वंसकी शक्ति अयोगीके उपान्त्य और अन्तिम समयमें इष्ट की है। चारित्रगुणकी पूर्ण परिपक्वता यहीं होती है। सम्यग्दर्शनमें परमावगाढपना भी यहीं पर होता है। इसके आगे संसारके कारणोंको ग्रंथकारने सिद्ध किया है। मोक्षके कारण तीन हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन संसारके कारण हैं। नैयायिक, सांख्य आदिसे माना गया अकेला मिथ्याज्ञान ही संसारका कारण नहीं है। यदि मिथ्याज्ञानसे ही संसार और सम्यग्ज्ञानसे ही मोक्ष मानी जावेगी तो सर्वज्ञ देव उपदेश देनेके लिये कुछ दिनोंतक संसारमें नहीं ठहर सकेंगे। इस अवसरपर नैयायिकको छकाकर संसारके कारण तीनों ही सिद्ध करादिये हैं

युक्तियोंसे भी रोग आदिका दृष्टांत देकर इस बातको पुष्ट किया है। कायक्लेश, केशलुंचन आदि क्रियाओंमें मुनियोंको प्रशम, सुख प्राप्त होता है। असंयम और मिथ्यासंयममें अंतर है। बंधके कारण तीन हैं। इसीलिये मोक्षके कारण तीन हैं। मिथ्यादर्शन, अविरति आदि पांच प्रकारके बंधके कारण भी सामान्यरूपसे तीनमें गर्भित होजाते हैं। यहां प्रमाद और कषायोंका अच्छा विवेचन किया है। बंधके कारण पांच होनेपर मोक्षके कारण भी पांच होजावें तो कोई हानि नहीं है। भेदकी विवक्षा होनेपर कोई विरोध नहीं आता है। छह भी होसकते हैं। गुणोंके प्रगट होजानेपर प्रतिपक्षी दोषोंसे उत्पन्न होनेवाले बंधोंकी निवृत्ति होजाती है। जिस कार्यको जितनी सामग्रीकी आवश्यकता है, वह कार्य उतनी ही सामग्रीसे उत्पन्न होगा यह विचार भी अनेकांत मान लेनेपर बनता है। सर्वथा एकांत माननेपर नहीं बनसकता है। सम्यग्दर्शन आदि गुणोंका परिणामी आत्मासे तादात्म्यसंबंध हो रहा है। यहां अनेकांतमतका और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका अच्छा विचार किया है। चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, इन दृष्टांतोंसे अनेकांतको पुष्ट करते हुए सप्तभंगीका भी विचार गर्भित कर दिया है। सर्वथा क्षणिक और कूटस्थनित्यमें क्रियाकारक व्यवस्था नहीं बन पाती है। अन्यवादियोंकी मानी हुयी योग्यताका खण्डनकर सिद्धांतमें मानी हुयी कार्यकारणभावकी योग्यताका अच्छा विचार किया है। अनेकांतवादके विना बंध, बंधका कारण और मोक्ष, मोक्षका कारण इनकी व्यवस्था नहीं बनती है। संवेदनाद्वैत और पुरुषाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकते हैं। वेदांत वादियोंकी अविद्या और बौद्धोंकी संवृत्ति अवस्तुरूप हैं। अतः व्यवहारमें भी प्रयोजक नहीं हैं। शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववादके अनुसार किसी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है और न तत्त्वोंका खण्डन ही हो सकता है। इनको भी अवश्य अनेकांतमतकी शरण लेनी पडेगी। सर्वत्र अनेकांत छाया हुआ है। अनेकांतमें भी अनेकांत है। प्रमाणकी अर्पणासे अनेकांत है और सुनयकी अपेक्षासे एकांत है। स्याद्वादियोंके मतमें यहां अनवस्था और प्रतिज्ञाहानि दोष नहीं होते हैं। ग्राह्यग्राहक आदि भावोंको मानोगे तो मानने पडेंगे और न मानोगे तो भी वे गले पड जावेंगे। संवेदनाद्वैत वादी स्वप्नके समान संवृत्तिसे सबको सिद्ध मानेंगे, उन्हें जागृत अवस्थाके पदार्थ परमार्थरूप अवश्य स्वीकार करने पडेंगे। जो बाधारहित ज्ञानके विषयभूत पदार्थ हैं, वे वास्तविक हैं। ज्ञानके बाध्यपने और अबाध्यपनेका निर्णय अभ्यास दशामें स्वतः और अनभ्यास दशामें परतः हो जाता है। इस कारण मिथ्या एकांतोंमें बंध, मोक्ष व्यवस्था नहीं बनती है। स्याद्वादियोंका माना गया रत्नत्रय ही सहकारियोंसे युक्त होकर मोक्षका साधक है। इस प्रकार अनेक मिथ्या मतोंका खण्डन करके श्रीविद्यानंद आचार्य पहिले सूत्रका व्याख्यान कर चुके हैं। अंतमें प्रसादस्वरूप पद्य द्वारा आशीर्वाद देते हैं कि चारित्र गुण बुद्धिमान् वादी प्रतिवादियोंको रत्नत्रय मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्तिका आयोजन कर देवे। यह प्रथम आह्निकका संक्षिप्त विवरण है।

मुक्तिजनकतावच्छेदकत्वधर्मोपलक्ष्यवच्छिन्नात् ।
श्रीनिष्ठाधेयत्वप्ररूपिताधारतां ने (ना, इ) यात् ॥ १ ॥

द्रव्य पुरुष यों रत्नत्रयसे मोक्षलक्ष्मीके अधिपतिपनेको प्राप्त हो जावे। अर्थात् मोक्षके कारणकी अन्य कारणोंसे व्यावृत्ति करानेवाले रत्नत्रयत्व धर्मसे उपलक्षित रत्नत्रय प्रतिनियत कारण है। इस रत्नत्रयके परिपूर्ण ओत प्रोत प्रविष्ट होजानेसे यह मनुष्य (कर्ता) मुक्ति लक्ष्मीमें अवश्य ठहर रही आधेयपनके नियत आधारपनेको प्राप्त करलेवें। अर्थात्—कारण और कार्य अन्यूनानतिरिक्तपनेसे नियत होरहे हैं। रत्नत्रय नामक कारण और मोक्ष संज्ञक कार्यमें अध्याहृत एवकार द्वारा अवधारण करलिया है। यह जीव रत्नत्रयसे ही मोक्षमार्गको नियम पूर्वक प्राप्त करलेवें। यही इस नव्य न्यायाडम्बरका तात्पर्य है।

